आनन्द प्रवचन : नवम भाग

☆ प्रकाशक
श्रीरत्न जैन पुस्तकालय
२५८९, महात्मा गांधी रोड
पो० अहमदनगर (महाराष्ट्र)

☆ प्रथमबार :
जनवरी १९८०
वि० सं० २०३६ माघ
वीर निर्वाण २५०७

☆ पृष्ठ ४३२

☆ प्रथम संस्करण :
२२०० प्रतियां

☆ मुद्रक :
श्रीचन्द सुराना के लिए
स्वस्तिक आर्ट प्रिंटर्स
सेठगली, आगरा-३

मूल्य : पन्द्रह रुपया मात्र

प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय आचार्यश्री आनन्द ऋषिजी महाराज श्वे०स्था० जैन श्रमण संघ के द्वितीय आचार्य हैं, यह हम सबके लिए गौरव की बात है, हाँ, यह और भी अधिक उत्कर्ष का विषय है कि वे भारतीय विद्या (अध्यात्म) के गहन अभ्यासी तथा मर्मस्पर्शी विद्वान हैं। वे न्याय, दर्शन, तत्त्वज्ञान, व्याकरण तथा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं और साथ ही समन्वयशील प्रज्ञा और व्युत्पन्नप्रतिभा के धनी हैं। उनकी वाणी में अद्भुत ओज और माधुर्य है। शास्त्रों के गहनतम अध्ययन-अनुशीलन से जनित अनुभूति जब उनकी वाणी से अभिव्यक्त होती है तो श्रोता सुनते-सुनते भावविभोर हो उठते हैं। उनके वचन, जीवन-निर्माण के मूल्यवान सूत्र हैं।

आचार्यप्रवर के प्रवचनों के संकलन की बलवती प्रेरणा विद्यारसिक श्री कुन्दन ऋषिजी महाराज ने हमें प्रदान की। बहुत वर्ष पूर्व जब आचार्यश्री का उत्तर भारत, देहली, पंजाब आदि प्रदेशों में विचरण हुआ, तब वहाँ की जनता ने भी आचार्य श्री के प्रवचन साहित्य की माँग की थी। जन-भावना को विशेष ध्यान में रखकर श्री कुन्दन ऋषिजी महाराज के मार्गदर्शन में हमने आचार्यप्रवर के प्रवचनों के संकलन-सम्पादन-प्रकाशन की योजना बनाई और कार्य भी प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे अब तक 'आनन्द प्रवचन' नाम से आठ भाग प्रकाश में आ चुके हैं।

यद्यपि आचार्यप्रवर के सभी प्रवचन महत्त्वपूर्ण तथा प्रेरणाप्रद होते हैं, फिर भी सबका संकलन-संपादन नहीं किया जा सका। कुछ तो सम्पादकों की सुविधा व कुछ स्थानीय व्यवस्था के कारण आचार्य प्रवर के लगभग ३००-४०० प्रवचनों का संकलन-संपादन ही अब तक हो सका है। जिनका आठ भागों में प्रकाशन किया चुका है। प्रथम सात भागों का संपादन प्रसिद्ध विदुषी धर्मशीला बहन कमला जैन 'जीजी' ने किया है। पाठकों ने सर्वत्र ही इन प्रवचनों को बहुत रुचि व भावनापूर्वक पढ़ा और अगले भागों की माँग की।

आठवें भाग में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गौतम कुलक' पर दिये गये २० प्रवचन हैं। तथा नवें भाग में प्रवचन संख्या २१ से ४० तक के २० प्रवचन प्रस्तुत है। 'गौतम कुलक' जैन साहित्य का बहुत ही विचार-चिन्तनपूर्ण सामग्री से भरा सुन्दर ग्रन्थ है। इसका प्रत्येक चरण एक जीवनसूत्र है, अनुभूति और संभूति का भंडार है। ग्रन्थ परिमाण

बहुत ही छोटा है, सिर्फ वीस गाथाओं का, किन्तु प्रत्येक गाथा के प्रत्येक चरण गहनतम विचार-सामग्री भरी हुई है। अगर एक-एक चरण पर चिन्तन-मनन किया ाये तो भी विशाल विचार साहित्य तैयार हो सकता है।

श्रद्धेय आचार्य सम्राट् ने अपने गहनतम अध्ययन-अनुभव के आधार पर इस न्थ के एक-एक सूत्र पर विविध दृष्टियों से चिन्तन-मनन-प्रत्यालोचन कर जीवन का वनीत प्रस्तुत किया है। इन प्रवचनों में जहाँ चिन्तन की गहराई है, वहाँ जीवन ोने की सच्ची कला भी है। गौतम कुलक के इन प्रवचनों को हम लगभग पाँच ाग में क्रमशः प्रकाशित करेंगे। प्रथम खंड पाठकों की सेवा में गत वर्ष पहुँचा था। ौतम कुलक पर प्रवचनों का यह द्वितीय खंड है, तृतीय खंड भी प्रेस में जाने की यारी में है। आशा है, पाठक अगले खंड ४-५ की भी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करेंगे।

इन प्रवचनों का संपादन यशस्वी साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना ने किया है। वद्वान् लेखक मुनिश्री नेमीचन्द जी महाराज का मार्गदर्शन एवं उपयोगी सहकार ी समय-समय पर मिलता रहा है। हम उनके आभारी हैं। आशा है यह प्रवचन ुस्तक पाठकों को पसन्द आयेगी।

मन्त्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

प्रस्तावना

जैन साहित्य भारतीय साहित्य की एक अनमोल निधि है। जैन मनीषियों का चिन्तन व्यापक और उदार रहा है। उन्होंने भाषावाद, प्रान्तवाद, जातिवाद, पंथवाद की संकीर्णता से ऊपर उठकर जन-जीवन के उत्कर्ष के लिए विविध भाषाओं में विविध विषयों पर साहित्य का सरस सृजन किया है। अध्यात्म, योग, तत्त्व-निरूपण, दर्शन, न्याय, काव्य, नाटक, इतिहास, पुराण, नीति, अर्थशास्त्र, व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, भूगोल-खगोल, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, मंत्र, तन्त्र, संगीत, रत्न-परीक्षा, प्रभृति विषयों पर साधिकार लिखा है और खूब जमकर लिखा है। यदि भारतीय साहित्य में से जैन साहित्य को पृथक् कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य प्राणरहित शरीर के सदृश परिज्ञात होगा।

जैन साहित्य मनीषियों ने विविध शैलियों में अनेक माध्यमों से अपने चिन्तन को अभिव्यक्ति दी है। उनमें एक शैली कुलक भी है। 'कुलक' साहित्य के नाम से भी जैन चिन्तकों ने बहुत कुछ लिखा है। दान, शील, तप, भाव, ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि अनेक जीवनोपयोगी विषयों पर पृथक-पृथक कुलकों का निर्माण किया है। मैंने अहमदाबाद, बम्बई, पूना, जालोर, खम्भात आदि में अवस्थित प्राचीन साहित्य भण्डारों में विविध विषयों पर 'कुलक' लिखे हुए देखे हैं पर इस समय विहार यात्रा में होने के कारण साधनाभाव से उन सभी कुलकों का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण प्रस्तुत नहीं कर पा रहा हूँ।

मैं जब बहुत ही छोटा था तब मुझे परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने 'गौतम कुलक' याद कराया था। मैंने उसी समय यह अनुभव किया कि इस ग्रन्थ में लेखक ने बहुत ही संक्षेप में विराट भावों को कम शब्दों में लिखकर न केवल अपनी प्रकृष्ट चिन्तन-शील प्रतिभा का परिचय दिया है, बल्कि कुशल अभिव्यंजना का चमत्कार भी प्रदर्शित किया है।

गौतम कुलक वस्तुतः बहुत ही अद्भुत व अनूठा ग्रन्थ है। यह वामन की तरह आकार में लघु होने पर भी भावों की विराटता को लिये हुए हैं। एक-एक लघु सूक्ति और युक्ति को स्पष्ट करने के लिए सैकड़ों पृष्ठ सहज-रूप से लिखे जा सकते हैं। 'गौतम कुलक' के कुछ चिन्तन वाक्य तो बहुत ही मार्मिक और अनुभव से परिपूर्ण

है। एक प्रकार से प्रत्येक पद स्वतन्त्र सूक्ति है, स्वतन्त्र जीवनसूत्र है और है विचार-मन्त्र।

परम आल्हाद है कि महामहिम आचार्य सम्राट राष्ट्रसन्त आनन्द ऋषिजी महाराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न पर मननीय प्रवचन प्रदान कर जन-जन का ध्यान इस ग्रन्थ रत्न की ओर केन्द्रित किया है। आचार्य प्रवर ने अपने 'जीवन की परख' नामक प्रथम प्रवचन में 'गौतम कुलक' ग्रन्थ के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार से विवेचन किया है। जो उनकी बहुश्रुतता का स्पष्ट प्रमाण है।

परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट को कौन नहीं जानता। साक्षर और निरक्षर, बुद्धिमान और बुद्धू, बालक और वृद्ध, युवक और युवतियाँ सभी उनके नाम से परिचित हैं। वे उनके अत्युज्ज्वल व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं हैं। वे श्रमण संघ के ही नहीं, अपितु स्थानकवासी जैन समाज के वरिष्ठ आचार्य हैं। उनके कुशल नेतृत्व में एक हजार से भी अधिक श्रमण और श्रमणियाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना कर रहे हैं। लाखों श्रावक और श्राविकाएँ श्रावकाचार की साधना कर अपने जीवन को चमका रहे हैं। वे श्रमणसंघ के द्वितीय पट्टधर हैं। उनका नाम ही आनन्द नहीं, अपितु उनका सुमधुर व्यवहार भी आनन्द की साक्षात् प्रतिमा है। उनका स्वयं का जीवन तो आनन्द स्वरूप है ही। आप जब कभी भी उनके पास जायेंगे तब उनके दार्शनिक चेहरे पर मधुर मुस्कान अठखेलियाँ करती हुई देखेंगे। वृद्धावस्था के कारण भले ही शरीर कुछ शिथिल हो गया हो किन्तु आत्मतेज पहले से भी अधिक दीप्तिमान है। उनके निकट सम्पर्क में जो भी आता है वह आधि, व्याधि, उपाधि को भूलकर समाधि की सहज अनुभूति करने लगता है, यही कारण है कि उनके परिसर में रात-दिन दर्शनार्थियों का सतत जमघट बना रहता है। दर्शक अपने आपको उनके श्रीचरणों में पाकर धन्य-धन्य अनुभव करने लगता है।

भारतीय साहित्य के किसी महान चिन्तक ने कहा है कि भगवान यदि कोई है तो आनन्द है। '**आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्** (उपनिषद्) मैंने जान लिया है, आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही परमात्म-तत्त्व के दर्शन होते हैं। जब आत्मा परभाव से हटकर आत्म-स्वरूप में रमण करता है तो उसे अपार आनन्द प्राप्त होता है। सच्चा आनन्द कहीं बाहर नहीं, हमारे अन्दर ही विद्यमान है। आचार्य सम्राट अपने प्रवचनों में, वार्तालाप में उसी आनन्द को प्राप्त करने की कुञ्जी बताते हैं। भूले-भटके जीवनराहियों का सच्चा पथप्रदर्शन करते हैं।

आचार्य सम्राट के प्रवचनों को सुनने का मुझे अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ है और उनके प्रवचन साहित्य को पढ़ने का सौभाग्य भी मुझे मिला है जिसके आधार से मैं यह साधिकार कह सकता हूँ कि आचार्य सम्राट एक सफल प्रवक्ता हैं। यों तो प्रत्येक मानव बोलता है, पर उसकी वाणी का दूसरों के मानस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पर आचार्य सम्राट् जब भी बोलना प्रारम्भ करते हैं तो श्रोता-गण मन्त्र

मुग्ध हो जाते हैं। श्रोताओं का मन-मस्तिष्क उनकी सुमधुर भाव धारा में प्रवाहित होने लगता है। आचार्यप्रवर की वाणी में शान्त रस, करुण रस, हास्य रस, वीर रस की सहज अभिव्यक्ति होती है। उसके लिए आपश्री को प्रयास करने की आवश्यकरता नहीं होती। यही कारण है कि लोग आपश्री को वाणी का जादूगर मानते हैं। आपश्री की वाणी में मक्खन की तरह मृदुता है, शहद की तरह मधुरता है, और मेघ की तरह गम्भीरता है। भावों की गंगा को धारण करने में भाषा का यह भगीरथ पूर्ण समर्थ है। आपश्री की वाणी में ओज है, तेज है और सामर्थ्य है।

आपश्री के प्रवचनों में जहाँ एक ओर महान आचार्य कुन्द-कुन्द, समन्तभद्र की तरह गहन आध्यात्मिक विवेचना है। आत्मा-परमात्मा की विशद चर्चा है तो दूसरी ओर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और अकलंक की तरह दार्शनिक रहस्यों का तर्कपूर्ण सही-सही समाधान है। स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नय, निक्षेप, सप्तभंगी का गहन किन्तु सुबोध विश्लेषण है। एक ओर आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र की तरह सर्व विचार समन्वय का उदात्त दृष्टिकोण प्राप्त होता है तो दूसरी ओर आनन्दघन, व कबीर की तरह फक्कड़पन और सहज निश्छलता दिखाई देती है। एक ओर आचार्य मानतुंग की तरह भक्ति की गंगा प्रवाहित हो रही है तो दूसरी ओर ज्ञानवाद की यमुना बह रही है। एक ओर आचार क्रान्ति का सूर्य चमक रहा है तो दूसरी ओर स्नेह की चारुचन्द्रिका छिटक रही है। एक ओर आध्यात्मिक चिन्तन की प्रखरता है तो दूसरी ओर सामाजिक समस्याओं का ज्वलन्त समाधान है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्यप्रवर के प्रवचनों में दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और साहित्यिकता सब कुछ है।

मेरे सामने आचार्यप्रवर के प्रवचनों का यह बहुत ही सुन्दर संग्रह है। 'गौतम कुलक; पर उनके द्वारा दिये गये मननीय प्रवचन हैं। प्रवचन क्या हैं? चिन्तन और अनुभूति का सरस कोष है। विषय को स्पष्ट करने के लिए आगम, उपनिषद्, गीता, महाभारत, कुरान, पुराण, तथा आधुनिक कवियों के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। वहाँ पर पाश्चात्य चिन्तक फिलिप्स ,जॉनसन, बेकन, कूले, साउथ, टालस्टाय, ईसामसीह, चेनिंग, बॉवी, पिटरसन, सेनेका,विलियम राल्फ इन्गे, हॉम, सेण्टमेथ्यु, जार्ज इलियट, शेली, पोप, सिसिल, कॉस्टन, शेक्सपियर, प्रभृति शताधिक व्यक्तियों के चिन्तन-सूत्र भी उद्धृत किये गये हैं। जिससे यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि आचार्य सम्राट का अध्ययन कितना गम्भीर व व्यापक है। पौराणिक, ऐतिहासिक रूपकों के अतिरिक्त अद्यतन व्यक्तियों के बोलते जीवन-चित्र भी इसमें दिये हैं। जो उनके गम्भीर व गहन विषय को स्फटिक की तरह स्पष्ट करते हैं। यह सत्य है कि जिसकी जितनी गहरी अनुभूति होगी उतनी ही सशक्त अभिव्यक्ति होगी। आचार्यप्रवर की अनुभूति गहरी है तो अभिव्यक्ति भी स्पष्ट है।

मैंने आचार्यप्रवर के प्रवचनों को पढ़ा है। मुझे ऐसा अनुभव हुआ है कि

प्रवचनों का सम्पादन भाव, भाषा और शैली सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट हुआ है। सम्पादन कला-मर्मज्ञ कलम-कलाधर श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने अपनी सम्पादन कला का उत्कृष्ट रूप उपस्थित किया है। गौतम कुलक, का स्वाध्याय करने वाले जब इन प्रवचनों को पढ़ेंगे तो उनके समक्ष इसके अनेक नये-नये गम्भीर अर्थ स्पष्ट होंगे। इन प्रवचनों में सिर्फ उपदेशक का उपदेश-कौशल ही नहीं, बल्कि एक विचारक का विचार वैभव तथा अनुशीलनात्मक दृष्टि भी है। इससे प्रवचनों का स्तर काफी ऊँचा व विचार प्रधान बन गया है।

इन प्रवचनों को पढ़ते समय प्रबुद्ध पाठकों को ऐसा अनुभव भी होगा कि इन प्रवचनों में उपन्यास और कहानी साहित्य की तरह सरसता है, दार्शनिक ग्रन्थों की तरह गम्भीरता है। यदि एक शब्द में कह दिया जाय तो सरलता, सरसता और गम्भीरता का मधुर समन्वय हुआ है। ऐसे उत्कृष्ट साहित्य के लिए पाठक आचार्य प्रवर का सदा ऋणी रहेगा तो साथ ही सम्पादक के श्रम को भी विस्मृत नहीं हो सकेगा।

मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत आनन्द प्रवचनों के ये भाग सर्वत्र समादृत होंगे। इन्हें अधिक से अधिक जिज्ञासु पढ़कर अपने जीवन को चमकायेंगे।

जैन स्थानक
रायचूर (कर्नाटक)

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

आनन्द प्रवचन भाग ६ के प्रकाशन में

उदार सहयोगदाता सज्जनों की शुभ नामावली

पं० रत्न श्री राजेन्द्रमुनिजी म० के परम सहयोगी वीर-पुत्र श्री सोहनमुनि जी म० श्री की सद्प्रेरणा से कुछ श्रद्धालु भक्तों ने आनन्द प्रवचन के प्रकाशनार्थ रु० २३००) दिये हैं। अतः उन महानुभावों की श्रद्धा अनुकरणीय है।

□

२१००)	श्री जसवन्तराज जी सुमेरचन्द जी लुणावत	बेंगलौर
११११)	श्री हुकुमचन्द जी शंकरलाल जी गांधी	शेवगाँव
११००)	श्री ताराचन्द भींवराज जी भटेवरा	पूना
१००१)	श्री श्रीमल जयकुमार सिंगवी—दालमंडई	अहमदनगर
१००१)	श्री चम्पालाल, चेतनलाल, प्रकाश डूंगरवाल	बेंगलौर
१००१)	श्री पी० सी० मुणोत	पूना
१०००)	धर्मशीला श्रीमती पतासाबाई बंसीलाल जी मुथा	रायचूर
१०००)	धर्मशीला श्री रंभाबाई जसराज जी बोरा	रायचूर
१०००)	श्री ए० सोहनकुमार जी	रायचूर
५०१)	धर्मशीला श्री गंगाबाई शोभाचन्द जी बाफना	घोड़नदी
५०१)	श्री रोशनराज जी भोजराज जी जैन	देहली
५००)	मे० चम्पालाल एण्ड कम्पनी	बम्बई
५००)	श्री रामचन्द जी लखमीचन्द जी लुंकड	पूना
५००)	श्री मानकचन्द जी गंभीरमलजी चोरड़िया	आला
५००)	श्री अमोलकचन्द जी बंसीलाल जी सूरजमल जी भटेवरा	राहू

□□

अनुक्रमणिका

[आनन्द-प्रवचन : भाग ६]

---

१ आनन्द प्रवचन भाग ८ में गौतम कुलक के प्रवचन १ से २० तक छप गये हैं। समस्त ग्रन्थ की प्रवचन संख्या अनुक्रम से चले अतः यहाँ पर प्रवचन संख्या २१ से ४० तक भाग ६ में दी गई है।

मूलस्रोत

..........किं सरणं तु सच्चं,
लोहो दुहो किं, सुहमाहतुट्ठि ॥४॥
शरण श्रेष्ठ क्या ? सत्य लोक में
दुख क्या ? लोभ, तोष में सुख है ॥४॥

बुद्धी अचंडं भयए विणीयं,
कुद्धं कुसीलं भयए अकित्ती।
संभिन्नचित्तं भयए अलच्छी,
सच्चे ठियंतं भयए सिरीयं ॥५॥
बुद्धि शान्त होती विनीत की
क्रुद्ध-कुशील अपयश का भागी।
भग्न-चित्त से श्री डरती है
सच्चे से लक्ष्मी अनुरागी ॥५॥

चयंति मित्ताणि नरं कयग्घं,
चयंति पावाइं मुणि जयंतं।
चयंति सुक्काणि सराणि हंसा,
चएइ बुद्धी कुवियं मणुस्सं ॥६॥
नर कृतघ्न को मित्र त्यागते
यत्नवान मुनि को त्यों पाप।
हंस तज देते शुष्क सरोवर
बुद्धि क्रुद्ध को तजती आप ॥६॥

अरोइ अत्थं कहिए विलावो,
असंपहारे कहिए विलावो।
विक्खित्तचित्तो कहिए विलावो,
बहु कुसीसो कहिए विलावो ॥७॥
रुचि-रहित को कथन व्यर्थ है,
संशयालु का वचन-विलाप।
व्यर्थ कथा विक्षिप्तचित्त को
है कुशिष्य को शिक्षा शाप ॥७॥

□□

२१

सत्यशरण सदैव सुखदायी

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं जीवन के एक महत्त्वपूर्ण अनिवार्य तत्त्व पर आपसे बातें करूँगा। वह तत्त्व है—सत्य ! उत्कृष्ट जीवन का वह आवश्यक तत्त्व है। साधनामय जीवन का वह प्रथम स्तम्भ है, जिसका सहारा लिए बिना साधक आगे चल नहीं सकता। जिसका सहारा लेकर ही जीवन में प्रगति, उत्क्रान्ति या परिवर्तन किया जा सकता है। गौतमकुलक का यह बीसवाँ जीवनसूत्र है। वह इस प्रकार है—

'किं सरणं ? तु सच्चं'

शरण क्या है ? सत्य ही तो है। अर्थात्—जगत् में एक मात्र सत्य ही शरण है। साधकजीवन में सत्य की शरण लेना ही श्रेयस्कर है।

शरण कब और किसकी ?

जब मनुष्य किसी द्वेषी, विरोधी या शत्रु द्वारा सताया जा रहा हो, भयभीत हो, या कोई विपत्ति उस पर आ गई हो अथवा कोई धर्मसंकट आ पड़ा हो, उस समय घबराया हुआ मनुष्य किसी ऐसे समर्थ की शरण ढूंढता है, जहाँ उसकी सुरक्षा हो सके, जहाँ उसका सम्मान सुरक्षित रहे। अथवा किसी संताप या दुःख से मनुष्य पीड़ित हो, उस पर मारणान्तक आ पड़ा हो, या असह्य यातना उसे दी जा रही हो, तब मनुष्य किसी अभीष्ट या बलिष्ठ की शरण लेता है, ताकि वह उस कष्ट, पीड़ा, संताप, यातना या दुःख से बच सके या उन्हें समभावपूर्वक सहन कर सके।

जिसकी शरण लेने से सुरक्षा न हो, अथवा सम्मान सही-सलामत न रहे, कष्ट, पीड़ा या दुःख से जो न बचा सके, न बचाने का उपाय बता सके, अथवा कष्ट, पाड़ा या दुःख के समय जो न तो सहनशक्ति दे सके, न धैर्य दे सके और न ही जीवन की अटपटी घाटियों में से पार उतरने के लिए यथार्थ मार्गदर्शन दे सके, उसकी शरण लेना व्यर्थ है। ऐसे व्यक्ति या पदार्थ की शरण में आकर व्यक्ति अपनी रही-सही शक्ति भी खो देता है और विपदाओं के भँवरजाल में फँस जाता है। जो व्यक्ति विश्वासघाती है, वचन देकर बीच में ही धोखा दे देता है, जो मायाचारी है, झूठ-फरेब करता है, वह चाहे कितना ही सम्पन्न हो, भौतिक शक्तिमान हो, उसकी शरण

परन्तु भयंकर दुःख से उबारने वाला या मृत्यु के मुख से बचाने वाला कोई नहीं है।"

सेठ ने कहा—"मैं तो बिना प्रमाण के इस बात को मानने को तैयार नहीं। मैं इस बात को तभी मान सकता हूँ, जब मैं प्रत्यक्ष देख लूं।"

महात्मा बोले—"इस रविवार को तुम एक काम करना। चादर ओढ़कर सो जाना। कोई भूत लगा हो, इस तरह का बहाना बनाना। फिर मैं आकर सब संभाल लूंगा।" बस, रविवार को सेठ चादर ओढ़कर सो गया, बीमारी के मारे बड़बड़ाने और छटपटाने लगा। डॉक्टर-वैद्यों का ताँता लग गया, परन्तु बीमारी काबू में नहीं आई। इतने में वह महात्माजी आए। पूछा—"क्या हुआ, इसको ?" सबने कहा—"महात्माजी इसे बहुत भयंकर बीमारी लग गई है। कृपा करके आप इसे ठीक कर दीजिए।"

महात्माजी ने जल मँगवाकर, उसमें कुछ दवा डालकर जप किया और उसे एक शीशी में भर लिया। फिर महात्मा ने सबसे पहले सेठ की माँ से कहा—"अगर आपको अपना बेटा जीवित रखना है तो इस शीशी को पी लीजिए। अब आपको तो भगवान के घर जाना ही है। लड़का जिन्दा रहेगा तो कुछ न कुछ सुख देखेगा।"

सेठ की माँ बोली—"अभी तक बहू छोटी है, एक ही वर्ष तो हुआ है विवाह हुए। न, न, मुझसे नहीं पीया जायगा यह।" इसके बाद संत ने सेठ की पत्नी, बहन, भाई, पिता आदि सभी से उस शीशी को पीने का कहा, मगर कुछ न कुछ बहाना करके सभी टालमटूल करने लगे। संत ने फिर विशेष जोर देकर कहा—"तुम तो इसके निकट सम्बन्धी लगते हो, अतः इसे पीकर इसका दुःख मिटाओ न ?"

सबने कहा—"यह तो नहीं पीया जाता और आप जो कहें सो करने को तैयार हैं। आप संत हैं, परोपकारी और कृपालु हैं, आप पी जाएँ तो हम आपका उपकार मानेंगे।"

संत ने कहा—"मैं तुम्हारा ही सम्बन्धी नहीं, विश्वकुटुम्बी हूँ, मुझे तो पीना ही पड़ेगा।" यों कहकर संत उस शीशी को पी गए। सेठ को प्रतीति हो गई कि अपने कुटुम्ब-कबीले को मैं व्यर्थ ही शरण रूप मानता था, परन्तु कोई भी मुझे दुःख में शरणदाता, त्राता नहीं।

इसी प्रकार कई भोले-भाले लोग धन को शरण रूप मानते हैं, परन्तु धन तो चंचल है, नाशवान् है, यह मनुष्य का शरणदाता कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार संसार का कोई भी पदार्थ शरणदायक नहीं है।

जैनधर्म में चार शरण बताये हैं, वे भी सत्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। अरिहन्तों की शरण इसलिए ली जाती है, कि वे परमसत्य (केवलज्ञान) को उपलब्ध किये हुए देहधारी वीतरागी पुरुष हैं। सिद्धों की शरण इसलिए स्वीकार करते हैं कि

वे परमसत्य की पूर्णता को ज्ञान-दर्शन-चारित्र, वीर्य और सुख के रूप में पाकर कृतकृत्य एवं देहमुक्त हो चुके हैं। तीसरी साधु की शरण इसलिए ग्रहण की जाती है कि वे परम सत्यार्थी और सत्य के परमशोधक हैं, उत्कृष्ट साधक भी हैं। और चौथी शरण ली जाती है धर्म की, वह परमसत्यधर्म की ली जाती है, यानी जो धर्म सत्य से ओतप्रोत है, उसी की शरण ली जाती है। इस प्रकार इन चारों शरणों का सत्य शरण में अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा—**'सरणं तु सच्चं'** 'शरण तो सत्य ही है।'

सत्य की शरण ही क्यों ?

प्रश्न होता है, सत्य की ही शरण क्यों ली जाए? सत्य में ऐसी क्या विशेषता है ?

सर्वप्रथम तो आपको यह समझ लेना है कि सत्य सांसारिक पदार्थों की तरह नाशवान् या क्षणिक—अनित्य नहीं है, वह शाश्वत है, नित्य है। हजारों वर्ष पहले जो सत्य था, वही आज भी है। दूसरे उसकी बलिष्ठता के कारण उसकी शरणदायकता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। प्रश्नव्याकरणसूत्र में सत्य की महाशक्ति का परिचय दिया गया है। मैं संक्षेप में आपको बताऊँगा—"महासमुद्र में दिग्भ्रान्त बने हुए जहाज सत्य के प्रभाव से स्थिर रहते हैं, डूबते नहीं। जल का उपद्रव होने पर सत्य के प्रभाव से मनुष्य न बहते हैं, न मरते हैं, किन्तु पानी की थाह पा लेते हैं। यह सत्य का ही प्रभाव है कि मनुष्य अग्नि में जलते नहीं। सत्य को अपनाने वाले व्यक्ति पहाड़ से गिराये जाने पर भी मरते नहीं। युद्ध में तलवार हाथों में लिए हुए विरोधियों से घिरकर भी सत्यनिष्ठ महापुरुष अक्षत निकल आते हैं। सत्य के प्रभाव से सत्यधारी घोर वध, बन्ध, अभियोग और शत्रुता से भी मुक्ति पा लेते हैं और शत्रुओं से बचकर निकल आते हैं। सत्य से आकृष्ट होकर देवता भी सत्यवादी की सेवा में रहते हैं।"

भारतीय संस्कृति में एक सूक्ति प्रचलित हैं—**"सत्य में हजार हाथियों के बराबर बल होता है।"** शारीरिक दृष्टि से यह बात भले ही तथ्यपूर्ण न लगती हो, मगर आत्मिक दृष्टि से तो पूर्णतः यथार्थ है। जो व्यक्ति सत्य की शरण में चला जाता है, उस सत्यनिष्ठ में इतनी आत्मशक्ति आ जाती है कि वह अकेला हजार मिथ्याचारियों से भिड़ सकता है, और अन्ततः विजयी बनता है। इसलिए ऐसे बलिष्ठ और आपत्काल में रक्षक सत्य की शरणागति में किसको सन्देह हो सकता है? सत्य की शरण स्वीकार करने पर व्यक्ति चाहे कितनी ही आपदाओं से घिरा हो, उसे सान्त्वना मिलती है, उसका विश्वास दृढ़ होता है, और उसकी रक्षा भी होती है।

सत्य ही अपनी शरण में आए हुए व्यक्ति के जीवन में बल और प्रकाश भरता है। सत्य का अवलम्बन लेने पर समाज की शक्ति और क्षमता में चार चाँद लग जाते हैं। असत्य का आश्रय लेने पर व्यक्ति एवं समाज, चाहे वह कितना ही सम्पन्न,

समृद्ध, बलिष्ठ या सत्ताधीश हो, उसका अधःपतन हो जाता है, वह भयंकर दुःखों को पाता हुआ दुर्गतियों में भटकता है। एक प्राचीन कथा इस सम्बन्ध में सुन्दर प्रकाश डालती है—

+(तुरमिणी नगरी के निवासी कालक ब्राह्मण ने पूर्वजन्म के संस्कारवश स्वयं प्रतिबोध पाकर स्वयं भागवती दीक्षा ले ली। अपनी योग्यता के बल पर उन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ।

उसी नगरी में उनकी गृहस्थपक्षीय भद्रा नाम की बहन थी, उसके एक पुत्र था, जिसका नाम दत्त था। वह बड़ा होने पर निरंकुश और उद्दण्ड हो गया। उसमें अनेक व्यसन भी लग गये। किन्तु किसी कारणवश राजा का मुँहलगा होने से राजा ने उसे मंत्री पद दे दिया। मंत्री बनने पर उसने तिकड़मबाजी करके राजा को किसी बहाने से राज्य से बाहर निकाल दिया और अपने आपको राजा घोषित कर दिया। राजा भी अपनी किसी दुर्बलता के कारण उससे डरकर भाग गया और छिपकर रहने लगा। लोभी ब्राह्मणों को अपने पक्ष में करने के लिए महाक्रूर मिथ्यात्वग्रस्त दत्तराजा उनसे अनेक यज्ञ कराने लगा, जिनमें अनेक पशुओं का वध किया जाता था।

एक बार कालकाचार्य विचरण करते हुए तुरमिणी नगरी पधारे। दत्तराजा अपनी माता भद्रा के अनुरोध से आचार्य के दर्शनार्थ गया। आचार्यश्री ने धर्मोपदेश दिया, जिसमें उन्होंने धर्माचरण करने पर जोर दिया। उसे सुनकर दत्तराजा ने यज्ञ का फल पूछा। आचार्यश्री ने कहा—जिस यज्ञ के साथ हिंसा जुड़ी हुई है, वह सुगतिदायक नहीं हो सकता। कहा भी है—

दमो देवगुरूपास्तिर्दानमध्ययनं तपः।
सर्वमप्येतदफलं हिंसा चेन्न परित्यजेत् ॥

"इन्द्रिय-दमन, देव और गुरु की उपासना, दान, अध्ययन और तप ये सब तब तक निष्फल हैं, जब तक हिंसा का परित्याग न किया जाए।" इस प्रकार सत्य उत्तर देने पर भी पुनः दत्त ने वही प्रश्न दोहराया। आचार्यश्री ने कहा—जहाँ हिंसा होगी, वहाँ इहलोक में भी उसका फल बुरा है, परलोक में भी। योगशास्त्र में कहा है—

पंगुकुष्टिकुणित्वादि, दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रसजन्तूनां, हिंसा संकल्पतस्त्यजेत् ॥

बुद्धिमान पुरुष लूला, लंगड़ा, कुष्ठरोगी, अंधा आदि को हिंसा का फल जान कर निरपराध त्रसजीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करे। इस पर क्षुब्ध होकर दत्तराजा पुनः बोला—"ऐसा अंटसंट उत्तर क्यों दे रहे हो, जो बात हो, वह सच-सच कहो।" कालकाचार्य ने सोचा—'राजा मिथ्यात्वग्रस्त होने से यज्ञधर्म में आसक्त है। इसे सच्ची बात सुहाती नहीं परन्तु मेरा धर्म है, सत्य कहने का। मैंने सत्य की

शरण ली है, वही विपत्तियों का रक्षक है। अतः कुछ भी हो जाय अनेक दुःखों का कारण, यशोनाशक असत्य तो मैं जरा भी नहीं कहूँगा।'

यह सोचकर आचार्यश्री ने दत्तराजा से कहा—राजन्! यदि सत्य ही सुनना चाहते हो तो हिंसाजनक यज्ञ का फल नरक ही है। कहा भी है—

यूपं कृत्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे, नरके केन गम्यते?

"यज्ञस्तम्भ गाड़कर, पशुओं को मारकर और रक्त का कीचड़ करके अगर कोई स्वर्ग में जा सकता है तो फिर नरक में कौन जाएगा?"

इस पर दत्तराजा ने तमककर कहा—"आपके इन गपोड़ों को मैं नहीं मानता। मुझे तो यह बताइए कि यज्ञ का फल नरक है, यह प्रत्यक्ष कैसे जाना जा सकता है? क्या आपने किसी को नरक में जाते हुए देखा है?"

आचार्यश्री ने निर्भीकता से सच-सच कह दिया—"आज से सातवें दिन घोड़े के खुर उछलकर विष्ठा तेरे मुख में पड़ेगी, फिर तू लोहे की कुम्भी में डाला जाएगा। अगर मेरी यह बात सच निकले तो उस पर से तू अनुमान लगा लेना कि तुझे अवश्य ही नरक में जाना पड़ेगा।"

दत्तराजा सत्ता के अभिमान में बोला—"और आपकी कौन-सी गति होगी?" आचार्य बोले—"हम अहिंसा आदि धर्म पर चलने वाले हैं, धर्म के प्रभाव से देवगति ही होगी हमारी।"

यह सुन दत्त क्रोध से अत्यन्त भभक उठा। उसने मन ही मन सोचा—अगर सात दिनों में यह बात नहीं बनी तो आचार्य को मौत के घाट उतार दूँगा। उसने आचार्यश्री के चारों ओर सुभटों का पहरा बिठा दिया, ताकि वे कहीं भाग न जाएँ। स्वयं नगर में आया और नगर के सारे रास्तों पर से मलमूत्र आदि की गंदगी हटवा कर सारे नगर की सफाई करवा दी तथा सात दिन तक सर्वत्र फूल बिछा देने का आदेश देकर स्वयं अन्तःपुर में जा बैठा।

जब छह दिवस बीत गये, तब आठवें दिन की भ्रान्ति से कोपायमान दत्तराजा अपने घोड़े पर सवार होकर आचार्यश्री को मारने के लिए आ रहा था। एक जगह एक बूढ़े माली ने टट्टी की असह्य हाजत हो जाने से जहाँ फूल बिछाए हुए थे, वहाँ मार्ग के बीच में ही शौचक्रिया करके उस पर फूल ढक दिये थे। राजा का घोड़ा उसी रास्ते से आ रहा था। सहसा उसी विष्ठा पर घोड़े का पैर पड़ा और उसका छींटा उछलकर राजा के मुँह में पड़ा। राजा एकदम चौंका। आचार्यश्री द्वारा कही हुई बात पर उसे विश्वास हो गया। अतः वह वापिस लौटा। इसी बीच एकान्त स्थान देखकर भूतपूर्व राजा के विश्वस्त सिपाहियों ने उसे दुष्ट जानकर पकड़ लिया और भूतपूर्व राजा जितशत्रु को पुनः राजगद्दी पर बिठा दिया। सामन्तों ने सोचा कि

दुष्ट दत्त जिन्दा रहेगा तो फिर कोई न कोई उत्पात मचाएगा। अतः उसे लोहे की कोठी में बन्द कर दिया। उसमें अनेक दिनों तक अपार कष्ट भोगता हुआ, विलाप करता-करता दत्त मर गया और वहाँ से सातवीं नरक में पहुँचा।)

कालकाचार्य चारित्र पालन करके सत्यशरण के प्रभाव से महाविपत्ति से बच गए और स्वर्ग पहुँचे। इसीलिए महाभारत के अनुशासनपर्व में कहा है--

आत्महेतोः परार्थेवा, नर्महास्याश्रयात्तथा।
न मृषा वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥

--जो लोग इस संसार में अपने स्वार्थ के लिए या दूसरे के लिए अथवा विनोद या मजाक में भी असत्य नहीं बोलते, वे सत्यवादी स्वर्गगामी होते हैं।

बन्धुओ ! कालकाचार्य सत्यशरण से ही उद्दण्ड और क्रूर राजा के कोपभाजन होने से और उसके द्वारा होने वाली हत्या से बच सके। सत्य ने ही अपने शरणागत की रक्षा की।

सत्य की शरण में जाने पर परिपूर्णकाम

बहुत से लोग कहते हैं--सत्य की शरण में जाने पर मनुष्य अपनी इच्छाएँ पूर्ण नहीं कर सकता, उसे अपनी बहुत-सी इच्छाओं को दबाना पड़ता है, वह अनेक अभावों से पीड़ित रहता है। और तो क्या, सुख से जीवनयापन भी नहीं कर सकता। परन्तु यह कथन उन्हीं लोगों का है, जिन्हें सत्य की परमशक्ति पर विश्वास नहीं है, जिन्हें सांसारिक पदार्थों की तृष्णा सताती रहती है, जो झूठे सम्मान और झूठी प्रतिष्ठा एवं क्षणिक यशोगान के भूखे रहते हैं, जिनका मन शारीरिक और इन्द्रियविषयजनित सुखों की लालसा से घिरा रहता है, जो स्वाधीन एवं वास्तविक आत्मसुख को जानते नहीं। ऐसे लोग ही अपनी सांसारिक सुखमयी दृष्टि से सत्यशरणलीन महापुरुषों के जीवन को आँका करते हैं। सत्यनिष्ठ राजा हरिश्चन्द्र को सत्य की शरण में जाने पर कितना कष्ट उठाना पड़ा। अपना राजपाट, धन-धाम, ऐशआराम सब कुछ छोड़कर उन्हें पैदल अयोध्या से काशी भागना पड़ा। रास्ते में अनेक कष्ट भोगे। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी और थकान आदि के कष्ट तो थे ही, अपमान का कष्ट भी क्या कम था। काशी जाने पर विश्वामित्र की ओर से बार-बार एक सहस्र स्वर्णमुद्राओं का तकाजा और क्रोधावेश में आकर धमकी, यहीं तक दुःखों का अन्त नहीं हुआ। उन्हें अपनी रानी तारामती को भी बेचना पड़ा, स्वयं को भी भंगी के यहाँ बिकना पड़ा, अपने पुत्र-पत्नी का वियोग सहना पड़ा। भंगी के यहाँ भी कम अपमान नहीं था।

इन बातों पर से साधारण स्थूलदृष्टि का मानव यही अनुमान कर लेता है कि सत्य की शरण में जाने से ही अनेकों दुःख राजा हरिश्चन्द्र को सहने पड़े। परन्तु राजा हरिश्चन्द्र के मन से अगर वे पूछते कि आपको कितने कष्ट सहने पड़े हैं ? तो शायद वे यही कहते--"सत्य की रक्षा करने में मुझे जो आनन्द आया, उससे मेरी आत्मा का जो विकास हुआ, तथा मेरी जो सहनशक्ति बढ़ी, आत्मा पर जो राजा,

वैभवशाली, भाग्यवान, सत्ताधीश आदि पदों के अहंकार के जो विकार पड़े थे, वे दूर हुए, आत्मा अपने असली स्वभाव में आकर चमक उठा, एक महात्मा के समान मेरा जीवन कष्टों की भट्टी में तपकर खरा सोना बन गया, यह लाभ उन शारीरिक और मानसिक कष्टों की अपेक्षा कई गुना है, जो मुझे मिला है। अगर मैं सत्य पर दृढ़ न रहता तो इतनी उपलब्धियाँ कहाँ से होतीं।"

वास्तव में, सत्य की शरण में जाने पर मनुष्य सांसारिक सुखभोग की कामनाओं से दूर होता जाता है। एक दिन वह परिपूर्णकाम हो जाता है, तृप्त हो जाता है। भगवद्गीता के शब्दों में—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

"जो मानव आत्मा में ही रमण करता है, आत्मा में ही तृप्त हो जाता है, और आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है, उसके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहता।"

सत्यनिष्ठ व्यक्ति आत्मा में तृप्त और सन्तुष्ट हो जाता है, वह अपने आत्म-सुख में, आत्मस्वभाव में रत हो जाता है, तब उसके मन में सांसारिक पदार्थों तथा तज्जन्य सुखों की कामना शनैः-शनैः लुप्त हो जाती है।

पुराणों में एक कथा आती है। मनुष्य को अपूर्णता बुरी लगी, उसने पूर्ण बनने की सोची और उसका उपाय पूछने ब्रह्माजी के पास पहुँचा। ब्रह्माजी ने मनुष्य का आशय समझा और कहा—"वत्स ! सत्य को धारण करने से पूर्णता प्राप्त होगी। जिसके पास जितना सत्य होता है वह उतनी ही पूर्णता प्राप्त कर लेता है। अतः तू सत्य की उपासना कर।"

यह पौराणिक कथा संकेत करती है कि जो मनुष्य सत्य की शरण में जाकर उसकी निष्ठापूर्वक उपासना करता है, प्रत्येक कसौटी के प्रसंग पर अपनी सत्यनिष्ठा का परिचय देता है, वह बाह्य पदार्थों, बाह्य सुखों एवं मोहक सम्मानादि द्वन्द्वों के भँवरजाल में नहीं फँसता। उसे इनकी परवाह नहीं रहती, उसे अपनी आत्मा में ही असीम सुख, सन्तोष और तृप्ति का आनन्द मिल जाता है।

फिर उसे लक्ष्मी या बाह्य सुख के चले जाने का दुःख नहीं होता, उसे सत्य का परित्याग करने में ही दुःख का अनुभव होता है।

महाभारत में शान्तनु राजा के जीवन की एक विशिष्ट घटना दी गई है। उस कहानी का सारांश इतना ही है कि सत्यनिष्ठ मनुष्य धन, दान, शिष्टाचार या प्रसिद्धि, यशकीर्ति, सम्मान, बाह्य सुख आदि के बिना तो रह सकता है, वह किसी चीज का अभाव महसूस नहीं करता, परन्तु सत्य के बिना नहीं रह सकता। म० गाँधी के शब्दों में कहूँ तो—**"सत्य के पुजारी पर परिस्थिति का प्रभाव नहीं**

पड़ता ।" उसका चिन्तन **यश्न** (९०/५) के अनुसार इस प्रकार रहता है— **हमारे घर में सत्य की प्रतिष्ठा हो, असत्य हमसे दूर हो ।"**

वास्तव में दु:ख से संतप्त व्यक्ति अगर सत्य की शरण ग्रहण कर लेता है तो उसे अपना दु:ख दु:ख महसूस नहीं होता, बल्कि वह दु:ख को कर्मक्षयजनक सुख का कारण मानकर उसे सहर्ष सहने की शक्ति पा लेता है। सत्य की शरण में जाने पर कदाचित् व्यक्ति निर्धन भी हो जाए या उसके पास धनपतियों जितनी धन की आय न हो, फिर भी उसे निर्धनता या स्वल्पधनता दु:खदायिनी महसूस नहीं होती । बल्कि सत्यार्थी पुरुष के लिए निर्धनता शोभारूप है। सत्य के लिए वह निर्धनता को स्वीकार कर लेगा, बाह्य सुख-सुविधाओं का भी स्वेच्छा से बलिदान कर देगा, परन्तु सत्य को छोड़ना या असत्य को प्रश्रय देना कदापि स्वीकार नहीं करेगा।

दादा मावलंकर जिस न्यायालय में वकील थे, उसमें मजिस्ट्रेट उनका घनिष्ठ मित्र था। यों वकालत के क्षेत्र में उन्हें पर्याप्त यश, सम्मान और धन भी मिला था, पर यह सब उनके लिए तभी तक था, जब तक सांच को आंच नहीं आने पाती। वे कोई भी झूठा मुकदमा नहीं लेते थे, फिर चाहे झूठे मुकदमे की पैरवी से मिलने वाले हजारों रुपये ही क्यों न ठुकराने पड़ें।

एक बार उनके पास वेदखली के चालीस मुकदमे आए। मुकदमे लेकर पहुँचने वाले जानते थे कि कलेक्टर साहब दादा मावलंकर के मित्र हैं, इसलिए जीत की आशा से भारी अर्थराशि देने को तैयार थे। मावलंकर चाहते तो वैसा कर भी सकते थे। लेकिन उन्होंने पैसे का रत्तीभर भी लोभ न कर अपनी सत्यनिष्ठा का परिचय दिया। सभी दावेदारों को बुलाकर उन्होंने साफ-साफ कह दिया—"आप लोग आज तो घर जाएँ। कल जिनके मुकदमे सच्चे हों, वे ही मेरे पास आएँ।"

आपको आश्चर्य होगा कि दूसरे दिन एक व्यक्ति पहुँचा। मावलंकरजी ने उसके मुकदमे की पैरवी की, शेष ने उन पर बहुत दबाव डलवाया, पर उन्होंने वे मुकदमे छुए तक नहीं।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि मावलंकर जैसे सत्य का अश्रय लेने वाले लोग अल्पधनी होते हुए भी शान, सुख, निर्भयता, निश्चिन्तता और स्वाभिमान के साथ जीते हैं, जबकि असत्य का अश्रय लेकर चलने वाले चाहे एक बार धन का अम्बार लगा लें, सुख-सुविधा के साधन भी प्रचुर मात्रा में जुटा लें, लेकिन वे धन और साधन उन्हें सुख की नींद सोने नहीं दे सकते, उनके जीवन में विषाद, क्षोभ, ग्लानि, अपमान, अशान्ति और पश्चात्ताप की परिस्थितियाँ अधिक आने की सम्भावना है।

सत्यशरण : कष्टहरण

लोगों को प्राय: सत्य की शक्ति पर भरोसा नहीं होता, इस कारण वे सत्य की शरण लेने से कतराते है। वे समझते हैं, सत्य बोलने या सत्य व्यवहार करने से हमारा दोष, या अपराध जाहिर हो जाएगा, हमारी तौहीन होगी, समाज में हम अप-

मानित या निन्दित होंगे, परन्तु होता इससे उलटा है। जो लोग सत्य की शरण में जाते हैं, वे कदाचित् किसी अपराध या दोष के कारण किसी कष्ट में पड़े हों तो भी सत्य के प्रभाव से उनका वह कष्ट दूर हो जाता है, उनके सिर से बहुत बड़ी चिन्ता का भार हलका हो जाता है, उनका सम्मान भी बढ़ता है, लोगों में उनका विश्वास बैठ जाता है, वे विश्वसनीय व्यक्ति बन जाते हैं। पाश्चात्य विद्वान ड्राइडेन (Dryden) के शब्दों में सत्य की महत्ता देखिए—"**Truth is the foundation of all knowledge and the cement of all societies.**

"सत्य तमाम ज्ञानों की आधारशिला है और तमाम समाजों के साथ सम्बन्धों को सुदृढ़ करने वाला सिमेंट है।"

अहमदाबाद के एक प्रतिष्ठित भाई ने अपनी पत्नी से किसी बात पर मतभेद होने के कारण आवेश में आकर पत्नी के सिर पर ईंट दे मारी, जिससे वह मूच्छित होकर गिर पड़ी, कुछ ही देर में उसने वहीं दम तोड़ दिया। वह भाई तुरन्त पश्चात्तापयुक्त होकर पुलिस स्टेशन गए और अपने अपराध की सत्य घटना कह सुनाई। पुलिस ने उन पर केस चलाया। उस भाई के वकील ने कहा—"इस दुर्घटना में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। अतः यदि आप यह बयान दे देंगे कि मेरे हाथ से यह अपराध हुआ ही नहीं है, तो आप निर्दोष छूट जाएँगे।"

उस सत्यनिष्ठ भाई ने कहा—"मैं असत्य बोलकर अपने को निर्दोष सिद्ध नहीं करना चाहता। सत्य बोलते हुए आप मुझे कानून से बचा सकते हों तो बचाइए। अन्यथा, अपने किये हुए अपराध के बदले में मुझे जो सजा होगी, उसे मैं भोगने को तैयार हूँ।" कोर्ट में जब उस पर मुकदमा चला तो मजिस्ट्रेट के सामने उसने सत्य बयान दिये। इससे मजिस्ट्रेट बहुत प्रसन्न हुए। मजिस्ट्रेट ने दुःखित हृदय से कानून की दृष्टि से सजा तो सुना दी, परन्तु अपनी राय देते हुए उसने कहा—"न्यायाधीश पद पर काम करते हुए मैंने ऐसा सत्यवादी मनुष्य पहली ही बार देखा है। इसलिए मैं सरकार से प्रार्थना करता हूँ कि जब भी कोई खुशी का अवसर आए तो इस सत्यवादी भाई को दण्डमुक्त कर दिया जाए।" ऐसा ही हुआ। कुछ समय बाद ही सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक की खुशी में इस भाई को दण्डमुक्त कर दिया गया। यह केस जब पाँच हजार मील दूर बैठे यूरोप निवासियों ने सुना तो वे इस भाई की सत्यप्रियता पर बहुत प्रसन्न हुए। नतीजा यह हुआ कि वहाँ की कई कम्पनियों ने बिना माँगे ही इस भाई को अपनी एजेंसियाँ दे दीं, जिससे उसका व्यवसाय बड़े जोरों से चल निकला और कुछ ही वर्षों में उसकी गिनती धनकुबेरों में होने लगी।

बन्धुओ ! यह है, सत्यशरण का चमत्कार ! उस व्यापारी ने सत्य की शरण ली और सत्य पर डटा रहा, जिसके कारण उसका कष्ट भी दूर हो गया, सम्मान और धन भी बढ़ा।

अपराधी के सत्य की शरण में जाने का चमत्कार

शास्त्र में बताया है कि कोई साधु मोहवश कोई पाप या अपराध कर लेता है, जिससे उसका महाव्रत या व्रत भंग हो जाता है, परन्तु दृढ़ विश्वासपूर्वक सत्य की शरण लेकर अगर वह आचार्य या गुरु की सेवा में आकर सच्ची-सच्ची आलोचना कर लेता है तो उसकी रक्षा हो जाती है। कदाचित् कोई अपराध प्रगट हो जाए तो इस प्रकार सत्यतापूर्वक आलोचन या प्रकटीकरण करने और पश्चात्ताप सहित प्रायश्चित्त ले लेने पर समाज उसे माफ कर देता है। इस प्रकार उसकी वहाँ भी और आगे भी आत्मरक्षा हो जाती है। सत्य उसकी आत्मा को पाप के बोझ से हलका और शुद्ध बना देता है। गृहस्थ भी किसी अपराध के बाद सत्यशरण स्वीकार करे तो भारी सरकारी सजा से बहुत कुछ अंशों में बच जाता है, आत्मशुद्धि भी कर लेता है।

अफ्रीका में महात्मा गांधी के पास करचोरी का एक केस आया। गांधीजी उसकी पैरवी कर रहे थे, परन्तु मुवक्किल का करचोरी का अपराध सिद्ध हो रहा था। सत्यनिष्ठ गांधी को पता लगा कि मुवक्किल ने वास्तव में करचोरी की है और उसे वह छिपाकर निर्दोष सिद्ध होना चाहता है, वे दूसरे ही दिन मुवक्किल के पास पहुँचे और कहने लगे—"मैं आपके मुकदमे की पैरवी नहीं कर सकता, मुझे मामला झूठा लगता है। आपकी करचोरी प्रायः सिद्ध हो चुकी है। आपको बहुत ही भयंकर सजा मिलने की सम्भावना है। अतः इससे बचने का एक ही उपाय है—सत्य की शरण ! आप अपनी करचोरी का अपराध स्वीकार कर लें। मेरा विश्वास है कि इससे आपको सजा तो होगी, पर बहुत मामूली सजा से या कदाचित् सजा बिना ही काम हो जाएगा।" घबराये हुए मुवक्किल ने गांधीजी की सलाह मानकर सत्य की शरण स्वीकार की। गांधीजी ने अदालत में अपने मुवक्किल की ओर से कहा—"मेरे मुवक्किल ने करचोरी की है, इसके लिए उसके मन में पश्चात्ताप है और वह अपनी गलती स्वीकार करता है।" गांधीजी के इस सत्य बयान पर सब वकील आश्चर्यचकित हो गए कि यह मुवक्किल को और फँसा रहा है। परन्तु मजिस्ट्रेट ने गांधीजी के मुवक्किल द्वारा सत्यतापूर्वक अपना अपराध स्वीकार कर लेने के कारण भारी सजा के बदले जितने रुपयों की करचोरी की थी, उससे दुगुनी अर्थराशि भर देने की सजा दी। मुवक्किल ने यह सजा स्वीकार करली और अर्थदण्ड भर देने के बाद एक बड़े कागज में करचोरी का ब्योरा लिखा तथा नीचे सूचना लिखी कि भविष्य में मेरी फर्म में कोई किसी प्रकार की करचोरी न करे। उस कागज को शीशे में मढ़ाकर उन्होंने अपनी फर्म में टँगवा दिया।

मतलब यह है कि महात्मा गांधी ने अपने मुवक्किल को सत्य की शरण स्वीकार कराकर उसे एक बड़े संकट से बचाया। सत्य के प्रभाव से दण्ड भी कम मिला और भविष्य के लिए उसके जीवन का सुधार भी हो गया।

सत्यशरण से निर्भयता का संचार

सत्यशरण स्वीकार करने पर अगर व्यक्ति किसी संकट में फँस भी जाता है तो सत्याधिष्ठित देव उसकी सहायता करते हैं, उसमें एक प्रकार की निर्भयता आ जाती है, वह बेधड़क होकर अपने अपराध को स्वीकार कर लेता है, इतना ही नहीं, सत्य के प्रभाव से वह उस अपराध से शीघ्र छुटकारा पा लेता है। शास्त्र में कहा है—

"सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरइ।"

सत्य की आज्ञा में उपस्थित मेधावीपुरुष मृत्यु के क्षणों भी पार कर जाता है, अथवा मृत्युभय पर भी विजय पा लेता है। वह किसी प्रकार का भय नहीं रखता। जैसा कि नीतिकार कहते हैं—

"सत्ये नास्ति भयं किंचित्"

—सत्य के होने पर किंचित् भी भय नहीं रहता।

जयपुर के पास घोड़ीग्राम का घाटम नामक मीना अपना परम्परागत चोरी का धंधा करता था। वह कभी-कभी एक महात्मा के पास सत्संग करने जाया करता था। एक दिन महात्मा ने घाटम से कहा—"भाई! तू चोरी करना छोड़ दे।" घाटम ने कहा—"चोरी ही मेरी आजीविका है। इसे छोड़ दूँ तो परिवार का पालन कैसे करूँगा। और कोई आज्ञा दें।"

महात्मा ने कहा—अगर चोरी करना नहीं छोड़ सकता तो न सही, तुझे चार नियम बताता हूँ, उनका पालन आवश्य करना—

(१) सदा सत्य बोलना,
(२) संत-सेवा करना,
(३) प्रत्येक खाद्य पदार्थ भगवदर्पण करके खाना,
(४) भगवान की आरती देखना।

सरलहृदय घाटम ने चारों नियम के लिए। एक बार भगवान का उत्सव था। गुरुजी बहुत दूर थे। उन्होंने घाटम को इस उत्सव में शामिल होने के लिए बुलाया। घाटम ने सोचा—समय बहुत कम है, स्थान अति दूर है। अतः उसने राजा के घुड़साल से एक घोड़ा चुराया और हवा हो गया। पहरेदारों ने पूछा तो उसने अपने को चोर बताया था। रास्ते में सन्ध्या हो जाने से घाटम एक मन्दिर में ठहर गया। बाहर घोड़ा बाँध दिया और आरती करने लगा। उधर जब घोड़े के चुराने का पता लगा तो राजा के घुड़सवार पदचिन्ह देखते हुए वहाँ पहुँच गये। पर उन्हें वह घोड़ा भ्रम से या भगवान की माया से श्वेत रंग का दिखाई देता था। जब घाटम घोड़े पर चढ़ने लगा तो उन्हें आश्चर्यचकित देखकर कहा—"घबराओ मत, मैं वही चोर हूँ, घोड़ा भी वही है। मुझे गुरुजी के यहाँ महोत्सव में पहुँचना है! तुम चाहो

तो चलो मेरे साथ। मैं वहाँ से लौटकर राजा के पास चलूंगा।" सिपाहियों ने मान लिया। महोत्सव से लौटकर घाटम सीधा राजा के पास पहुँचा। राजा के पूछने पर सारी घटना सच-सच कह दी। राजा ने चकित होकर सत्यनिष्ठ घाटम के चरणों में नमन किया। फिर उसे बहुत-सा धन देना चाहा, लेकिन उसने लेने से साफ इन्कार कर दिया। सिर्फ एक घोड़ा गुरुजी की सेवा में जाने के लिए स्वीकारा। तब से घाटम ने चोरी करने का त्याग कर दिया।

यह है, सत्यशरणागत व्यक्ति की निर्भयता और अन्य दुर्गुण के छूट जाने का ज्वलन्त उदाहरण !

सत्य की शरण में जाने से आध्यात्मिक लाभ

सत्य को परमात्मा माना गया है, इसलिए जिसके हृदय में सत्य भगवान विराजमान है, उसकी प्रत्येक बाह्य और आभ्यन्तर क्रिया सत्य से प्रेरित एवं संचालित होती है। सत्यशरण ग्रहणकर्ता व्यक्ति के भीतर सत्य के रूप में जो परमात्मा अन्तर्यामी है, वह कामधेनु के समान है। अगर सत्यनिष्ठ साधक पूर्णरूप से उसकी शरण में चले जाएँ, उसकी आज्ञा के अधीन चलें, प्रत्येक क्रिया उसी की प्रेरणा से करें तो सत्य उनकी शुभेच्छाओं—सत्यप्रेरित शुभ संकल्पों को पूर्ण करेगा। इस युग में महात्मा गांधी का उदाहरण हमारे सामने प्रत्यक्ष ही है। जनकल्याण के उनके प्राय: सभी संकल्प पूर्ण होते गये—अस्पृश्यतानिवारण, स्वराज्य, सामूहिक सत्याग्रह, ग्रामोद्योग, खादी आदि कार्यक्रम समाज में सफलतापूर्वक प्रविष्ट होते गए। इसके अतिरिक्त सत्य की शरण में जाने से सत्य के साक्षात्कार की जो शुभेच्छा है, वह पूर्ण होगी। सत्य की शरण में जाने का एक फल यह भी है कि उससे व्यक्ति की चित्तशुद्धि होती है। चित्त में जो मलिनताएँ हैं, वे सत्य के संस्पर्श से दूर हो जाती है। इस प्रकार भीतर प्रकट परमात्मा-सत्य की शरण लेने से मुक्त चिन्तन होगा, अन्य आध्यात्मिक गुणों का विकास होगा।

व्रतभंग होने पर भी सत्यनिष्ठा का प्रभाव

कई बार कोई सत्यनिष्ठ साधक भूल से या मोहवश किसी व्रत या नियम को भंग कर देता है, परन्तु अगर उस साधक की सत्यशरण पक्की है तो सत्याधिष्ठायक देव उसका जो प्रभाव व्रत या नियम के भंग होने से पहले था, उसे कम होने नहीं देते। उसका प्रभाव बदस्तूर चलता है।

एक सत्यव्रती एवं शीलनिष्ठ सेठ के शील के प्रभाव से सैकड़ों रोगी और पीड़ित व्यक्ति उसके यहाँ आते थे और झरोखे में बैठे हुए उस सेठ के दर्शन करते ही वे रोग-शोकमुक्त हो जाते थे। सेठ के शील का यह अनूठा प्रभाव दूर-दूर तक फैला हुआ था। संयोगवश एक दिन मोहवश उसका शील भंग हो गया। इस भूल का उसके हृदय में बहुत पश्चात्ताप हुआ। रह-रहकर मन में यह अफसोस होता था कि नियत तिथि पर हजारों दुःखी लोग आएँगे, उन्हें मुँह कैसे दिखाऊँगा। इसी बीच वहाँ का

राजा अत्यधिक बीमार हो गया। लोगों के कहने से राजा भी उस सेठ के दर्शन करने आ पहुँचा। पर लम्बी प्रतीक्षा करने पर भी सेठ नहीं आया। मुख्य सचिव आदि लोगों ने घर में आकर सेठ से दर्शन देने का आग्रह किया। पर सेठ की आँखें शर्म से नीचे झुकी जा रही थीं। लोगों के अत्यधिक आग्रह पर उसने अपनी शीलभ्रष्टता की कहानी सबके सामने निःसंकोच कह डाली। और यह भी कहा—"अब मुझमें वह शक्ति नहीं है, जिससे आपका रोग-शोक मिट जाए। अतः आप अपने घर जाएँ।" परन्तु पीड़ित लोग कब मानने वाले थे। उन्होंने समझा—सेठ को अपनी शक्ति का मद हो गया है, वह बला टालने के लिए ऐसा करता है। अतः लोगों ने जबरन पकड़ कर सेठ को झरोखे में बिठा दिया। सेठ तो लज्जावश नीचे नेत्र किये बैठा रहा, पर लोगों के रोग उसका दर्शन करते ही सदा की तरह शान्त हो गए। वे स्वस्थ होकर सेठ के गुण गाते हुए रवाना हुए। स्वयं राजा ने उसका बहुत उपकार माना। परन्तु सेठ स्वयं विस्मित था कि यह हो कैसे गया? मेरा तो शील खंडित हो चुका था, वह विचार कर ही रहा था कि शीलसहायक देव आकर उसकी प्रशंसा करते हुए कहने लगा—यद्यपि तुम्हारा शील खण्डित हो चुका, लेकिन सत्य तो खण्डित नहीं हुआ। तुम्हारी सत्य की ली हुई दृढ़ शरणनिष्ठा तथा सबके सामने अपनी गलती सत्य-सत्य मान लेने की वृत्ति देखकर मैं प्रभावित हुआ और मैंने ही तुम्हारा सारा प्रभाव बढ़ाया है।

सचमुच, सेठ की सत्यशरण की दृढ़निष्ठा ने उसके प्रभाव को अक्षुण्ण रखा। इसी प्रकार साधकजीवन में अगर सत्यनिष्ठा कायम रहे तो दूसरे दुर्गुण भी धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं।

सत्यशरण : विश्वसनीयता का कारण

कई बार सत्यशरणागत व्यक्ति भारी विपत्ति में फँस जाता है, लेकिन अगर उसकी सत्यनिष्ठा अन्त तक कायम रहती है तो वह विश्वासपत्र व्यक्ति बन जाता है। इसीलिए भक्तपरिज्ञा में स्पष्ट कहा है—

> **विसस्सणिज्जो माया व होइ, पुज्जो गुरु व लोअस्स।**
> **सयणुव्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस पियो होई॥**

सत्यवादी माता की तरह विश्वासपात्र होता है, गुरु की तरह लोगों का पूजनीय होता है तथा स्वजन की तरह वह सभी को प्रिय होता है।

ऐसे कई उदाहरण भारतीय इतिहास के पन्नों पर अंकित हैं।

एक दूसरे राज्य के सेनापति ने राजपूतों के किले को चारों ओर से घेरा हुआ था। राजपूतों का नायक रघुपतिसिंह भागकर वन में चला गया। उसे जीवित या मृत पकड़कर लाने वाले को इनाम की घोषणा की गई। अचानक रघुपतिसिंह को खबर मिली कि उसका पुत्र मरणासन्न है। अतः वह पुत्र को देखने की इच्छा से वन से लौटा और घेरा डालने वाली सेना के नायक से निवेदन किया—"मेरा पुत्र

मरणासन्न है, मुझे किले में जाने दीजिए।" सेनानायक ने कहा—"अगर आप न लौटे तो?" रघुपतिसिंह बोला—"राजपूत कभी झूठ नहीं बोलता।"

वास्तव में सत्यवादी जो वचन कह देता है, उससे फिरता नहीं। वाल्मीकि रामायण में कहा है—

नहि प्रतिज्ञां कुर्वन्ति, वितथां सत्यवादिनः।
लक्षणं हि महत्वस्य प्रतिज्ञा-परिपालनम् ॥

सत्यवादी झूठी प्रतिज्ञा नहीं करते। प्रतिज्ञा का पालन ही महानता का लक्षण है।

इस पर उसे किले में जाने दिया। वह पुत्र से मिलकर वापस सेनानायक के पास लौटा और कहा—"लो, मुझे पकड़ लो अब।" उसे लेकर सेनानायक सेनापति के पास पहुँचा। रघुपतिसिंह की सत्यनिष्ठा एवं आत्मसमर्पण का विवरण सुनकर सेनापति ने कहा—"आप स्वतंत्र हैं जाइए! ऐसे सत्यनिष्ठ सच्चे वीर को मारकर मैं अपने हाथ गंदे नहीं कर सकता।"।

राजनीति में भी सत्यशरण का प्रभाव

महात्मा गांधी ने तो राजनीति में भी सत्य की शरण स्वीकार कर ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर विभाग को आश्चर्य में डाल दिया था। खुफिया पुलिस विभाग के एक ऑफिसर से गांधीजी को जब यह पता लगा कि वह उनकी दैनिक चर्या की खबर लेने आता है, तब वे उसे प्रतिदिन की रिपोर्ट किसी बात को बिना छिपाए बहुत साफ टाइप कराकर देने लगे। इसे देखकर ब्रिटिश सरकार को गांधीजी की सत्यनिष्ठा और राजनीति में अगुप्तता देखकर उन पर पूरा विश्वास जम गया। वास्तव में जो व्यक्ति सत्यशरण ग्रहण कर लेता है, उसे किसी से कोई बात छिपाने की जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि वह कोई भी ऐसा गलत काम या पाप नहीं करता, जिसे छिपाना पड़े। जिसने सत्य के कवच को धारण कर लिया है, वह निर्भय निर्द्वन्द्व होकर विचरण करता है, स्पष्ट होकर व्यवहार करता है। वह अजातशत्रु होकर समाज को अपने व्यवहार से जीत लेता है। उसके सामने किसी की असत्य बोलने की हिम्मत नहीं होती।

सत्य : जगत् का आधार

सत्य इसलिए भी शरण ग्रहण करने योग्य है कि वह सारे जगत् का आधार है। जब तक सत्य का एक कण भी जिन्दा है, तब तक यह पृथ्वी स्थिर रहेगी। सत्य के बल पर ही यह विश्व टिका हुआ है। संसार का सारा व्यवहार इसी आधार पर चल रहा है। मनुष्य जाति जिस दिन सत्य का पल्ला छोड़ देगी, उस दिन वह स्वयं महा विनाश के गर्त में गिर जाएगी। सत्य से जीवन और जगत् का उद्धार हो सकता है। सत्य से ही कोई परिवार, संस्था, जाति, राष्ट्र आदि चिरस्थायी रह सकते हैं। सत्य

के बिना इनका व्यवहार एक दिन भी नहीं चल सकता जिस परिवार आदि में जितनी अधिक सत्यनिष्ठा होगी, उस परिवारादि का अस्तित्व उतना ही सुदृढ़ होगा। उसे पल्लवित-पुष्पित होने का उतना ही सुअवसर मिलेगा।

सत्यशरण से भगवत्प्राप्ति

भारतीय धर्मों में सत्य को भगवान माना गया है। जैसा कि प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है—

'तं सच्चं खु भगवं'

—वह सत्य ही भगवान् है।

सत्य को नारायण कहा गया है। सत्यनारायण भगवान की जय बोलने, कथा सुनने एवं व्रत रखने का हिन्दुओं में बहुत प्रचलन है, किन्तु वे उसका रहस्य नहीं समझते। सत्यनारायण कोई व्यक्ति या देवता नहीं, वरन् सचाई को अन्तःकरण, व्यवहार और मस्तिष्क में प्रतिष्ठापित करने की प्रगाढ़ आस्था ही है। जो सत्यनिष्ठ है, वही सत्य की शरण ग्रहण करता है, वही सत्यनारायण का भक्त एवं साधक है। सत्यशरण ग्रहण किये बिना केवल कथा सुनने आदि से कोई भगवान नहीं बन सकता। इसलिए सत्यनिष्ठ होकर शरण लेने से ही भगवत्प्राप्ति होती है।

महात्मा गांधी भी सत्य को भगवान मानते थे। वे कहते थे कि सत्य और अहिंसा मेरी दो आँखें हैं। उनको छोड़कर वे स्वराज्य की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है, इसलिए सत्य की शरण मानने वाला साधक सारे संसार को अपना मानता है, वह सत्य के द्वारा सारे विश्व में फैल जाता है।

सत्य : साधनाजीवन का मूलाधार

सत्य समस्त उपलब्धियों का मूल आधार है। तंत्रसिद्धि, मंत्रसिद्धि, आदि सब सत्य पर निर्भर है। यदि मंत्र जाप के साथ मनुष्य सत्यनिष्ठ न रहे तो उसकी साधना खण्डित हो जाती है, वह प्रभावशाली नहीं हो पाती। अतः सत्य साधना-जीवन का मूलाधार है।

इसी प्रकार जितने भी नियम, व्रत, तप, जप, या त्याग-प्रत्याख्यान हैं, वे सब सत्य के साथ ही यथार्थ व प्रभावशाली होते हैं। अगर इनके साथ सत्य न हो तो ये दम्भयुक्त हो जाते हैं। इनमें अहंकार के कीटाणु प्रविष्ट हो जाते है। अहिंसा आदि महाव्रतों या अणुव्रतों के साथ भी सत्य अपेक्षित है। जीवन के हर मोड़ पर सत्य की आवश्यकता है। सत्य की ही सदा जय होती है, असत्य की नहीं। असत्य कागज की नौका की तरह है। वह कभी तारने वाला नहीं होता। असत्य में कोई बल नहीं होता, सत्य में ही असीम बल होता है। कदाचित् कोई व्यक्ति असत्य का आश्रय लेकर फले-फूले तो इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यह उसके वर्तमान असत्याचरण का फल है किन्तु उसके पूर्वकृत सत्कार्यों के फलस्वरूप उसे ये सुख-

सुविधाएँ मिली हैं। वर्तमान में किये जाने वाले असत्याचरण का फल तो भविष्य में मिलेगा, सम्भव है—इस जन्म में ही मिल जाए।

जिन व्यक्तियों ने आध्यात्मिक विकास किया है, उन्होंने सदैव सत्य का सहारा लिया है। सत्य की उपेक्षा करके कोई भी व्यक्ति आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर नहीं हुआ।

सत्य ही साधकजीवन की शोभा है। जैसे आँख के अभाव में सारे शरीर की सुन्दरता फीकी पड़ जाती है, वैसे ही सत्य के अभाव में अन्य सब व्रतों, नियमों या त्यागों की सुन्दरता फीकी पड़ जाती है।

सत्यशरण कैसे ग्रहण करें ?

सत्य की शरण में जाने का अर्थ है—सत्य के सामने अपना सर्वस्व समर्पण कर देना। सत्य की शरण में जाने वाला मन-वचन-काया से सत्य-विचार, सत्यवाणी और सत्य-आचरण करेगा। मन में कदापि असत्य-विचार को प्रश्रय नहीं देगा, वाणी पर भी असत्यता नहीं आने देगा, और न अपने व्यवहार में कभी असत्यता का अवलम्बन लेगा। वह व्यापार में, राजनीति में, धर्म और समाज के क्षेत्र में यहाँ तक कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, हर मोड़ पर सत्य का ही अवलम्बन लेगा। परमात्मा को सत्यमय मानकर वह सत्यनिष्ठा से जरा भी नहीं चूकेगा। मनुष्य लोभ, भय, क्रोध, हास्य, द्वेष, ईर्ष्या, अंधविश्वास, अहंकार आदि विकारों के वशीभूत होकर सत्य से चूक जाता है। किन्तु सत्यव्रतधारी सर्वत्र सत्य के ही रंग में रंगा रहेगा। वह सत्य की रक्षा के लिए सतत संघर्ष करेगा। सत्याचरण में कठिनाइयों, विघ्नों आदि को देखकर वह पीछे नहीं हटेगा, न असत्य का आश्रय लेगा। सत्य का माहात्म्य बताते हुए महाभारत में कहा है—

सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं, सत्यं विसृजते प्रजाः।
सत्येन धार्यते लोकः, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

—सत्य ब्रह्म है, सत्य तप है, सत्य ही जनता को जन्म देता है, सत्य ही सारे संसार को धारण करता है, संसार के सभी पदार्थ सत्य पर प्रतिष्ठित हैं।

सत्य का साधक साध्यशुद्धि की तरह साधनशुद्धि पर भी पूरा ध्यान देता है।

वेदवादी कट्टर ब्राह्मण शय्यंभव यज्ञ कर रहे थे, उस समय आचार्य प्रभव के शिष्यों ने यज्ञशाला के निकट से गुजरते हुए कहा—"**अहो कष्टं, अहो कष्टं, तत्त्वं न ज्ञायते।**" शय्यंभव के पाण्डित्य को यह चुनौती थी। इतना बड़ा पण्डित और अभी तक तत्त्व का ज्ञान नहीं कर पाया। जैन मुनियों से पूछा—"भला, यह तो बताओ, यथार्थ तत्त्व क्या है ?"

"यथार्थ तत्त्व जानना है तो वह हमारे गुरुदेव की चरणसेवा से ही उपलब्ध हो सकेगा।" मुनियों ने उत्तर दिया।

शय्यंभव सीधे आचार्य प्रभव स्वामी के पास आए। उनसे पूछा—"वताइए तत्त्व क्या है?"

आचार्यश्री ने कहा—"तुम यज्ञ कर रहे हो, लेकिन अभी तक जान नहीं पाए कि यज्ञ क्या है? सुनो, यज्ञ करना तत्त्व है। परन्तु कौन-सा यज्ञ? वह पशुवध-मूलक नहीं, आध्यात्मिक यज्ञ। यज्ञ बाहर में नहीं, भीतर में करना है। मन में जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, वासना, मद, मत्सर आदि पशु वैठे हैं, उन्हें होमना है; उनकी बलि देना है। यही सच्चा यज्ञ है।" वस, शय्यंभव ने जव से यह सत्य पाया, वे शीघ्र उस सत्य के सामने झुक गए। वे वहीं आचार्य प्रभव स्वामी के शिष्य वन गए। उनके श्रीचरणों की सेवा करके वे जैन जगत् के ज्योतिर्धर आचार्य वन गये।

सत्यशरण में जाने वाले में इतनी ही नम्रता होनी चाहिए। सर्वस्व समर्पण की वृत्ति ही सत्यशरण के लिए अपेक्षित है। व्यावहारिक जगत् में भी सत्यशरण ग्रहण करने वाले को अपना लेन-देन, तौलनाप, सोचना-विचारना, वोलना-चलना, संकल्प-सुकल्प सभी सत्य की धुरा पर करना चाहिए। जैसा कि पाश्चात्य लेखक इमर्सन(Emerson) ने कहा है—

"The greatest homage we pay to truth is to use it."

—सत्य का सबसे बड़ा अभिनन्दन, जिसे कि हम कर सकते हैं, वह है, सत्य का सर्वतोमुखी आचरण।

एक सत्यनिष्ठ कवि ने सत्येश्वर प्रभु से प्रार्थना की है—

प्रभु विनय यही है चरणन में।
हो सन्मति जन-जन के मन में ।।ध्रुव।।
सत्य ही सोचें, सत्य ही बोलें,
सत्य ही नापें, सत्य ही तोलें।
रहें मस्त सदा सत्प्रण में ।।प्रभु०।।
सत्य का सब देश पुजारी हो,
हठवाद की दूर बीमारी हो।
अभिमान न हो, मानव-मन में ।। प्रभु०।।

वास्तव में जीवन के कण-कण में जब सत्य की प्रतिष्ठा करेंगे, तभी सर्वांगीण रूप में सत्य की शरण गही समझी जाएगी। सत्य के लिए गणधर गौतमस्वामी जैसी जिज्ञासा, समर्पणवृत्ति, सत्यनिष्ठा और सदा सत्य की जागृति होनी चाहिए तभी सत्य की शरण जीवन में साकार होगी। इसीलिए महर्षि गौतम ने गौतमकुलक में कहा—

'किं सरणं? तु सच्चं।' □

२२

दुःख का मूल : लोभ

धर्मप्रेमी वन्धुओ,

आज आपके समक्ष मैं एक ऐसे जीवन की चर्चा करना चाहता हूँ जो अपनी लोभी मनोवृत्ति के कारण जानबूझकर दुःख को आमंत्रित करता है। ऐसा जीवन वाहर से समृद्ध दिखता हुआ भी सच्चे सुख से वंचित होता है। गौतम कुलक का यह इक्कीसवाँ जीवन-सूत्र है। इसमें गौतम ऋषि ने वताया है—

"लोहो, दुहो किं ?"

—दुःख क्या है ? लोभ।

अर्थात् लोभ दुःख की खान है। जीवन में जब-जब लोभ आता है, तब-तब वह किसी न किसी दुःख को बुला लेता है।

लोभ क्या है ?

मनुष्य के मन में जब यह अविश्वास होता है कि मेरी और मेरे परिवार की सुरक्षा कैसे होगी ? उनका पेट कैसे भरेगा ? पता नहीं, भविष्य में कभी भूखों मरना पड़े, इसलिए कुछ संग्रह करना चाहिए। फिर जब कुछ धन संग्रह हो जाता है तो वह सोचता है इस धन में से जरा भी खर्च न हो, इसे ज्यों का त्यों रखा रहने दिया जाए। साथ ही उसे अपने संचित धन को देखकर यह इच्छा होती है कि और धन कमाया जाए, और इकट्ठा किया जाए। इस प्रकार अविश्वास और भय से प्रेरित होकर मनुष्य भविष्य के लिए धन-संग्रह करता है, फिर उस धन की सुरक्षा करता है और खर्च करना नहीं चाहता। इसके पश्चात् धन को बढ़ाने की इच्छा से प्रेरित होकर वह और अधिक धन वटोरता है, इकट्ठा करता है। बस, यही लोभवृत्ति है।

लाभ और लोभ में सम्बन्ध

लोभ और लाभ दोनों का कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। जब एक वार लाभ होता है, तव साधारण मनुष्य के मन में लोभ जागता है। लाभ को देखकर मनुष्य लोभ से प्रेरित होकर संग्रह करता है, फिर संग्रहीत धन की सुरक्षा का प्रवन्ध करता है, और फिर उपलब्ध धन की वृद्धि के लिए पुरुषार्थ करता है। इसीलिए लाभ के साथ लोभ की मनोवृत्ति को भगवान महावीर ने जुड़ी हुई वताई है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहो लोहो पवड्ढइ ।
दो मास कयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥

जहाँ लाभ होता है वहाँ लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता है। कपिल को सिर्फ दो माशा स्वर्ण से काम था, परन्तु राजा के वचन का लाभ मिलने पर लोभ इतना आगे बढ़ गया कि करोड़ स्वर्णमुद्राओं से सन्तुष्ट नहीं हुआ।

एक पाश्चात्य विचारक Juvenal (जूवेनल) ने भी इसी बात का समर्थन किया है—

"Avarice increases with the increasing pile of gold."

—सोने का ढेर बढ़ने के साथ-साथ लोभ भी बढ़ता जाता है।

कपिल एक गरीब ब्राह्मण था। वह कौशाम्बी से श्रावस्ती जाकर अपने पिता काश्यप के मित्र इन्द्रदत्त उपाध्याय से विद्याध्ययन करता था। परन्तु जिस सेठ के यहाँ भोजन का प्रबन्ध था, उसकी दासी के साथ उसका प्रेम हो गया। दासी ने एक दिन उत्सव में जाने के लिए वस्त्र, आभूषण आदि ला देने का कपिल से आग्रह किया। परन्तु कपिल के पास धन था नहीं। दासी ने उसे उपाय बताया कि नगर के राजा को सर्वप्रथम जो आशीर्वाद देता है, उसे वह दो माशा सोना देता है, तो आप सबसे पहले जाकर राजा को आशीर्वाद दीजिए और दो माशा सोना ले आइए।

कपिल चाँदनी रात देखकर भोर होने का समय निकट जानकर आधी रात को ही घर से दौड़ता हुआ राजमहल की ओर चल पड़ा। उसे दौड़ते हुए देख सिपाहियों ने चोर समझकर पकड़ लिया। सुबह राजा के समक्ष पेश किया। राजा ने जब कपिल से आधी रात को भागते हुए जाने का कारण पूछा तो उसने सारी बातें सच-सच कह दीं। राजा उसकी सत्यवादिता से बहुत प्रभावित हुआ। उसने कपिल से कहा—"भूदेव ! मैं तुम पर तुष्ट हूँ जो चाहो सो माँग लो, मैं दूँगा।"

कपिल ने कहा—"अच्छा, ऐसी बात है, तो मैं एकान्त में जाकर विचार करके माँगूँगा।" राजा ने उसे अशोक वाटिका भेज दिया। कपिल वहाँ बैठकर सोचने लगा—'दो माशा सोने से क्या होगा ? पूरे वस्त्र एवं गहने भी नहीं बनेंगे। राजा ने खुले दिल से माँगने को कहा है, तो सौ स्वर्णमुद्राएँ क्यों न माँग लूँ।' फिर सोचा—'रथ, घोड़े आदि सब सुख-साधन १०० स्वर्णमुद्राओं से नहीं होंगे, अतः हजार सौनेये माँग लूँ। पर हजार सोनेयों से भी क्या होगा ? इनसे तो विवाह, सैर सपाटे, बाग बगीचा, महल आदि नहीं होंगे। एक करोड़ माँग लूँ। परन्तु इतने से भी सारा काम नहीं होगा, अतः हजार करोड़ माँग लूँ।' यों लाभ के साथ-साथ लोभ बढ़ता ही गया। परन्तु फिर किसी पूर्व पुण्योदय से शुभ विचार की बिजली हृदय में कौंधी, सोचा—'कैसी है यह लोभ की विडम्बना। मैं तो सिर्फ दो माशा सोने के लिए आया था, लेकिन लाभ को देखते ही मेरे मुँह में पानी भर आया और मैं करोड़ों स्वर्णमुद्राओं को पाने तक पहुँच गया। फिर भी लोभ पूर्ण न हुआ। इस प्रकार तो मेरा लोभ

कभी पूर्ण नहीं होगा। मैं असन्तुष्ट का असन्तुष्ट रहूँगा। मुझे तो इस राज्य की अपेक्षा प्रभु का राज्य चाहिए, जिसमें सभी सुख लबालब भरे हैं, इस धन से तो दुःख, चिन्ताएँ और भय ही बढ़ेंगे।' यों कपिल चिन्तन की गहराई में डूब गया।

राजा ने जब स्वयं पास जाकर पूछा—"कहो भूदेव ! आपने क्या माँगने को सोचा है ?"

कपिल ने कहा—"बस, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे जो चाहिए था, वह सब मिल गया है।" राजा आश्चर्यचकित होकर बोला—"मैंने तो आपको कुछ भी नहीं दिया, आपको कहाँ से क्या मिल गया ?"

कपिल ने अपनी चिन्तनकथा कह सुनाई। राजा ने हर्षित होकर कहा—"आप निःसंकोच होकर करोड़ स्वर्णमुद्राएँ माँगें, मैं अवश्य दूँगा।" कपिल बोलो—"मुझे आवश्यकता नहीं। मुझे तो सर्वसंग परित्याग करके लोभ-विजय करना है, जिससे मैं सर्वतोभावेन सन्तुष्ट होकर परमसुख प्राप्त कर सकूँ।" यों कहकर कपिल वहाँ से चल पड़े, स्वयंबुद्ध होकर उन्होंने स्वतः मुनि जीवन अंगीकार कर लिया और छः महीने में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

कपिल की मनोवृत्ति में लाभ और लोभ के विषचक्र का कितना सुन्दर आलेखन है ? बस, यही रूप है लोभ का, जिसके चक्कर में आकर मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। एक अँग्रेजी कहावत भी प्रसिद्ध है—

"The more they get, the more they want."

जितना वे प्राप्त करते हैं, उतना ही वे चाहने लगते हैं। गर्मी के बुखार में प्यास की तरह लाभ में लोभ और अधिक बढ़ता जाता है। आज लगभग सारा ही संसार लोभ के चक्र में फँस रहा है। शायद ही कोई बचा हो। इसीलिए रामचरितमानस में कहा है—

ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुन-आगार।
केहि की लोभ विडम्बना, कीन्ह न एहि संसार ॥

लोभ : दुःखों का मूल

जब मन में लोभ आता है, तो व्यक्ति उस वस्तु को लेने दौड़ता है, मन से रात-दिन उस वस्तु को पाने के प्लान बनाता है, उसी उधेड़बुन में रहता है, वचन से भी वह उसी चीज के बारे में पूछताछ करता है, काया से चेष्टाएँ भी लोभप्रेरित वस्तु को लेने की करता है। स्वप्न में भी उसे उसी वस्तु को लेने के विकल्प आते हैं। उसकी बुद्धि लोभ के कारण चंचल बनी रहती है। अपना सारा समय और सारी शक्ति और श्रम वह लोभप्रेरित वस्तु को पाने में लगाता है। फिर जो व्यक्ति उसकी लोभप्रेरित वस्तु की प्राप्ति में विघ्न डालता है, उससे लड़ने-झगड़ने और द्वेषवश उसे बदनाम करने, मारने-पीटने आदि में लग जाता है, जो उसे समझाते हैं, जो उसे ऐसा करने से रोकते हैं, उन्हें भी वह भला-बुरा कहता है। कोई चीज सहज में नहीं

मिलती है, तो उसे दूसरों से छीनने-झपटने, लूटने-खसोटने या चुराने की कोशिश करता है। या किसी की कोई वस्तु अपने पास गिरवीं रखी हुई है तो उसे हड़पने का प्रयत्न करता है। अमानत धन को या धर्मादा रकम को हजम करने या संस्था के हिसाब में गोलमाल करके गबन करने के हथकण्डे करता है। किसी दूर के रिश्तेदार के मर जाने पर तिकड़मबाजी करके उसका निकट का उत्तराधिकारी बनकर उसकी धनराशि को स्वयं हथिया लेता है।

ये और इस प्रकार के कई कारनामे लोभ के होते हैं, भला ऐसा लोभी क्या सुखी रह सकता है ? उसे तो पद-पद पर दुःख ही दुख है, मानसिक क्लेश होता है। इतनी सारी दौड़-धूप करने में उसे एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना पड़ता है—अर्थ या किसी पदार्थ को पाने में। उसकी नींद हराम हो जाती है, सुख से वह खा-पी नहीं सकता, शान्ति से कहीं स्थिर होकर दो घड़ी प्रभु के ध्यान में बैठ नहीं सकता, आराम से सो नहीं सकता। क्या ये शारीरिक-मानसिक दुःख कम है ? इसीलिए नीतिकारों ने ठीक ही कहा है—

यद् दुर्गमटवीमटन्ति विकटं, क्रामन्ति देशान्तरम् ।
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशां कृषिं कुर्वते ॥
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुःसंचरम् ।
सर्प्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभ-विस्फूर्ज्जितम् ॥

"धन में जिनकी बुद्धि अंधी हो गई है, ऐसे मनुष्य दुर्गम जंगलों में भटकते हैं, विकट देशान्तर में जाते हैं, अगाध समुद्र में गोते लगाते हैं, अपार श्रमसाध्य खेती करते हैं, कृपण स्वामी की सेवा करते हैं, जिसके यहाँ अनेक हाथियों की भीड़ से रास्ता चलना भी दुष्कर है, उस धनिक के पास जाते हैं। ये सब काम लोभ से प्रेरित होकर करते हैं।" अतः लोभ कितना दुःखदायी है। धनार्जन करने का लालच तो कष्टदायक है ही। इससे भी बढ़कर कष्टदायक है—प्राप्त धन की सुरक्षा करने, उसे न खाने, न खर्चने, और न ही किसी को देने-दिलाने का लोभ। लोभी व्यक्ति अपनी सारी शक्ति इनमें लगा देता है, सुख से खाना-पीना भी छोड़ देता है, कृपणता की आदत के कारण उसे तिजोरी में से धन निकालना बहुत ही बुरा लगता है। वह एकमात्र धन को जोड़ने एवं संग्रह करके रखने के लिए तनतोड़ परिश्रम करता है। जहाँ जरा-सा भी किसी ने कुछ दे दिया या खर्च कर दिया तो उसका पारा चढ़ जाता है, वह धन के लिए लड़ने-मरने को तैयार हो जाता है। पाश्चात्य विचारक जेनो (Zeno) ने लोभी मनुष्य का स्वरूप बताया है—

"The avaricious man is like the barren sandy ground of the desert which sucks in all the rain and dew with greediness, but yields no fruitful herbs or plants for the benefit of others."

(लोभी मनुष्य रेगिस्तान के बंजर रेतीले मैदान की तरह होता है, जो लालच

के वश तमाम वर्षा और ओस चूस लेता है, किन्तु कोई भी फलवान जड़ियाँ या पौधे दूसरों के फायदे के लिए पैदा नहीं करता। इसीलिए नीतिकार साफ-साफ कहते हैं—

अर्थानामर्जने दुःखं, अर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं, व्यये दुःखं, धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः॥

धन और साधनों के अर्जन (प्राप्त) करने में दुःख है, फिर उपार्जित किये हुए धन की रक्षा करने में दुःख है, आय में दुःख है, व्यय में दुःख है। धिक्कार है ऐसे अर्थ को, जो इतने दुःखों का आश्रयस्थान है।

आप जानते हैं कि धन या संसार का कोई भी पदार्थ अपने आप में दुःख या सुख देने वाला नहीं है। उसका उपयोग करने वाले की बुद्धि पर निर्भर है कि वह धन या साधनों का उपयोग करता है या नहीं? करता है तो परोपकार में करता है या अपने स्वार्थ के लिए करता है? जब मनुष्य लोभ से प्रेरित होकर धन का अत्यधिक संग्रह करता है, उसमें से खर्च करने या दान देने में उसका जी कटता है, उसके मन को गहरी चोट लगती है, धन के चले जाने से या खर्च करने से। तब अर्थ दुःख का कारण बनता है। इसलिए कहना चाहिए कि धन दुःख का कारण नहीं, धन का लोभ दुःख का कारण है। लोभ चाहे धन के प्रति हो या किसी भी सांसारिक वस्तु के प्रति, वह दुःख का कारण है। इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः।
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः॥

बड़े-बड़े शास्त्रों के ज्ञाता, बहुश्रुत एवं संशयों को मिटाने वाले पण्डित भी लोभ से मूढ़ बने हुए क्लेश पाते हैं।

लोभ अपने आप में दुःख का मूल है। उसे जो भी पकड़ेगा, दुःख ही पाएगा। फिर वह चाहे बड़े से बड़ा विद्वान, शास्त्रज्ञ या आचारवान् ही क्यों न हो, चाहे वह लोकसेवक, राष्ट्रसेवक या ग्रामसेवक ही क्यों न हो, भले ही वह सार्वजनिक संस्था का अध्यक्ष हो, नामी संस्था का मंत्री हो या और कोई उच्च पदाधिकारी हो; जब भी, जहाँ भी, जो भी लोभपिशाच से ग्रस्त होगा, वह अनेकों दुःख पाएगा। वे दुःख आधिभौतिक भी हो सकते हैं, आधिदैविक भी और आध्यात्मिक भी; परन्तु वह इन तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा तब तक नहीं पा सकता, जब तक वह लोभ का पिण्ड न छोड़ दे। वह लोभ के वशीभूत होकर क्यों दुःख पाता है? इसके उत्तर में एक विचारक कहते हैं—

लोभेन बुद्धिश्चलति, लोभो जनयते तृषाम्।
तृषार्त्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः॥

"लोभ से मनुष्य की बुद्धि चंचल हो जाती है। चंचल बुद्धि अनेक पापकर्म करने में तत्पर हो जाती है। फिर लोभ मनुष्य में धन की पिपासा या तृष्णा जगाता है। धन की प्यास से पीड़ित व्यक्ति यहाँ भी दुःख पाता है, परलोक में भी।"

लोभ से प्रेरित व्यक्ति किस प्रकार यहाँ और वहाँ दुःख पाता है ? इसके लिए एक प्राचीन उदाहरण लीजिए—

राजगृह का करोड़पति, अनेक व्यवसायों का मालिक, कृपण शिरोमणि मम्मण सेठ अत्यन्त लोभी था। वह अपने हाथ से कभी दान नहीं देता था और न ही वह खाने-पीने, पहनने आदि में अपने शरीर पर विशेष खर्च करता था। यही नहीं, उसके लड़के कुछ खर्च करते थे, वह भी उसे बहुत अखरता था। इसी कृपणता एवं अतिलोभी मनोवृत्ति के कारण उसने लड़कों को कुछ देकर अलग कर दिया। फिर भी वह अपनी अतिलोभी वृत्ति के कारण किसी को दान देते या किसी को अच्छा भोजन करते देखता तो मन में खिन्न होता था। इतना ही नहीं, पड़ौसी के यहाँ कोई मेहमान आ जाता तो उसके पेट में दर्द शुरू हो जाता था। किसी याचक को अपने द्वार पर उसकी प्रशंसापूर्वक याचना करता देखता तो मुँह फिरा लेता था।

एक दिन मम्मण सेठ ने सोचा—'कृषि, व्यापार एवं अन्य व्यवसायों से मेरे यहाँ बहुत-सी सम्पत्ति इकट्ठी हो गई है, इसलिए शायद किसी चोर, उचक्के का मन चल जाए या लुटेरा लूट ले, अथवा मेरे लड़के खर्च कर डालें, इसलिए मुझे सारी सम्पत्ति का एक स्वर्णमय रत्नजटित बैल बनवा लेना चाहिए, जिसे न कोई खा सके, न खर्च कर सके, न चुरा सके।' बस, अपने निश्चय के अनुसार कुछ ही दिनों में मम्मण सेठ ने अपने मकान के तलघर में सोने का एक विशाल बैल बनवा लिया, जिसमें अपनी सारी सम्पत्ति लगा दी। स्वर्णमय रत्नजटित उस बैल की चमक-दमक देखकर मम्मण अत्यन्त प्रसन्न हुआ। परन्तु उसके मन में फिर एक लालसा पैदा हुई कि इस एक बैल से क्या हो ? इसकी जोड़ी होनी चाहिए, तभी बैल अच्छा लगता है। उसकी बुद्धि ने जोर मारा कि इस बैल की जोड़ी का दूसरा बैल बनाने के लिए कुछ धनराशि तो मेरे पास है, कुछ परदेश में चलने वाले वाणिज्य से प्राप्त हो जाएगी, शेष आवश्यक धनराशि के लिए मुझे स्वयं श्रम करना चाहिए। तभी दूसरा बैल बन सकेगा। इस समय चौमासा है। बरसात के कारण नदियों में पूर आगया होगा। अतः नदीतट पर जाकर नदी में बहती हुई लकड़ियाँ या अन्य जो भी चीजें मिलें, उनके गट्ठर बाँधकर लेता आऊँ तो उन्हें बेच-बेच कर भी कुछ द्रव्य तो कमा ही लूँगा। अतः अतिलोभी सेठ घर से उठा, शरीर पर एक लंगोटा बाँध लिया, बाकी कपड़े उतार दिये, क्योंकि बाहर वर्षा हो रही थी, इसलिए कपड़े भीग जाते। ऐसी स्थिति में वह घर से निकला। ठंडी हवा से उसका शरीर थर-थर काँप रहा था, बादलों के कारण अँधेरा हो रहा था, बीच-बीच में बिजली चमकती थी। मम्मण नदी तट पर आया। नदी में तैरती लकड़ियों को खींच-खींचकर निकालने लगा।

ठीक इसी समय महारानी चेलना अपने महल के गवाक्ष में बैठी बाहर हो रही वर्षा का दृश्य देख रही थी। एकाएक बिजली चमकी, उसके प्रकाश में रानी ने देखा कि एक अत्यन्त दुःखी, महादरिद्र व्यक्ति बहती नदी में से ऐसी बरसात के

समय लकड़ियाँ खींचकर निकाल रहा है। रानी को उसकी दुर्दशा देखकर बड़ी दया आई। उसने महाराजा श्रेणिक से कहा—"आपके राज्य में ऐसे-ऐसे दुःखी एवं गरीब लोग हैं, आपको उनकी भी संभाल करनी चाहिए।" यह सुनकर राजा को भी उस पर दया आई। उन्होंने अपने सेवक को भेजकर उस व्यक्ति (मम्मण) को बुलाया और पूछा—"अरे वृद्ध ! ऐसा क्या दुःख आ पड़ा है कि इस बरसती बरसात में तू नदी में से लकड़ियाँ निकाल रहा है ?"

मम्मण ने कहा—"राजन् ! मेरे यहाँ एक बैल है, उसकी जोड़ी का मुझे दूसरा बैल चाहिए। अतः उसके लिए धन-उपार्जन करने हेतु मैं इस वर्षाकाल में नदी में बहकर जाती हुई लकड़ियाँ इकट्ठी करने आया था। इस मौसम में लकड़ियाँ महँगी हैं, इसलिए कमाई अच्छी हो जाएगी। यही सोचकर में नदीतट पर आया था।" राजा ने तुष्ट होकर कहा—"बस, इतनी-सी बात है। चलो, मैं तुम्हें बैल देता हूँ।' यों कहकर राजा ने गौशाला में अनेक बलिष्ठ, धुरंधर एवं सुन्दर बैल बताए। पर मम्मण सेठ को एक भी बैल पसन्द न आया। तब राजा ने पूछा—"भाई, फिर तुम्हें कैसा बैल चाहिए ?"

सेठ बोला—"मेरा एक बैल स्वर्णमय व रत्नजटित है, उसी की जोड़ी का वैसा ही दूसरा बैल चाहिए।"

राजा आश्चर्यचकित होकर बोला—"अच्छा हम तुम्हारे साथ चलते हैं; तुम्हारा बैल देखकर फिर सोचेंगे।"

राजा श्रेणिक, रानी और अभयकुमार मन्त्री आदि को लेकर मम्मण सेठ के यहाँ पहुँचे। मम्मण सेठ ने सबको तलघर में ले जाकर अपना स्वर्णमय रत्नजटित बैल बताया और कहा—"महाराज ! मुझे ठीक ऐसा ही दूसरा बैल चाहिए।" राजा विस्मित और कुपित होकर बोले—"भले आदमी ! इतने रत्नों और सम्पत्ति का मालिक होते हुए भी तू दरिद्र बनकर यों सर्दी, वर्षा, आंधी और तूफान के कष्ट उठाता है ? तेरे यहाँ किसी बात की कमी नहीं, फिर भी तू लोभवश और सम्पत्ति इकट्ठी करना चाहता है। मान लो, एक बैल और भी हो जाए, तो भी तेरी लालसा शान्त नहीं होगी। याद रख, यह सम्पत्ति तेरे साथ परलोक में नहीं जाएगी, यहीं धरी रह जाएगी। फिर भी तू न खाता है, न खर्चता है और न ही किसी को देता है ! धिक्कार है, तेरे मनुष्य-जीवन को !"

राजा की इस फटकार का अतिलोभी मम्मण पर कोई प्रभाव न हुआ। उसने चुपचाप राजा की बात सुनली और उन्हें विदा करके पुनः अपने उसी धन्धे में लग गया। उसने अपनी कृपणतावश लोकनिन्दा, बदनामी आदि की कोई परवाह न की। आवश्यकनिर्युक्तिकार कहते हैं कि इस अनन्तानुबन्धी लोभ के कारण मम्मण सेठ एक दिन अपने अपार धन और धाम को छोड़कर मर गया और सातवीं

नरक का मेहमान बना। वहाँ भी वह बोध न पाकर अनन्त संसार में परिभ्रमण करता रहेगा।

हाँ, तो मम्मण सेठ ने यहाँ भी अतिलोभवश अनेकों दुःख और क्लेश पा और आगे घोर नरक में तो दुःख ही दुःख हैं। वहाँ सुख का लेश भी नहीं है। लोभी व्यक्ति की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए एक पश्चात्य विचारक Tillotson (टिल्लोट्सन) कहता है—

"The covetous man heaps up riches, not to enjoy but to have them, he starves himself in the midst of plenty; cheats and robs himself of that which is his own, and makes a hard shift to be as poor and miserable with a great estate as any man can be without it."

"लालची आदमी धन का संग्रह करता है, उसका उपभोग करने के लिए नहीं किन्तु उसे सिर्फ रखने के लिए। प्रचुर धन के बीच में रहता हुआ भी वह स्वयं भूखा मरता है, और जो उसका अपना है, उसके बारे में स्वयं को धोखा देता है और लूटता है। साथ ही वह ऐसा कठोर परिवर्तन कर लेता है, जिससे वह बड़ी भारी जायदाद होते हुए भी एक गरीब और अभागा-सा बन जाता है, जैसे कोई व्यक्ति सम्पत्ति से विहीन हो।"

अतिलोभी आत्महत्या तक कर बैठता है

अतिलोभी मनुष्य के स्वभाव में एक ऐसा दुर्गुण होता है कि वह अपने हाथ से खर्च करना सह नहीं सकता। अगर कभी खर्च करना भी पड़ता है तो वह खर्चों की तुलना करता है और जिस बात में खर्च कम पड़े उसे स्वीकार कर लेता है। खर्च के लिए धन कम रहता है या तिजोरी में धन कम हो जाता है तो वह आत्म-हत्या कर बैठता है।

यूरोप के एक धनाढ्य ने स्वयं गोली मारकर आत्महत्या करली। वह मरने से पहले एक पत्र लिखकर छोड़ गया था, जिसमें लिखा था—"मेरे पास सिर्फ दो करोड़ पौंड धन रह गया था, इसी फिक्र में मैंने आत्महत्या की है।"

मैं पूछता हूँ, क्या आत्महत्या करने से धनलोभी का दुःख, चिन्ता या कष्ट मिट गया? कदापि नहीं। उलटे उसने स्वयं आर्तध्यानवश मरकर अपने लिए दुर्गति के दुःख को न्यौता दे दिया।

अतिलोभी लोभवश दूसरों के पापों को ढोता है

कई व्यक्ति अत्यन्त लोभी होते हैं। वे किसी बड़े आदमी को फँसाकर उससे यह कहकर धन ऐंठ लेते हैं कि 'तुम्हारे पाप हम अपने पर ले लेते हैं और तुम्हें पाप मुक्त कर देते हैं।' परन्तु यह भ्रमजाल है। कोई किसी दूसरे के पाप-पुण्य को ले-दे

नहीं सकता और न ही यहाँ किसी को पापों की माफी देकर स्वर्ग या मोक्ष दे सकता है। मध्ययुग में ईसाई धर्माधिकारी पोप धनिकों से यहाँ बहुत-सा धन ऐंठकर स्वर्ग की हुन्डी लिख देते थे, परन्तु यह सब पोपलीला लोभप्रेरित लीला है। लोभवश दूसरे के पाप अपने पर लेने वाले व्यक्ति की एक रोचक घटना सुनिए—

नेपाल के स्व० राजा महेन्द्र के श्राद्धकर्ता ब्राह्मणदेव ने स्वर्गीय महाराजा के सारे पाप अपने ऊपर ओढ़ लिए हैं और उसके बदले में उन्हें अपार सम्पत्ति दे दी गई है। प्राचीन परम्परानुसार महाराजा के पापों को ढोने वाले यह ब्राह्मणदेव एक वर्ष तक जंगल में समाज बहिष्कृत अपराधी के रूप में एकान्तवास करेंगे। एक वर्ष की सजा के बाद यह ब्राह्मण पापमुक्त हो जाएगा और अछूत से छूत बनकर समाज में फिर सम्माननीय जीवन विताने लगेगा। अन्तर यही रहेगा कि अभी तक वह परमदैन्य की जिन्दगी बिता रहा था, किन्तु स्व० महाराजा के पापों को अपने सिर पर ढोने के कारण स्व० महाराजा के उत्तराधिकारी से जो सम्पत्ति मिली है उसके कारण, लोग कहते हैं, उसकी सातों पीढ़ियाँ सुख से जीवन बिता सकेंगी। कहते हैं— उधर राजा महेन्द्र सर्वपापमुक्त होकर स्वर्ग में मौज करेंगे, इधर ब्राह्मण देवता की सातों पीढ़ियाँ चैन की बंशी बजायेगी। इस सौदे में कोई घाटे में नहीं रहेगा। यह है, लोभ की विचित्र लीला !

लोभवश पुत्र-मरण आदि का भयंकर दुःख पाया

लोभ एक ऐसा राक्षस है, कि वह मनुष्य को हत्यारा, दम्भी, कामी, धर्मभ्रष्ट और क्रोधी बना देता है। लोभ के वश मनुष्य दूसरों का गला काट देता है, परन्तु उस भयंकर कुकर्म की सजा देर-सवेर उसे मिले बिना नहीं रहती। जिस समय उसे अपने कुकृत्य की सजा मिलती है, तव वह रोता, चिल्लाता और अपने भाग्य को कोसते हुए सिर पीटता है। एक सच्ची घटना 'कल्याण' में पढ़ी थी—

मेरठ जिले के पांचली गाँव के एक किसान के यहाँ किसी दूर के गाँव के दो भाई बैल खरीदने के लिए आए। सौदा १२००) रु० में तय हो गया। रात हो गई थी, इसलिए किसान ने आग्रहपूर्वक उन्हें अपने यहाँ रख लिया और खिला-पिलाकर वरामदे में सुला दिया। जब वे गहरी नींद में थे, तभी कृषकवन्धुओं के मन में लोभ जागा। दोनों कृषकवन्धुओं ने ग्राहकबन्धुओं की हत्या करके उनका धनापहरण करने की पापपूर्ण योजना वनाई। अपनी पत्नियों को इस कार्य में सहयोगी वनाया। लाशों को गाड़ने के प्रवन्ध के लिए दोनों कृषकवन्धुओं ने घर के निकटवर्ती ईख के खेत में खड्डा खोदने का निश्चय किया, और शीघ्र ही इस काम में लग गए। संयोगवश गाँव के एक प्रतिष्ठित सज्जन को शौच की हाजत हुई, और वे उसी ईख के खेत में शौच गये। परन्तु खेत में वड़ी खड़खड़ाहट हो रही थी, इसलिए शान्त होकर ध्यान दिया तो दो व्यक्तियों की मन्द, किन्तु सतर्क वातचीत सुनाई दी। उस पर से उस सज्जन को उन दोनों के कार्यों तथा योजना का पता लगा तो वह तुरन्त उन दोनों

कृषकबन्धुओं के घर पर पहुँचा। दोनों ग्राहकों की चरपाई के पास पहुँचकर उन्हें जगाया। जागने पर उक्त दोनों चकित हुए और जगाने का कारण पूछा तो उसने संकेत से चुपचाप अपने पीछे आने को कहा। किसी ईश्वरीय प्रेरणावश वे दोनों ग्राहक चुपचाप उस सज्जन के पीछे चल दिये। उन्हें एक कमरे में सुला दिया।

अचानक कुछ ही देर बाद उन कृषकबन्धुओं के दोनों लड़के जो शहर में नाटक देखने गये थे, लौटकर आये और दो चारपाइयों पर दो बिछौने लगे देखकर उन पर सो गये। तदुपरान्त दोनों कृषकबन्धु लाश गाड़ने के लिए गड्ढा तैयार करके आये और अपनी पत्नियों को उक्त दोनों को काटने का संकेत किया, वे भी कटार लेकर उन दोनों ग्राहकों के बदले अपने ही पुत्रों पर टूट पड़ी। फिर दोनों की लाशों को दोनों कृषकबन्धु उस गड्डे में गाड़ने के लिए ले गये। इधर दोनों की पत्नियों ने उनकी जेबें आदि टटोली तो उन्हें दो चार आने के सिवाय कहीं भी अर्थराशि न मिली। इससे उन्हें निराशा हुई। शव गाड़ने के बाद दोनों घबराए-से घर आये और पता चला कि कुछ भी धन न मिला तो उन्हें पश्चात्ताप हुआ।

इधर प्रातःकाल जब दोनों बन्धुओं ने उन ग्राहकों को नित्य-कृत्य करते देखा तो सन्न रह गये। अपने पुत्रों के न लौटने के कारण धक्का भी लगा। अतः शंका-ग्रस्त होकर दोनों ने गड्ढा खोदकर लाशें निकाली तो अपने मासूम पुत्रों के मृत शरीर खून से लथपथ सामने पड़े थे। फिर क्या था, इस पापमयी घटना की खबर बिजली की तरह सारे इलाके में फैल गई। उन अतिलोभी पापबुद्धि दोनों भाइयों की जो दुर्दशा हुई वह वर्णनातीत है।

सचमुच लोभ ने उनका सर्वनाश कर दिया। इसीलिए भोजप्रबन्ध में कहा है—

लोभः प्रतिष्ठा पापस्य, प्रसूतिर्लोभ एव च।
द्वेष-क्रोधादिजनको लोभः पापस्य कारणम् ॥

लोभ पाप की आधारशिला है। लोभ ही पाप की माता है, वही राग, द्वेष, क्रोध आदि का जनक है, लोभ ही पाप का मूल कारण है।

आप समझ गये होंगे कि लोभ में अन्धे होकर दूसरों की हत्या करने का विचार अपने ही पुत्रों की हत्या में परिणत हुआ। इस प्रकार लोभ का दण्ड उन्हें पुत्र वियोग, धन का नाश, भयंकर राजकीय दण्ड एवं अप्रतिष्ठा के रूप में मिला।

लोभ ही द्रोह का कारण बनता है

लोभ से प्रेरित होकर मनुष्य अपने पिता, भाई, माता, पुत्र, पत्नी एवं विश्वस्त व्यक्ति के साथ भी द्रोह कर बैठता है, लोभवश वह उन्हें धोखा देते देर नहीं लगाता। वह दाँव लगते ही उनकी जमीन, जायदाद, सम्पत्ति, मकान, गहने आदि सब अपने कब्जे में कर लेता है, संस्था की सम्पत्ति को हजम कर लेता है, गबन और घोटाला कर देता है। लोभ के आते ही सारे शास्त्र, धर्म, देव, गुरु, माता-पिता सबको ताक

में रख देता है, वह झूठी सौगन्ध खा जाता है। राज्य-लोभ के कारण ही औरंगजेब ने अपने चारों भाइयों को बुरी तरह मरवा डाला और अपने पिता शाहजहाँ को कैद में डाल दिया। वहाँ भी उन्हें विष देकर मरवा डालने की साजिश औरंगजेब करता रहा। राजकुमार भोज को गुप्तरूप से मरवा डालने के लिए उसके चाचा राजा मुंज ने कितना गहरा षड्यन्त्र रचा था। वह तो भोज का पुण्य प्रबल था, इसलिए उसका वध न हो सका, लेकिन मुंज के लिए बाद में यह अत्यन्त पश्चात्ताप का कारण बना। विश्व के इतिहास में राज्यलोभ के कारण किये गए द्रोह, वध, ईर्ष्या, छलकपट, तिकड़मबाजी एवं विद्रोह आदि की अनेक घटनाएँ मिलती हैं।

देवला गाँव के एक गरीब बनिये ने एक दिन अपनी छोटी-सी दुकान पर आए हुए भूदेव ब्राह्मण को आदरपूर्वक बिठाकर एक प्राचीन दोहा पढ़ने को दिया। दोहे के अक्षर बिना मात्रा के इस प्रकार थे—

डड कठ दवल उगमण दरबर।
समसम ब झडव मयन न पर॥

भूदेव ने गाँव, नदी, दरबार, गढ़, वृक्ष आदि सभी के बारे में पूछकर दोहे का ठीक स्वरूप इस प्रकार निश्चित किया—

डोडी कांठे देवला, उगमणे दरबार।
सामसामे बे झाडवाँ मायानो ना पार॥

दोहे का निश्चित और यथार्थ स्वरूप तथा उसका अर्थ समझते ही सेठ का मन उस धन को खोदकर निकलवाने के लिए ललचाया। पर भूदेव ने कहा—"सेठ! माया तो है, पर दैवी है या आसुरी, इसका रहस्य जाने बिना उसे बाहर निकालना अपने विनाश को बुलाना है। सम्पत्ति अपने भाग्य में न हो तो सुखप्रद के बजाय अति दुःखप्रद हो जाती है। मेरी बात मानें तो इस धन लोभ में न पड़ना ही ठीक है।"

परन्तु सेठ ने जब बहुत ही आग्रह किया तो भूदेव ने कहा—"सेठ, उतावल न करो। यह गाँव ध्रोल रियासत में है। ध्रोलठाकुर को पता लगेगा ही। तब आपको माया मिल भी जाए, पर हजम न होगी। फिर भी आपसे न रहा जाता हो तो मैं ध्रोलठाकुर को खबर कर दूं और सम्पत्ति का आधा भाग उनका और आधा मेरा इस प्रकार समझाकर इस स्थान को खुदवाऊँ। मेरे लिए तो यह धन गोमांस के समान है। मैं अपना आधा भाग आपको दे दूँगा। मुझे मारते तो उन्हें ब्रह्महत्या के पाप का डर लगेगा, पर तुम्हारे नाम का आधा भाग रखा जायगा तो मुझे शंका है, वह तुम्हारे परिवार का सफाया करा देंगे।"

सेठ चौंका। परन्तु उसके मन में बात जम गई कि धनलोभी मनुष्य जो पाप न करे, वह थोड़ा है। कौरवों ने धनलोभ में ४० लाख मनुष्यों का संहार करा दिया!

ध्रोल की राजगद्दी पर उस समय हरधोल जी के पाटवी कुँवर थे। ठाकुर अपने राज्य की तरक्की के लिए आस-पास के राज्यों को हथियाने की ताक में था। इसी बीच भूदेव ने ठाकुर से देवला गाँव के खजाने की बात कही। ठाकुर को यह बात बहुत सुहाई। दूसरे दिन मुहूर्त निकलवाकर अपने विश्वस्त व्यक्तियों के साथ डोड़ी नदी के तट पर स्थित देवला गाँव में गड़ी हुई निधि को निकालने हेतु रवाना हुए।

देवला के पूर्व में खड़े दोनों खेजड़ों (वृक्षों) के ठीक बीच में खुदाई का काम शुरू कराया, ज्यों ही करीब पाँच हाथ जमीन खुदी कि एक शिला से कुदाली टकराई। ठाकुर ने वहीं काम रुकवाया, स्वयं खड्डे में उतरे। दसेक मनुष्यों को खड्डे में उतार कर शिला हटवाई तो नीचे सोने से भरे ताम्बे के घड़े नजर आये। ठाकुर तमाम घड़ों को सुरक्षित रूप से ऊपर ले आये। भूदेव ने कहा—"अपनी शर्त के अनुसार आधा भाग मेरा है। इसलिए मेरे हिस्से के सब घड़े एक तरफ रखवा दें।"

उधर भूदेव मेरे साथ धोखा न करें, यह देखने के लिए सेठ भी एक पेड़ की ओट में खड़ा-खड़ा यह सब देख रहा था। भूदेव के शब्दों ने ठाकुर के कलेजे में तीर-सा काम किया। पर आन्तरिक भाव छिपाते हुए वे बोले—"भूदेव ! इतनी अधीरता आपको शोभा नहीं देती। ध्रोल के धनी को तुम्हारी एक पाई भी नहीं चाहिए। विश्वास रखिए। आप अपना हिस्सा चाहे जहाँ ले जा सकते हैं। परन्तु इस निधि की जानकारी आपको मिली है, अतः खड्डे में उतरकर चावल का स्वस्तिक करके दीपक जला आइए। फिर आप खुशी से अपने हिस्से के घड़े बैलगाड़ी में रखकर ले जाना।"

भूदेव को ठाकुर के मन में आए हुए पाप का पता चल गया। पर अब खड्डे में उतरकर स्वस्तिक पूर्ण करके दीपक जलाए बिना कोई चारा न था। अतः वे खड्डे में उतरे, उन्हें चावल से भरा थाल दिया गया, उसे लेकर ज्योंही वे स्वस्तिक करने के लिए नीचे झुके त्योंही ठाकुर के इशारे से २० जवान दबादब मिट्टी डालकर खड्डा भरने लगे। पाँच ही मिनट में तो खड्डा भर गया, भूदेव धरती की गोद में वहीं सदा के लिए सो गए।

वृक्ष की ओट में खड़े सेठ ने यह पापकृत्य देखा तो वह काँप उठा। चुपचाप घर आ गया।

इसके पश्चात् ठाकुर वह सारा धन लेकर ध्रोल आए। राज्य के खजाने में उसे रखा। सेठ के मुँह से ठाकुर की धोखेबाजी और ब्रह्महत्या की बात चारों ओर फैलने लगी। सब धनलोभी हत्यारे ठाकुर को धिक्कारने लगे। ध्रोल का नाम सुबह लेने से अन्न नहीं मिलेगा, यह भी माना जाने लगा।

इस पापकृत्य से प्राप्त निधि को पाकर ठाकुर भी सुखी न हुए। कुछ ही वर्षों बाद ध्रांगध्रा के राजा चन्द्रसिंह (ठाकुर के भानजे) के साथ हुए युद्ध में ध्रोलठाकुर अपने परिवार के मुख्य युवकों सहित मारे गए।

यह है धनलोभ से प्रेरित होकर किये गये द्रोह, हत्या आदि पाप और उनका दुष्परिणाम ! **'लोहो सव्वविणासणो'** कहकर शास्त्रकार (दशवै०) ने लोभ को सर्व-गुणों का विनाशक कहा है।

इसी लोभ से प्रेरित होकर संसार में न जाने कितने अनर्थ होते हैं। व्यभिचार और वेश्यावृत्ति दुनिया में धनलोभ के आधार पर ही तो चल रही है। कोई भी ऐसा पाप या अपराध नहीं, जो लोभ के कारण न होता हो। धन-लोभ के वशीभूत होकर १६ साल की लड़की ६० साल के बूढ़े के साथ शादी कर लेती है और अपने जीवन को वर्वाद कर देती है। इसीलिए एक अनुभवी ने कहा है—

जनकः सर्वदोषाणां गुणग्रसनराक्षसः।
कन्दो व्यसनवल्लीनां लोभः सर्वार्थबाधकः।

"लोभ सभी दोषों का जनक है, गुणों का भक्षण करने वाला राक्षस है। लोभ विपत्तिरूपी लताओं का झुंड है, वह सभी सुकार्यों में बाधक है।"

लोभ : धर्म विनाशक

जहाँ लोभ का निवास है, वहाँ धर्म नहीं रहता। लोभ के कारण मनुष्य की बुद्धि धर्मयुक्त नहीं रहती। उसके मन में धर्म को ताक में रख देने के विचार उठते हैं। मनुष्य लोभ के कारण धर्म के साथ सौदेवाजी कर लेता है। वह सोचता है—धर्म तो अपने पास ही है, चाहे जव वापस ले लेंगे। धन कब-कव मिलेगा ? उसे विश्वास ही नहीं होता कि धन तो नाशवान है, और वह फिर भी पुरुषार्थ से मिल सकता है, लेकिन धर्म तो एक बार चले जाने के वाद पुनः प्राप्त होना अतीव दुष्कर है।

मनुष्य जव धर्म का एक सोपान चूक जाता है तो फिर संभलता नहीं, उसके मन में भी धर्मभ्रष्ट होने का कोई दुःख या पश्चात्ताप नहीं होता और एक के वाद एक सोपान पर लुढ़कता हुआ नीचे आकर पतन के गड्ढे में गिर जाता है। लोभ के वश ही वह असत्य वोलता है, चोरी और वेईमानी करता है, ब्रह्मचर्यभंग करता है, परिग्रह की सीमा को तोड़ देता है, हिंसा पर उतर आता है। कई व्यापारी अहिंसा-धर्म के संस्कारों में पले हुए होने पर भी लोभवश मांस एवं मछलियों के पैक डिब्बे वेचते हैं, वे धड़ल्ले से मुर्गीपालन करते हैं, क्योंकि उस धंधे में वहुत ज्यादा मुनाफा मिलता है। यहाँ तक कि पदलोभ, प्रतिष्ठालोभ, सत्तालोभ, अधिकारलिप्सा आदि के कारण वड़े-वड़े नेता या लोकसेवक तक तिकड़मवाजी से चुनाव जीत जाते हैं, कई वार वे दूसरों की हत्या करवाकर या झूठे षड्यंत्र रचकर किसी को वदनाम करके स्वयं उस पद या स्थान को संभाल लेते हैं। राजनीति के क्षेत्र में तो लोभ के कारण इतनी सड़ान है ही, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में भी यह रस्साकस्सी चलती है। लोभ की मार दूर-दूर तक चलती है। जव किसी को नीचे गिराना होता है या कर्तव्य-भ्रष्ट करना होता है तो द्रव्यलोभ की मार से किया जाता है।

एक दिग्विजयी पण्डित को राजसभा में पूछा गया—"पाप का वाप कौन ?"

अनेक विषयों में पारंगत होते हुए भी पण्डितजी को उत्तर न सूझा। उन्होंने सात दिन की मुद्दत माँगी। वे शहर छोड़कर पैदल ही भागे, एक गाँव में पहुँचे। थककर चूर हो गए थे। एक मकान की छाया में विश्राम लिया। मकान मालकिन वेश्या ने खिड़की से पण्डितजी को बैठा देखा तो वह द्वार खोलकर बाहर आई। पण्डितजी से परिचय जानना चाहा तो उन्होंने पहली बार में ही अपनी सारी रामकहानी कह डाली।

वेश्या सोचती रही कि इतने विद्वान् होने पर भी इन्हें पता नहीं कि पाप का बाप कौन है।

वेश्या ने पण्डितजी से कहा—"उत्तर तो मैं बता सकती हूँ, बशर्ते कि आप मेरे घर में पधार कर इसे पवित्र करें। पर मैं वेश्या हूँ, यह मकान मेरा है।" यह सुनते ही पण्डितजी छी-छी कहकर नाक-भौं सिकोड़ते हुए बोले—"मैं धर्मभ्रष्ट नहीं होना चाहता।"

वेश्या ने कहा—"मर्जी आपकी! पर मेरे घर की छाया में बैठे ब्राह्मणदेव को दक्षिणा देना मेरा कर्तव्य है।" यों कहकर वेश्या ने दो स्वर्णमुद्राएँ उनके चरणों पर फैंक दी। मौहरों की चमक से मुग्ध बने पण्डितजी उसके आग्रह से घर में जा घुसे। वेश्या जब पानी का गिलास उनके हाथ में थमाने लगी, तब एक बार तो बिजली के करैंट लगने की तरह पण्डितजी पीछे हटे, परन्तु चार मोहरों की चमक से वह भी सम्भव हो गया। जलपान ही नहीं, भोजन भी हुआ। यहाँ तक कि कुछ ही स्वर्ण-मुद्राओं की चकाचौंध में आकर वे वेश्या के मुँह का झूठा पान भी खाने को उतावले हो उठे। पर पण्डितजी अपने प्रश्न का उत्तर पाने की अधीरता से प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी वेश्या ने मीठी मुस्कान भरकर पूछा—"भूदेव! अब तो आप समझ ही गए होंगे कि पाप का बाप कौन है?"

वे बोले—"तुमने कुछ भी नहीं बताया। मैं कैसे समझ जाता?"

वेश्या—"वाह! अब भी नहीं समझे? देखिये—आप तो मेरे मकान की छाया में बैठना भी पाप समझते थे, किन्तु उसके बाद निःसंकोच गृहप्रवेश, जलपान, भोजन और फिर झूठा पान, ये सब किस कारण हुए? इसका उत्तर स्वर्णमुद्राओं का लोभ ही तो है!"

अब पण्डितजी बोलते भी क्या?

सचमुच पण्डितजी जिस बात को धर्म समझकर चले थे, धन के लोभ ने उस धर्म से उन्हें बिलकुल नीचे गिरा दिया। इसीलिए महाभारत (शान्तिपर्व) में कहा है—

'लोभाद् धर्मो विनश्यति।'

—लोभ से धर्म का नाश हो जाता है।

धनलोभ के आगे मनुष्य अपने माता-पिता के प्रति कर्तव्य या धर्म को भी तिलांजलि दे देता है। पिता चाहे मरणशय्या पर हो, परन्तु पुत्र को धनलोभ का

रोग हो तो वह धर्मविमुख या कर्तव्यभ्रष्ट होते देर नहीं लगाता। वह सोचता है—पिताजी तो अब जिंदगी के किनारे लग गये हैं, उन्हें तो एक-न-एक दिन मरना ही है, उनके लिए बेकार रुककर अपने धन-लाभ के मौके को हम हाथ से क्यों जाने दें ?

लोभ से स्वास्थ्य और आयु पर गहरा प्रभाव

लोभ में एक प्रकार का गोपनीय भाव होता है। लोभी मनुष्य अपने धन को, धन रखने के स्थान को, धन कमाने की विधि को गुप्त रखने का प्रयत्न करता है। उसे हर क्षण यह चिन्ता लगी रहती है कि कहीं मेरी यह बातें प्रगट न हो जायँ। धन सम्बन्धी गोपनीय भावों का प्रवाह लोभी के जीवन में बहता रहता है। इसलिए लोभी का जीवन चिन्ता और भय से भरा रहता है और ये दोनों बातें आयु को कम करने एवं स्वास्थ्य नष्ट करने वाली होती हैं। इसीलिए शास्त्र में कहा है—

'लोहाओ दुहओ भयं,

—लोभ से यहाँ और वहाँ दोनों जगह भय बना रहता है।

लोभी के मन में निरन्तर धन संचय करने के विचारों का प्रवाह जारी रहने से सुप्त मन पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है। वह भी संचय की नीति को अपना लेता है। फलस्वरूप शरीर में जमा करने की क्रिया अधिक और त्यागने की क्रिया कम होने लगती है। इसका असर पेट पर शीघ्र होता है। दस्त साफ होने में रुकावट पड़ने लगती है। पेट भरा रहता है, उसमें मल इकट्ठा होता रहता है। शौच के समय आँतों की माँसपेशियाँ अपने संचालक (सुप्तमन) के आदेश का पालन करती हैं। वे त्याग में बड़ी कंजूसी करती हैं। फलस्वरूप जो मल अधिक मात्रा में है, वही निकलता है, बाकी पेट में ज्यों का त्यों पड़ा रहता है, और सड़-सड़कर अनेक विष पैदा करता है। पेट के ये ही विष रक्त में मिलकर असंख्य रोगों के घर बन जाते हैं। सड़ा हुआ मल पेट में दूषित वायु पैदा करता है। हृदय की अधिक धड़कन, सिरदर्द, निद्रा की कमी, गठियावात आदि रोग इसी दूषित विकार से होते हैं। इसी संकोचनीति के कारण त्वचा के रोमकूप पसीना अच्छी तरह नहीं निकालते और संकोचनीति के कारण ही रक्त में मिले हुए विषाक्त पदार्थ दूर नहीं होते।

लोभी व्यक्तियों की जोड़-जोड़कर इकट्ठा करने की इच्छा शरीर में अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्याधियों को बुलाती है। इसीलिए तो लोभी व्यक्ति कितनी ही कीमती दवाओं का सेवन करले या बहुमूल्य भोजन भी करले, फिर भी उसके तन-मन स्वस्थ नहीं रहते।

प्रायः धनलोलुप मनुष्य सन्तान के लिए धन नहीं चाहते, वे धन की रक्षा के लिए सन्तानरूपी चौकीदार चाहते हैं, ताकि उनके मरने के बाद भी उनका धन सुरक्षित रहे। ऐसे व्यक्तियों के सन्तान हो तो भी वे उसकी शिक्षा-दीक्षा, सदाचार और धर्मसंस्कार पर उदार हृदय से व्यय नहीं करते।

लोभ के कारण शरीर का रोगी और मन का अस्वस्थ रहना कितना बड़ा दुःख है। **'पहला सुख निरोगी काया'**, यह कहावत भारत के घर-घर में प्रचलित है।

दुःखनिवारण के लिए लोभवृत्ति दूर करो

अतः सौ बातों की एक बात है, दुःखों से पिण्ड छुड़ाने और दुःखी जीवन से दूर रहने के लिए आप सभी लोभत्याग या लोभविजय का अभ्यास करें। लोभ वृत्ति नहीं होगी तो किसी प्रकार का दुःख नहीं रहेगा। गरीबी में भी सुख और आनन्द रहेगा, लोभ रहने पर अमीरी में भी दुःख रहेगा। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

'दुःखं हयं जस्स न होइ लोहो'

जिसके मन में लोभ नहीं होगा, उसका दुःख नष्ट हो जायगा। गौतम ऋषि ने दुःखी जीवन से बचने के लिए ही कहा है—"लोहो, दुहो कि ?" □

२३

सुख का मूल : सन्तोष

धर्मप्रेमी वन्धुओ !

गौतमकुलक के २१ जीवनसूत्रों पर अब तक आपके सामने विवेचन किया जा चुका है। आज मैं २२वें जीवनसूत्र पर आपके सामने महत्त्वपूर्ण चर्चा करूँगा। २२वाँ जीवनसूत्र है—'सुहमाह तुट्ठि' अर्थात्–'तुष्टि (संतोष) को ही सुख कहा है।' तात्पर्य यह है कि सन्तोषी व्यक्तियों का जीवन ही सुखी होता है।

सुखीजीवन की परख कैसे ?

यदि आपको किसी सुखीजीवन की पहिचान करनी हो तो उसे कैसे पहचानेंगे ? अधिकतर लोगों की धारणा यह होती है कि यदि किसी के पास पर्याप्त धन हो, कार हो, कोठी और बंगला हो, अनेक नौकर-चाकर हों, पर्याप्त सुख-सामग्री हो, सब प्रकार की सुविधाएँ हों तो वे सुखी हैं। ऐसे लोग जब भी किसी धनवान या सम्पन्न अथवा सत्ताधीश को देखते हैं तो चट् से कह दिया करते हैं—'यह आदमी बड़ा सुखी है। इसके यहाँ किस बात की कमी है ? सब प्रकार की मौज है।'

बहुत-से लोग सुख का हेतु सन्तान को भी मानते हैं। वह न हो तो उनका सब-सुख सूना है। परन्तु कई लोगों के अनेक पुत्र होते हुए भी सब के सब अविनीत, अल्हड़, अविवेकी, उद्दण्ड और उड़ाऊ निकलते हैं तो उनका सारा सुख कपूर की तरह उड़ जाता है। जिसमें उन्होंने सुख की कल्पना कर रखी थी, वही चीज उनके दुःख का कारण बनी।

जिस स्त्री को मनुष्य सुख का कारण समझता है, उसके मोह में मूढ़ होकर वह वासनाओं से घिर जाता है, अपने जीवन में कुछ भी धर्मसाधना नहीं कर पाता। अनेक स्त्रियाँ हों, फिर तो कहना ही क्या है ? मनुष्य धर्माचरण न कर पाने या कामवासना में लिप्त रहकर अकाल में इस लोक से विदा हो जाने के कारण वास्तव में सुखी नहीं होता। बल्कि उसने जो दुःख की जड़ें सींची हैं, उनका फल आगे और कभी-कभी यहाँ भी तत्काल मिल जाता है। बाहर से धनाढ्य और साधन-सम्पन्न दिखाई देने वाला मानव वास्तव में सुखी है, यह नहीं कहा जा सकता। जब उसके जीवन की गहराई में उतरते हैं तो मालूम होता है—अनेक चिन्ताओं से आक्रान्त होने के कारण वह एक साधारण व्यक्ति से कई गुना अधिक दुःखी है।

अधिक धन बटोरकर सुखी बन जाने की भ्रान्ति में जब व्यक्ति अन्याय, अनीति, चोरी, तस्करी, डकैती, लूटपाट, गिरहकटी, बेईमानी, ठगी, झूठ-फरेब आदि अनुचित तरीकों से धन संचित करता है, तब रातदिन उसका मन गिरफ्तारी, सजा, बेइज्जती, मारपीट आदि की आशंकाओं से एवं इन्कमटेक्स, सेलटेक्स तथा अन्यान्य कर आदि बचाने की दुश्चिन्ताओं से अशान्त और बेचैन रहता है। कई बार वह गिरफ्तारी, दण्ड आदि से बचने के लिए बीहड़ों, जंगलों, गुफाओं या एकान्त स्थानों में मारा-मारा लुका-छिपा फिरता है। न कहीं सोने का ठिकाना होता है, न रहने का और न खाने-पीने का! है कोई सुख ऐसे व्यक्ति को? गिरफ्तारी का वारंट जब जारी होता है तो सुख-शान्ति की भ्रान्तिवश अनुचित तरीकों से धन बटोरने वाला व्यक्ति एकदम घबरा जाता है। कई बार तो वह देवी-देवों की मनौती करने दौड़ता है। इसी घबराहट में कई बार उसका ब्लडप्रेशर एवं मानसिक तनाव बढ़ जाता है, हार्ट-एटेक हो जाता है। हार्टफेल होने के जो आए दिन किस्से सुनते हैं, वे अधिकतर ऐसे ही चिन्ता-शोकमग्न व्यक्तियों के होते हैं।

अतः धन, ठाठबाट या सांसारिक साधनों के बढ़ जाने से, सुख बढ़ जाने की बात निरी भ्रान्ति है। धन से—अन्याय-अनीति से प्राप्त धन से—सुखशान्ति की आशा करना व्यर्थ है।

कई सभ्य लोग विद्या, बुद्धि या बल को भी सुख का हेतु मानते हैं परन्तु गहराई से देखा जाए तो वास्तविक सुख के वाहक ये पदार्थ भी नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो हर एक शिक्षित, बुद्धिमान या बलवान् व्यक्ति सुखी दिखाई देता, और हर अशिक्षित, मंदबुद्धि, या निर्बल दुःखी। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। बल्कि कई विद्वान्, शिक्षित, बुद्धिमान् या बलवान् लम्बी-लम्बी आहें भरते और अमुक व्यक्ति, समाज, देव या निमित्त को कोसते और क्षुब्ध होते मिलते हैं; जबकि अपढ़ किसान, मजदूर या निर्बल, निर्धन व्यक्ति अपने-आप में प्रसन्न और हँसी-खुशी से जीवन बिताते मिलते हैं।

अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में धन-वैभव की प्रचुरता होते हुए भी अधिकांश लोग अशान्त और दुःखी मालूम होते हैं, सबसे अधिक मानसिक रोगों के शिकार हैं। यदि धन-दौलत तथा साधन सुविधाएँ ही प्रसन्नता और सुखीजीवन की हेतु होतीं तो संसार का प्रत्येक धनवान अधिक से अधिक सुखी और प्रसन्न होता, किन्तु ऐसा कहाँ है? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि बाह्य वैभव, भौतिक शक्ति, सत्ता या विभूति वास्तविक सुख एवं खुशी का कारण नहीं है। इन्हें सुख का मूल मानकर इन भौतिक पदार्थों के लिए रोते-पीटते रहना बुद्धिमानी नहीं है।

सुख का रहस्य : धनादि पदार्थों में सुख नहीं

मैंने एक पुस्तक में ग्रीस के प्रसिद्ध तत्त्वचिन्तक सोलन के द्वारा बताया हुआ सच्चे सुख का रहस्य पढ़ा था। उससे आप लोग भी भलीभांति समझ जाएँगे कि

वास्तविक सुख धन, जमीन, सन्तान, स्त्री, बाग-बगीचा, जमीन-जायदाद या बंगला-कोठी, कार आदि होने से प्राप्त नहीं होता। यह निरा भ्रम है कि धन, वैभव और सत्ता आदि से सम्पन्न मनुष्य सुखी हैं।

हाँ, तो सोलन के पास एक व्यक्ति आया, जो अपने आपको बहुत दुःखी बताता था। उसने सोलन से कहा—"मैं बहुत दुःखी हूँ। बहुत दूर से आपका नाम सुनकर आया हूँ कि आप सुख का मंत्र देते हैं जिससे आदमी सुखी हो जाता है। कृपया मुझे भी सुख का मंत्र दीजिए।" सोलन उसकी बात पर हँसा और कहने लगा—"मेरे पास ऐसा कोई भी मंत्र नहीं है, जिससे तुम सुखी हो जाओ।" आगन्तुक बोला—"आप टालमटूल न करें, मैं बहुत दूर से आया हूँ तो मंत्र लेकर ही जाऊँगा।"

सोलन ने सोचा—'अगर इसे तत्त्व-ज्ञान की बात कहूँगा तो यह समझेगा नहीं और कुछ त्याग, तप आदि करने की बात कहूँगा तो यह अशक्य कहकर ठुकरा देगा। अतः यह अपने अन्तःस्फुरित चिन्तन से समझ सके ऐसा उपाय बताना चाहिए।' कुछ सोचकर सोलन ने आगन्तुक से कहा—"अच्छा, मंत्र तो मैं तब दूँगा, जब तुम किसी सुखी आदमी का कोट ले आओगे।"

आगन्तुक ने कहा—"बस इतनी-सी बात है, मैं अभी लाता हूँ सुखी का कोट। एथेंस में बड़े-बड़े धनाढ्य जमींदार, व्यापारी हैं, उनसे कहने की देर है, वे कोट दे देंगे।" उसकी स्थूलदृष्टि में सुखी वह, जो सबसे अधिक धन, सत्ता, जमीन, व्यापार आदि में से किसी से सम्पन्न हो। वह दौड़ा-दौड़ा पहुँचा एथेंस नगर के एक प्रसिद्ध धनिक के यहाँ। द्वार पर खड़े आदमी से कहा—"अन्दर जाकर सेठ से कहो कि बाहर सोलन द्वारा भेजा गया एक आदमी आया है। आपसे मिलना चाहता है।" द्वारपाल ने सेठ से कहा तो उन्होंने कहा—"आने दो उसे।" उसने जाते ही कहा—"मुझे आपका धनमाल कुछ भी नहीं चाहिए, सिर्फ आपका एक कोट चाहिए।" सेठ विस्मयपूर्वक बोला—"कोट तो भले ही एक के बदले दो-चार ले जाओ, पर यह तो बताओ कि मेरे कोट से तुम्हें क्या प्रयोजन है?" वह बोला—"मुझे सोलन ने बताया कि तुम किसी सुखी का कोट ले आओ, फिर मैं तुम्हें सुख का मंत्र दूँगा। मुझे आप जैसा सुखी मनुष्य एथेंस में कोई नहीं दीखता, इसलिए आपके यहाँ आया हूँ।" सेठ ने कहा—"भाई! तुम मुझे सुखी मानते हो, पर मैं सुखी नहीं हूँ।"

आगन्तुक बोला—"आपको कोट न देना हो तो इन्कार कर दें। पर झूठ बोलकर टालमटूल न करें। आपके पास इतना धन-वैभव, सुख-साधन, नौकर-चाकर आदि हैं फिर भी आप अपने आपको दुःखी बताते हैं, यही आश्चर्य है।"

सेठ ने कहा—"मैं सच कहता हूँ। मेरा कोट पहनने से तुम सुखी न बने तो तुम्हें अविश्वास होगा। अगर तुम्हें मेरी बात पर विश्वास न हो तो ३-४ दिन मेरे यहाँ रहकर परीक्षा कर लो।" आगन्तुक रहने के लिए राजी हो गया। उसके भोजन आवास आदि की सब व्यवस्था सेठ ने कर दी। दूसरे दिन जब वह नित्यकृत्य से निवृत्त

होकर सेठ के कार्यालय कक्ष में घुसने लगा तो जोर-जोर से झगड़ने के शब्द सुनाई दिये। आगन्तुक ने ध्यान से सुना, सेठानी सेठ पर बरस रही थी। सेठ समझा रहे थे—"अरी ! इतना हल्ला मत कर। बाहर मेहमान बैठा है, वह सुनेगा तो क्या समझेगा ?" पर सेठानी मनाने पर भी नहीं मान रही थी। फिर सेठ के रोने की आवाज सुनी तो आगन्तुक समझ गया कि सेठ अपनी पत्नी के कारण बहुत दुखी है। इसकी अपेक्षा तो मैं सुखी हूँ। मेरी पत्नी मेरा कहना तो मानती है। अपना समाधान पाकर आगन्तुक चुपचाप वहाँ से चल दिया।

वह एक जमींदार के यहाँ पहुँचा। वहाँ भी इस सेठ की तरह ही जमींदार ने आगन्तुक से कहा। आगन्तुक वहाँ भी एक दिन रुका, परन्तु दूसरे ही दिन जमींदार की अपने लड़के के साथ झपट होती देखी। बाप कहता था—"तू शराब पीकर आवारा लड़कों के साथ घूमता है, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। इस बुढ़ापे में मेरी इज्जत तू क्यों मिट्टी में मिला रहा है ?" लड़का कहता था—"यह मेरी इच्छा है, मैं जिन्दगी का आनन्द लूटूँ। आपके कहने से मैं रुक नहीं सकता।" इस प्रकार जमींदार को अपने पुत्र के कारण दुःखी देखकर आगन्तुक वहाँ से भी चल दिया। वह पहुँचा एक दूकानदार के यहाँ, जहाँ ग्राहकों की भीड़ लग रही थी, रुपये बरस रहे थे। जब भीड़ छँट गई तो आगन्तुक ने दूकानदार से अपनी बात कही। परन्तु उसने भी कहा "मुझे धन तो बहुत मिलता है, परन्तु मैं न तो सुख से सो सकता हूँ, न सुख से खा-पी सकता हूँ। काम धंधे के मारे जरा भी अवकाश नहीं मिलता। नींद की गोली लेकर सोता हूँ।" आगन्तुक वहाँ से भी चल पड़ा। फिर वह कई व्यक्तियों के पास गया परन्तु उसे कोई भी सुखी नहीं मिला, जिससे कोट माँग सके।

आखिर एक पेड़ के नीचे बैठे एक मस्त फकीर को देखा तो दुःखिया ने उससे पूछा—"महाराज ! आप बड़े सुखी मालूम होते हैं।"

फकीर ने शांत मुस्कराहट के साथ कहा—"अवश्य, मैं बहुत सुखी हूँ, इसलिए कि मैं दूसरों को सुखी देखकर ईर्ष्या नहीं करता, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, सन्तान आदि की बिलकुल चाह नहीं है मुझे। जो कुछ खाने को मिल जाता है, उसी में सन्तोष मानकर परमात्मा का भजन करता हुआ मस्ती से जीवन बिताता हूँ।"

आगन्तुक—"तो फिर अपना कोट मुझे दे दीजिए न ?"

फकीर बोला—"मेरे पास तो सिर्फ यह लंगोटी है। सोलन ने तुम्हें सुख का रहस्य समझाने के लिए ही यह उपाय बताया है। सुख का मूलमंत्र यही है—'हर-हाल में मस्त रहकर संतोषपूर्वक जीवन बिताओ'।" आगन्तुक को सुख का मंत्र मिल गया। अब उसे सोलन के पास जाने की जरूरत न रही।

अतः सुखप्राप्ति का मुख्य रहस्य यह है कि मनुष्य चाह और चिन्ता से दूर रहे। जहाँ किसी वस्तु की इच्छा होती है, वहाँ तृष्णा जागती है और तृष्णा के आते ही मनुष्य उस चीज को पाने के लिए दौड़ लगाता है, इससे उसका सारा सुख पलाय-

मान हो जाता है। उसके पल्ले तो केवल दुःख ही दुःख पड़ता है। पदार्थ को पाने के लिए दौड़-धूप का दुःख, फिर उसकी रक्षा करने का दुःख, तत्पश्चात् उसका वियोग हो जाने पर दुःख। फिर उसके सरीखा दूसरा पदार्थ पाने और उसे सुरक्षित रखने का दुःख! इस प्रकार दुःख का विषचक्र चलता है।

मनुष्य के दुःख का कारण : तृष्णा

आवश्यकताओं की तात्कालिक पूर्ति मनुष्य के सुख का कारण नहीं है, क्योंकि उसमें मनुष्य को संतोष नहीं होता। मानव में जितना अधिक बोलने और विचार करने की शक्ति आई है, तथा मन और बुद्धि का विकास हुआ है, उतनी ही उसकी आवश्यकताएँ बढ़ी हैं। एक बार की इच्छापूर्ति से उसे तृप्ति नहीं होती। वह हर बार पहले से उच्चतर साधनों की माँग करता रहता है। आज साइकिल की तो कल मोटर साइकिल की, फिर मोटर कार की। तात्पर्य यह है कि इच्छाओं का तारतम्य नहीं टूटता। मनुष्य इसी गोरखधंधे में फँसा हुआ, अर्धविक्षिप्त एवं निराश्रित-सा अपने को अनुभव करता है।

आज अधिकांश बनियों के विवाह प्रसंगों पर वरपक्ष की ओर से कन्यापक्ष के लोगों के प्रति असन्तोष व्यक्त किया जाता है। चाहे कन्यापक्ष के लोग अपनी कन्या के विवाह पर कितना ही धन या साधन दे दें, किन्तु असन्तुष्ट वरपक्षीय लोग धन के दीवाने बनकर अपनी मांगें पेश करते रहते हैं और अपना असंतोषजनित रोष बेचारी नववधू पर उतारते हैं। वे तृष्णा के आवेश में अपनी धर्ममर्यादा, कर्तव्य और उत्तर-दायित्व को भी भूल जाते हैं। एक जगह विवाह के समय एक वर महोदय तो स्कूटर लेने पर ही अड़ गए। उन्हें उनके भावी ससुर ने बहुत समझाया कि अभी हमारी स्कूटर देने की स्थिति नहीं है। पर वर महोदय तो बिलकुल टस से मस न हुए। आखिर कन्यापक्ष वालों ने भी ऐसे लालची और हठी वर को बिना ही विवाह के बैरंग वापस लौटा दिया।

निष्कर्ष यह है कि वस्तु होने पर भी या वर्तमान के सीमित पदार्थों से आसानी से काम चला सकने पर भी मनुष्य अपनी अनियंत्रित एवं बढ़ती हुई कामनाओं, वासनाओं एवं तृष्णाओं के कारण ही दुःखी होता है। बढ़ती हुई तृष्णा ही मनुष्य को सबसे अधिक दुःखी बनाती है। जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के लिए मनुष्य को न तो अधिक श्रम ही करना पड़ता है, और न दौड़धूप करनी होती है। पशु-पक्षी तक भी अपने उदरपोषण और निवास की समुचित व्यवस्था कर लेते हैं। परन्तु मनुष्य की इच्छाएँ और कामनाएँ बहुत विशाल होती हैं। वह वर्तमान के ही खाने-पीने, मौज-शौक एवं प्रवृत्ति करने तक में सन्तुष्ट नहीं होता। अपनी असीम इच्छा को लेकर उसकी प्यास चिरकाल के लिए पुत्रों और प्रपौत्रों के लिए संग्रह करके छोड़ जाने की होती है। यही अनियंत्रित कामना तृष्णा है, जो मनुष्य के जीवन में तरह-तरह की जटिलताएँ, दुःख, अस्तव्यस्तताएँ एवं परेशानियाँ बढ़ाती है। इस प्रकार

कई पीढ़ियों तक के लिए संग्रह करके रख जाने से न तो आत्मकल्याण ही होता है, और न बच्चों का ही किसी प्रकार का विकास हो पाता है। बिना परिश्रम की कमाई से मनुष्य में अनेकों दुर्बलताएँ आती हैं। उसमें विकास करने की योग्यता नष्ट हो जाती है।

यहाँ तक कि यह तृष्णा मरते समय भी नहीं जाती। इतने गहरे संस्कार तृष्णा के हों तब सुख-शान्ति कैसे हो सकती है ?

एक वृद्ध मनुष्य मरणासन्न था। उसके. पोते ने उसकी शय्या के पास आकर पूछा---"दादाजी ! बताइए आपको क्या चाहिए ?" मरने वालों को सब कुछ माँगने और खाने की छूट दे दी जाती है। बकरे को बलिदान देने से पहले खूब खिला-पिलाकर मोटा ताजा किया जाता है। डाक्टर भी मरणासन्न रोगी को सब कुछ खाने-पीने की छूट दे देता है।

दादाजी ने पोते के प्रश्न के उत्तर में कहा—"करोड़ रुपये की एक ध्वजा ला दो।" दादा की वित्ततृष्णा को देखकर पोते ने कहा—"दादा जी ! आप परलोक जाने की बात कहते थे। मेरी यह सुई भी साथ में लेते जाना। ताकि पैर में काँटा गड़ जाये तो आप उसे निकाल सकें।" दादाजी बोले—"यह तो यहीं रह जाएगी।" लड़का बोला—"तो इसे आपके पैर में चुभो दूँ, ताकि वह आपके साथ परलोक में चली जाएगी।" दादाजी—"यह शरीर तो यहीं जलकर राख हो जाएगा, फिर मैं सुई कैसे साथ में ले जाऊंगा।" बालक ने कहा—"तो फिर आप करोड़ रुपये की ध्वजा कैसे साथ ले जाएँगे ?" बस, बालक की इस बात ने तृष्णापरायण बूढ़े की आँखें खोल दीं। अतः कुछ अर्से बाद अपने बड़े लड़के से परामर्श करके बूढ़े ने एक दानशाला खुलवाई—जो भी आता उसे वृद्ध प्रसन्नता से दान देता था।

अभाव की पूर्ति भी सुख का कारण नहीं

मनुष्य यह सोचता है कि अमुक अभाव की पूर्ति हो जाए तो मैं सुखी हो जाऊँगा। परन्तु अभाव की कभी सर्वथा पूर्ति होगी नहीं और वह फिर दुःखी होगा। वर्तमान परिस्थिति से असन्तुष्ट मनुष्य सदैव किसी न किसी अभाव का अनुभव करते हुए दुःखी होते रहते हैं। वे अपने दुःख का कारण किसी न किसी अभाव को मानते रहते हैं और ऐसा सोचा करते हैं कि यदि उनका वह अभाव मिट जाए, अमुक आवश्यकता पूरी हो जाए तो वे सुखी हो जाएँगे। परन्तु ज्यों ही वह एक अभाव पूरा होगा, दूसरा अभाव सताने लगेगा। दूसरा पूर्ण होते ही तीसरा आ धमकेगा। इस प्रकार अभावों का क्रम लगा रहेगा। अभावों का सर्वथा अभाव होना सम्भव नहीं। आज यदि पैसे का अभाव है, तो कल विद्या का अभाव सता सकता है। यदि विद्या का अभाव नहीं है तो समाज में सम्मान या प्रतिष्ठा का अभाव दुःखी कर सकता है। यदि सामाजिक सम्मान प्राप्त है तो सन्तान का अभाव मन को परेशान कर सकता है। यदि सन्तान का अभाव नहीं है तो उनके सुसन्तान होने का अभाव खटक सकता

है। और यदि एक बार ये सभी चीजें प्राप्त हो जाएँ तो भी उनकी न्यूनाधिक मात्रा, या उत्कृष्टता का अभाव या उनमें से किसी इष्ट चीज के वियोग हो जाने पर उसके अभाव का प्रश्न सामने खड़ा हो सकता है। तात्पर्य यह है कि किसी न किसी रूप में अभाव मनुष्य को दुःखी करता रहेगा, बशर्ते कि मनुष्य अभावपूर्ति को सुख मानता रहे।

यथार्थ बात यह है कि अभाव का होना न होना, वस्तुओं या परिस्थितियों की मात्रा अथवा स्तर पर निर्भर नहीं है। अभाव का अनुभव होना मनुष्य की अपनी मानसिक कमी पर निर्भर है। अभाव का वास्तविक अस्तित्व तो शायद ही होता हो, परन्तु मानव का दुर्बल और अधीर मन अपनी आदत के कारण उस अस्तित्व की कल्पना कर लेता है। अभाव के रूप में उसे अनुभव करने की मनुष्य की इस आदत का जन्म असन्तोष से हुआ करता है। इसीलिए पाश्चात्य विचारक कॉल्टन (Colton) कहता है—

"A tub was large enough for Diogenes, but a world was too little for Alexander."

'डायोजीनिस के लिए एक टब भी बहुत बड़ा और पर्याप्त था, जबकि सिकन्दर (अलेक्जेंडर) के लिए सारी दुनिया भी बहुत छोटी और थोड़ी थी।'

असंतोषी स्वभाव : अभावों से पीड़ित

आपको अनुभव हुआ होगा कि जिसका स्वभाव ही असन्तोषी है, वह बात-बात में अभाव की आह निकालेगा। उसे कुबेर का खजाना और भूमण्डल का राज्य भी मिल जाए तो भी पूर्ति या सम्पन्नता का अनुभव नहीं करेगा। उसे अपनी सारी विभूतियाँ, सारी सम्पदाएँ कम ही मालूम होती रहेंगी। यदि ऐसा न होता तो जिस वस्तु के अभाव में कोई दुःखी होता है, तब उसी वस्तु के मिल जाने पर दूसरे को सुखी होना चाहिए। परन्तु ऐसा प्रायः देखने में नहीं आता।

मनुष्य में लालसा इतनी अधिक बढ़ गई है कि वह अपनी उचित मर्यादाओं से कहीं अधिक चाहता है। वह यह नहीं सोचता कि मुझे अपनी योग्यता, श्रमशीलता क्षमता या दक्षता के अनुपात में जो कुछ मिला है, वह सन्तोषजनक है या नहीं? अधिकांश व्यक्ति, जिनमें शिक्षित और व्यापारी आदि भी हैं, प्रायः असन्तुष्ट दिखाई देते हैं। इसका एक कारण यह है कि वह जितना प्राप्त हो चुका है या हो रहा है, उसे अपर्याप्त मानता है और अधिक वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। वह जितनी आकांक्षा करता है, उसकी तुलना में उसे जितना कम मिला होता है, उतना ही वह दुःखी और असन्तुष्ट रहता है।

असीम इच्छाएँ कभी पूरी होती नहीं

संसार में किसी की सभी इच्छाएँ या मनोकामनाएँ कभी पूरी नहीं होती।

इसका एक कारण तो यह है कि मनुष्य की इच्छाओं, वांछाओं या कामनाओं का कोई अन्त नहीं। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

'इच्छाहु आगास समा अणंतया।'

—इच्छाएँ निश्चय ही आकाश के समान अनन्त, असीम हैं।

तालाब में पैदा होने वाली लहरों की तरह इच्छाएँ एक के बाद एक उत्पन्न होती रहती हैं। उनका कोई भी ओर-छोर नहीं है। फिर दूसरा कारण यह भी है कि मनुष्य की इच्छाओं का कोई एक स्वरूप स्थिर नहीं होता। उसका स्वरूप एवं प्रकार बदलता रहता है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य सन्तानरहित है। वह सन्तान चाहता है। उसको सन्तान प्राप्त हो सकती है, होती भी है। पर इतने से उसकी मनोवांछा पूरी नहीं होती। वह औरस सन्तान चाहता है, वह नहीं मिलती। इसके पश्चात् औरस सन्तान न मिली तो न सही, किसी बच्चे को गोद लेकर अपनी सन्तान मान लेने की इच्छा हुई। वह भी पूर्ण होने आई, परन्तु वह सन्तान अपने मनोनुकूल न मिली तो फिर शिकायत रही।

स्वामी रामतीर्थ के पास न्यूयार्क की एक धनी महिला आई, और शोकार्त मुद्रा में घुटने टेककर स्वामीजी के समक्ष बैठ गई। उसके तीन पुत्र एक-एक करके मर गये थे। पुत्रशोक से विह्वल वह महिला स्वामीजी से परमानन्द का मंत्र माँगने आई थी। स्वामीजी ने निश्छल वाणी में कहा—"राम! तुम्हें आनन्द मंत्र देगा। पर इसके लिए तुम्हें उपयुक्त मूल्य भी चुकाना होगा।"

महिला की करुणार्द्र आँखें चमक उठीं। वह बोली—"मेरे पास धन की कोई कमी नहीं। जो आपकी आज्ञा होगी, वह शिरोधार्य होगी।" रामतीर्थ ने कहा—"राम के परमानन्दमय ऐश्वर्य में पार्थिव धन की नहीं, आत्मिक धन की जरूरत है।" महिला बोली—"आप कहिए तो।" स्वामीजी उठे और निकट में ही खेलते हुए एक हृष्ट-पुष्ट हब्शी बालक को लाए और महिला को सौंपते हुए कहा—"लो, इस बालक को अपना आत्मरस—वात्सल्यरस देकर इसका पालन-पोषण करो। इसे अपना पुत्र मानो, यह राम का आत्मीय है, यह तुम्हें परम आनन्द देगा।" महिला सुनकर काँप उठी, कहने लगी—"स्वामीजी! यह कार्य मेरे से होना बहुत कठिन है।" तब स्वामीजी ने कहा—"तो तुम्हें परमानन्द मिलना भी कठिन है।"

बन्धुओ! इस अमेरिकन महिला को सन्तान के रूप में बालक मिल रहा था, इससे उसकी सन्तानेच्छा पूरी हो जानी चाहिए थी। परन्तु उसकी इच्छा ने दूसरा मोड़ ले लिया। उसकी इच्छा हुई—"गोरी जाति का बालक मिले।" मान लो, कदाचित् उसकी वह इच्छा भी पूर्ण हो जाती तथापि वह बालक योग्य न निकलता, तो फिर इच्छापूर्ति के अभाव का रोना रहता न? अथवा उसके पुत्री हो गई, उससे सन्तानेच्छा पूर्ण हो जानी चाहिए थी, लेकिन उसकी पुत्री अपने मनोनीत रंग-रूप की नहीं हुई तो? इस प्रकार मनुष्य की एक इच्छा के साथ न जाने कितनी ही अवान्तर इच्छाएँ जुड़ जाती हैं।

मान लो, अपनी सब इच्छाओं की पूर्ति के लिए चिन्तामणि-मन्त्र की साधना करने से उसे चिन्तामणि की सिद्धि प्राप्त हो गई, जो कि सामान्यतया असम्भव सी है। फिर भी चिन्तामणि से इच्छा सिद्धि होने के बावजूद भी उसका अभाव का अनुभव दूर न होगा। उसकी एक मनोनुकूल इच्छा थोड़ी देर में पुरानी होने पर वह नई इच्छा की पूर्ति के लिए लालायित हो उठेगा। इस प्रकार यदि मनुष्य रातदिन अपनी मनोवांछाओं की पूर्ति में लगा रहे तो भी वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि सन्तोष वस्तुओं और परिस्थितियों में नहीं, अपितु मनुष्य की मनःस्थिति में है। एक पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता ने कहा है—

"He who is not contented with what he has, would not be contented with what he would like to have."

"वह व्यक्ति, जो कि अपने पास जो है, उसमें सन्तुष्ट नहीं है, तो वह उससे भी सन्तुष्ट नहीं होगा, जितना कि वह अपने पाने के लिए मन में चाह सँजोए हुए है।"

असन्तुष्ट व्यक्ति बड़ी-बड़ी महत्त्वाकांक्षाएँ मन में करता है। परन्तु वे सबकी सब महत्त्वाकांक्षाएँ कभी पूरी नहीं हो पाती। केवल मनुष्य अपने दिमाग में उन कल्पनाओं का बोझ ढोए फिरता है। किन्तु उस अनावश्यक बोझ को मस्तिष्क से दूर फेंककर वह हल्का और शान्त नहीं होता।

एक बार शेखसादी किसी व्यापारी के यहाँ ठहरे। व्यापारी बहुत धनवान था। उसके घर में बहुत माल भरा हुआ था। उसके यहाँ नौकर-चाकर भी अधिक संख्या में थे। वह व्यापारी रातभर अपनी रामकहानी सुनाता रहा। उसने बताया—"मेरा इतना माल तुर्किस्तान में है, इतना हिन्दुस्तान में, इतना अमुक नगर और गाँव में है। मुझे उन देशों की यात्रा करनी है। फिर मुझे स्वास्थ्य सुधार के लिए अमुक देश जाना है। इसके पश्चात मुझे तीर्थयात्रा करने बहुत दूर जाना है। फिर एकान्तवासी बनकर खुदा की इबादत करनी है।"

सादी साहब उसकी बातें सुनते-सुनते ऊब गए, फिर भी उसकी रामकहानी पूर्ण न हुई। अतः शेख साहब बीच में ही बोल उठे—"आपको मालूम है, जिन्दगी अब और कितने दिन की है?"

व्यापारी बोला—"मुझे इस विषय में बिलकुल मालूम नहीं है।" "तो फिर आपने इतने वर्षों के प्रोग्राम पहले क्यों बना रखे हैं? यदि आप धन की इच्छापूर्ति होने के बाद ही धर्म कार्य करना चाहते हैं, तो मेरी बात गाँठ बाँध लीजिए कि आपकी यह धन की इच्छा कदापि पूर्ण नहीं होगी। जितना-जितना धन बढ़ता जाएगा आपकी इच्छाएँ उससे दो कदम आगे बढ़ती चली जाएँगी, क्योंकि उनका कहीं अन्त नहीं होता। क्या आपको पता नहीं कि आज एक प्रसिद्ध व्यापारी की घोड़े से गिरकर मृत्यु हो गई है। जिस समय वह घोड़े से गिरा, उसने लम्बी सांस लेकर कहा—'जीवन में बहुत धन कमाया, फिर भी अनेक इच्छाएँ मन की मन में रह गईं।'

उस व्यापारी की भी आप ही की तरह अनेक योजनाएँ बनी थीं, जिन्हें पूरा करने का वह स्वप्न देख रहा था कि आज यकायक वह मृत्यु की गोद में सदा के लिए सो गया। उसकी सारी इच्छाएँ इस पृथ्वी के गर्भ में समा गईं। मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि आपकी स्थिति भी उस व्यापारी से बहुत कुछ मिलती-जुलती है और आप सर्वप्रथम धन की इच्छा पूर्ण कर लेना चाहते हैं, तत्पश्चात जब धन की इच्छा न रहेगी, तब धर्मकर्म का श्रीगणेश करेंगे। परन्तु धन की इच्छा इस प्रकार न तो किसी की पूर्ण हुई है, न होगी।

"इसलिए यदि कुछ करना ही है तो इच्छापूर्ति का एक ही इलाज है, वह है सन्तोष। यदि संतोष धन आपको प्राप्त हो जाए तो संभव है, धर्म की ओर आपकी कुछ प्रवृत्ति हो सके, अन्यथा आपकी भविष्य की ये सब योजनाएँ आपके साथ ही जाएँगी।"

शेखसादी की स्पष्ट एवं यथार्थ बातें सुनकर व्यापारी की मोहनिद्रा भंग हुई। वह समझ गया कि अब तक जीवन की इस लम्बी अवधि में जब धन की थोड़ी मात्रा में भी इच्छा पूर्ण न हुई तो शेष अल्पकाल में अनेक इच्छाएँ कैसे पूरी होंगी? अतः व्यापारी उसी दिन से अपना कुछ समय धर्माचरण में लगाने लगा और सतत इस ओर प्रवृत्ति बढ़ाता ही रहा। संतोष प्राप्त हो जाने पर उसे सांसारिक कार्यों में भी यथा-सम्भव सफलता मिलती गई। इसीलिए संत सुन्दरदासजी ने कहा है—

जो दस बीस पचास भये, सत होई हजारतूं लाख मगैंगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य पृथ्वीपति होने की चाह जगैंगी॥
स्वर्ग पाताल को राज करौं, तृष्ना की अति आग लगैंगी।
'सुन्दर' एक सन्तोष बिना शठ! तेरी तो भूख कबु न भगैंगी॥

वास्तव में सन्तोष के बिना बढ़ती हुई इच्छाओं एवं तृष्णा का कोई भी अकसीर इलाज नहीं है।

अपने ही सम्बन्ध में बहुत दूर तक की सोचना मनुष्य का स्वार्थी होना है। इस अतिस्वार्थ का त्याग किये बिना सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता, और संतोष के बिना सच्चा सुख नहीं मिल सकता। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा—

असन्तोषं परं दुःखं सन्तोषः परमं सुखम्।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात् सन्तुष्टः सततं भवेत्॥

इस संसार में दुःख का कारण असन्तोष है। संतोष ही सुख का मूल है। इसलिए जिसे सुख की अभिलाषा हो वह सतत सन्तुष्ट रहे।

असन्तुष्ट : सदा दुःखी

अपनी वर्तमान परिस्थितियों में असन्तुष्ट रहना अधिकांश मनुष्यों का स्वभाव होता है। उनका वर्तमान कितना ही अनुकूल क्यों न हो, किन्तु वे खिन्नता और

असन्तोष का कोई न कोई कारण निकाल ही लिया करते हैं । असंतोष एक प्रकार का दर्द है, जिससे मनुष्य को उसी प्रकार की बेचैनी हुआ करती है जैसे आँख, पेट, सिर, कान या दाढ़ के दर्द होने पर होती है ।

असन्तुष्ट व्यक्ति किसी कार्य को पूरा करते ही सफलता पाने या जो कुछ चाहते हैं, उसे तुरन्त ही प्राप्त हो जाने की कल्पना किया करते हैं । उनमें धैर्य नाम मात्र को नहीं होता । यदि जरा-सी भी देर हो जाती है तो वे अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं और सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक गुण—धैर्य एवं मानसिक स्थिरता को खोकर असन्तोषरूपी भारी विपत्ति को अपने सिर पर ओढ़ लेते हैं । जिसका भार लेकर उन्नति की दिशा में कोई भी व्यक्ति देर तक नहीं चल सकता ।

उन्नति की आकांक्षा और बात है, असन्तोष की वृत्ति के कारण धनादि पाने की अनुचित महत्त्वाकांक्षाएँ बिलकुल दूसरी बात है । उन्नतिशील व्यक्ति आशा, उत्साह, धैर्य और साहस को साथ लेकर प्रसन्न मुखमुद्रा और स्थिर चित्त के साथ आगे बढ़ता है । जैसे गहरे पानी में उतरते समय हाथी अपना प्रत्येक कदम संभाल-संभालकर रखता हुआ आगे बढ़ता है, वैसे ही उन्नतिशील व्यक्ति अपना हर कदम फूंक-फूंककर रखता हुआ आगे बढ़ता है । उन्नतिशील व्यक्ति स्वस्थचित्त, अनुद्विग्न एवं स्थितप्रज्ञ होने के कारण आने वाली कठिनाइयों विघ्न-बाधाओं और प्रतिकूल परिस्थितियों का सही कारण और उनका यथार्थ निवारण ढूंढकर, अपनी सही सूझ-बूझ से उनका निराकरण करने और संकटों को साहस एवं दृढ़ता के साथ पार करने में समर्थ होता है । वह उतावली, अधीरता और उद्विग्नता को नहीं अपनाता, जब कि असन्तोषी व्यक्ति उतावला, जल्दबाज, उद्विग्न एवं अधीर हो बैठता है, उसमें संकटों के सामने साहसपूर्वक टिके रहने की दृढ़ता नहीं होती ।

असन्तुष्ट व्यक्ति का मानस

असन्तोष एक मानसिक ज्वर है । जिस प्रकार बुखार होने पर रोगी शारीरिक और मानसिक दोनों तरह से अशक्त हो जाता है, खड़े होते ही उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं, कुछ ही देर पढ़ने, बोलने या सोचने से उसका सिर दर्द करने लगता है, उसे चक्कर आने लगता है, उसी प्रकार असन्तोष ज्वर से पीड़ित मानसिक रोगी की भी हालत हो जाती है, वह जरा-सा संकट आते ही अशक्त होकर बैठ जाता है, किसी भी समस्या की गहराई में जाकर उसका हल करने की बात पर अधिक देर तक नहीं सोच सकता । उसे दूसरों की तरक्की को देख-देखकर कुढ़न होती है, पर कर-धर कुछ नहीं सकता । हर घड़ी कुढ़न और जलन उसे घेरे रहती है । क्षुब्ध और उत्तेजित मन से वह ऊटपटांग बातें ही सोच सकता है । दूसरों पर दोषारोपण करके अपने दिमाग में निहित तेजोद्वेष और क्रोध को ही वह बढ़ा सकता है । अपनी मनःस्थिति जिन्होंने ऐसी असन्तुलित बना ली है, वे उद्वेग की अशान्त लहरों के ही थपेड़े खाते रहते हैं । उनकी अधिकांश शक्तियाँ कुढ़न, जलन, छिद्रान्वेषण, दोषारोपण, प्रतिशोध, ईर्ष्या, निन्दा आदि में ही व्यय होती रहती हैं । प्रगति पथ पर चलने के लिए धैर्य,

गाम्भीर्य, शान्ति, क्षमा, सहिष्णुता, सन्तोष आदि जिन गुणों की आवश्यकता है, वे गुण असन्तुष्ट व्यक्तियों से कोसों दूर पलायन कर जाते हैं और वह अपने सामने अपने मानस-मंच पर एक के बाद एक दुर्भाग्य के दृश्य उपस्थित होते देखता रहता है। असंतुष्ट व्यक्ति ओछे दिल-दिमाग का होता है। वह प्रगति पथ पर बढ़ने की तैयारी में अपनी शक्ति को लगाने की अपेक्षा उसे कुढ़न, अविश्वास, अधैर्य आदि दुर्गुणों के इशारों पर चलकर नष्ट करता रहता है।

इस संसार की रचना कल्पवृक्ष-सम नहीं हुई है कि जो कुछ हम चाहें, बिना ही परिश्रम, गुण, योग्यता और कार्यक्षमता के मिल जाया करे। यह कर्म-भूमि है, भगवान ऋषभदेव के युग से प्रारम्भ हुई है। यहाँ हर किसी को जन्म तो मिलता है, अपने पूर्व पुण्य-पापों के आधार पर, परन्तु कर्म (कार्य) करने—अपनी प्रगति और आत्मिक विकास के लिए पुरुषार्थ करने का सबको अवकाश एवं अवसर थोड़े-बहुत रूप में मिलता है। परन्तु जो उस अवसर को कुढ़न, जलन, द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिशोध निन्दा आदि दुर्गुणों में ही समाप्त कर देता है, वह किसी भी महत्त्वपूर्ण स्थान पर नहीं पहुँच पाता।

दुनिया एक प्रयोगशाला है। यहाँ हर किसी को परीक्षा की अग्नि में तपाया जाता है। जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है। उसे ही विश्वस्त एवं प्रामाणिक माना जाता है। जो व्यक्ति धैर्यपूर्वक अपनी विशेषता और योग्यता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं वे ही आगे बढ़ पाते हैं। दुनिया ऐसे ही लोगों का आदर करती है, उन्हें ही सहयोग देती है, प्रगति के द्वार में प्रवेश करने की अनुमति देती है। परन्तु जो कुढ़न और असन्तोष की आग में रातदिन मन ही मन जलता रहता है वह खाक होकर कूड़े के ढेर पर फैंकने योग्य बन जाता है। दुनिया उसे कुपात्र समझकर सम्मान के स्थान पर न पहुँचाकर कूड़े के स्थान पर पहुँचा देती है।

एक गाँव में एक भट्ट जी थे। वे भीख माँगा करते थे। ब्राह्मण होने के नाते वे भीख माँगना अपनी बपौती समझते थे। एक दिन गाँव के एक सेठ ने उन्हें भीख माँगते देखा तो कहा—"भट्ट जी ! हमारे गाँव में कोई भिखारी नहीं है। आप क्यों भीख माँगते हैं ? क्या दुःख है आपको ?"

भट्ट जी बोले—"सेठ ! मेरे पास कुछ धन नहीं, कोई नौकरी नहीं, कोई धंधा नहीं, भीख न माँगू तो क्या करूँ ? दो आदमियों का पेट कैसे भरूँ ?" फिर और भी भविष्य के कई दुःखों वर्णन भट्ट जी ने कर दिया। सेठ को उन पर दया आई। वे बोले—"अच्छा, हमारे यहाँ से रोज दो आदमियों का सीधा ले जाना और अपनी इच्छानुसार भोजन बनाकर खाना।" यह क्रम कुछ दिनों तक चला। असन्तुष्ट भट्ट जी के मन में फिर तूफान उठा—"सेठ तो दो जनों का सीधा देता है, घर में बच्चा होगा, उसके लिए खाने का प्रबन्ध कहाँ से करूंगा ? इसलिए बेहतर होगा कि दो के लिए सेठ के यहाँ से सीधा आता रहे और आने वाले बच्चे के लिए अभी से इकट्ठा करता जाऊँ।" अतः भट्ट जी ने फिर प्रतिदिन 'लक्ष्मीनारायण प्रसन्न !

सरस्वती कल्याण !' कहकर घर-घर से भीख माँगना शुरू कर दिया। एक दिन सेठ जी ने उन्हें भीख माँगते देखकर कारण पूछा तो उन्होंने कहा—"घर में बच्चा होने वाला है। वह बड़ा होगा, तब उसे खिलाने-पिलाने, पढ़ाने-लिखाने आदि का प्रबन्ध कहाँ से करूँगा? यही सोचकर भीख माँगता हूँ।"

"भट्ट जी ! आपकी औरत के बच्चा होगा या बच्ची? जिन्दा होगा या मरा? यह तो आपको पता नहीं। अगर बच्चा होगा भी तो वह भी अपना भाग्य लेकर आएगा। तब सब कुछ हो जायगा। अभी से उसकी चिन्ता क्यों करते हैं?"—सेठ जी ने उन्हें कहा। पर भट्ट जी को मन में विश्वास, धैर्य और सन्तोष नहीं था, इसलिए उन्होंने कहा—सेठ ! चिन्ता तो मुझे ही करनी पड़ती है न? और कौन करेगा?

सेठ ने उदारतापूर्वक कहा—"अच्छा आज से दो के बदले तीन आदमियों का सीधा ले जाया करो, पर भीख माँगना बन्द करो।" कुछ दिन इसी प्रकार क्रम चलता रहा। एक दिन संयोगवश भट्ट जी एक वाचनालय के पास से होकर जा रहे थे कि एक आदमी को अखबार पढ़ते हुए सुना—बनारस के पास मिर्जापुर में एक स्त्री के एक साथ दो बच्चे हुए। यह सुनकर भट्ट जी के मन पर फिर भूत सवार हो गया कि मेरी पत्नी के भी अगर एक साथ दो बच्चे हुए तो? फिर उनके खाने-पीने आदि का क्या इन्तजाम करूँगा? सीधा तो तीन आदमियों का आता है। अतः भीख नहीं छोड़नी चाहिए, भीख माँगते ही रहना चाहिए।

इस भट्ट जी के जैसे असन्तुष्ट और अधीर व्यक्ति दुनिया में बहुत से मिलेंगे। सन्तोष और सब्र के नाम पर उनके बारह बजे हुए मिलेंगे। ऐसे असन्तुष्ट लोग घृणा के पात्र हो जाते हैं। उन्हें कोई कितना ही दे दे या सहायता कर दे, वे किसी न किसी विकल्प को उठा-उठाकर मन में असंतोष का कल्पित भूत खड़ा कर लेंगे और दुःखित-चिन्तित होते रहेंगे। कई लोग तो भविष्य के दुःखों की कल्पना करके असन्तुष्ट, दुःखित और चिन्तातुर रहते हैं।

वर्तमान परिस्थितियों से असन्तुष्ट : भूत-भविष्य की चिन्ता

कई लोग अपनी वर्तमान परिस्थितियों में असन्तुष्ट रहकर दुःखी होते रहते हैं। उनका वर्तमान कितना ही अनुकूल क्यों न हो, किन्तु वे असन्तोष का कोई न कोई कारण ढूँढ ही लेते हैं। उन्हें भूतकाल से बड़ा लगाव होता है। भूतकालीन स्थितियों की अनुपस्थिति में वे अपने मनःकल्पित सन्तोष का आरोप करके यही सोचा करते हैं कि वे अपने बीते दिनों में कितने अधिक सुखी और प्रसन्न रहा करते थे। आज चारों ओर दुःख ही दुःख है। जबकि वास्तव में भूतकाल में भी ऐसा था नहीं और न ही वर्तमान में इतना दुःख है। उनका अतीत जब वर्तमान था, तब भी वे आज ही की तरह असन्तुष्ट और अप्रसन्न रहते थे। यदि उनका स्वभाव हर स्थिति में सन्तुष्ट रहने का होता तो वे कल भी सुखी होते और आज भी प्रसन्न। वर्तमान से असन्तुष्ट व्यक्ति जहाँ भूतकाल को सुखमय अनुभव करता है, वहाँ वह भविष्य से

सुख की आशा—आकांक्षा भी करता है। किन्तु उसका प्रत्येक आगामी कल, वर्तमान का आज बनकर आता है और असन्तोष के साथ चला जाता है। असन्तुष्ट व्यक्ति अपने स्वभावानुसार उसमें भी कुछ न कुछ ननुनच किया करता है। असंतोषी स्वभाव का व्यक्ति अतीत एवं अनागत के सुख की कल्पना करके वर्तमान को कण्टकाकीर्ण मानकर दुःखप्रदायक समझता है; जबकि उसका काम केवल वर्तमान से ही रहता है, अतीत से तो उसका वास्ता छूट ही जाता है और अनागत प्रतिदिन वर्तमान बनता जाता है।

भविष्य वर्तमान की अपेक्षा सुन्दर और सुखद हो सकता है, पर किसके लिए ? जो वर्तमान में सन्तुष्ट होकर भविष्य के लिए वर्तमान में प्रयत्न करता है, असन्तुष्ट व्यक्ति तो वर्तमान में प्रयत्न करता ही नहीं वह तो वर्तमान को कोसता है, उसे दुर्भाग्यपूर्ण और अभावग्रस्त समझता है। उसके साथ सामंजस्य करके दुःख को सुख में बदलने की कला उसके पास है नहीं। वह तो साधनों और सुविधाओं का रोना रोकर वर्तमान में व्याकुल हो रहा है। तब भला वह एक सुन्दरतम उज्ज्वल भविष्य के लिए प्रयत्न ही कैसे कर सकता है ? उसे तो वर्तमान स्थिति में खिन्न, क्षुब्ध और व्यथित होने और कमियों और नुक्सों को देखते रहने से ही अवकाश नहीं मिलेगा। इसीलिए पाश्चात्य वैज्ञानिक एडिसन (Addison) ने कहा है—

"A contented mind is the greatest blessing, a man can enjoy in the world, and if in the present life, his happiness arises from the subduing of his desires, it will arise in the next from the gratification of them."

"एक सन्तुष्ट मन सबसे बड़ी देन है, जिससे मनुष्य इस संसार में आनन्द ले सकता है, और अगर वर्तमान जीवन में उसका सुख इच्छाओं को कम करने से उत्पन्न हुआ है तो आगे भी इच्छाओं का बलिदान करने से उसे सुख उत्पन्न होता रहेगा।"

जो सन्तुष्ट स्वभावी होता है, वह अपनी वर्तमान स्थिति में सन्तुष्ट रहकर भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए प्रयत्न व पुरुषार्थ करता रहता है। निष्कर्ष यह है कि प्रसन्नता और सुख वर्तमान के साथ सामंजस्य एवं सन्तोष में है। संतोष मनुष्य की अपनी चित्तवृत्ति पर निर्भर है, साधनों या सुविधाओं की उत्कृष्टता या अधिकता पर नहीं। चीनी विचारक चुंग ची के शब्दों में—

"सच्ची प्रसन्नता मन से उत्पन्न होती है, अतः मन का सन्तोष पाने का प्रयत्न करो।"

सन्तुष्ट और असन्तुष्ट में अन्तर

दो व्यक्तियों को एक सरीखे साधन और समान सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी जो असन्तुष्ट होगा, वह हर समय कोई-न-कोई दुखड़ा रोता रहेगा, परन्तु जो सन्तोषी होगा, वह प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुष्ट, प्रसन्न और सुखी रहेगा।

दो पड़ोसी थे। दोनों की कौटुम्बिक एवं आर्थिक स्थिति एक-सी थी, पर दोनों के स्वभाव में रात-दिन का अन्तर था। दोनों के स्वभाव के अनुसार एक का नाम रुदन्तजी आँसूवान और दूसरे का नाम हसन्तजी दिलखुश था। रुदन्तजी के पास जब कोई आता, तब वे अपना कोई-न-कोई दुखड़ा रोया करते। कभी कहते—आज तो बिक्री कम हुई, आज अमुक ने मुझे प्रणाम न किया, कभी कहते—आज रोटी ठीक न बनी, आज दाल में नमक ज्यादा पड़ गया, आज तो दस्त साफ न लगी, कभी हाथ में फुंसी की शिकायत होती, तो कभी धोबी अभी तक कपड़े नहीं लाया की फरियाद। इस प्रकार वे हर आगन्तुक के सामने छोटे-बड़े दो-चार दुःखों का पुराण पढ़ने बैठ जाते। उनका यह पुराण तब तक बन्द न होता, जब तक आने वाला व्यक्ति किसी जरूरी काम का बहाना बनाकर वहाँ से चला नहीं जाता। वे चाहते थे कि आगन्तुक हमारे दुःखों को सुनकर सहानुभूति बताए, हमारे प्रति दया और प्रेम करे। परन्तु होता यह कि लोग थककर उनसे किनाराकशी करने लगते। नतीजा यह हुआ कि दुःख सुनने वाला न होने से रुदन्तजी का दुःख और बढ़ गया।

हसन्तजी उनसे बिलकुल उलटे स्वभाव के थे। वे कहते थे—"दुनिया में सुख और दुःख दोनों हैं। और सभी के जीवन में हैं। इसलिए क्यों किसी को अपना दुःख सुनाया जाय और दुःखी किया जाय? हमसे भी ज्यादा दुःखी लाखों पड़े हैं। हम उनके लिए तो रोते नहीं, अपने लिए क्यों रोएँ? परमात्मा की यह मर्जी क्या कम है कि उसने हमें किसी-न-किसी से अच्छा बनाया? मालिक ने सौ से बुरा तो एक से अच्छा बना दिया।" वे रोते आदमी को हँसाते ही नहीं थे, बल्कि उसका दुःख भुला देते थे। आदमी उनके पास बैठने को लालायित रहते थे। रुदन्तभाई को इससे ईर्ष्या, कुढ़न और जलन होती, वे हसन्तजी को जादूगर समझते या बदमाश कहते। लोगों को मूर्ख, उल्लू, नासमझ आदि कहकर उनकी घृणा बढ़ाते थे। एक तो वे स्वयं असन्तुष्ट होने से दुःखी रहते थे, फिर ईर्ष्या के सामान ने उन्हें और अधिक दुःखी बना डाला। सामग्री एक सी होने पर भी एक रोता रहता, दूसरा हँसता रहता।

सन्तोषी जीवन : हर हाल में खुश

संसार का यह नियम है कि जो व्यक्ति हँसमुख, प्रसन्नचित्त, आशावादी, उत्साही और सन्तुष्ट होते हैं, उनके पीछे-पीछे लोग फिरते हैं, क्योंकि हर व्यक्ति अपने जीवन में कुछ दुःख और चिन्ता छिपाये बैठा रहता है, वह अपना मन बहलाने के लिए ऐसा सहारा ढूंढ़ता है, जहाँ उसके घावों को कुरेदा न जाय, उन पर मरहम लगाया जाए। इस दृष्टि से लोग मनोरंजन में अपना बहुत सा समय और धन खर्च करते हैं। यही आवश्यकता लोग उन व्यक्ति से पूरी करना चाहते हैं, जो सन्तुष्ट, प्रसन्न और आह्लादित हों।

खिले हुए गुलाब के चारों ओर भौंरे इसलिए मँडराते हैं, क्योंकि उसका रूप अपने आप में मानो मधुपूर्ण, प्रसन्न, विकसित और मगन दिखाई देता है। सूर्य,

मुरझाये और कुचले हुए तथा सड़े-गले फूल पर भौंरा तो क्या, कोई मक्खी भी नहीं बैठती। उसे उपेक्षा, तिरस्कार और उपहास के गर्त में फैंक दिया जाता है। इसी प्रकार जो लोग मुँह फुलाए, रूठे, असन्तुष्ट और मनहूस होकर बैठे रहते हैं, जो चिड़चिड़ाते और बड़बड़ाते तथा कुढ़ते रहते हैं, वे अपने समीपवर्ती लोगों की सहानुभूति खो बैठते हैं। उनसे सब लोग डरने, कतराने और किनाराकसी करने लगते हैं। चेचक और हैजे के रोगी से सब अपना बचाव करना चाहते हैं कि कहीं यह छूत हमें न लग जाए। असन्तुष्ट और खिन्न मनुष्य से झूठी सहानुभूति कोई भले ही प्रकट कर दे, वस्तुतः मन ही मन लोग उससे घृणा करते हैं और बचने की कोशिश करते हैं। कुढ़ने वाले व्यक्ति को अपनी कष्टकथा सुनाकर कौन भला अपना दुःख बढ़ाना चाहेगा? मनहूस-सी शक्ल बनाये बैठे रहने वाले और अपने दुख-दुर्भाग्य का रोना रोते रहने वाले लोगों के पास बैठकर भला कौन अपना मन क्षुब्ध करने को तैयार होगा? लोग तो दुख में, संकट में और विपत्ति में भी हँसते रहने वाले लोगों की तलाश में रहते हैं। हर हाल में मस्त रहने की, सन्तोष की कला जिसे आती है, वह साधारण आदमियों को ही नहीं, परमात्मा को भी प्रसन्न कर सकता है।

कुरानेशरीफ (२/२४६) बताया है—

"व अल्लाहू मुहिब्बुऽस्साबिरीन"

"अल्लाह सब्र करने वालों से मुहब्बत रखता है।"

मैंने अखबार में एक सच्ची घटना पढ़ी थी कि एक व्यक्ति साधारण स्थिति का था, परन्तु एक दूकानदार के पास वह प्रायः प्रतिदिन आता और जब देखो, तब उसके चेहरे पर सन्तोष की मुस्कान अठखेलियाँ करती रहती थी। दूकानदार उससे बहुत प्रभावित था, और प्रायः जब भी वह आता, दो-चार मिनट अपने यहाँ बिठा कर उसके मुँह से कुछ न कुछ सुना करता था। वह सबको प्रसन्न कर देता था। एक दिन दूकानदार उसके घर पहुँच गया। दूकानदार ने तो यह सोचा था कि वह बड़ा अमीर और साधनसम्पन्न होगा, तभी इतना प्रसन्न और सन्तुष्ट रहता है। वहाँ जाकर देखा तो उसका छोटा-सा मकान है; पर है साफ-सुथरा। सभी चीजें व्यवस्थित एवं तरतीव से लगी हुई हैं। तीन कमरे हैं। एक कमरे में छोटा-सा रसोईघर है। एक स्वयं के बैठने-उठने का और एक सामान वगैरह रखने का कमरा है। दूकानदार जब गया तो वह स्वयं अपने छोटे बीमार लड़के की चारपाई के पास बैठा उसके सिर पर बाम लगा रहा था। उसने कारण पूछा तो बोला—"तीन-चार दिनों से इसे बुखार हो गया है। इसलिए मैं इसकी सेवा करता हूँ।"

दूकानदार ने पूछा—"इसकी माँ नहीं है? वह क्या करती है?"

वह बोला—"है, पर उसका दिमाग ठीक नहीं है। वह उस कमरे में है।"

दूकानदार के आते ही उसने आनाकानी करते रहने पर भी स्वयं चाय बनाकर पिलाई थी, इसलिए उसने पूछ लिया—"क्या रसोई आप ही बनाते हैं?" वह

प्रसन्नचित्त ने बोला—"इसमें क्या है? यह तो मेरा रोजाना का काम है। इन बच्चों की माँ रसोई नहीं बना सकती। यह छोटा लड़का स्कूल जाता है, एक इससे बड़ा लड़का और है, वह आवारा फिरता है। कहीं दूकान पर भी जमता नहीं और न ही पढ़ना-लिखना है। वह भी भोजन नहीं बना सकता। अभी वह घूम-घामकर आएगा और भोजन कर जाएगा।" थोड़ी ही देर में वह लड़का आया और गृहस्वामी ने उसे भोजन कराकर सन्तुष्ट किया।

दूकानदार यह सब परिस्थिति देखकर पूछ बैठा—"आप ऐसी कष्टप्रद स्थिति और थोड़ी सी आय में भी कैसे प्रसन्न और सन्तुष्ट रह लेते हैं?" उसने हँसकर कहा—"जैसा, जो कुछ मिला है, उसी में गुजर-बसर न करके अगर मैं लोगों के सामने अपना दुःख रोता फिरूँ, मन में कुढ़ता रहूँ, घर के लोगों को कोसता और डाँटता फिरूँ तो मैं स्वयं अधिक दुःखी और मानसिक रोगी बन जाऊँगा। इससे बेहतर तो यही है, प्रत्येक परिस्थिति को शान्ति और धैर्य से सहकर सन्तुष्ट और प्रसन्न होकर जीऊँ। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं अपनी परिस्थिति को सुधारने के लिए यथाशक्य प्रयत्न नहीं करता, करता हूँ। परन्तु प्रयत्न करने पर भी विशेष सुधार नहीं होता तो मैं कुढ़ता नहीं, प्रसन्नतापूर्वक उसका वरण कर लेता हूँ। सन्तोष मेरी साधना है। मुझे अलग से मन्दिर में नहीं जाना पड़ता, मैं इसी परिस्थिति और गृहवाटिका में रहकर अपनी धर्मसाधना कर लेता हूँ।" दूकानदार प्रभावित होकर नमस्कार करके विदा हुआ।

यह है सन्तोषी जीवन का ज्वलन्त उदाहरण! जुन्नेद के शब्दों में सन्तोष की परिभाषा भी यही है—

'अहंभाव को छोड़कर विपत्ति को भी सम्पत्ति मानना संतोष है।'

संतोषी जीवन : विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से

यदि मनुष्य थोड़ा-सा विवेक से काम ले तो प्रत्येक परिस्थिति में उसका सन्तुष्ट रह सकना असंभव नहीं है। जो लोग असंतुष्ट रहते हैं, उनके सोचने का दृष्टिकोण बदल जाए तो वे सन्तुष्ट बन सकते हैं। मनुष्य के असंतोष का एक प्रमुख कारण यह है कि वह अपने से अधिक साधन-सुविधा वाले व्यक्ति से अपनी कमी की तुलना किया करता है। जब वह यह सोचता है कि मेरे पास तो केवल एक छोटा-सा मकान ही है, जबकि दूसरों के पास तो ऊँची-ऊँची कोठियाँ हैं, आलीशान बंगले हैं, अमुक के पास इतना धन है, कार है, नौकर-चाकर हैं, बढ़िया कारोबार है और मेरे पास गुजारे लायक ही धन है, केवल एक साइकिल है, जिस पर बैठकर सिर्फ सौ-दो सौ की नौकरी पर जाता है, नौकर-चाकर रखने की तो मेरी हैसियत ही नहीं है। इस प्रकार दूसरों की अपेक्षा अपनी स्थिति को अत्यन्त निम्न, हीन एवं तुच्छ समझ कर खिन्न और असन्तुष्ट रहता है, मन में असन्तोष की चिनगारी सुलगाता रहता है।

अगर वह उस गहराई में उतरकर देखे-सोचे, तो उसे दो [illegible]

अपेक्षा अधिक दुःखी, दयनीय और असन्तुष्ट दिखाई देंगे। विपुल धन-सम्पत्ति, रोजगार, भोग-विलास के प्रचुर साधन, एवं कार, कोठी आदि की सुविधाएँ अपने-आप में जीवन में सुख-शान्ति नहीं देतीं, न दे सकती हैं। धनिक लोग भी घोर अशान्ति एवं दुःख में पड़े देखे गए हैं। प्रसिद्ध धनकुबेर हेनरी फोर्ड की दुःखभरी जिन्दगी किसी से छिपी नहीं है। साधन कभी सुख नहीं दे सकते, यह पूर्णतया प्रमाणित हो चुका है। सुख का मूल स्रोत सन्तोष है। सन्तोष एक ऐसा धन है, जिसके आगे सभी धन नगण्य हैं। राम सतसई में ठीक ही कहा है—

गोधन, गजधन, वाजिधन और रतन धनखान।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूल समान॥

अगर बाह्यधन मनुष्य के पास हुआ भी तो परिजनों का बिछोह, बीमारी, या मृत्यु के आने पर वह धन क्या काम देगा? कपूत बेटा हो, कुलक्षणा स्त्री हो, कलहप्रिय परिवार हो या अत्याचारी तत्त्वों से समाज दूषित हो रहा हो तो वैभव, धन, साधन, सुविधाएँ या शिक्षा आदि क्या काम दे सकेंगे? धन से ये समस्याएँ सुलझ नहीं सकेंगी। एकमात्र सन्तोष से, धैर्य और शान्तिपूर्वक प्रयत्न से ही धनिक मनुष्य इन परिस्थितियों में सुख से रह सकेगा। अगर धनिक लोग ऐसी विकट परिस्थिति में धैर्य और सन्तोष को छोड़कर असन्तुष्ट, उद्विग्न, एवं निराश होंगे तो उन्हें मुँह की खानी पड़ेगी, वे असीम दुःखानुभव से घिर जायेंगे। इस सम्बन्ध में मुहम्मद बिन वशीर ने अपने अनुभव की बात कह दी है—

"जबकि सब कामों के रास्ते बन्द हो जाते हैं, उस वक्त सन्तोष ही तमाम रास्ते बिना शक अच्छी तरह खोल देता है।"

एक अंग्रेजी कहावत के अनुसार—**"सन्तोष कभी खरीदा नहीं जा सकता।"**[1] सन्तोष का उद्गम स्थान हृदय एवं बुद्धि है, बाह्य साधन नहीं।

आपने देखा होगा कि बहुत से श्रमिक जितना दिनभर में कमाते हैं, उसे शाम तक खा लेते हैं। कल के लिए उन्हें जरा भी चिन्ता नहीं होती। वे खूब सुख-शान्ति की नींद सोते हैं। उन्हें मस्ती में आकर उछलते-कूदते देखकर प्रतीत होता है, दुनिया में ये ही सबसे अधिक सुखी हैं। उनका यह सुख साधनजन्य नहीं होता, वरन् सन्तोष-जन्य होता है। संतोष की मस्ती में ही वे इस तरह विनोदरत होते हैं। चिन्ताएँ तो उन्हें घेरे रहती हैं; जिनकी तृष्णा विशाल होती है। जिन्हें आज की स्थिति से संतोष है, और कल की चिन्ता नहीं है, भला दुःख उनका क्या कर सकेगा? इसीलिए तो मनुस्मृति में कहा है—**'सन्तोषमूलं हि सुखम्'**—सुख का मूल सन्तोष है। मनुष्यजीवन में जो दुःख और अशान्ति है, वह तृष्णाओं की बाढ़, कामनाओं का अनियंत्रण और असंतुलित भोग की आकांक्षाओं के कारण है। छोटे-छोटे पशु-पक्षी आदि जीवजन्तु अल्पक्षमता और स्वल्पसाधन होते हुए भी दिनभर इधर से उधर चहकते-फुदकते

---

१ Contentment can never really be purchased.

यथालाभ सन्तोषपूर्वक मस्ती से रहते हैं, वे नित्य नवीनता का दर्शन करते हुए आनन्द प्राप्त करते हैं। उनकी इस मस्ती के मूल में सन्तोष की वृत्ति काम करती है। मनुष्य भी अगर अपने जीवन की थोड़ी-सी आवश्यकताओं की पूर्ति सन्तोषपूर्वक साधारण प्रयास से कर ले तो उसे लम्बी-चौड़ी दौड़-धूप की आवश्यकता नहीं होती। यदि मनुष्य इतने से सन्तोष कर ले तो उसके जीवन में नई आत्मशक्ति, ज्ञान और नवीनता के आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। इसके लिए उसे कहीं बाहर भटकने की, किसी से सुख मांगने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। शेक्सपियर के शब्दों में कहें तो—"सबसे अधिक प्राप्ति उसी को होती है, जो सन्तुष्ट होता है।"

परन्तु अल्पसाधन वाले व्यक्तियों की दृष्टि ऊपर वालों की ओर होने से वे असन्तोषी हो जाते हैं। यदि वे अपनी दृष्टि उन लोगों की ओर मोड़ लें जो उनसे भी कठिन स्थिति में रह रहे हैं, जिनके पास उतना कुछ भी नहीं है, जितना उनके पास है तो निश्चय ही उन्हें अपनी वर्तमान स्थिति में सन्तोष होगा। आप ऐसे हजारों व्यक्तियों को प्रतिदिन अपने चारों ओर देखते होंगे, जिनके पास रहने की एक छोटीसी झोंपड़ी है, या वह भी नहीं है, वे फुटपाथ पर सोकर सर्दी, गर्मी और वर्षा के दिन काटते हैं, सवारी के नाम पर वे १०-१२ मील पैदल चलकर आते-जाते हैं और जीविका के नाम पर बारह-बारह घण्टे पसीना बहाते हैं। ऐसे भी लोग हैं, जो दिन में दोनों समय रोटी भी नहीं पाते, जिनको आप से कहीं कम सुविधाएँ हैं, फिर भी वे हर समय, हर हाल में मस्त, सन्तुष्ट, प्रसन्न और सुखी रहा करते हैं। वे असन्तोषी बनकर न तो अभाव महसूस करते हैं और न ही अपने को दुःखी या अभागे मानते हैं। वे ईमानदारी से परिश्रम करते, यथालाभ सन्तोष करते और प्रसन्नतापूर्वक जीवन यापन करते हैं।

उन्हें देखकर आपको अपने अपेक्षाकृत अधिक साधनों के होते हुए भी सन्तोष की अनुभूति न हो, इसका कोई कारण नहीं। आप कई ऐसे व्यक्तियों को देखेंगे, जो अंधे, काने, लूले-लंगड़े एवं अपाहिज होते हुए भी अपनी वर्तमान स्थिति में मस्ती, प्रसन्नता और सन्तोष का जीवन बिता रहे हैं, उनकी अपेक्षा आप तो विशेष भाग्यवान हैं कि आपको समस्त इन्द्रियां, अंगोपांग पूर्ण एवं सक्षम मिले हैं। ऐसी स्थिति में भी आप असन्तुष्ट रहे, अपने प्राप्त साधनों में सन्तुष्ट होकर जीवन न बिताएँ तो समझना चाहिए, आप पर दुर्भाग्य छाया हुआ है। चाणक्यनीति में स्पष्ट कहा है—

> सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
> कुतस्तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

"सन्तोषरूप अमृत से तृप्त शान्तहृदय पुरुषों के पास जो सुख प्राप्त होता है वो इधर-उधर भागदौड़ एवं उखाड़-पछाड़ करने वाले धनलोलुपों को कहाँ नसीब हो सकता है?"

अतः सुख सन्तोष में ही है, और सन्तोष मनुष्य के अपने उज्ज्वल दृष्टिकोण पर निर्भर है। यदि आपका दृष्टिकोण परिमार्जित और समीचीन है तो कोई कारण

नहीं कि आप अपनी वर्तमान स्थिति में सन्तुष्ट न रह सकें और आपको उत्तम सुख प्राप्त न हो सके। पातंजल योगदर्शन तो सन्तोष से सुख प्राप्ति की गारन्टी देता है—

'सन्तोषादुत्तमः सुखलाभः'

—सन्तोष से उत्तम सुख प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक जीवन का मुख्य द्वार : सन्तोष

कई लोग यह तर्क किया करते हैं कि जब हमारे पास धन, बल, साधन और बुद्धि है तो हम अपनी सम्पत्ति और साधन-सुविधाएँ अधिकाधिक क्यों न बढ़ाएँ? अपनी अल्पसाधनयुक्त स्थिति में ही सन्तुष्ट होकर बैठ जाना क्या आलसी बनकर बैठ जाना नहीं है?

भगवान महावीर ने इस पर बहुत सुन्दर समाधान दिया है। यदि मनुष्य मन में तृष्णा या लोभवृत्ति रखकर अधिकाधिक धन और साधन बढ़ाने के पीछे दौड़धूप करेगा, या अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाएगा, तो वह आगे चलकर तृष्णा की मृगमरीचिका में ऐसा उलझ जाएगा कि सुख तो उससे कोसों दूर हो जाएगा, उसे अपने जीवन का आत्मविकास, आत्मनिरीक्षण एवं आत्मशुद्धि करने का जरा भी अवकाश न मिलेगा, और न ही उसके लिए श्रवण, मनन एवं कुछ धर्माचरण करने की रुचि रहेगी। तब कृत्रिम विषय-सुखों या पदार्थजनित क्षणिक सुखों का जितना आकर्षण बढ़ता जाएगा, व्यक्ति का जीवन उतना ही जटिल, अस्त-व्यस्त, संघर्षमय, ईर्ष्यालु, असन्तुष्ट एवं दुःखी बन जाएगा, आत्मा पर अशुद्धियों का जाला जम जाएगा ऐसे परिग्रह और आरम्भ के सागर में डूबे हुए लोग सच्चे वीतराग-धर्म का श्रावण भी नहीं कर सकते, आचरण तो बहुत दूर की बात है।

पूर्वपुरुषों के जीवन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनमें जो शक्ति और बुद्धि थी, उससे वे आज की अपेक्षा करोड़ों गुना अधिक सम्पत्ति अर्जित कर सकते थे, वैज्ञानिक उपलब्धियाँ भी प्राप्त कर सकते थे, तब जनसंख्या भी अधिक न थी, इसलिए साधन और सुविधाएँ भी अब की अपेक्षा कई गुना अधिक उन्हें प्राप्त हो सकती थीं, परन्तु उन्होंने भौतिक सम्पत्ति को तथा आवश्यकताओं में वृद्धि को महत्त्व नहीं दिया। यही कारण है कि वे अपने जीवन में महान् आध्यात्मिक उन्नति कर सके। मनुष्य के मन में जब तक काम (इच्छाओं, कामनाओं एवं वासनाओं) क्रोध एवं लोभ का महत्त्व रहेगा, तब तक बाहर से वह कितनी ही हठयोग साधना करले, आध्यात्मिक विकास नहीं होगा, उसके लिए सन्तोष को ही अपनाना होगा, जिससे इन तीनों (काम, क्रोध, लोभ) विकारों का शमन हो सके। इसे ही रामचरितमानस में कहा गया है—

बिनु संतोष न 'काम' नसाहीं। काम अछत सपनेहु सुख नाहीं॥
नहि संतोष तो पुनि कछु कहहू। जनि 'रिस' रोकि दुःसह दुख सहहू॥
उदित अगस्त्य पंथजल सोखा। जिमि लोभहिं सोखहिं संतोखा॥

अतः संतोष से तीनों विकारों का शमन करके आत्मा को अन्तर्मुखी बनाने पर ही आनन्द और आत्मिक विकास हो सकेगा। बहिर्मुखी परिस्थितियों से बचकर अन्तर्मुखी जीवन का लक्ष्य और आनन्द प्राप्त करने का एक ही तरीका है—संतोष।

मनुष्य शरीर केवल काम, क्रोध, लोभ, मोह में पड़कर, विषयवासनाओं तथा धन की तृष्णाओं में फँसकर खो देने के लिए नहीं मिला है। मानव शरीर बहुत बड़े उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिला है। जो लोग बाह्य जीवन की सफलता और समृद्धि को ही जीवन का लक्ष्य मानकर चलते हैं वे वास्तविक लक्ष्य से भटककर पुनः मानसिक क्लेश के भागी बनते हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन का विकास करना चाहते हैं, वे अल्पतम साधनों और परिमित आवश्यकताओं में ही स्वेच्छा से सन्तोष धारण करके आगे बढ़ते हैं। उस स्थिति में वे अन्त तक टिके रहकर अपने कल्याण की साधना करते हैं। इस दौरान जो भी भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी आदि के कष्ट आते हैं, उन्हें सन्तोषपूर्वक सहते हैं। उनका चिन्तन यह होता है कि भोजन शरीर धारण करने के लिए है वह जैसा भी रूखा-सूखा मिल जाए उसी में सन्तोष करना चाहिए। अन्य जीवन यापन के साधन जो भी समय पर मिल जाएँ उन्हीं में सन्तुष्ट रहने से अपार आत्मसुख मिल सकता है। इसीलिए 'तत्त्वामृत' में कहा है—

यैः सन्तोषोदकं पीतं, निर्ममत्वेन वासितम्।
त्यक्तं तैर्मानसं दुःखं दुर्जनेनेव सौहृदम्॥

"जिन्होंने ममतारहित होकर सन्तोष जल का पान कर लिया है उन्होंने मानसिक दुःख को उसी तरह छोड़ दिया है, जिस तरह दुर्जन मित्रता को छोड़ देता है।"

सन्तोष : समस्त सद्गुणों का मूलाधार

संसार के अधिकांश महापुरुष अभावों और कठिनाइयों के बीच सन्तुष्ट रह-कर ऊँचे उठे हैं। यदि वे अभावों और साधनहीनता का रोना रोते रहते तो कभी अध्यात्मसाधना में आगे न बढ़े होते। बड़े-बड़े श्रावकों ने परिग्रह की सीमा निर्धारित करके सन्तोषपूर्वक अपना जीवन अध्यात्मसाधना में लगाया है। पूनिया श्रावक क्या करोड़ों की सम्पत्ति उपार्जित करके उसका उपभोग नहीं कर सकता था? क्या वह आवश्यकताएँ नहीं बढ़ा सकता था? परन्तु उसने अपने जीवन में आध्यात्मिक उन्नति के लिए इन पदार्थों को गौण माना। नगर-श्रेष्ठी भक्तों ने भी संतोषव्रत को आजीवन निभाया।

आप को खाली करने—अपना कमाया हुआ लुटाने का पथ है। भौतिक दृष्टि से से उसमें हानियाँ ही हानियाँ हैं, किन्तु इन सब परिस्थितियों में एक गुण ऐसा है जो इन समस्त विषमताओं, त्याग और तपस्याओं को आध्यात्मिक विकास में बदल देता है, वह है—सन्तोष। सन्तोष आत्मा की सन्निकटता प्राप्त करने का अमोघ उपाय है। अतः सन्तोष आवश्यकताओं की तात्कालिक पूर्ति या क्षणिक तृप्ति ही नहीं, अपितु एक विशाल भावना है, जो कुछ न होने पर भी आत्मा के अनन्त भण्डार के स्वामित्व का आनन्द अनुभव कराती है। सन्तोष वह प्रकाश है, जो आत्मा के पथ को आलोकित करता है और आत्मा जैसी विशाल एवं व्यापक सत्ता की महत्ता के द्वार खोल देता है। फिर मनुष्य को सांसारिक एवं तात्कालिक भोग नहीं भाते। फिर सद्गुणों या आत्मगुणों के अधिकाधिक विकास का लक्ष्य रह जाता है, जिसमें मनुष्य को असीम तृप्ति का अनुभव और आनन्द मिलता है। जहाँ सन्तोष आ जाता है, वहाँ बाह्य दृष्टि से अभाव दिखाई देने पर भी अन्तरात्मा में किसी भी सुख के अभाव का अनुभव नहीं होता। शान्ति-सुख और स्वानुभूति ही नहीं; स्वास्थ्य, साधनों का विकास और शक्ति का आधार भी सन्तोष ही है। जहाँ सन्तोष है, वहाँ सब कुछ है, सभी सुख हैं।

इसीलिए गौतम कुलक में कहा गया है—'सुहमाह तुट्ठि'। ☆

२४

सौम्य और विनीत की बुद्धि स्थिर : १

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं एक ऐसे जीवन का परिचय देना चाहता हूँ, जिस जीवन में बुद्धि स्थिर रहती है, जो जीवन शुद्धबुद्धि से रिक्त नहीं रहता, जिस जीवन में मनुष्य की बुद्धि संकट और प्रलोभन के समय, भय और लोभ के प्रसंग पर, क्रोध और अहंकार के मौकों पर तथा कपट और द्रोह के अवसर पर कदापि भ्रष्ट, च्युत या विदा नहीं होती, वह सही-सलामत रहती है। वह ठीक सोच-समझकर समयोचित निर्णय ले सकती है, अपने जीवन को कल्याण-पथ पर स्थिर रख सकती है, विकट कसौटी के प्रसंग पर भी वह यथार्थ मार्गदर्शन कर सकती है।

परन्तु प्रश्न होता है कि किस व्यक्ति के जीवन में बुद्धि एकाग्र और स्थिर रह सकती है? इसके उत्तर में महर्षि गौतम गौतमकुलक के तेईसवें जीवन-सूत्र में फरमाते हैं—

'बुद्धि अचंडं भयए विणीयं'

'जो अचण्ड (सौम्य) और विनीत हो, बुद्धि उसी का आश्रय लेती है, उसी की सेवा में संलग्न रहती है।'

कहने का मतलब यह है कि उसी की बुद्धि हर समय स्थिर, शान्त और एकाग्र रहती है, सही-सलामत एवं प्रवर्द्धमान रहती है, जिसका जीवन विनय से ओतप्रोत हो, जिसके जीवन में क्रोधादि कषायों की प्रचण्डता न हो, जिसका जीवन क्रोधादि कषायों और अभिमानादि विकारों से दूर हो, उसी महानुभाव के पास बुद्धि अस्खलित रहती है। उसी की सेवा में बुद्धिदेवी रहती है, जिसका जीवन निरभिमानी और क्रोधादि आवेशों से रहित हो।

अन्य प्राणियों और मानव की बुद्धि में अन्तर

यों तो बुद्धि प्रत्येक मानव और विकसित पशु-पक्षियों में भी होती है। [illegible] [illegible] पशु-पक्षी भी स्थापित कर लेते हैं। अंडे-बच्चे देना और उनका पालन-पोषण करना उन्हें भी आता है। वे शिक्षित बना न सकते हों, पर अपने रहने के लिए कोई न कोई आश्रय स्थान बना ही लेते हैं। बया पक्षी का घोंसला तो इंजी-नियरों की बुद्धि को भी मात करता है। मकड़ी अपना जाला कितना कलापूर्ण बनाती है कि [illegible] [illegible] भी उसे देखकर दांतों तले अंगुली दबा लेता है; ऐसा लगता

वर्तमान मानवबुद्धि : तारक या मारक ?

यही कारण है कि मानव की इस अमोघ बुद्धिशक्ति को देखते हुये जगत उससे यह आशा करने लगा है कि वह पशुताबुद्धि से आगे बढ़कर मानवताबुद्धि का उपयोग करके संसार को स्वर्ग बनाएगा लेकिन वह बौद्धिक शक्ति में इतना ऊँचा उठकर भी बुद्धि का समुचित उपयोग करना नहीं जानता। इस कारण मानवबुद्धि आज तारक के बदले प्रायः मारक बनी हुई है। मारकबुद्धि को हम कुमति कहते हैं, दुर्बुद्धि भी कह सकते हैं। हिरोशिमा और नागासाकी पर बम बरसाकर उन्हें तहस-नहस कर डालने वाली मानवबुद्धि चाहे जितनी आगे बढ़ी हुई हो, उसे मारक ही कहा जायेगा सुमति और कुमति का अन्तर कवि के शब्दों में देखिये—

> **भला स्वयं का विश्व का, करती सुमति विशेष।**
> **बिना कुमति बढ़ते नहीं, क्रोध, काम, संक्लेश॥**[1]

सुबुद्धि अपना और दूसरों का कल्याण करती है, जबकि दुर्बुद्धि दूसरों का सर्वनाश करती है, अपना भी। भारतवर्ष के कई राजा इसी दुर्बुद्धि के शिकार हो गए थे।

कन्नौज के राजा जयचन्द का इतिहास मेरे स्मृतिपट पर आ रहा है। दिल्ली का राज्य उन दिनों राजा पृथ्वीराज के हाथों में था। जयचन्द यद्यपि राजा पृथ्वीराज की मौसी का लड़का था। परन्तु दिल्ली का राज्य स्वयं हथियाने की दुर्बुद्धि ने राजा पृथ्वीराज के प्रति जयचन्द के मन में विरोध और विद्रोह की आग भड़का दी। इस पर जयचन्द की पुत्री संयुक्ता के पृथ्वीराज द्वारा किये गए अपहरण ने तो जलती हुई आग में घी होमने का काम किया। राजा जयचन्द की दुर्बुद्धि को और कोई उपाय न सूझा, वह शहाबुद्दीन गौरी को भारत पर पुनः आक्रमण करने हेतु बुला लाया। जिस शहाबुद्दीन गौरी को राजा पृथ्वीराज ने एक बार नहीं, छह-छह बार हराकर खदेड़ दिया था, जो पृथ्वीराज की दया से जीवनदान पाकर अपने देश लौट गया था, उसी शहाबुद्दीन गौरी को राजा जयचन्द आमंत्रण और आश्वासन देकर दिल्ली पर चढ़ाई करने हेतु ले आया।

सम्राट् पृथ्वीराज को जब शहाबुद्दीन गौरी द्वारा दिल्ली पर चढ़ाई करने के समाचार मिले, तब संयुक्ता के मोहपाश में जकड़े हुए पृथ्वीराज ने बिलकुल ध्यान न दिया। लेकिन जब परिस्थिति एकदम प्रतिकूल होने लगी, तब पृथ्वीराज की मोह-निद्रा भंग हुई। लेकिन तब बहुत विलम्ब हो चुका था, अवसर हाथ से जा चुका था। फलतः राजा पृथ्वीराज की करारी हार हुई। दिल्ली का राज्य शहाबुद्दीन गौरी के हाथ में आ गया। तब से भारत में मुस्लिम शासन की नींव पड़ गई। राजा जयचन्द को भी इस दुर्बुद्धि का भयंकर परिणाम भोगना पड़ा। उसके राज्य को भी

---

१ चन्दन दोहावली

सुलतान गोरी ने चढ़ाई करके जीत लिया। उसे भी मुस्लिम सल्तनत के अधीनस्थ हो कर रहना पड़ा।

यह है मारकबुद्धि का विनाशक परिणाम! परन्तु तारकबुद्धि विनाशक के बदले कल्याणकारिणी और सर्जक होती है। मारकबुद्धि नियन्त्रणरहित होती है, जब कि तारकबुद्धि पर धर्म और अध्यात्म का अंकुश होता है।

तारकबुद्धि का पलायन : मारकबुद्धि का आगमन

यह ठीक है कि मनुष्य शारीरिक बल से नहीं, बुद्धिबल से ही अपनी जीवन-यात्रा सुखद एवं सुचारुरूप से चलाता आ रहा है। आगे चलकर मानव की बुद्धि का पर्याप्त विकास तो हुआ, लेकिन उस पर अंकुश न रह सका। यों तो बड़े-बड़े युद्धों का संचालन एवं राज्य पर नियन्त्रण बुद्धिबल से होता है। राष्ट्रों का नेतृत्व एवं शासन-व्यवस्था भी बुद्धिशक्ति पर निर्भर है। व्यापार, व्यवसाय, उद्योग, व्यवहार उपाय और योजनाएँ सब बुद्धि के अधीन चलती हैं। तात्पर्य यह है कि संसार में जो कुछ भी सृजनात्मक या ध्वंसात्मक क्रियाकलाप दिखाई देता है, वह सब का सब बुद्धि द्वारा संचालित, प्रेरित और नियन्त्रित होता है। बुद्धि मानव के लिए एक अनुपम वरदान है। लेकिन भस्मासुर की तरह बुद्धि के इस वरदान को पाकर मानव आज संसार का सर्वनाश करने पर तुला हुआ है।

भस्मासुर की पौराणिक कहानी आपने सुनी ही होगी—भस्मासुर बड़ा शक्तिशाली असुर था। उसके मन में स्फुरणा हुई कि वह तप करके अपने को अजेय बना ले। फलतः उसने तप की योजना बनाई और हिमालय पर चला गया। भस्मासुर शरीर से भी बली था, मन से भी, सिद्धि प्राप्त करने की तीव्र लालसा भी थी। परन्तु तप में संलग्न होने से पूर्व उसकी बुद्धि परिष्कृत नहीं हुई थी, इस कारण कई वर्षों तक तप करने से शंकर जी ने प्रसन्न होकर जब उसे वरदान माँगने को कहा, तब उस दुर्बुद्धि ने यह वरदान माँगा कि 'मैं जिसके सिर पर हाथ रखूँ, वह भस्म हो जाय।' असुर आखिर असुर ही रहा, तामसी बुद्धि से पिंड न छुड़ा सका। महादेव जी से वरदान पाते ही वह गर्वोन्मत्त हो उठा। उसकी सद्बुद्धि नष्ट पलायित हो गई, वह पार्वती को पाने के लिए अपने आराध्य महादेव जी को ही भस्म करने के लिए तत्पर हो गया। विष्णु जी को पता लगा तो वे महादेव को बचाने के लिए मोहिनी सुन्दरी का रूप बनाकर आए और भस्मासुर से कहने लगे—यदि तुम मुझे नृत्य करके प्रसन्न कर लोगे तो मैं तुम्हारी बन जाऊँगी। साथ ही उन्होंने सिर पर हाथ रखकर नृत्य करने का प्रस्ताव रखा। कामातुर अविवेकी भस्मासुर विवेक बुद्धि को तिलांजलि देकर तुरन्त अपने सिर पर हाथ रखकर नाचने को तैयार हो गया। सिर पर हाथ रखते ही अपने प्राप्त वरदान के प्रभाव से स्वयं भस्म हो गया और वहीं भूमि पर गिर पड़ा। इस प्रकार भस्मासुर की मारकबुद्धि ही उसके विनाश का कारण बनी।

इसी कारण हम कह सकते हैं कि मनुष्य को आज इतनी असीम बुद्धिशक्ति मिली है, जिससे कुछ भी करना असाध्य नहीं। लेकिन आज का मानव अपनी बुद्धि के द्वारा संसार को स्वर्ग बनाने के बदले प्रायः नरक बना रहा है। आज का मनुष्य प्रायः संसार का ध्वंस करने पर ही तुला हुआ है। आज उसने अपनी बुद्धि-शक्ति को गलत दिशा में लगाकर अपने लिए विनाश, अशान्ति एवं असंतोष की परिस्थितियाँ पैदा कर ली हैं। आज के वातावरण को देखते हुए मुझे तो संसार के अधिकाधिक नरक बनने की सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। आगे की बात जाने दीजिए वर्तमान में भी संसार क्या एक नरक से कम भयंकर बना हुआ है? जिधर देखो, उधर दुःख, पीड़ा, हाहाकार, अभाव, आवश्यकता एवं शोक-सन्ताप का ताण्डव होता दिखाई दे रहा है। मनुष्य मनुष्य के लिए भूत-प्रेत की तरह शंकारूप बना हुआ है। सुख-सुविधा के इतने अगणित साधन एवं इतनी मानवबुद्धि होने पर भी मनुष्य को कोई सुख-शान्ति नहीं मिल रही है। जिस एक निश्चिन्तता एवं सुख-शान्ति को प्राप्त करने के लिए मानवबुद्धि प्राणप्रण से लगी हुई है, उसके दर्शन तो दुर्लभ ही हो रहे हैं। निःसंदेह, वर्तमान युग के बुद्धि-बलिष्ठ मानव की यह दुर्दशा अत्यन्त दयनीय है।

बन्धुओ! क्या आप सबके दिमाग में यह प्रश्न नहीं उठता कि जो समर्थ बुद्धि अकाश-पाताल को एक करने की क्षमता रखती है, उस बुद्धिशक्ति का धनी मानव उन सुखों से क्यों वंचित होता जा रहा है, जो बुद्धि के अल्प विकास के युग में सुलभ थे? हम सबको इस पर गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है।

इसी समस्या का हल श्री गौतम महर्षि ने इस जीवनसूत्र में बता दिया है। उनका आशय यह है कि वह सच्ची और सात्त्विक बुद्धि, अहंकार, काम, ्रोध, मोह, लोभ आदि प्रचण्ड विकारों के कारण तिरोहित हो जाती है, र उसके स्थान में राजसी और तामसी बुद्धियाँ आकर खेलने लग जाती । यही कारण है कि मनुष्य ने आज बुद्धि को तो विकट रूप से बढ़ा लिया है, न्तु उस पर नियंत्रण करना नहीं सीखा है। उचित नियंत्रण के अभाव में वह ्कुल निरंकुश होकर चारों ओर ध्वंस के दृश्य उपस्थित करती है। बौद्धिक शक्ति में अपने आप में कोई मर्यादा, नियंत्रण, या उपयोग करने का विवेक नहीं होता, यह तो मनुष्य पर ही निर्भर है कि वह क्रोधादि आवेश और अहंकार के थपेड़ों से बचाकर उसे सुरक्षित रखे। मनुष्य की बुद्धि जब तक नियंत्रण में रहती तब तक उसका ठीक उपयोग होता है, ऐसी सात्त्विक बुद्धि दूरगामी परिणामों पर विचार करके उन सभी पाशविक एवं आसुरी प्रवृत्तियों से बची रहती है, जो जीवन की सुखशान्ति और सुरक्षा को भंग करती हैं।

परन्तु जहाँ काम, क्रोधादि प्रचण्ड विकारों के अंधड़ में मनुष्य बह जाता है, वहाँ सात्त्विक बुद्धि तो किनारा कर जाती है, उसकी जगह राजसी या तामसी बुद्धि आ जाती है, जो दूरगामी परिणामों पर सोचने के बजाय भौतिक पदार्थों के उपयोग

सा यंत्रों की अधीनता में सुख का अनुभव करती है, परन्तु उसके कारण क्षणिक सुख और फिर दुःख ही दुःख का सामना करना पड़ता है। पदार्थों की गुलामी और आसक्ति के कारण मनुष्य ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, दम्भ, पाखण्ड, स्वच्छन्दता और विलासिता आदि बुराइयों में जकड़ता चला गया। कहने को तो वर्तमान मानव बहुत ही चतुर एवं बुद्धिमान माना जाता है, पर उसकी बुद्धि सात्त्विक न होने के कारण वह दुःखी एवं अशान्त भी उतना ही है।

अमेरिका के एक द्वीप (आईलैण्ड) के लोग अपने आपको सबसे ज्यादा बुद्धिशाली, सुसभ्य और सुसंस्कृत मानते हैं पर वहाँ के लोगों ने कामुकता को जीवन का सबसे बड़ा सुख माना और उस पर नियंत्रण करने वाले सभी मर्यादाओं और बंधनों को तोड़ दिया। वहाँ के अधिकतर स्त्री-पुरुष निर्वस्त्र रहना पसन्द करते हैं। यौनाचार की कोई मर्यादा वे नहीं मानते। इस स्वच्छन्द यौनप्रवृत्ति के कारण वहाँ अधिकांश पति-पत्नी का जीवन अविश्वसनीय, कलहयुक्त एवं परस्पर तलाक के कगार पर होता है। क्या आप इस जीवन को बुद्धि (सात्त्विक बुद्धि) से युक्त मानेंगे ? कदापि नहीं।

तीन प्रकार की बुद्धि

यही कारण है कि भगवद्गीता में बुद्धि का विश्लेषण करते हुए तीन प्रकार की बुद्धियाँ बताई हैं—(१) सात्त्विकी, (२) राजसी और (३) तामसी। इनका लक्षण गीताकार के शब्दों में देखिए—

> प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
> बंधं मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥३०॥
> यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
> अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥३१॥
> अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
> सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥३२॥

"जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, धर्म और अधर्म को, कर्तव्य-अकर्तव्य को भय-अभय को एवं बन्ध और मोक्ष को तत्त्वतः जानती है, हे अर्जुन ! वह सात्त्विकी बुद्धि है।"

"जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म-अधर्म एवं कर्तव्य-अकर्तव्य को यथार्थ रूप से नहीं जानता, हे अर्जुन ! वह राजसी बुद्धि है।"

"तमोगुण से आवृत जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है, और सब पदार्थों को विपरीत समझती है, हे पार्थ ! वह तामसी बुद्धि है।"

तामसी बुद्धि : सबसे निकृष्ट

तामसी बुद्धि का उदाहरण तो मैं अभी-अभी दे चुका हूँ। जो तामसी बुद्धि का

व्यक्ति होता है, उसकी बुद्धि में कोई सच्ची स्फुरणा नहीं होती, उसे उलटी ही उलटी बातें सूझती हैं। ऐन समय पर उसकी बुद्धि ठप्प हो जाती है।

किसी नगर में एक सेठ रहता था। उसके घर में सभी तरह से आनन्द था, लेकिन उसकी गृहिणी अत्यन्त कुबुद्धि और कर्कशा थी। वह हर बात को उलटे रूप में लेती थी। सेठ जैसा कहता, उससे ठीक विपरीत वह करती थी। उसकी बुद्धि इतनी तामसी थी कि हर बात को वह उलटी ही समझती थी। सेठ उसकी इस कुबुद्धि से हैरान था। उसे एक तरकीब सूझी। उसे अपनी पत्नी से जो भी काम करवाना होता, उसके बारे में वह इन्कार कर देता, जिसे वह अवश्य करती। जैसे घर में कुछ मेहमान आ गए हों तो सेठ कहता—"देखो, इन मेहमानों को कुछ नहीं खिलाना है, यों ही भूखे निकाल देना है।" इस पर विपरीत बुद्धि वाली सेठानी तपाक से कहती—"क्या अपनी इज्जत का कुछ ख्याल नहीं है? आपके घर आये मेहमान भूखे जाएँ, ऐसा नहीं हो सकता।" जब सेठ कहते—"मेहमानों को दाल-रोटी खिलानी है," तो वह कहती—"मेहमान कब-कब आते हैं? आज तो मैं उनको हलवा खिलाऊँगी।" इस तरह सेठ ने कुबुद्धि सेठानी से काम लेने का तरीका आजमा रखा था।

एक बार नदी में बाढ़ आ गई थी। हजारों आदमी नदी के किनारे देखने के लिए जमा हो रहे थे। सेठ के मुँह से सहज ही निकल गया—"देखो! आज नदी में भयंकर बाढ़ आई हुई है, तुम उस तरफ देखने मत जाना।" पर विपरीत बुद्धि सेठानी कब मानने वाली थी। कहने लगी—"मुझे क्या डर है, बाढ़ का? मैं तो अवश्य जाऊँगी।" सेठ बोला—"अच्छे कपड़े-गहने आदि पहनकर बच्चों को लेकर जाना।" परन्तु उसने सभी गहने और अच्छे कपड़े खोलकर रख दिये और पैदल अकेली चली। नदी के एकदम निकट जाकर खड़ी हो गई। लोगों ने कहा कि पानी का वेग तेज है, दूर हट जाओ। पर वह अधिकाधिक निकट जाने लगी। अन्ततः वह विपरीत बुद्धि सेठानी लोगों की हितकर बात को न मानकर पानी के प्रवाह की चपेट में आगई और व्यर्थ ही अपने प्राण खो दिये।

यह है तामसिक बुद्धि का रूप। तामसी बुद्धि वाले लोग दुर्व्यसनों, आलस्य एवं बुरी सोहबत में फँसकर अपना अहित करते रहते हैं।

राजसी बुद्धि : चंचल अहितकर

राजसी बुद्धि तेज तो बहुत होती हैं, लेकिन होती है क्रोध, अभिमान, आवेश आदि से भरी। राजसी बुद्धि वाला किसी कार्य को धर्म और कर्तव्यबुद्धि से नहीं करता, वह प्रायः अधर्मयुक्त कार्य करता है। राजसी बुद्धि के सम्बन्ध में मैं राजा जयचन्द का उदाहरण प्रस्तुत कर चुका हूँ। ऐसे दुर्बुद्धि प्रेरित कार्य राजसी बुद्धि के होते हैं।

सात्त्विकी बुद्धि : स्थिर और प्रकाशक

सात्त्विकी बुद्धि वाला व्यक्ति यह जानता है कि कौन-सा कार्य धर्म है और

कौन-सा अधर्म ? वह अहंकार, अविनय, क्रोध, मोह, स्वार्थ आदि प्रचण्ड विकारों से दूर रहता है, इस कारण उसकी बुद्धि यह जान लेती है कि मुझे किस कार्य में प्रवृत्त होना है, और किस कार्य से निवृत्त रहना है, दूर रहना है। साथ ही उसे कर्तव्य-अकर्तव्य एवं हिताहित का भी भान रहता है। वह कभी अहंकार के नशे में चूर नहीं रहता और न ही द्वेष और रोष की आग में जलता है। सात्त्विक बुद्धि स्थिर और प्रशम से ओतप्रोत रहती है। वह शुद्धबुद्धि होती है। चंचलबुद्धि से बनता हुआ कार्य बिगड़ जाता है, जबकि सद्बुद्धि या स्थिरबुद्धि से बिगड़ा हुआ एवं बिगड़ता हुआ कार्य सुधर जाता है।

एक सेठ का लड़का एक जुआरी लड़के की सोहबत से पक्का जुआरी बन गया। उसे जुए का दुर्व्यसन इतनी बुरी तरह लग गया था कि एक दिन भी जुआ खेले बिना नहीं रह सकता था। उसने जुए में अपने पिता की बहुत-सी सम्पत्ति फूंक दी। सेठ चाहता था कि किसी तरह दोनों की दोस्ती टूट जाए तो अच्छा। उसने अपनी ओर से लड़के को समझाने-बुझाने का पूरा प्रयत्न किया, लेकिन सब व्यर्थ। आखिर असफल और बेचैन सेठ वहाँ के दीवान के पास पहुँचा और अपनी सारी व्यथा-कथा सुनाई। दीवान सात्त्विक बुद्धि वाला और सूझबूझ का धनी व्यक्ति था। दीवान ने सेठ से कहा—"आप चिन्ता न करिये। मैं आज आपकी दूकान पर आकर उन दोनों की मित्रता तुड़वा दूंगा। आप एक काम करिये। आज मैं न आ जाऊँ, तब तक आप उन दोनों मित्रों को दूकान पर बिठाये रखिये।"

निश्चित समय पर दीवानजी दूकान पर पहुँच गये। वहाँ बैठे दोनों मित्रों में से एक को उन्होंने इशारे से अपने पास बुलाया और ओठ हिलाते हुए हाथों से ऐसी चेष्टाएँ की मानो कुछ कह रहे हों। यों करके दीवानजी झटपट चले गये। दोनों मित्र परस्पर मिले। सेठजी के लड़के से जुआरी लड़के ने पूछा—"दीवानजी तुम्हें क्या कह रहे थे ?" सेठ के लड़के ने कहा—"कुछ भी तो नहीं कहा। वे तो मेरे कान के पास मुँह लगाकर सिर्फ ओठ हिला रहे थे।" इस पर जुआरी मित्र ने कहा—"तू मुझसे बात छिपाता है। अवश्य ही दीवानजी ने तुझे कुछ कहा था। बस, आज से तुम्हारी और मेरी दोस्ती खतम ! मैं ऐसा दुर्व्यवहार नहीं सह सकता।" आखिर दोनों की मित्रता टूट गई। दीवानजी की सात्त्विक बुद्धि ने काम कर दिया। सात्त्विक बुद्धि का धनी ही ऐसी अटपटी समस्याओं को नैतिक तरीकों से सुलझा सकता है।

भारत के एक मूर्धन्य मनीषी ऐसी शुद्ध बुद्धि के विषय में कहते हैं—

> धियः प्रसूते, विपदो रुणद्धि, यशांसि दुग्धे, मलिनं प्रमार्ष्टि।
> संस्कारशौचपरं पुनीते, शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः।

शुद्धबुद्धि वास्तव में कामधेनु है। वह लक्ष्मी को उत्पन्न करती है, अथवा प्रत्येक कार्य की शोभा बढ़ा देती है, प्रत्येक कार्य में आने वाली विघ्न-बाधाओं को रोक देती है, सफलता उपलब्ध करा देती है, यानी हर कार्य में यश प्राप्त करा देती है। प्रत्येक

कार्य में श्रेय और सफलता शुद्धबुद्धि वाले को मिलती है। साथ ही कार्य में आने वाली मलिनता या बिगाड़ को वह धो-पोंछकर साफ कर देती है। शुद्धबुद्धि मनुष्य के सुसंस्कारों और पवित्रता की रक्षा करती है। शुद्धबुद्धि मनुष्य को कार्याकार्य, हिताहित एवं धर्म-अधर्म का प्रकाश करा देती है, जिससे मनुष्य गलत मार्ग पर जाने से, गलत कदम उठाने से रुक जाता है।

बुद्धि से यहाँ सात्त्विक और स्थिरबुद्धि ही ग्राह्य

प्रस्तुत जीवनसूत्र में श्री गौतम ऋषि सात्त्विक और स्थिरबुद्धि की ओर ही इंगित करते हैं, अन्यथा तामसी या राजसी बुद्धि तो हर व्यक्ति आसानी से प्राप्त कर लेता है। मैं पहले जिक्र कर गया हूँ कि आज मानव की बुद्धि बहुत ही पैनी, तीव्र और बढ़ी हुई है, पर वह है—अनियंत्रित, उच्छृंखल और स्वच्छन्द तथा चंचल। भगवद्गीता (२।४०) में इसी बात का संकेत मिलता है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

हे अर्जुन ! स्वपर-कल्याण मार्ग में निश्चयात्मिका स्थिरबुद्धि एक ही है। अनिश्चयी एवं सकामी चंचल पुरुषों की बुद्धियाँ बहुत प्रकार की अनन्त होती हैं।

एक पाश्चात्य विचारक कालेरिज (Coleridge) के शब्दों में ऐसी सात्त्विक बुद्धि का लक्षण देखिये—

"Common-sense in an uncommon degree is what the world calls wisdom."

"'जिसे संसार बुद्धि कहता है, वह है—असाधारण मात्रा में साधारण ज्ञान।"

सत्त्व बुद्धि की विशेषता

ऐसी सात्त्विक बुद्धि जिसमें होती है, उसे दूसरों का आशय समझते देर नहीं लगती। वह आदमी की बोली और चाल को देखकर उसका आशय भाँप जाता है।

बंगाल के महाराज कृष्णचन्द्र के दरबार में एक सीधा-सादा, सरल किन्तु अत्यन्त बुद्धिमान दरबारी था। उसका नाम था गोपाल। एक दिन की बात है, सुदूर दक्षिण से एक बहुत बड़ा विद्वान राजसभा में आया। वह अठारह भाषाओं में मातृभाषा की तरह धाराप्रवाह बोल सकता था। कोई व्यक्ति सहसा नहीं जान सकता था कि उसकी असली मातृभाषा कौन-सी है ? गोपाल ने इसका पता लगाने का बीड़ा उठाया। उसने उक्त विद्वान् को सीढ़ियों से उतरते समय हल्का-सा धक्का लगा दिया। वह गिरने लगा तो सहसा उसके मुँह से धक्का देने वाले के प्रति अपशब्द निकल पड़े। बस, गोपाल ने बताया कि "ये अपशब्द जिस भाषा में हैं, वही उसकी मातृभाषा है।" उस विद्वान् ने यह बात स्वीकार की और गोपाल की बुद्धि का लोहा माना। इसीलिए भारतीय संस्कृति के उद्गाता कहते हैं—

'किमज्ञेयं हि धीमताम्'

बुद्धिमानों के लिए ऐसी कोई भी बात नहीं है, जिसे वे न जान सकें। ऐसी सात्त्विक बुद्धि में हजार हाथों से ज्यादा ताकत होती है। उसकी स्फुरणाशक्ति इतनी तीव्र होती है कि वह उससे क्रुद्ध और गलतफहमी के शिकार व्यक्ति को तुरन्त शान्त एवं प्रसन्न कर सकता है।

एक राजा ने किसी कार्यवश अपने नगर के प्रतिष्ठित सेठ को बुलवाया। बीमार होने से सेठ ने अपने बदले मुनीम को भेजा। साथ ही सेठ ने मुनीम को हिदायत दी कि यदि राजा ऐसा पूछें तो ऐसा उत्तर देना और ऐसा पूछें तो ऐसा। मुनीम ने सविनय पूछा—"इन बातों के सिवाय और कोई बात पूछ ली तो?" सेठ ने कहा—"फिर तो तुम्हारी सूझबूझ ही काम देगी। तुम अपनी शुद्ध स्फुरणाशक्ति से उत्तर दे देना।"

मुनीम को जाते समय सेठ ने मनुष्य के केशों से भरी एक सोने की डिबिया दी और कहा—"राजा के पास कभी खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। इसलिए मेरी ओर से यह डिबिया उन्हें भेंट दे देना। मुनीम को मालूम नहीं था कि इस डिबिया में केश हैं। उसने राजदरबार में जाते ही राजा को नमस्कार करके सेठ की ओर से डिबिया भेंट कर दी। राजा ने जब वह डिबिया खोली तो उसमें मनुष्य के केश देखकर मुनीम और सेठ पर अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। मुनीम ने बात बिगड़ती देखकर कहा—"महाराज! सेठजी ने ये केश भेजे हैं, वे किसी सामान्य व्यक्ति के नहीं, हिमालय निवासी सिद्ध योगी के हैं, ये सर्वार्थसिद्धिकारक केश हैं।" यह बात सुनते ही राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और इनाम देकर मुनीम को विदा किया। इसीलिए अंग्रेजी में एक कहावत है—

"A good head has hundred hands."

'एक अच्छे मस्तिष्क के सौ हाथ होते हैं।'

तात्पर्य यह है कि सौ हाथों से साधारण आदमी जितना काम करता है उतना काम एक बुद्धिमान व्यक्ति अकेले मस्तिष्क से कर लेता है। ऐसी सुबुद्धि केवल पढ़ने-लिखने से नहीं आती। संसार में पढ़े-लिखे तो लाखों-करोड़ों हैं, परन्तु संकट के समय या समस्या आ पड़ने पर उनकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। उलटे पढ़े-लिखे ज्ञान को जब बुद्धि का मार्गदर्शन नहीं मिलता तो वह अड़ियल टट्टू की तरह अपने सवार को फेंक देती है।[1] इसलिए बुद्धि के कार्य की मीमांसा करते हुए पाश्चात्य विचारक स्पर्जियन (Spurgeon) कहता है—

"Wisdom is the right use of knowledge. To know is not

---

१ देखिये पाश्चात्य विचारक के विचार —

"Knowledge, when wisdom is too weak to guide her, is like a headstrong horse that throws the rider."

to be wise. Many men know a great deal, and are all the greater fools for it."

"ज्ञान का ठीक उपयोग करना ही बुद्धि है। जानना बुद्धिमान होना नहीं है। अनेक मनुष्य बहुत-सा जानते हैं, परन्तु वे सब ज्ञान का उपयोग करने में बड़े मूर्ख होते हैं।"

सचमुच बुद्धिमान, विशेषत: स्थिरबुद्धिशील व्यक्ति केवल पढ़ाई-लिखाई से नहीं होता। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ही इसमें मूल कारण है। आप जानते हैं कि मति-श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के आवरण जितने-जितने हटते जाते हैं, उतनी-उतनी बुद्धि निर्मल, स्फुरणाशक्ति एवं निर्णयशक्ति से युक्त बनती है। इस सम्बन्ध में मुझे एक रोचक उदाहरण याद आ रहा है—

दिल्ली के बादशाह का साला, जो महल की ड्योढ़ी पर नियुक्त था, सामान्य वेतन पाता था, जबकि बीरबल वजीरेहिंद था, वह भारी वेतन पाता था। यह बात बेगम को बहुत खटकती थी कि मेरा सगा भाई एक मामूली सिपाही की भाँति नौकरी पाता है और एक हिन्दू बीरबल बहुत ऊँचे पद पर है। एक दिन मौका देखकर बेगम ने बात चलाई—"खुदावंद ! आपके राज्य में बड़ा अन्धेर है।"

बादशाह—"बेगम ! ऐसी बात नहीं है। यदि कोई अव्यवस्था तुम्हारे देखने में आई हो तो कहो, मैं उस पर अवश्य ध्यान दूंगा।"

बेगम बोली—"जहाँपनाह ! देखिये, मेरा सगा भाई, आपका साला बहुत ही मामूली नौकरी पर है। क्या आप मेरे भाई को ऊँचा पद नहीं दे सकते। उधर बीरबल भारी वेतन पा रहा है। उसके घर में शाही ठाठ लग रहे हैं। योग्यता और बुद्धि तो उच्च पद पर जाने से चमक उठती है। आपके राज्य में यह अन्धेर नहीं तो क्या है ? आप इस पर ध्यान दीजिए।"

मुस्कराते हुए बादशाह ने कहा—"अच्छा ! तुम्हें अपने भाई की बड़ी चिन्ता है। मैं मानता हूँ कि वह तुम्हारा भाई और मेरा साला है, पर उसमें जितनी योग्यता और बुद्धि है, उसके अनुसार उसे काम सौंपा हुआ है। बीरबल, जो भारी वेतन पा रहा है, वह उसकी बुद्धि और योग्यता के अनुरूप है। उसकी बुद्धि बड़ी-बड़ी समस्याएँ हल कर देती है।"

बेगम बोली—"मैं नहीं मान सकती कि मेरे भाई में इतनी लियाकत नहीं है। यह तो सिर्फ हजूर का खयाल है।"

बादशाह ने कहा—"अच्छा, मैं तुझे कभी उसकी योग्यता का परिचय करवा दूंगा और साथ ही बीरबल की योग्यता का भी।"

बेगम—"अच्छा हजूर ! मैं भी इतने फर्क का कारण जान लूंगी।"

एक दिन बादशाह महल में आए तो ड्योढ़ी पर तैनात साले साहब ने सलाम किया। बादशाह अन्दर पहुँचे कि उनके कानों में बाजों की आवाज आई। सोचा—

अभी रात के दस बजे हैं। आज अच्छा मौका है, बेगम को अपने भाई की योग्यता और बुद्धि का परिचय करा दूँ, ताकि रोज की खटपट मिट जाए। बादशाह ने जोर से आवाज लगाई—"ड्योढ़ी पर कौन है?" साला फौरन अन्दर आया और "जी हुजूर! हाजिर है।" कहकर सामने खड़ा रहा। बादशाह ने कहा—"जरा पता लगाओ तो ये बाजे कहाँ बज रहे हैं?"

साला बोला—"अभी पता लगाकर आता हूँ। मैं खुद ही जाता हूँ।" यों कहकर साला तत्काल चल पड़ा।

बादशाह ने बेगम से कहा—"आज तुम्हारे भाई की बुद्धि की परीक्षा है? इसलिए न रातभर तुम्हें सोना है, न मुझे।"

दिल्ली बहुत लम्बी-चौड़ी नगरी। फिरते-फिरते बड़ी मुश्किल से साला वहाँ पहुँचा, जहाँ बाजे बज रहे थे। साले ने उस मुहल्ले का नाम पूछा और लौट पड़ा। आकर बादशाह से कहा—"हुजूर! ये बाजे अमुक मुहल्ले में बज रहे हैं।"

बादशाह ने पूछा—"क्यों बज रहे हैं?"

"यह तो मैंने नहीं पूछा।" बादशाह ने कहा—"अच्छा फिर जाओ, पूछकर आओ।" साला फिर वहाँ पहुँचा और पूछताछ की कि ये बाजे क्यों बज रहे हैं? वहाँ उपस्थित लोगों ने कहा—"विवाह के कारण बाजे बज रहे हैं।" साले ने आकर बादशाह को रिपोर्ट दी। बादशाह ने पूछा—"विवाह किसका है? बेटे का है या बेटी का?" "यह तो मैंने नहीं पूछा, आप कहें तो पूछ आऊँ?" साले ने कहा। बादशाह ने कहा—"हाँ, जल्दी पूछ आओ।" साले ने वहाँ जाकर पूछा तो पता लगा कि बेटी की शादी है। बादशाह को जब उसने यह रिपोर्ट दी तो उन्होंने पूछा—"अच्छा, पर बारात कहाँ से आएगी?" साले ने बादशाह के अनुरोध से विवाह वाले के यहाँ जाकर फिर पूछा—"बारात कहाँ से आएगी?" उन लोगों ने जिस नगर का नाम बताया, वही साले ने बादशाह से आकर कह दिया। पर बादशाह तो खटपट छोड़ने वाले नहीं थे। अतः पूछा—"शादी कौन सी कौम में है?" साले ने कहा—"हुजूर! यह तो मैंने नहीं पूछा।" बादशाह ने आदेश दिया—"अच्छा, जल्दी पूछकर आओ।"

इधर बेगम बैठी-बैठी हैरान हो गई थी। उसकी आँखों में नींद की खुमारी आ रही थी। अतः तिलमिलाकर कहने लगी—"हो गई न परीक्षा! अब तो इनको विदा दीजिए।"

to be wise. Many men know a great deal, and are all the greater fools for it."

"ज्ञान का ठीक उपयोग करना ही बुद्धि है। जानना बुद्धिमान होना नहीं है। अनेक मनुष्य बहुत-सा जानते हैं, परन्तु वे सब ज्ञान का उपयोग करने में बड़े मूर्ख होते हैं।"

सचमुच बुद्धिमान, विशेषत: स्थिरबुद्धिशील व्यक्ति केवल पढ़ाई-लिखाई से नहीं होता। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ही इसमें मूल कारण है। आप जानते हैं कि मति-श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के आवरण जितने-जितने हटते जाते हैं, उतनी-उतनी बुद्धि निर्मल, स्फुरणाशक्ति एवं निर्णयशक्ति से युक्त बनती है। इस सम्बन्ध में मुझे एक रोचक उदाहरण याद आ रहा है—

दिल्ली के बादशाह का साला, जो महल की ड्योढ़ी पर नियुक्त था, सामान्य वेतन पाता था, जबकि बीरबल वजीरेहिंद था, वह भारी वेतन पाता था। यह बात बेगम को बहुत खटकती थी कि मेरा सगा भाई एक मामूली सिपाही की भाँति नौकरी पाता है और एक हिन्दू बीरबल बहुत ऊँचे पद पर है। एक दिन मौका देखकर बेगम ने बात चलाई—"खुदावंद ! आपके राज्य में बड़ा अन्धेर है।"

बादशाह—"बेगम ! ऐसी बात नहीं है। यदि कोई अव्यवस्था तुम्हारे देखने में आई हो तो कहो, मैं उस पर अवश्य ध्यान दूंगा।"

बेगम बोली—"जहाँपनाह ! देखिये, मेरा सगा भाई, आपका साला बहुत ही मामूली नौकरी पर है। क्या आप मेरे भाई को ऊँचा पद नहीं दे सकते। उधर बीरबल भारी वेतन पा रहा है। उसके घर में शाही ठाठ लग रहे हैं। योग्यता और बुद्धि तो उच्च पद पर जाने से चमक उठती है। आपके राज्य में यह अन्धेर नहीं तो क्या है ? आप इस पर ध्यान दीजिए।"

मुस्कराते हुए बादशाह ने कहा—"अच्छा ! तुम्हें अपने भाई की बड़ी चिन्ता है। मैं मानता हूँ कि वह तुम्हारा भाई और मेरा साला है, पर उसमें जितनी योग्यता और बुद्धि है, उसके अनुसार उसे काम सौंपा हुआ है। बीरबल, जो भारी वेतन पा रहा है, वह उसकी बुद्धि और योग्यता के अनुरूप है। उसकी बुद्धि बड़ी-बड़ी समस्याएँ हल कर देती है।"

बेगम बोली—"मैं नहीं मान सकती कि मेरे भाई में इतनी लियाकत नहीं है। यह तो सिर्फ हजूर का खयाल है।"

बादशाह ने कहा—"अच्छा, मैं तुझे कभी उसकी योग्यता का परिचय करवा दूंगा और साथ ही बीरबल की योग्यता का भी।"

बेगम—"अच्छा हजूर ! मैं भी इतने फर्क का कारण जान लूंगी।"

एक दिन बादशाह महल में आए तो ड्योढ़ी पर तैनात साले साहब ने सलाम किया। बादशाह अन्दर पहुँचे कि उनके कानों में बाजों की आवाज आई। सोचा—

अभी रात के दस बजे हैं। आज अच्छा मौका है, वेगम को अपने भाई की योग्यता और बुद्धि का परिचय करवा दूँ, ताकि रोज की खटखट मिट जाए। वादशाह ने तुरन्त आवाज लगाई—"ड्योढ़ी पर कौन है ?" साला फौरन अन्दर आया और "जी हुजूर ! हाजिर हूँ।" कहकर सामने खड़ा रहा। वादशाह ने कहा—"जरा पता लगाओ तो ये वाजे कहाँ वज रहे हैं ?"

साला बोला—"अभी पता लगाकर आता हूँ। मैं खुद ही जाता हूँ।" यों कहकर साला तत्काल चल पड़ा।

वादशाह ने वेगम से कहा—"आज तुम्हारे भाई की बुद्धि की परीक्षा है ? इसलिए न रातभर तुम्हें सोना है, न मुझे।"

दिल्ली वहुत लम्बी-चौड़ी नगरी। फिरते-फिरते वड़ी मुश्किल से साला वहाँ पहुँचा, जहाँ वाजे वज रहे थे। साले ने उस मुहल्ले का नाम पूछा और लौट पड़ा। आकर वादशाह से कहा—"हजूर ! ये वाजे अमुक मुहल्ले में वज रहे हैं।"

वादशाह ने पूछा—"क्यों वज रहे हैं ?"

"यह तो मैंने नहीं पूछा।" वादशाह ने कहा—"अच्छा फिर जाओ, पूछकर आओ।" साला फिर वहीं पहुँचा और पूछताछ की कि ये वाजे क्यों वज रहे हैं ? वहाँ उपस्थित लोगों ने कहा—"विवाह के कारण वाजे वज रहे है।" साले ने आकर वादशाह को रिपोर्ट दी। वादशाह ने पूछा—"विवाह किसका है ? वेटे का है या वेटी का ?" "यह तो मैंने नहीं पूछा, आप कहें तो पूछ आऊँ ?" साले ने कहा। वादशाह ने कहा—"हाँ, जल्दी पूछ आओ।" साले ने वहाँ जाकर पूछा तो पता लगा कि वेटी की शादी है। वादशाह को जब उसने यह रिपोर्ट दी तो उन्होंने पूछा—"अच्छा, यह बारात कहाँ से आएगी ?" साले ने वादशाह के अनुरोध से विवाह वाले के यहाँ जाकर फिर पूछा—"बारात कहाँ से आएगी ?" उन लोगों ने जिस नगर का नाम वताया, वह साले ने बादशाह से आकर कह दिया। पर वादशाह यों झटपट छोड़ने वाले नहीं थे। अतः पूछा—"शादी कौन सी कौम में है ?" साले ने कहा—"हजूर ! यह तो मैंने नहीं पूछा।" वादशाह ने आदेश दिया—"अच्छा, जल्दी पूछकर आओ।"

इधर वेगम बैठी-बैठी हैरान हो गई थी। उसकी आँखों में नींद की झपकी आ रही थी। अतः मिनमिनाकर कहने लगी—"हो गई न परीक्षा ! अव तो इसका पिंड छोड़ो।"

वादशाह—"आज तो पूरी परीक्षा लेनी है। अन्यथा, तुम्हें अपने भाई और बीरबल दोनों की बुद्धि एवं योग्यता का पता कैसे चलेगा ?" इतने में साला पता लगाकर आया और बोला—"विवाह हिन्दुओं में है।" वादशाह ने पूछा—"किस जाति में है, ब्राह्मणों में है या बनियों में ?"

साला बोला—"यह तो मैंने नहीं पूछा, हजूर !"

"अच्छा तो पूछकर आओ।" बादशाह ने कहा।

इस प्रकार साले साहब को चक्कर काटते-काटते सारी रात हो गई। चलते-चलते उसके पैर थककर चूर-चूर हो गए थे।

पौ फटते ही प्रतिदिन के नियमानुसार बीरबल बादशाह को मुजरा करने आया तो बादशाह ने उससे कहा—"जरा पता लगाकर आओ कि ये बाजे कहाँ बज रहे हैं? तुम खुद जाकर पूछ करके आना?" बीरबल ने सोचा—"आज कोई-न-कोई रहस्यमय बात है, तभी तो जो काम एक सिपाही से हो सकता है, उसके लिए बादशाह ने स्वयं मुझे आदेश दिया है।" बीरबल तुरन्त विवाह-स्थल पर जा पहुँचा और विवाह के प्रमुख व्यवस्थापक को बुलाकर प्रत्येक बात नोट करने लगा। पौन घण्टे के अन्दर पूरी फहरिश्त तैयार करके अपनी जेब में रखकर बादशाह के समक्ष उपस्थित हुआ। इधर बेगम सोच रही थी कि बीरबल को भी अनेक सवाल पूछकर मैं भाई की तरह ५-१० चक्कर खिलाऊँगी। बीरबल ने बादशाह से कहा—"हजूर! ये बाजे विवाह के उपलक्ष में बज रहे हैं। विवाह हिन्दुओं में अमुक जाति में है।"

बादशाह—"किसका है?"

बीरबल—"बेटी का है, हजूर!"

बादशाह—"बारात कहाँ से आएगी?"

बीरबल—हजूर! इलाहाबाद से आएगी।"

इस प्रकार एक-एक करके बादशाह ने वे सारे प्रश्न पूछ लिए, जो साले साहब से पूछे थे और बीरबल ने सबका यथोचित उत्तर दिया। अब बादशाह ने बेगम से भी कहा—"तू भी पूछ ले जो कुछ भी पूछना हो।" बेगम ने भी इधर-उधर के बहुत-से सवाल पूछे, पर बीरबल के पास सबके उत्तर मौजूद थे। आखिर बेगम पूछती-पूछती उकता गई। तब बीरबल ने अपनी जेब से वह प्रश्नसूची निकाली और कहा—"जहाँपनाह! आपने तो अभी तक थोड़े से प्रश्न पूछे हैं, मैं तो करीब १५० प्रश्नों के उत्तर लिखकर ले आया हूँ।"

बेगम को भी बीरबल की इतनी तीक्ष्ण एवं विलक्षण बुद्धि का लोहा मानना पड़ा। अन्त में बादशाह ने कहा—"ऊँचे पद और वेतन बुद्धिमानी से मिलते हैं, केवल सम्बन्धी होने से ही मन्दबुद्धि, अयोग्य व्यक्ति को उच्च पद या वेतन नहीं मिला करते।"

बेगम को अपनी हार माननी पड़ी।

बन्धुओ! मैं कह रहा था कि जिसकी बुद्धि निर्मल एवं स्फुरणाशक्ति एवं निर्णयशक्ति से युक्त होती है, वही व्यक्ति संसार में और आध्यात्मिक जगत में सम्मान पाता है। ऐसी स्थिरबुद्धि किसी विरले भाग्यशाली को ही मिलती है। ऐसी बुद्धि कोरे शारीरिक बल से प्राप्त नहीं होती। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

अर्थात्—बुद्धि ही मन में [illegible] है, जिससे [illegible] के [illegible] की [illegible] है। [illegible] के [illegible] द्वारा [illegible] जाता [illegible] बुद्धि [illegible] करता है।

इसीलिए गौतम ऋषि ने [illegible] में स्थितबुद्धि प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। स्थितबुद्धि क्या है और वह कैसे प्राप्त होती है? अगले प्रकरण में इस पर विवेचन करेंगे।

२५

सौम्य और विनीत की बुद्धि स्थिर : २

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

कल मैंने तेईसवें जीवनसूत्र पर विवेचन किया था, आज उसी जीवनसूत्र के अन्य पहलुओं पर विवेचन करना चाहता हूँ, ताकि आप महर्षि गौतम द्वारा उक्त इस जीवनसूत्र को भलीभाँति समझ सकें। महर्षि गौतम ने कहा—

"बुद्धि अचण्डं भयए विणीयं"

जो अचण्ड (सौम्य—क्रोधादि आवेश से रहित) और विनीत होता है, उसे ही स्थिरबुद्धि प्राप्त होती है।

सूक्ष्मबुद्धि और स्थूलबुद्धि

लौकिक क्षेत्र हो या लोकोत्तर, दोनों ही क्षेत्रों में बुद्धि का परम महत्त्व माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है—

"पन्ना समिक्खए धम्मतत्तं तत्तविणिच्छियं।"

"अनेक तथ्यों से विनिश्चित धर्मतत्त्व को प्रज्ञा (सद्-असद् विवेकशालिनी बुद्धि) से समीक्षा करे।"

मैं आपसे पूछता हूँ कि धर्मतत्त्व या किसी सूक्ष्मतत्त्व का निर्णय कौन-सी बुद्धि कर सकती है? क्या स्थूलबुद्धि उसका यथार्थ निर्णय कर सकती है? कदापि नहीं। सूक्ष्मबुद्धि ही प्रत्येक वस्तु का तलस्पर्शी निर्णय कर सकती है। इसीलिए जहाँ स्थूलबुद्धि वाले जिन प्रश्नों या समस्याओं का हल नहीं दे पाते, वे केवल सूक्ष्मबुद्धिशील पुरुषों की क्षमता एवं सफलताओं को देख-देखकर मन में संक्लेश पाते हैं, अथवा निरर्थक दौड़धूप करने का कष्ट पाते हैं, लेकिन वे अपनी उस अथक दौड़धूप का सच्चा फल नहीं पाते। उसका सच्चा फल पाते हैं—वे कुशाग्रबुद्धि—सूक्ष्मबुद्धि महानुभाव! जैसे भोजन को काफी देर तक चबाने का कष्ट तो दाँत करते हैं, लेकिन जीभ तो सीधा ही निगल जाती है, स्वाद का आनन्द भी वही लेती है, दाँत नहीं ले पाते। इसी बात को एक भारतीय विचारक कहते हैं—

क्लिश्यन्ते केवल स्थूलाः सुधीस्तु फलमश्नुते।
दन्ता दलन्ति कष्टेन, जिह्वा गिलति लीलया॥

सूक्ष्मबुद्धिशील कैसा होता है ? इस सम्बन्ध में विलियम राल्फ इंगे (William Ralph Inge) कहता है —

"The wise man is he, who knows the relative values of things."

"वास्तविक (सूक्ष्म) बुद्धिसम्पन्न वह व्यक्ति है, जो वस्तुओं के सापेक्ष्य मूल्यों को जानता है।"

स्थिरबुद्धि का महत्त्व क्यों ?

प्रश्न होता है कि किसी व्यक्ति के पास परोपकार की या भलाई करने की सद्बुद्धि तो है; किन्तु न उसके पास स्फुरणाशक्ति है, न सच्ची सूझबूझ है और न ही निर्णयशक्ति है, संकट आ पड़ने पर उसका समुचित हल निकालने की शक्ति नहीं है, तब क्या केवल तथाकथित सद्बुद्धि से उसका कार्य नहीं चल सकता ? क्या गीताकार के आशयानुसार उस व्यक्ति के जीवन में केवल उक्त सद्बुद्धि का होना ही पर्याप्त नहीं है ?

इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि केवल उक्त सद्बुद्धि का होना ही पर्याप्त नहीं है। इसके साथ-साथ स्थिरबुद्धि का होना भी आवश्यक है। इसके बिना मानव-जीवन में आने वाले उतार-चढ़ावों, संकटों, विघ्नों, समस्याओं और विपत्तियों के समय केवल सुबुद्धिशील मानव धैर्यपूर्वक टिका नहीं रह सकेगा, न धर्मसंकट के अवसर पर उसका हल या निर्णय कर सकेगा, उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाएगी। स्थिरबुद्धि न होने पर मनुष्य उटपटांग कार्य कर बैठेगा, समय पर सही निर्णय नहीं ले सकेगा, वह अपने कर्तव्य, धर्म और हित का निश्चय नहीं कर सकेगा, उसमें सही सूझबूझ पैदा नहीं होगी। सद्बुद्धि तो आज है, कल को परिस्थितिवश, स्वार्थवश [illegible] भी सकती है लेकिन स्थिरबुद्धि अन्त तक टिकी रहेगी। वह प्रतिकूल परिस्थितियों, विकट प्रसंगों या संकटापन्न क्षणों में भी स्थिर रहेगी। समय आने पर [illegible] कि व्यक्ति का जीवन संकट के बादलों से घिरा हो, आफतों की [illegible] हो, उस समय अपनी सूझबूझ, बुद्धि और निर्णयशक्ति न होने से [illegible] जायेगा ? अपनी समस्याओं का निराकरण [illegible] नहीं कर पाएगा। इसीलिए एक भारतीय चिन्तक ने प्रभु से अपनी स्थिरबुद्धि के लिए प्रार्थना की है —

वास्तव में स्थिरबुद्धि के लिए जिन विशिष्ट गुणों की आवश्यकता है उनके अपनाने पर वह स्वतः हस्तगत हो जाती है। दूसरे की बुद्धि से काम नहीं चलता। अपने दोषों या भूलों की आलोचना दूसरा व्यक्ति कैसे कर सकता है ? क्योंकि दूसरे व्यक्ति को उसकी परिस्थिति, रुचि, आशय एवं आत्मशक्ति का यथार्थ पता नहीं होता. सुनी-सुनाई बात पर से बिलकुल ठीक निर्णय साधारण बुद्धि वाला नहीं कर सकता। हाँ, ऐसे स्थितप्रज्ञ या स्थितात्मा गुरुदेव निकटवर्ती हों तो वे अवश्य ही उसकी समस्या का किसी हद तक समाधान कर सकते हैं, विशेषतः ऐसे गुरुदेव ज्ञानी (अवधिज्ञानी या मनःपर्यायज्ञानी अथवा केवलज्ञानी) हों तो वे उसकी परिस्थितियाँ, आशय, रुचि एवं आत्मशक्ति को जानने के कारण पूर्णतः यथार्थ निर्णय या हल कर सकते हैं। किन्तु उनके अभाव में साधारण बुद्धि—राजसी या तामसी बुद्धि वाला वह स्वयं अथवा किसी पंच या नेता, भले ही वे थोड़ी सूझबूझ वाले हों, उनकी बुद्धि भी साधारण (राजसी या तामसी) होने से निर्णय या हल यथार्थरूप से नहीं कर सकेंगे। इसी आशय को एक नीतिकार कहते हैं—

आत्मबुद्धि सुखायैव, गुरुबुद्धिर्विशेषतः ।
परबुद्धिर्विनाशाय, स्त्रीबुद्धि प्रलयावहा ॥

"अपनी बुद्धि (अगर स्थिर हो तो) सुखदायिनी होती है, विशेषरूप से स्थितप्रज्ञ गुरु की बुद्धि भी, किन्तु दूसरों की बुद्धि (चंचल एवं अनिश्चयात्मिका होने से) विनाशकारिणी होती है, और प्रायः मोह में डालने वाली स्त्री की बुद्धि प्रलय मचाने वाली होती है।"

नीतिकार के उक्त उद्‌गारों में स्वयं स्थिरबुद्धि बनने की ओर संकेत है।

ऐसा स्थिरबुद्धि व्यक्ति ही अपने दोषों और गुणों का यथार्थ आकलन कर सकता है। एक पाश्चात्य विचारक भी इसी बात का समर्थन करता है—

"Our chief wisdom consists in knowing our follies and faults, that we may correct them."

"हमारी मुख्य बुद्धि (स्थिरबुद्धि) हमारे अपने पापों और अपराधों को जानने में निहित है, ताकि हम उन्हें सुधार सकें।"

वास्तव में बुद्धि स्थिर होने पर ही व्यक्ति अपने आत्मदर्पण में अपना जीवन देख सकता है, कहीं उस पर दाग हो तो उसे साफ कर सकता है, मलिनता हो तो धो-पोंछ सकता है। सच्ची बुद्धि का विश्लेषण पाश्चात्य विद्वान हम्फ्री (Humphrey) के शब्दों में यह है—

"True wisdom is to know what is best worth knowing and to do what is best worth doing."

"जो सर्वश्रेष्ठ जानने योग्य बातें हैं, उन्हें जानना और करने योग्य सर्वोत्तम बातों को करना ही सच्ची (स्थिर) बुद्धि है।"

आज तक के स्थिरबुद्धिशील मानव [illegible] जीवन और [illegible] अनुकूल वस्तुओं का आकलन करने के लिए [illegible] है। जैसे [illegible] को सामने [illegible] देखकर मनुष्य [illegible] उनसे [illegible] का प्रयास करता है, वह [illegible] यह नहीं सोचता कि अभी तो नहीं, फिर कभी [illegible] परन्तु [illegible] स्थिरबुद्धि व्यक्ति अपने पापों या दोषों को जानकर उन्हें तत्काल दूर करने का प्रयत्न करता है, आगे पर नहीं छोड़ता। नीतिकार इन स्थिरबुद्धि पुरुषों की विशेषता बताते हैं—

उपायसन्दर्शनजां विपत्तिमपायसन्दर्शनजां च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥

मेधावी पुरुष विपत्ति को उपाय के दर्शन के साथ और नीति विधि से प्रयुक्त सिद्धि को अपाय के दर्शन के साथ अपने सामने स्फुरित होती हुई-सी देखते हैं। आशय यह है कि स्थिरबुद्धिपुरुष के दृष्टिपथ पर विपत्ति और कार्यसिद्धि से पहले क्रमशः उनके उपाय और अपाय (विघ्न) पहले से ही विदित हो जाते हैं। एक पाश्चात्य विचारक लैक्टेण्टियस (Lactantius) स्थिरबुद्धि के दो गुण बताते हैं—

"The first point of wisdom is to discern that which is false the second to know that which is tr e."

बुद्धि का प्रथम दृष्टिबिन्दु है, जो असत्य है उस पर ठीक विचार करना और दूसरा दृष्टिबिन्दु है जो सत्य है, उसे जानना। स्थिरबुद्धि ही इन दोनों दृष्टिबिन्दुओं पर विचार कर सकती है। जिसकी बुद्धि चंचल है, [illegible] के समान है वह इन दो दृष्टिबिन्दुओं को नहीं अपना सकता। [illegible] इसी बात का समर्थन एक विद्वान् ने किया है—

बुद्धिदोषाणि शास्त्राणि, नाबुद्धिः शास्त्रदोषतः ।
प्रकाशेऽपि कृते दीपे, चक्षुहीनो न पश्यति ॥

शास्त्रों का दोष बुद्धि (स्थिरबुद्धि) से [illegible]

बुद्धि किसकी स्थिर, किसकी नहीं ?

यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस व्यक्ति में क्रोध, द्वेष, रोष, ईर्ष्या आदि प्रचण्ड आवेश हैं, और जो अविनीत है, अहंकारी है, गर्व से ग्रस्त है, उसके पास ऐसी स्थिर सात्त्विक बुद्धि नहीं फटकती, वह पलायन कर जाती है।

धन और पद होने से स्थिरबुद्धि नहीं आती

दुनिया की दृष्टि में आज बुद्धिमत्ता और सर्वगुणसम्पन्नता की कसौटी धन और पद को माना जाता है। जिसके पास बहुत धन है या विलासिता के प्रचुर साधन हैं या जिसको जितना बड़प्पन या उच्च पद मिला है, वह सांसारिक दृष्टि से उतना ही चतुर और बुद्धिमान कहलाता है। परन्तु विचार करने पर यह मापदण्ड सर्वथा अनुपयुक्त और भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध होता है। जो छलबल से अधिकाधिक सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है, जो अनुचित और अवांछनीय साधनों से धन इकट्ठा कर लेता है या दूसरों का धन हड़प लेता है, उसे बुद्धिकुशल और चतुर मानने की संसार में उल्टी प्रथा चल पड़ी है। अनीति, अन्याय और तिकड़मबाजी से बहुत से व्यक्ति धनवान हो जाते हैं, धूर्तता से बड़प्पन या उच्च पद भी पा सकते हैं। अमीर बाप का अयोग्य बेटा भी प्रचुर सम्पत्ति का अधिकारी हो सकता है। लाटरी खुल जाने पर हीन स्तर का व्यक्ति भी धनाढ्य कहला सकता है जबकि सज्जन और सद्गुणी व्यक्ति परिस्थितिवश पिछड़ी हालत में रह सकता है। इसमें बुद्धिमत्ता की परख कहाँ हुई? संयोगवश मिली हुई भौतिक सफलताओं या सिद्धियों से किसी भी व्यक्ति की बुद्धिमत्ता या बड़प्पन को आँकना या नापना कथमपि उचित नहीं है और यह कथन भी नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है कि जो रातदिन धन के पहाड़ पर रहता है, उसकी बुद्धि बढ़ जाती है या उसमें बुद्धि स्वतः अनायास ही आ जाती है। एकमात्र भौतिक उन्नति में अपने जीवन का अणु-अणु लगा देने वाला चाहे व्यवहार में कितना ही बड़ा आदमी क्यों न कहलाता हो, चाहे वह नेता और सत्ताधीश ही क्यों न हो, उसे स्थिरबुद्धि नहीं कहा जा सकता। स्थिरबुद्धि-प्राप्ति का मापदण्ड महर्षि गौतम ने संक्षेप में सौम्यता और विनीतता को बताया है, न कि केवल धन-सम्पत्ति या कोरे पद को।

बुद्धि ही बड़ी है, धन सम्पत्ति नहीं

इसी पूर्वोक्त भ्रान्ति के कारण सहसा लोग कह देते हैं धन-सम्पत्ति बड़ी है, बुद्धि का क्या बड़ा? बुद्धि तो धन से खरीदी जा सकती है।

'धनवान बड़ा होता है या बुद्धिमान?' इस बात का निर्णय करने के लिए एक राजा ने एक धनवान और एक बुद्धिमान को रोम के सम्राट के पास भेजा। साथ ही एक पत्र लिखा कि इन दोनों को तत्काल फाँसी पर लटका दिया जाय। धनवान ने वहाँ पहुँचकर फाँसी देने वालों को सोने का हार देकर जान बचाने की कोशिश की, मगर सफलता न मिली। किन्तु बुद्धिमान ने शीघ्र ही कुछ उपाय सोचकर धनवान के कान में कहा—"तुम यह कहना कि पहले मैं मरूँगा।" आगे का

साथ मैं भेज दूंगा। दूसरे दिन फाँसी के सामने खड़े दोनों फाँसी पर चढ़ने के लिए आपस में झगड़ने लगे। इससे चकित होकर सम्राट ने जब कारण पूछा तो बुद्धिमान ने कहा—"मैं जहाँ मरूँगा, वहाँ दुष्काल पड़ेगा और यह जहाँ मरेगा, वहाँ [illegible]। इसीलिए हमारे राजा ने हमें यहाँ भेजा है, अन्यथा फाँसी तो वहाँ भी थी।"

यह सुनते ही सम्राट ने दोनों को शीघ्र मुक्त कर दिया और उस राजा पर [illegible] भी स्थगित किया।

कहने का मतलब है, धन और स्थिरबुद्धि में जमीन-आसमान का अन्तर है। धन कदापि बुद्धि के समकक्ष नहीं हो सकता और न ही बुद्धि धन का आसन ग्रहण कर सकती है क्योंकि बुद्धि धन से कदापि खरीदी नहीं जा सकती और न ही किसी से उधार ली जा सकती है। स्पष्ट कहा है—

बुद्धि कहीं बिकती नहीं, मिलती नहीं उधार।
बुद्धि हृदय से उपजती, 'चन्दन' करो विचार॥

अतः यह भी एक बात है, सात्त्विक और स्थिरबुद्धि पूर्वोक्त गुणों से ही प्राप्त हो सकती है। बल्कि धन का अहंकार और मद सात्त्विक बुद्धि को ही नष्ट कर देता है, इससे बुद्धि का आगमन हो नहीं सकता। इसलिए धन से बुद्धि का [illegible] करने के बजाय, सद्बुद्धि से सम्पत्ति का आगमन सम्भव है। जैसा कि भारतीय संस्कृति के उद्गाता कवि का कथन है—

जहाँ सुमति तहँ सम्पत नाना।
जहाँ कुमति तहाँ विपत निदाना॥

आज अधिकांश धनिकों में यह भ्रान्ति घर कर गई है कि हम धन के बल पर बुद्धिमानों को किराए पर लेकर अपनी बुद्धि बढ़ा सकते हैं। परन्तु यह बात समझनी चाहिए। धन से अक्षरीय ज्ञान या भौतिक जानकारी बढ़ सकती है, परन्तु सात्त्विक एवं स्थिरबुद्धि प्राप्त होना दुष्कर है।

संगत तेने शुं करे, जईने कुबुद्धिमाँ धरे कान ॥ ध्रुव ॥
मनी कपूर बेऊ भेगां रे रहेतां, निरंतर करी एकवास ।
तोयनिरवाश एनी नटली रे, एनी बुद्धिमाँ नांख्यो वराश ॥
चंदन भेलो वींटीने रहेतो रे, रात दिवस भोयंग ।
तोयकंठे थी विष न गयुँ रे, एने न आवी शीतलता अंग ॥
दादुर रहेतो तालावमाँ रे, नित्य कमलनी पास ।
कल-बल करतो कांचमाँ रे, एने न आवी कमलनी सुवास ॥

तात्पर्य यह है कि अगर जीवन में स्थिरबुद्धि के योग्य गुण न हों तो केवल संगति से भी प्रायः सुबुद्धि नहीं आ सकती।

संकट आ पड़ने से भी बुद्धि परिपक्व नहीं

कई लोग कहते हैं कि संकटों या मुसीबतों को सहते-सहते मनुष्य की बुद्धि परिपक्व एवं स्थिर हो जाती है। यह भी सर्वांशतः सत्य नहीं है। संकटों को धैर्यपूर्वक, किन्हीं (निमित्तों) को कोसे बिना, रोष, द्वेष, आदि आवेशों से रहित होकर सहने से अवश्य ही बुद्धि स्थिर हो जाती है मगर हाय-हाय करते हुए, गाली और शाप देते हुए सहने से तो रही-सही बुद्धि भी पलायित हो जाती है। पश्चात्ताप करने पर बुद्धि आई, उससे तो कोई काम सुधरता नहीं; पहले ही सद्बुद्धि आ जाती तो कितना अच्छा होता? चाणक्यनीति में इस सम्बन्ध में सुन्दर प्रकाश डाला है—

उत्पन्न पश्चात्तापस्य बुद्धिर्भवति यादृशी ।
तादृशी यदि पूर्वं स्यात् कस्य न स्यान्महोदयः ?
धर्माख्याने श्मशाने च रोगिणां या मतिर्भवेत् ।
सा सर्वदैवावतिष्ठेच्चेत् को न मुच्यते बन्धनात् ॥

पश्चात्ताप के समय जैसी सद्बुद्धि होती है, वह यदि पहले ही प्राप्त हो जाए तो कितना महान् अभ्युदय न हो जाता! धर्मकथाश्रवण के समय, मरघट में एवं रुग्णावस्था में जो विरक्तियुक्त बुद्धि होती है, अगर वह सदा के लिए स्थिर हो जाए तो कौन ऐसा है, जो बन्धनों से मुक्त न हो।

केवल नम्रता से भी बुद्धि नहीं

इसी प्रकार कोरे विनय से, नम्रता दिखाने से या किसी के सामने हाथ जोड़ने या पैरों में पड़ने मात्र से भी ऐसी स्थिरबुद्धि प्राप्त नहीं होती। ऐसी विनय किस काम की, जो इधर तो नमन करे और उधर उसका गला काटने को तैयार हो जाए। एक पुत्र पिता के सामने हाथ जोड़ता है, परन्तु पिता की आज्ञा को ठुकरा देता है, क्या वह सच्चा विनीत सुपुत्र कहला सकता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार जो व्यक्ति सामने तो बहुत ही नम्रता, भक्ति दिखलाता है किन्तु पीठ फेरते ही उसका गला काटने को तैयार हो जाता है वह ठग, धोखेबाज, चापलूस या स्वार्थी है। सुविनीत[1]

१ हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए' —उत्तराध्ययन ११/१३

में गिरकर मरने में तो ये गहने किसी के काम नहीं आएँगे।" सेठानी ने आवेश में आकर केवल हाथों की सोने की चूड़ियाँ और नाक की सोने की नथ रखकर बाकी के गहने ढोली को दे दिये। ढोली ने लोभाविष्ट होकर कहा—"ये दो गहने भी दे दीजिए न, ये आपके क्या काम आएँगे, मरने के बाद?" सेठानी बोली—"मेरे पति जीवित हैं, तब तक मैं सौभाग्यचिन्ह एवं इन दो गहनों को नहीं दे सकती।"

लोभाविष्ट ढोली ने क्रोधी सेठानी से कहा—"आपको मरना ही है तो मैं कुएँ में पड़ने की अपेक्षा एक सरल उपाय बताता हूँ।" सेठानी बोली—"वह कौन-सा है?" ढोली ने कहा—"देखिये, नीचे मेरा यह ढोल रखकर पेड़ की डाल से बंधी हुई रस्सी को गले में कस कर बाँध लीजिए, फिर पैर से ढोल को ठेलकर लटक जाइए। एक मिनट में प्राण निकल जाएँगे।"

सेठानी ने कहा—"तू जरा पहले मुझे बता तो सही।" लालची ढोली ने सोचा—यदि मेरे बताने से यह गले में फाँसी लगाकर मर जाएगी, तो ये दोनों गहने भी इसके मरने बाद मैं ले सकूंगा। अतः उसने नीचे ढोल रखा। फिर उस पर पैर रखकर अपने गले में रस्सा लगाया। दुर्भाग्य से रस्सा गले में डालते ही वह ढोल खिसक गया। गले में फाँसी लगने से वह आ-आ करने लगा, थोड़ी ही देर में उसकी जीभ बाहर निकल आई और उसके प्राण पखेरू उड़ गए।

ढोली की अकस्मात मौत का यह नजारा देखकर सेठानी घबराई उसके मुँह से सहसा उद्गार निकले—"अरे बाप रे! यह मृत्यु तो बड़ी भयंकर है, यह तो मुझ से नहीं हो सकेगा।" अतः सेठानी ने चुपचाप ढोली को दिये हुए गहने लेकर पहन लिये और वहाँ से घर की ओर चल पड़ी। अब उसके क्रोध का नशा उतर गया था। आत्महत्या करने की सनक भी खत्म हो गई। चुपचाप शर्मिन्दा होती हुई-सी घर में घुसी और घर के काम में लग गई। शाम को उसने अपने पति से क्षमा माँगी और वचनबद्ध हो गई कि अब भविष्य में कभी क्रोध न करूँगी।

बन्धुओ! क्रोध के आवेश का परिणाम कितना भयंकर है। क्रोधावेश में सद्बुद्धि भी कोसों दूर चली जाती है।

क्रोध, द्वेष, रोष और वैर-विरोध के प्रसंग पर जो सौम्य, शान्त, गम्भीर और स्थिर रहता है, उसी की बुद्धि स्थिर रहती है, वही शान्ति से विकट समस्या को सुलझा सकता है।

विनीत को स्थिरबुद्धि प्राप्त होती है, अविनीत को नहीं

अभिमानयुक्त बुद्धि के साथ मनुष्य में आत्मनिरीक्षण, स्वदोषदर्शन की शक्ति और आत्मशुद्धि की क्षमताएँ नष्ट होने लगती हैं, जिससे वह अपना बुनियादी सुधार नहीं कर सकता। अभिमानी व्यक्ति की जब भी कोई निन्दा कर देता है, उसे जरा-सा भी चुभता वचन कह देता है या उसका वास्तविक दोष या अपराध भी कोई व्यक्ति उसके समक्ष प्रगट कर देता है तो वह उससे द्वेष, रोष, वैर-विरोध करने लगता है, उस समय उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती और आवेश में पागल होकर वह हितैषी व्यक्ति से भी शत्रुता ठानकर बदला लेने को तैयार हो जाता है। अभिमानी व्यक्ति दूसरों की उन्नति, प्रशंसा और प्रतिष्ठा होती देखकर जलभुन जाता है, वह उन्हें नीचा दिखाने और गिराने की फिराक में रहता है। उसकी बुद्धि हरदम अकारण शत्रु बनकर ऐसे लोगों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचती रहती है।

अभिमानी व्यक्ति किस प्रकार सात्त्विक और नवस्फुरणात्मक स्थिरबुद्धि प्राप्त नहीं कर पाता और निरभिमानी, विनीत एवं नम्र व्यक्ति किस प्रकार सात्त्विक एवं स्थिरबुद्धि प्राप्त कर लेता है? इसे भली भाँति समझने के लिए दो ब्राह्मण छात्रों का उदाहरण लीजिए—

किसी नगर में एक उपाध्याय (गुरु) के पास दो शिष्य विद्याध्ययन करते थे। गुरु का दोनों छात्रों पर एक-सा ही स्नेह और सौहार्द था। किन्तु उन दोनों में एक छात्र विनीत, गुणग्राही, नम्र, आज्ञाकारी और सेवापरायण था; जबकि दूसरा छात्र उद्दण्ड, कदाग्रही, अभिमानी, दोषदर्शी एवं उच्छृंखल था। परन्तु गुरु उसकी उद्धतता को नजरअन्दाज कर देते थे। वे बिना किसी प्रकार के पक्षपात एवं भेदभाव के दोनों को समान भाव से विद्यादान देते थे। इनके अध्ययन के दो विषय थे—ज्योतिष और आयुर्वेद! धुरन्धर विद्वान् उपाध्याय ने काफी लम्बे अर्से तक दोनों को पढ़ाया। दोनों छात्र इन विषयों में पारंगत हुए। उपाध्यायजी दोनों छात्रों से यदाकदा दोनों विषयों का प्रयोग भी करवाते थे ताकि दोनों का अध्ययन ठोस हो जाय।

एक बार कुछ दूरस्थ कस्बे से कुछ बीमारों को देखने का गुरुजी को आमंत्रण मिला। लेकिन अत्यन्त वृद्धावस्था के कारण उन्होंने स्वयं न जाकर इन दोनों शिष्यों को सारी बातें समझाकर वहाँ भेज दिया।

रास्ते में बड़े-बड़े पैरों के चिन्ह देखकर विनीत छात्र ने पूछा—"कहो भैया! ये पादचिन्ह किसके हैं?" अविनीत छात्र तपाक से बोला—"इसमें क्या पूछने की जरूरत है? ये पैर तो साफ हाथी के हैं।" विनीत छात्र बोला—"नहीं, ऐसा नहीं है। ये हथिनी के पैर हैं। हथिनी एक आँख से कानी है। उस पर कोई राजा की रानी सवार होकर इधर से गई है। रानी पूर्णमासा गर्भवती है और उसके शीघ्र ही पुत्र होने वाला है। इतना रहस्य मैं समझ पाया हूँ।" अविनीत बोला—"बस-बस रहने दे, ज्यादा बकवास मत कर। ऐसी मनगढ़ंत बातों को कौन मानता है। हाथ कंगन

के लिए बुढ़िया को मना लिया कि वहाँ पर यह कुछ न बोले। अविनीत के प्रति बुढ़िया की नफरत को देखकर उसके तन-बदन में आग लग गई। मन ही मन सोचा —'देख लिया गुरु का पक्षपात! इसे खूब अच्छी तरह पढ़ाया है और मुझे नहीं। तभी तो इसकी बताई हुई सभी बातें मिल जाती हैं और मेरी एक भी बात नहीं मिलती। इस बार जाते ही मैं गुरु की पूरी खबर लूँगा।' यों अनेक प्रकार की मिथ्या कल्पनाएँ करने लगा। दोनों छात्र बुढ़िया के यहाँ भोजन करने गए। बुढ़िया ने अपने पुत्र के सामने भी इस छोटी उम्र के विनीत छात्र की प्रशंसा की और कहा—यह बहुत ज्ञानी है। तेरे शुभागमन की बात इसी ने बतलाई थी। बुढ़िया ने बहुत प्रेम से भोजन कराया।

इसके पश्चात् दोनों छात्रों ने नगर में जाकर गुरुजी द्वारा बताया हुआ काम निपटाया। वहाँ भी विनीत छात्र का सिक्का जम गया। आखिर दोनों छात्र अपने गाँव को वापस लौटे। गुरु के पास आते ही प्रणाम करना तो दूर रहा, अविनीत छात्र क्रोध में आकर गुरुजी से झगड़ा करने लगा। कहने लगा—"मुझे इस बार भली भाँति पता चल गया कि आपने पढ़ाने में पूरा पक्षपात किया है। इसे आपने अच्छी तरह पढ़ाया पर मुझे नहीं पढ़ाया। मेरा इतने वर्षों का परिश्रम बेकार गया। अच्छा समय आने दो, मैं आपकी पूरी खबर लूंगा।" यों अंटसंट बकने लगा। अविनीत छात्र की आकृति क्रोध से लाल हो गई थी। ओठ काँपने लगे। गुरु ने जैसे-तैसे समझाकर शान्त किया। फिर पूछा—वत्स! ऐसी क्या बात हो गई, जिससे तुम गर्म हो रहे हो। मैंने तुम दोनों को एक साथ, एक ही पाठ पढ़ाया है। फिर भी बताओ, कौन सी आघातजनक घटना हो गई?"

अविनीत छात्र ने पहली घटना सुनाते हुए कहा—मुझसे जब इसने पूछा कि ये पैर किसके हैं? तब मैंने स्वाभाविक रूप से कहा—इतने बड़े पैर हाथी के ही हो सकते हैं। पर इसने हथिनी के, फिर उसे कानी, उस पर सवार रानी, गर्भवती और आसन्नप्रसवा ये सब बातें बताईं, जो सच निकलीं। क्या यह पढ़ाई में अन्तर नहीं है? दूसरे विनीत शिष्य से जब गुरुजी ने ऐसा बताने और सारी बातें सच निकलने का कारण पूछा तो उसने विनयपूर्वक सभी बातें कारण सहित बताईं और अन्त में गुरुजी का आभार मानते हुए कहा—"गुरुदेव! यह सब आपकी ही कृपा का फल है।" गुरु ने अविनीत छात्र से पूछा—"क्यों भाई! क्या ये सब बातें पुस्तक में लिखी हुई थीं, जो इसने बता दीं? ऐसा नहीं है। वस्तुतः यह विनयी, नम्र और गुरुभक्तिपरायण है, जिससे इसकी बुद्धि सूक्ष्म, प्रखर और स्थिर है, जबकि तू उद्दण्ड, वाचाल, छिद्रान्वेषी और गुरुविमुख है, इसलिए एक साथ पढ़ने पर भी तेरी बुद्धि स्थूल ही रही।"

गुरु की बात को काटते हुए अविनीत शिष्य ने कहा—"गुरुजी! आगे वाली बात ने तो आपकी पक्षपातता पूरी तरह सिद्ध कर दी। एक बुढ़िया ने अपने परदेश

विविध विषय-सुखों को प्राप्त करने की जिसकी लालसा नहीं रहती, जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो चुके हैं, वही स्थिरबुद्धि मुनि (मननशील पुरुष) है। जो सर्वत्र सभी परिस्थितियों में अनासक्त रहता है, उन-उन शुभ और अशुभ, प्रिय और अप्रिय के प्राप्त होने पर न प्रसन्न होता है, न द्वेष (घृणा) करता है। ऐसी स्थिति जिसे प्राप्त है, उसकी बुद्धि स्थिर है। जैसे कछुआ अपने अंगों को सब ओर से सिकोड़ लेता है, वैसे ही जो पुरुष अन्तर्-बाह्य सभी इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से चारों ओर से खींच (समेट) लेता है, समझ लो, उसी की प्रज्ञा आत्मा में स्थित है। उन सब इन्द्रियों को संयम में रखकर युक्त (समचित्त) होकर जो परमात्मा में लीन हो जाता है, इस तरह जिसकी इन्द्रियाँ वश में हो गईं, उसकी बुद्धि स्थिर हो गई। राग-द्वेषरहित इस निर्मलता से प्रसन्नता प्राप्त होने पर उस संयतेन्द्रिय पुरुष के समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। जिसका चित्त ऐसी प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है, उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

निष्कर्ष यह है कि गौतम महर्षि ने स्थिरबुद्धि के लिए जिन दो विशिष्ट गुणों की ओर संकेत किया है, गीताकार उन्हीं दो गुणों को प्राप्त करने के स्रोत के रूप में राग, द्वेष, काम, क्रोध, भय, मोह, आसक्ति आदि के त्याग को आवश्यक बताते हैं।

गौतम कुलककार एवं गीताकार दोनों स्थिरबुद्धि प्राप्त करने के लिए विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक बताते हैं, परन्तु उन्होंने कहीं यह नहीं कहा कि धन से स्थिरबुद्धि प्राप्त होती है।

सचमुच भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ का सिद्धान्त प्लेटो के परिपूर्ण बुद्धि के सिद्धान्तों से मिलता-जुलता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण संक्षेप में इस प्रकार है—(१) समस्त मनोकामनाओं का त्याग, (२) शुद्ध आत्मा में सन्तुष्ट, (३) सुख-दुःख में सम, (४) शुभाशुभ या प्रियाप्रिय प्राप्त होने पर अनासक्त, (५) तृष्णा-क्रोध-भयमुक्त, (६) सम्पूर्ण इन्द्रियविजय, (७) रागद्वेश से वियुक्त, प्रसन्न एवं शान्त।

इसी स्थितप्रज्ञ को आचारांग सूत्र में स्थितात्मा (ठिअप्पा) कहा है। जो भी हो, इस प्रकार की स्थिरबुद्धि वाला जीवन ही श्रेष्ठ जीवन कहलाता है।

वास्तव में स्थिरबुद्धि परिपूर्णबुद्धि होता है। उसकी बुद्धि का सर्वांगीण विकास हो जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो (Plato) इसे परिपूर्ण बुद्धि कहकर, इसके चार विभाग मानता है—

Perfect wisdom hath four parts, viz; wisdom the principle of doing things aright, justice, the principle of doing things equally in public and private; fortitude, the principle of not flying from danger but meeting it, and temperance, the principle of subduing desires and living moderately."

२६

क्रुद्ध कुशील पाता है अकीर्ति

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपको ऐसे जीवन की झाँकी कराना चाहता हूँ, जिस जीवन से अकीर्ति प्राप्त होती है; जो अकीर्तिमय जीवन है। मनुष्य के किये हुए पापमय या अनिष्ट आचरण से उसके जीवन की खुशबू के बदले बदबू फैलती है, लोगों में उसकी वाहवाही, प्रसिद्धि, धन्यता, नामवरी, ख्याति या कीर्ति के बदले धिक्कार, तिरस्कार, बदनामी या अपकीर्ति होती है। गौतमकुलक का यह चौबीसवाँ जीवनसूत्र है। इसमें गौतम ऋषि ने बताया है—

"कुद्धं कुसीलं भयए अकित्ती"

'जो क्रोधी और कुशील होता है, उसे अकीर्ति मिलती है।'

अकीर्ति क्या, कीर्ति क्या ?

इस जीवनसूत्र के द्वारा महर्षि गौतम ने यह ध्वनित कर दिया है कि अकीर्तिमय जीवन उपादेय नहीं है, ऐसा जीवन त्याज्य है। जीवन यदि कीर्तिमय हो तो वही सार्वजनिक दृष्टि से उपादेय हो सकता है, अकीर्तियुक्त जीवन हेय है उसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी नहीं चाहता। महाभारत में बताया है—

कीर्तिर्हि पुरुषं लोके संजीवयति मातृवत् ।
अकीर्तिर्जीवितं हन्ति, जीवितोऽपि शरीरिणः ॥

आत्मकीर्ति का भाव पुरुष को माता की तरह जीवन प्रदान करता है, जबकि अकीर्ति मनुष्य को जीते-जी मार देती है।

प्रश्न होता है, अकीर्ति ऐसी क्या चीज है, जिसे सभी नहीं चाहते और कीर्ति ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे लोग चाहते हैं ? सर्वप्रथम इसके लिए मैं आपको तात्त्विक गहराई में ले जाना चाहूँगा। जैनदर्शन ने इस पर बहुत गहराई से मन्थन किया है। आठ कर्मों में नामकर्म भी एक है जो शरीर से सम्बन्धित पुण्य-पापजनित दशा को बतलाता है। नामकर्म के भेदों में एक है—यशःकीर्तिनामकर्म और दूसरा है—अयशःकीर्तिनामकर्म। यशःकीर्तिनामकर्म का अर्थ है—जिस कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्ति फैले, लोग इस प्रकार से कीर्तन करें (कहें) कि अहो ! यह बड़ा पुण्यशाली है। अथवा तप, दान, पुण्य आदि कार्य करने पर उसकी एक दिशाव्यापी

"Fame is the perfume of heroic deeds"

'कीर्ति, दान, दया आदि साहसिक कार्यों की सुगन्धि है।'

सत्कार्य के फलस्वरूप सारे वातावरण में एक महक फैल जाती है। वह महक सुवास, सुगन्ध या सौरभ लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है। यद्यपि सुगन्ध आँखों से दिखाई नहीं देती, परन्तु नाक से सूँघी जा सकती है। इसी प्रकार सत्कार्य के फलस्वरूप मिलने वाली सद्भावनाएँ, शुभेच्छाएँ, या शुभाशीषें दिखाई नहीं देतीं, पर अनुभव तो की जाती है। इन्हीं आशीर्वाद आदि के रूप में कीर्ति से सुख का अनुभव होता ही है। इसके कारण जनता में सत्कार्य के प्रति अनुराग पैदा होता है। लोगों का यह सत्कृति के प्रति अनुराग ही एक प्रकार से कीर्ति है।

मैं एक छोटे से दृष्टान्त द्वारा इसे समझा दूँ—

बम्बई में एक बहुत बड़ी चाली (वाड़ी) में एक सज्जन सद्गृहस्थ परिवार रहता था। उस परिवार के विचार, व्यवहार, वाणी और आचरण से चाली के सभी लोग प्रसन्न और प्रभावित थे। एक दिन परिवार के मुखिया को नौकरी के तबादले का आर्डर आ जाने से सपरिवार उस चाली को छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा। उसके जाने के बाद चाली के लोग कहने लगे—"वाह! कितना अच्छा परिवार था। इसके कारण हमारी सारी चाली सुवासित थी। इस परिवार के चले जाने से इस चाली की रौनक चली गई। सारी चाली मानो खाली-खाली-सी लगती है। यह परिवार जहाँ भी जाए, उसका भला हो।"

इस प्रकार उस सद्गृहस्थ परिवार के प्रति स्थानीय जनता की आन्तरिक सद्भावनाएँ ही कीर्ति है। एक पाश्चात्य लेखक स्टेनिसलाउस (Stanislaus) इसी बात का समर्थन करता है—

"What is fame ? The advantage of being known by people of whom you yourself know nothing, and for whom you care as little."

"कीर्ति क्या है? जनता द्वारा जाना हुआ लाभ, जिसे तुम स्वयं बिलकुल नहीं जानते और न ही उसकी जरा भी परवाह करते हो।"

आज संसार में महापुरुषों के नाम चलते हैं, जनता की जबान पर उनके नाम चढ़े हुए हैं, उनके सद्गुणों तथा उनके द्वारा किये गए सत्कार्यों से भी बहुत-से लोग परिचित होते हैं। जगह-जगह उनकी जयंतियाँ मनाई जाती हैं, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का बखान किया जाता है, क्योंकि उनके सत्कार्यों एवं जीवन से समाज का अत्यन्त लाभ हुआ है। उनके उपदेशों और कार्यों से तथा आचरणों और व्यवहारों से मानवजीवन प्रभावित हुआ है, इस कारण समाज के हृदय में उनका सतत कीर्तन चलता रहता है। इस प्रकार उन सज्जनों की कीर्ति अपना काम करती रहती है। जब उन्होंने कार्य किया था, तब उनका जो लाभ या फल समाज को मिलना था,

"Fame is the perfume of heroic deeds"

'कीर्ति, दान, दया आदि साहसिक कार्यों की सुगन्धि है।'

सत्कार्य के फलस्वरूप सारे वातावरण में एक महक फैल जाती है। वह महक सुवास, सुगन्ध या सौरभ लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है। यद्यपि सुगन्ध आँखों से दिखाई नहीं देती, परन्तु नाक से सूँघी जा सकती है। इसी प्रकार सत्कार्य के फलस्वरूप मिलने वाली सद्भावनाएँ, शुभेच्छाएँ, या शुभाशीषें दिखाई नहीं देतीं, पर अनुभव तो की जाती है। इन्हीं आशीर्वाद आदि के रूप में कीर्ति से सुख का अनुभव होता ही है। इसके कारण जनता में सत्कार्य के प्रति अनुराग पैदा होता है। लोगों का यह सत्कृति के प्रति अनुराग ही एक प्रकार से कीर्ति है।

मैं एक छोटे से दृष्टान्त द्वारा इसे समझा दूँ—

बम्बई में एक बहुत बड़ी चाली (वाड़ी) में एक सज्जन सद्गृहस्थ परिवार रहता था। उस परिवार के विचार, व्यवहार, वाणी और आचरण से चाली के सभी लोग प्रसन्न और प्रभावित थे। एक दिन परिवार के मुखिया को नौकरी के तबादले का आर्डर आ जाने से सपरिवार उस चाली को छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा। उसके जाने के बाद चाली के लोग कहने लगे—"वाह! कितना अच्छा परिवार था। इसके कारण हमारी सारी चाली सुवासित थी। इस परिवार के चले जाने से इस चाली की रौनक चली गई। सारी चाली मानो खाली-खाली-सी लगती है। यह परिवार जहाँ भी जाए, उसका भला हो।"

इस प्रकार उस सद्गृहस्थ परिवार के प्रति स्थानीय जनता की आन्तरिक सद्भावनाएँ ही कीर्ति है। एक पाश्चात्य लेखक स्टेनिसलाउस (Stanislaus) इसी बात का समर्थन करता है—

"What is fame? The advantage of being known by people of whom you yourself know nothing, and for whom you care as little."

"कीर्ति क्या है? जनता द्वारा जाना हुआ लाभ, जिसे तुम स्वयं बिलकुल नहीं जानते और न ही उसकी जरा भी परवाह करते हो।"

आज संसार में महापुरुषों के नाम चलते हैं, जनता की जबान पर उनके नाम चढ़े हुए हैं, उनके सद्गुणों तथा उनके द्वारा किये गए सत्कार्यों से भी बहुत-से लोग परिचित होते हैं। जगह-जगह उनकी जयंतियाँ मनाई जाती हैं, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का बखान किया जाता है, क्योंकि उनके सत्कार्यों एवं जीवन से समाज का अत्यन्त लाभ हुआ है। उनके उपदेशों और कार्यों से तथा आचरणों और व्यवहारों से मानवजीवन प्रभावित हुआ है, इस कारण समाज के हृदय में उनका सतत कीर्तन चलता रहता है। इस प्रकार उन सज्जनों की कीर्ति अपना काम करती रहती है। जब उन्होंने कार्य किया था, तब उसका जो लाभ या फल समाज को मिलना था,

जिसने भी आके यहाँ झंडे हैं गाड़े।
उसी के ही मौत ने यों पाँव उखाड़े।।
कि नामोनिशां तक भी नजर न आए रे ।।जीव है....

संसार में जिन लोगों ने नेकी के काम किये हैं, उन्हीं की निशानी के रूप में कीर्ति अवशिष्ट रहती है, उन्हीं के नाम का यशोगान होता है। जिन लोगों ने इस दुनिया में आकर मारकाट मचाई, तबाही की, ऐयाशी और विलासिता में अपने अमूल्य जीवन को खो दिया, उनकी कीर्ति तो क्या रहती, उनकी अपकीर्ति ही अधिक होती है।

कीर्ति के भूखे लोग क्या-क्या करते हैं ?

आज संसार में कीर्ति के लिए प्रायः सभी लोग लालायित हैं। वे चाहते हैं, किसी तरह हमें कीर्ति प्राप्त हो जाए, तो जीते-जी स्वर्ग पा जाएँ। परन्तु कीर्ति की पात्रता के बिना कीर्ति कैसे प्राप्त होगी! अधिकांश लोग कीर्ति के लिए जिस पुण्य-अर्जन की जिन गुणों को प्राप्त करने की जरूरत है, उनके लिए तो पुरुषार्थ नहीं करते सीधे कीर्ति को पाना चाहते हैं। संस्कृत के एक विद्वान् ने सम्मान प्राप्त करने का कलियुगी नुस्खा भी बता दिया है—

घटं छित्वा, पटं भित्वा कृत्वा गर्दभवाहनम्।
येन केन प्रकारेण नरः सम्मानमाप्नुयात्।।

घड़ा फोड़कर, कपड़ा फाड़कर, या गदहे पर चढ़कर, जिस किसी भी प्रकार से मनुष्य को सम्मान प्रतिष्ठा अर्जित करनी चाहिए यों जोड़तोड़ लगाकर कीर्ति और प्रतिष्ठा पाने के कई उपाय वर्तमान युग के मानव ने अपना लिये हैं। कई वाचाल लोग दूसरों के द्वारा किये हुए कार्य के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली प्रशंसा या कीर्ति को स्वयं प्राप्त कर लेते हैं, किसी तरह तिकड़मबाजी करते हैं। मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है—

गुजरात में गोपालक लोग जंगल में मकान बांधकर रहते हैं। वहीं उनके पशु रहते हैं। एक गोपालक परिवार जंगल में मकान बांधकर रहता था। एक दिन उस जंगल में एक बाघ आया और उस गोपालक के छपरे में बंधे हुए बछड़े पर झपटने लगा। उस समय गोपालक अपने मकान के अन्दर बैठा भोजन कर रहा था। उसकी पत्नी आंगन में कुल्हाड़ी से लकड़ियाँ काट रही थी। उसने ज्यों ही बाघ को बछड़े पर झपटते देखा कि वह फौरन वहाँ पहुँची। उसने बाघ पर कुल्हाड़ी के तीन-चार प्रहार करके उसे घायल कर दिया। बाघ घायल होकर गिर पड़ा। बाघ को देखकर गोपालक थर-थर काँपने लगा और भोजन करना छोड़कर मकान की छत पर चढ़ गया। जब उसकी पत्नी बाघ पर कुल्हाड़ी से प्रहार कर रही थी, तब उसने डरते-डरते कहा—"शाबाश! तूने खूब अच्छा किया, बहुत हिम्मत रखी। अब तीन चोट इसके सिर पर लगाते ही यह खतम हो जाएगा। डर मत। मैं तेरे

निकलवाने के लिए कीर्ति की निशानी के रूप में सम्मान-पत्र, अभिनन्दन-पत्र आदि दिये जाते हैं। उसके नाम की तख्ती लगाई जाती है। आमंत्रण-पत्रिकाएँ छपती हैं, तब उनके नाम के पूर्व बड़े-बड़े विशेषण—दानवीर, नररत्न, धर्ममूर्ति, पुण्यवान आदि लगा देते हैं। पदवियों के पुछल्ले भी उनकी कीर्ति के बदले अपकीर्ति का डंका पीटते हैं।

कई बार ऐसी दशा देखकर मुझे निराश हो जाना पड़ता है कि क्या सत्कार्यों का इतना दुष्काल पड़ा हुआ है कि कीर्ति के भूखे लोग बिना ही कुछ धर्माचरण या सत्कार्य किये येन-केन-प्रकारेण कीर्ति लूट लेते हैं। कई बार संस्था के लिए तस्कर-व्यापारियों या ब्लेक मार्केटियरों से धन निकलवाने हेतु उनकी प्रशंसा करते हैं, उन्हें उच्च पद या उच्च आसन देते हैं और बदले में वे तथाकथित कीर्तिलिप्सु धनिक भी उन पण्डितों या विद्वानों की प्रशंसा करते हैं। उस समय उस कवि की उक्ति बरबस याद आ जाती है, जिसमें कहा गया है—

> उष्ट्राणां विवाहे तु गायन्ति किल गर्दभाः।
> परस्परं प्रशंसन्ति अहोरूपमहोध्वनिः ॥

ऊँटों के विवाह में गीत गाने वाले गदर्भराज थे। गदर्भराज कह रहे थे—"धन्य हो महाराज आपका रूप! ऐसा रूप तो किसी को भी नहीं मिला।" इस पर उष्ट्रराज भी कहने लगे—"धन्य है गदर्भराज! आपकी आवाज को, कितने सुरीले स्वर में आप गीत गाते हैं।" दो दिनों की झूठी वाहवाही, थोथी प्रशंसा और कृत्रिम प्रतिष्ठा एवं शोभा के लिए लोग विवाहों में कितना आडम्बर, प्रदर्शन एवं चकाचौंध करते हैं। क्षणिक कीर्ति के लिए व्यक्ति कितने उखाड़-पछाड़ करता है। अधिकांश धन तो तथाकथित क्षणिक कीर्तिलिप्सुओं का, बैंड बाजे एवं विद्युत की चमक-दमक में, पार्टी देने में, तथा पत्रिका आदि छपवाने में व्यर्थ हो जाता है, परन्तु यदि वही धन चरित्र-निर्माण में, परोपकार में, सत्कार्यों में या शील-पालन में लगता तो उसकी कीर्ति का कलश चढ़ जाता।

मैंने देखा है कि बड़े-बड़े मन्दिरों तथा मेरठ जिले की ओर धर्मस्थानकों पर कलश चढ़ाये जाते हैं। वे कलश प्रायः मन्दिर या स्थानक की शोभा या कीर्ति में वृद्धि करने तथा जनता को दान, धर्माराधना या सत्कार्य करने की प्रेरणा देने के हेतु चढ़ाए जाते हैं। परन्तु कलश कब चढ़ता है? वह चढ़ता है—मन्दिर या स्थानक के निर्माण-कार्य की पूर्णाहुति होने के बाद। इसी प्रकार कीर्ति भी मानव-जीवन रूपी मन्दिर के निर्माण होने के बाद कलश के रूप में चढ़ती है। जीवन-मन्दिर का निर्माण तो किया ही नहीं, उसकी नींव तो डाली ही नहीं, उसके नींव की ईंट के रूप में दान, पुण्य, परोपकार, सेवा आदि सत्कार्य तो किये ही नहीं और लगे हैं कीर्ति कलश चढ़ाने! यह तो वैसी ही बात हुई कि नीचे तो लंगोटी भी नहीं है, सिर पर बड़ी पगड़ी बांधी जा रही है! कितनी हास्यास्पद बात है यह!

कुछ नहीं आएगा। धूर्त व्यक्ति चालाकी से बड़ी-बड़ी बातें बनाकर और लोगों को रूप और गुण का सब्जबाग बताकर, धन एवं वैभव का मिथ्या प्रदर्शन करके यदि जरा-सी प्रतिष्ठा या कीर्ति पा भी लेते हैं तो उन्हें वह आन्तरिक उल्लास नहीं मिलता जो मिलना चाहिए था। प्रत्युत, जब इस नाटक का पर्दाफाश होता है तो लोग उन्हें धूर्त, पाखण्डी और ठग कहकर तरह-तरह से उसकी भर्त्सना, बदनामी और निन्दा करते हैं। आखिर कागज की नाव कब तक चलती, उसे तो डूबना ही था। जालसाजी और धूर्तता का पर्दा खुल जाता है तो कीर्ति के बदले अपकीर्ति या अप्रतिष्ठा ही होती है, जिससे मानसिक अशान्ति बढ़ जाती है।

यदि आप कीर्ति एवं प्रतिष्ठा के योग्य गुणों का अपने में विकास कर लेते हैं तो निःसन्देह आपको प्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त होगी। गुणों की मात्रा जितनी बढ़ेगी उतनी ही आपकी योग्यता विकसित होगी, और उसी अनुपात में लोग आपकी ओर आकर्षित होंगे। लोग गुणों की पूजा करते हैं, व्यक्ति की नहीं, वेष और उम्र की भी नहीं। इसीलिए कहा है—

"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु, न लिंगं न च वयः।"

"गुणियों के गुण ही पूजा के स्थान होते हैं, व्यक्ति की वेष-भूषा या उम्र पूजनीय नहीं होती।"

जनता सच्चाई को सिर झुकाती है, बनावटीपन को नहीं। टेसू का फूल देखने में बड़ा आकर्षक होता है, लेकिन लोग खुशबू के कारण गुलाब को ही अधिक पसन्द करते हैं। पश्चिम के वक्ता सिसरो का कहना है—**"कीर्ति सद्गुणों का पुरस्कार है।"**

आपके किसी एक गुण का विकास भी सामान्य श्रेणी के व्यक्तियों से जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा आपको मिलेगी, कीर्ति भी उतनी ही फैलेगी। महारथी कर्ण के युग में दान देने की परम्परा साधारण सी थी, लेकिन कर्ण में दान की प्रवृत्ति असाधारणता लिए हुए थी, इसी कारण कर्ण की 'दानवीर' के रूप में ख्याति और कीर्ति बढ़ी।

आजीवन ब्रह्मचारी रहने वाले भीष्म पितामह, परमभक्त हनुमान, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम आदि अपने विशिष्ट गुणों के कारण ही उच्चतम प्रतिष्ठा और कीर्तिप्रसार पाने के अधिकारी बन सके थे।

महर्षि दधीचि को देवत्व-स्थापना में अपने आपका जीवित उत्सर्ग कर के देने के कारण जो उच्चतम प्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त हुई, वह अन्य को नहीं। श्रवणकुमार में सामान्य लोगों से अधिक बल्कि पराकाष्ठा का स्पर्श करने वाली मातृ-पितृभक्ति होने के कारण उसे मातृ-पितृभक्त के रूप में सर्वोच्च प्रसिद्धि और कीर्ति प्राप्त हुई। निष्कर्ष यह है कि सामान्य लोगों से गुण में अधिकाधिक उत्कर्ष प्राप्त

कुछ नहीं आएगा। धूर्त व्यक्ति चालाकी से बड़ी-बड़ी वातें वनाकर और लोगों को रूप और गुण का सब्जबाग बताकर, धन एवं वैभव का मिथ्या प्रदर्शन करके यदि जरा-सी प्रतिष्ठा या कीर्ति पा भी लेते हैं तो उन्हें वह आन्तरिक उल्लास नहीं मिलता जो मिलना चाहिए था। प्रत्युत, जब इस नाटक का पर्दाफाश होता है तो लोग उन्हें धूर्त, पाखण्डी और ठग कहकर तरह-तरह से उसकी भर्त्सना, वदनामी और निन्दा करते हैं। आखिर कागज की नाव कब तक चलती, उसे तो डूबना ही था। जाल-साजी और धूर्तता का पर्दा खुल जाता है तो कीर्ति के वदले अपकीर्ति या अप्रतिष्ठा ही होती है, जिससे मानसिक अशान्ति बढ़ जाती है।

यदि आप कीर्ति एवं प्रतिष्ठा के योग्य गुणों का अपने में विकास कर लेते हैं तो निःसन्देह आपको प्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त होगी। गुणों की मात्रा जितनी वढ़ेगी उतनी ही आपकी योग्यता विकसित होगी, और उसी अनुपात में लोग आपकी ओर आकर्षित होंगे। लोग गुणों की पूजा करते हैं, व्यक्ति की नहीं, वेष और उम्र की भी नहीं। इसीलिए कहा है—

"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु, न लिंगं न च वयः।"

"गुणियों के गुण ही पूजा के स्थान होते हैं, व्यक्ति की वेष-भूषा या उम्र पूजनीय नहीं होती।"

जनता सच्चाई को सिर झुकाती है, बनावटीपन को नहीं। टेसू का फूल देखने में बड़ा आकर्षक होता है, लेकिन लोग खुशबू के कारण गुलाब को ही अधिक पसन्द करते हैं। पश्चिम के वक्ता सिसरो का कहना है—**"कीर्ति सद्गुणों का पुरस्कार है।"**

आपके किसी एक गुण का विकास भी सामान्य श्रेणी के व्यक्तियों से जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा आपको मिलेगी, कीर्ति भी उतनी ही फैलेगी। महारथी कर्ण के युग में दान देने की परम्परा साधारण सी थी, लेकिन कर्ण में दान की प्रवृत्ति असाधारणता लिए हुए थी, इसी कारण कर्ण की 'दानवीर' के रूप में ख्याति और कीर्ति बढ़ी।

आजीवन ब्रह्मचारी रहने वाले भीष्म पितामह, परमभक्त हनुमान, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम आदि अपने विशिष्ट गुणों के कारण ही उच्चतम प्रतिष्ठा और कीर्तिप्रसार पाने के अधिकारी बन सके थे।

महर्षि दधीचि को देवत्व-स्थापना में अपने आपका जीवित उत्सर्ग कर के देने के कारण जो उच्चतम प्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त हुई, वह अन्य को नहीं। श्रवण-कुमार में सामान्य लोगों से अधिक बल्कि पराकाष्ठा का स्पर्श करने वाली मात-पितृ-भक्ति होने के कारण उसे मातृ-पितृभक्त के रूप में सर्वोच्च प्रसिद्धि और कीर्ति प्राप्त हुई। निष्कर्ष यह है कि सामान्य लोगों से गुण में अधिकाधिक उत्कर्ष प्राप्त

करने पर ही मनुष्य प्रतिष्ठा और कीर्ति अर्जित कर सकता है। जो उसे संसार में अमर कर देती है।

महापुरुषों के नाम पर कीर्ति पाने की कला

कई लोग, जिनमें अधिकांश वे लोग हैं, जो अपने जीवन में कुछ त्याग, सेवा, परोपकार, शीलपालन आदि करना-धरना नहीं चाहते, परन्तु 'सस्ती' कीर्ति पाने के लिए उन-उन महापुरुषों के अनुयायी बन जाते हैं, यहाँ तक कि उनके भक्त बनने का नाटक करते हैं। जैसे आजकल महात्मा गांधी के भक्त बनकर लोग खादी का वेष धारण कर लेते हैं और जीवन में कोई भी त्याग, नीतिमत्ता, सदाचार या सत्कार्य को नहीं अपनाते।

एक बार एक भाई दिल्ली गये। वहाँ वे अपने मित्र के साथ राजघाट महात्मा गाँधी की समाधि पर गए। उस मित्र की छोटी लड़की ने सबसे पूछा—"क्या आप जानते हैं कि इस समाधि के नीचे क्या गाड़ा हुआ है?" इस लड़की का प्रश्न सुनकर सभी आश्चर्य में पड़ गए। एक विचारक ने कहा—"इस समाधि के नीचे महात्मा गांधी की तीन प्रिय वस्तुएँ गाड़ी हुई हैं—सत्य, अहिंसा और सादगी। इन तीन वस्तुओं पर बापूजी की समाधि बनाई गई है।" क्या आप ऐसा करने का आशय समझे? महात्मा गांधी के अधिकांश पुजारी, अनुयायी या भक्त लोग उनकी समाधि के पास आकर बैठते हैं, उन्हें स्मरण करते हैं, लेकिन उनको जो तीन बातें अत्यन्त प्रिय थीं, उन्हें वे जीवन में स्मरण करना एवं उन पर आचरण करना नहीं चाहते, इसलिए समाधि के नीचे गाड़ रखी हैं कि कहीं वे बाहर जन-जीवन में न आ जाएँ।

आजकल लोग प्रायः अपने-अपने महापुरुषों के गुणगान करके, उनकी कीर्ति का गान करके ही रह जाते हैं, उनके द्वारा जीवनकाल में आचरित सत्कार्यों या धर्माचरणों को अपनाकर उनकी कीर्ति की परम्परा को आगे नहीं बढ़ाते। कई लोग उनकी कीर्ति का सिक्का भुना-भुनाकर स्वयं कीर्ति पाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु ये सब कीर्ति पाने के प्रयत्न न्यायोचित नहीं हैं।

कई लोग अपने मृतपुरुषों की कीर्ति बढ़ाने के लिए छत्री, समाधि या कोई स्मारक बनाते हैं, अथवा उनकी कब्र पर ही कुछ सुवाक्य खुदवाते हैं। परन्तु ये सब उपाय स्थायी एवं वास्तविक कीर्ति के सूचक नहीं है। मनुष्य की वास्तविक कीर्ति तो उनकी सत्कृतियों से सुगन्ध की तरह स्वतः फैलती है।

कीर्ति की आकांक्षा : साधना में बाधक

किसी भी प्रकार की आकांक्षा धर्माचरण या तप की साधना में बाधक है। जैनशास्त्र जगह-जगह इस बात को दोहराते हैं। कीर्ति की आकांक्षा से प्रेरित होकर जप, तप, धर्माचरण या सामायिकादि साधना करने का स्पष्ट निषेध किया गया है। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र (९।४) में कहा है—

नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आचारमहिट्ठिज्जा।

अर्थात्—कीर्ति, गुणगान, धन्य-धन्य, वाह-वाह आदि शब्द एवं श्लाघा (प्रशंसा) व प्रशस्ति के लिए तप या धर्माचरण न करे।

इसी प्रकार उच्चसाधकों के लिए भगवान महावीर ने फरमाया—

जसंकित्ति सिलोगं च, जा य वंदण-पूयणा।
सव्वलोयंसि जे कामा तं विज्जं परिजाणिया॥[1]

यश, कीर्ति, श्लाघा, वन्दना और पूजा तथा समस्त लोक में जो कामभोग हैं, उन्हें अहितकर समझकर त्यागना चाहिए।

यह ठीक है कि कीर्ति की लालसा या कामना नहीं होनी चाहिए। दान, सेवा, परोपकार आदि सत्कार्यों के पीछे भी कीर्ति-कामना उनके वास्तविक फल को चौपट कर देती है। कीर्ति-कामना एक प्रकार की सौदेबाजी है। परन्तु विना कामना किये ही, अपने सत्कार्यों के फलस्वरूप कीर्ति प्राप्त होती हो तो समझदार सज्जन उसे ठुकराना भी उचित नहीं समझते।

ऐसे सत्कार्यशील पुरुषों ने कीर्ति के प्रतीकस्वरूप स्मारक के वदले अपने आदर्शों को अपनाने की प्रेरणा दी है। कुछ ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

रूस के अलेक्जेंडर प्रथम ने फौज में बड़ी वीरता दिखाई। लोगों ने उसका स्मारक बनाने की इच्छा प्रकट की तो अलेक्जेंडर ने कहा—"मुझे स्मारक से शान्ति नहीं मिलेगी। यदि तुम अपने आप में वह शक्ति, संयम, चरित्र और तेजस्विता भरते हो, जिसने मुझे सर्वत्र विजयी बनाया तो वही मेरे लिए सर्वश्रेष्ठ स्मारक होगा।"

जॉन पीटर तृतीय की स्वर्णमूर्ति बनाई जाने लगी। उसे पता चला कि उसके नाम पर स्मारक बनने जा रहा है तो उसने यह कार्य रोक दिया और कहा—"मैंने जीवन भर जनहित की कामना की है, यदि तुम भी लोकसेवा की भावनाओं को हृदय में स्थान दोगे तो तुम सभी मेरी सोने-से अधिक कीमती प्रतिमूर्ति बनोगे।"

एक बार नैपोलियन बोनापार्ट की मूर्ति बनाई जाने लगी तो उसने हँसते हुए कहा—"मैं अपने पीछे उन परम्पराओं को जीवित रखना पसन्द करता हूँ, जो वीरता और स्वाधीनता के भाव अक्षुण्ण रखती हैं। स्मारक को मैं अपनी जेल समझता हूँ।"

ये हैं कीर्ति के प्रति अनासक्त पुरुषों द्वारा कीर्ति के मूलस्रोत की परम्परा को अक्षुण्ण रखने की प्रेरणाएँ!

कीर्ति को आँच न लगे, ऐसे कार्य करें

कीर्ति की कामना या आकांक्षा न रखने पर भी मनुष्य का अन्तर्मन इतना तो

---

१ सूत्रकृतांग ९।२२

अवश्य चाहता है कि वह ऐसे कार्य न करे जिससे उसकी कीर्ति को आँच पहुँचे, वह ऐसे कार्य करे, ऐसा आचरण और व्यवहार करे, जिससे कीर्ति बढ़े, कीर्ति की परम्परा चले। पाश्चात्य प्रसिद्ध साहित्यकार शेक्सपियर के शब्दों में आप इसे पढ़ सकते हैं—

'Mine honor is my life, both grow in one, take honor from me and my life is done.'

"मेरी प्रतिष्ठा (कीर्ति) मेरी जिंदगी है, दोनों साथ-साथ बढ़ती हैं। मुझ से प्रतिष्ठा ले लो तो मेरी जिंदगी ही समाप्त हो जाएगी।"

कीर्ति की आकांक्षा न रखने पर भी कीर्ति के प्रतीकसम प्रतिष्ठा का चला जाना, यानी अप्रतिष्ठित होकर जीना भी मनुष्य के लिए मृत्यु के समान है। इसीलिए भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है—

"संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।"

"प्रतिष्ठित (सम्मानित) पुरुष के लिए अकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर है।"

'मृच्छकटिक' में चारुदत्त ने इसी बात को और जोरदार शब्दों में कहा है—

न भीतो मरणादस्मि, केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमः किल॥

'मैं मृत्यु से नहीं डरता, केवल अपकीर्ति से डरता हूँ। यशस्विनी मृत्यु मुझे पुत्रजन्म के आनन्द के समान प्रिय होगी।'

पाश्चात्य आविष्कारक एडिसन (Addison) तो यहाँ तक कहता है—

"Better to die ten thousand deaths, than wound my honor."

"मेरी प्रतिष्ठा (कीर्ति) को क्षति पहुँचाने की अपेक्षा मेरा दस हजार बार मरना अच्छा है।"

भारतीय संस्कृति के मूर्धन्य मनीषियों ने एक स्वर से स्वीकार किया है— **'कीर्तिर्यस्य स जीवति'** 'जिसकी कीर्ति विद्यमान है, वह पार्थिव देह से चले जाने पर भी जीवित है।' वास्तव में कीर्ति स्वर्ण या स्वर्णमूर्ति से भी बढ़कर है। जिसकी कीर्ति समाप्त हो गई, वह जीते हुए भी मृतकवत् है, उसकी नैतिक मृत हो गयी। इसीलिए कीर्ति को जरा भी आँच न आने देना चाहिए। इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक वोस्युइट (Bossuet) ने कीर्ति (प्रतिष्ठा) की आँख से तुलना करते हुए कहा है— **"Honor is like the eye, which cannot suffer the least impurity without damage."** कीर्ति (प्रतिष्ठा) आँख के समान है जैसे आँख बिना क्षति के जरा सी भी गंदगी सहन नहीं कर सकती, वैसे ही कीर्ति भी अपवित्रता को नहीं सह सकती।

अगर एक बार भी कीर्ति चली गई तो फिर उसे प्राप्त करना दुष्कर होगा। एक राजस्थानी कहावत भी है—

नूरत से कीरत बड़ी, बिना पंख उड़ जाय।
नूरत तो जाती रहे, कीरत कदे न जाय॥

कीर्ति की तुलना संसार की किसी भी श्रेष्ठ वस्तु से नहीं दी जा सकती। पाश्चात्य दार्शनिक थोरो (Thoreau) के विचार में—

"Even the best things are not equal to their fame."

'सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ भी महान् पुरुषों की कीर्ति के तुल्य नहीं हो सकती।' निष्कर्ष यह है कि कीर्ति को पाने की लालसा चाहे न करें, किन्तु कीर्ति को नष्ट होने से अवश्य बचावें, अकीर्तिकर कार्य न करें।

जीवन-वाटिका की सुरक्षा करने पर ही कीर्तिफल प्राप्त होंगे

मनुष्य की जिन्दगी एक वाटिका है। वाटिका को अच्छी स्थिति में सुरक्षित रखने के लिए उस पर चारों ओर से दृष्टि रखनी पड़ती है। कुशल माली इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि किस पौधे को पानी देना है, कहाँ निकाई की जाए? किसे खाद दी जाए? कौन सा फूल खिल रहा है? कौन-सी मेंड़ टूट रही है? उसी माली का बाग सुन्दर, पुष्पित, फलित एवं हराभरा रहता है। आसपास का वातावरण भी सुवासपूर्ण रहता है। इतना सब ध्यान न रखकर यदि फूहड़ माली वाटिका में केवल फल ही ढूंढता रहे या किसी आकर्षक फूल के पास ही बैठा रहे तो सारी वाटिका अव्यवस्थित हो जाएगी। फल भी उसे कहाँ से मिलेंगे, जबकि वह वाटिका की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध नहीं करेगा? पौधे मुरझा जाएँगे, फूल सूख जाएँगे, न हरियाली रहेगी न सुवास। पतझड़ की तरह सारा वातावरण शुष्क, नीरस एवं निर्जीव-सा लगेगा।

यही बात जीवनवाटिका के विषय में समझिए। जीवनवाटिका का माली यदि बाहोश और कुशल न होगा, वह सद्भावों के सुन्दर बीज बोकर सत्कार्यरूपी पौधे नहीं उगाएगा, सदाचाररूपी खाद नहीं देगा, चरित्रनिष्ठा की सिंचाई नहीं करेगा तो कीर्तिरूपी फल और यशरूपी पुष्प उसे कैसे प्राप्त होंगे? यदि वह जीवनवाटिका की रक्षा काम-क्रोध, कुशील, अनाचार आदि से नहीं करेगा तो उसकी वाटिका कीर्तिरूपी फलों एवं यशःपुष्पों से हरीभरी कैसे रहेगी? इसीलिए कीर्तिरूपी फलों की प्राप्ति के लिए जीवनवाटिका को सब ओर से सुरक्षा का ध्यान रखना आवश्यक है।

कीर्ति यों सुरक्षित रहती है!

मनुष्य सावधानी रखे तो अपनी जाती हुई कीर्ति को सुरक्षित रख सकता है। इस सम्बन्ध में मुझे न्यायशील बादशाह नौशेरवाँ के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना याद आ रही है। फारस के बादशाह न्यायी नौशेरवाँ ने एक बड़ा महल बनवाया था, और उसमें बड़ा सुन्दर बाग भी लगवाया था। उन्हीं दिनों रूमदेश का एक राजदूत फारस आया। उसने बादशाह के महल और बाग को देखने की इच्छा प्रगट की। एक फारसी सरदार उसे दिखलाने ले गया। राजदूत महल और बाग देखकर बहुत प्रसन्न हो रहा था और प्रशंसा कर रहा था, तभी उसकी दृष्टि उस सुन्दर बाग के एक कोने पर खड़ी एक अत्यन्त गन्दी झोंपड़ी पर पड़ी, जिसने बाग के सुन्दर आकार-

प्रकार को बिगाड़ रखा था। राजदूत को बड़ा दुःख हुआ। उसने सरदार से पूछा—"इस सुन्दर बाग के कोने पर यह गंदी झोंपड़ी क्यों खड़ी कर रखी है, जो बाग की शोभा बिगाड़ती है ?"

सरदार ने कहा—"जनाब ! इस झोंपड़ी ने हमारे बादशाह की न्यायप्रियता और दयालुता के गुणों के कारण प्राप्त हुई कीर्ति को सुरक्षित कर रखा है। अतः यह झोंपड़ी हमारे बादशाह की उज्ज्वल कीर्ति की प्रतीक है।"

राजदूत ने यह जानने की उत्सुकता प्रगट की तो सरदार ने बताया—बादशाह नौशेरवाँ जिस समय यह बाग लगवा रहे थे, तो उसके नक्शे में यह झोंपड़ी पड़ी। झोंपड़ी एक बुढ़िया की थी। बादशाह ने उस बुढ़िया को बुलाकर समझाया—यह झोंपड़ी मुझे दे दे, तू जो चाहे, सो मोल इसका ले ले। मेरे बाग का नक्शा सही हो जाएगा।

लेकिन वह बुढ़िया किसी भी मूल्य पर तैयार न हुई। उसने बादशाह से कहा "तू बादशाह है। तेरे पास लम्बा-चौड़ा देश है, जहाँ चाहे बाग लगवा ले, पर मुझसे अपने पुरखों की झोंपड़ी क्यों छीनना चाहता है ? कुछ दिनों में मैं मर जाऊँगी, तब इसे उजाड़कर बाग लगा लेना। मेरे रहते मेरे पुरखों की इस निशानी को मिटाने की मत सोच।"

बादशाह नौशेरवाँ ने बुढ़िया की भावना समझी और अपनी कीर्ति नष्ट न होने देने के लिए, न्याय के नाते अपना बाग बिगाड़ लिया, लेकिन बुढ़िया की झोंपड़ी सही सलामत खड़ी रहने दी। बुढ़िया अब इस दुनिया में नहीं रही, लेकिन बादशाह के न्याय और दया की प्रतीक उसकी झोंपड़ी अब भी बरकरार है। राजदूत ने जब यह सुना तो आश्चर्यचकित होकर बोला—"न्याय और दया की साक्षी इस गंदी झोंपड़ी ने बादशाह नौशेरवाँ की कीर्ति और बड़प्पन को इस महल और बाग से ज्यादा बढ़ा दिया है।"

सचमुच, बादशाह की इस न्यायप्रियता के कारण उसकी कीर्ति में चार चाँद लग गए। मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर नौशेरवाँ बुढ़िया से सत्ता के बल पर जबर्दस्ती उसकी झोंपड़ी ले लेता और अपना बाग सुन्दर बनवा लेता तो क्या उसकी यह कीर्ति जो आज तक न्यायी नौशेरवाँ के नाम से जनजीवन में फैली हुई है, सुरक्षित रहती ? कदापि नहीं रहती। वह नष्ट हो जाती और उसके नाम पर अपकीर्ति (बदनामी) का काला कलंक लग जाता।

स्वर्ग का सबसे सुन्दर मार्ग शुक्राचार्य ने कीर्ति का मार्ग बताया है। उन्होंने शुक्रनीति में कहा है—

> भूमौ यावद्यस्य कीर्तिस्तावत्स्वर्गे स तिष्ठति।
> अकीर्तिरेव नरको नाऽन्योऽस्ति नरको दिवि॥

"जिसकी कीर्ति जब तक इस पृथ्वी पर टिकती है, तब तक समझ लो, वह

स्वर्ग में रहता है। अपकीर्ति (अकीर्ति) ही नरक है। दूसरा कोई नरक द्युलोक में नहीं है।"

ले जाने को तो बुढ़िया भी अपनी झौंपड़ी परलोक में साथ नहीं ले गई, और न ही बादशाह अपना बाग साथ में ले गया। दोनों चले गये और दोनों की अपनी मानी हुई चीजें यहीं पड़ी हैं, लेकिन बादशाह की न्यायप्रियता के कारण उसकी कीर्ति अमर है। एक कवि इसी प्रसंग पर उद्‌बोधन कर रहा है—

नेकी के कर्म कमा जा रे, दुनिया से जाने वाले।
यह धन, यौवन संसारी, है दो दिन की फुलवारी।
कोई खुशरंग फूल खिला जा रे, दुनिया से···
तुझ से धन अन्त छूटेगा, जाने किस हाथ लुटेगा।
इसे परहित-हेत लगा जा रे, दुनिया से···
कर दीन-दु:खी की सेवा, यह सेवा जग-यश देवा।
यश पाना है तो पा जा रे, दुनिया से···

यशकीर्ति की सुरक्षा के लिए कवि का यह उद्‌बोधन कितना मार्मिक है! इस पर से यह तो सिद्ध हो गया कि मनुष्य-जीवन पाने का उद्देश्य केवल मौज-शौक करना या सत्ता, धन या बुद्धि-वैभव पाना ही नहीं है, अपितु ऐसे सत्कार्य करना है, इस प्रकार का सदाचरण करना है, जिससे उसकी कीर्ति कलंकित और नष्ट न हो।

जैनशास्त्र दशवैकालिक सूत्र (६/२) में भी बताया है—

एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो।
जेण किंत्ति सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ॥

इसी प्रकार धर्म का मूल विनय है, जो परम मोक्षरूप है, इससे साधक कीर्ति, श्रुत (शास्त्रज्ञान) और शीघ्र नि:श्रेयस को प्राप्त करता है।

कीर्ति की सुरक्षा के लिए

अब प्रश्न होता है कि कीर्ति—विशुद्ध कीर्ति को सुरक्षित रखने तथा उसे नष्ट होने से बचाने के लिए मनुष्य में किन-किन मुख्य गुणों का होना आवश्यक है?

गौतम महर्षि ने अकीर्ति प्राप्त होने के दो मुख्य कारण बताये हैं—क्रोध और कुशीलता। इन्हीं दो अवगुणों से नष्ट होती हुई कीर्ति को बचाना चाहिए। जब मनुष्य में क्रोध का उभार आता है, उस समय उसकी विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है, और वह ऐसा कुकृत्य कर बैठता है, जिससे उसकी कीर्ति सदा के लिए नष्ट हो जाती है। उसने जो कुछ भी परोपकार, दान और सेवा के कार्य किये थे, उन सब पर क्रोध पानी फिरा देता है। दानादि कार्यों से प्राप्त हो सकने वाली कीर्ति को वह क्रोध चौपट कर देता है।

चण्डकौशिक सर्प पूर्वजन्म में एक साधु था, किन्तु क्रोधावेश में आकर अपने शिष्य पर प्रहार करने जा रहा था कि अचानक एक खम्भे से सिर टकराया। वह वहीं मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और सदा के लिए आँखें मूँद लीं। क्रोधावेश में साधु-जीवन में उपार्जित सारी सत्कृति जो कीर्ति का स्रोत थी, नष्ट कर दी।

एक बड़े ही तपस्वी थे। तपश्चर्या में उनका जीवन आनन्दित रहता था। तपस्या के प्रभाव से दिव्य शक्तिधारी देव उनकी सेवा करने लगे। तपस्वी साधु को भी तपस्या के प्रभाव का मन में गर्व था।

एक दिन तपस्वी साधु नगर के जन संकुल मार्ग से जा रहे थे। सामने से एक धोबी अपनी पीठ पर कपड़ों का गट्ठर लादे तेजी से चला आ रहा था। उसके द्वारा तपस्वी साधु को ऐसा धक्का लगा कि वे नीचे गिर पड़े। तपस्या से शरीर कृश होने से वह जरा-सी भी टक्कर न झेल सका।

अपनी दशा देखकर तपस्वी क्रोध से आग-बबूला हो गए और धोबी से कहने लगे—"कैसा मदोन्मत्त एवं अन्धा होकर चलता है कि राह चलते सन्तों को भी नहीं देखता! कुछ तो चलने में होश रखना चाहिए।"

इतना सुनते ही धोबी क्रोधाविष्ट हो गया। कहने लगा—"मैं अन्धा हूँ या तू? मेरे से आकर खुद ही टकराया और मुझे अन्धा बता रहा है। सीधा चला जा, वरना इन मुट्ठीभर हड्डियों का पता नहीं लगेगा।"

यह सुनते ही तपस्वी क्रोध से जल उठे। वे कहने लगे—"मूर्ख! गलती अपनी है और दोषी मुझे बतलाता है। तपस्वी साधुओं से अड़ा तो यहीं का यहीं ढेर हो जाएगा।"

"क्या कहा? तेरे जैसे सैकड़ों तपस्वी देखे हैं, ढेर करने वाले! अभी देख. मैं तो तुझे यहीं ढेर कर देता हूँ।" यों कहकर धोबी ने तपस्वी साधु की गर्दन पकड़कर जमीन पर पटका और कंकरीली जमीन पर खूब जोर से घसीटा। फिर बोला—"अब तेरी अक्ल ठिकाने आई या नहीं? नहीं तो, यहीं तेरी कपालक्रिया कर दूँगा।"

तपस्वी साधु को होश आया। सोचा—अरे! मैं साधु होकर कहाँ उलझ गया इससे झगड़ा करने। मेरी सारी प्रतिष्ठा इसने मिट्टी में मिला दी। बड़ी गलती हो गई। मेरी अर्जित की हुई साधुत्व की कीर्ति पर पानी फिर गया। फिर उसने धोबी से कहा—"अच्छा भैया! छोड़ दो मुझे। मैं हारा और तू जीता। क्षमा कर मुझे।"

धोबी ने कहा—"नहीं-नहीं, अभी भी तेरे में कोई चमत्कार हो तो बता दे।"

साधु ने क्षमा माँगी। धोबी अपने रास्ते चल पड़ा। साधु दुर्बल शरीर से लड़खड़ाते हुए धीरे-धीरे पश्चात्ताप करते हुए चलने लगे।

इतने में सेवा में रहने वाले सेवक देव ने तपस्वी साधु के चरण छुए और नम्र

स्वर्ग में रहता है। अपकीर्ति (अकीर्ति) ही नरक है। दूसरा कोई नरक द्युलोक में नहीं है।"

ले जाने को तो बुढ़िया भी अपनी झौंपड़ी परलोक में साथ नहीं ले गई, और न ही बादशाह अपना बाग साथ में ले गया। दोनों चले गये और दोनों की अपनी मानी हुई चीजें यहीं पड़ी हैं, लेकिन बादशाह की न्यायप्रियता के कारण उसकी कीर्ति अमर है। एक कवि इसी प्रसंग पर उद्‌बोधन कर रहा है—

नेकी के कर्म कमा जा रे, दुनिया से जाने वाले।
यह धन, यौवन संसारी, है दो दिन की फुलवारी।
कोई खुशरंग फूल खिला जा रे, दुनिया से····
तुझ से धन अन्त छूटेगा, जाने किस हाथ लुटेगा।
इसे परहित-हेत लगा जा रे, दुनिया से···
कर दीन-दुःखी की सेवा, यह सेवा जग-यश देवा।
यश पाना है तो पा जा रे, दुनिया से····

यशकीर्ति की सुरक्षा के लिए कवि का यह उद्‌बोधन कितना मार्मिक है! इस पर से यह तो सिद्ध हो गया कि मनुष्य-जीवन पाने का उद्देश्य केवल मौज-शौक करना या सत्ता, धन या बुद्धि-वैभव पाना ही नहीं है, अपितु ऐसे सत्कार्य करना है, इस प्रकार का सदाचरण करना है, जिससे उसकी कीर्ति कलंकित और नष्ट न हो।

जैनशास्त्र दशवैकालिक सूत्र (६/२) में भी बताया है—

एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो।
जेण किर्त्ति सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ॥

इसी प्रकार धर्म का मूल विनय है, जो परम मोक्षरूप है, इससे साधक कीर्ति, श्रुत (शास्त्रज्ञान) और शीघ्र निःश्रेयस को प्राप्त करता है।

कीर्ति की सुरक्षा के लिए

अब प्रश्न होता है कि कीर्ति—विशुद्ध कीर्ति को सुरक्षित रखने तथा उसे नष्ट होने से बचाने के लिए मनुष्य में किन-किन मुख्य गुणों का होना आवश्यक है?

गौतम महर्षि ने अकीर्ति प्राप्त होने के दो मुख्य कारण बताये हैं—क्रोध और कुशीलता। इन्हीं दो अवगुणों से नष्ट होती हुई कीर्ति को बचाना चाहिए। जब मनुष्य में क्रोध का उभार आता है, उस समय उसकी विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है, और वह ऐसा कुकृत्य कर बैठता है, जिससे उसकी कीर्ति सदा के लिए नष्ट हो जाती है। उसने जो कुछ भी परोपकार, दान और सेवा के कार्य किये थे, उन सब पर क्रोध पानी फिरा देता है। दानादि कार्यों से प्राप्त हो सकने वाली कीर्ति को वह क्रोध चौपट कर देता है।

चण्डकौशिक सर्प पूर्वजन्म में एक साधु था, किन्तु क्रोधावेश में आकर अपने शिष्य पर प्रहार करने जा रहा था कि अचानक एक खम्भे से सिर टकराया। वह वहीं मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और सदा के लिए आँखें मूंद लीं। क्रोधावेश में साधु-जीवन में उपार्जित सारी सत्कृति जो कीर्ति का स्रोत थी, नष्ट कर दी।

एक बड़े ही तपस्वी थे। तपश्चर्या में उनका जीवन आनन्दित रहता था। तपस्या के प्रभाव से दिव्य शक्तिधारी देव उनकी सेवा करने लगे। तपस्वी साधु को भी तपस्या के प्रभाव का मन में गर्व था।

एक दिन तपस्वी साधु नगर के जन संकुल मार्ग से जा रहे थे। सामने से एक धोबी अपनी पीठ पर कपड़ों का गट्ठर लादे तेजी से चला आ रहा था। उसके द्वारा तपस्वी साधु को ऐसा धक्का लगा कि वे नीचे गिर पड़े। तपस्या से शरीर कृश होने से वह जरा-सी भी टक्कर न झेल सका।

अपनी दशा देखकर तपस्वी क्रोध से आग-बबूला हो गए और धोबी से कहने लगे—"कैसा मदोन्मत्त एवं अन्धा होकर चलता है कि राह चलते सन्तों को भी नहीं देखता! कुछ तो चलने में होश रखना चाहिए।"

इतना सुनते ही धोबी क्रोधाविष्ट हो गया। कहने लगा—"मैं अन्धा हूँ या तू? मेरे से आकर खुद ही टकराया और मुझे अन्धा बता रहा है। सीधा चला जा, वरना इन मुट्ठीभर हड्डियों का पता नहीं लगेगा।"

यह सुनते ही तपस्वी क्रोध से जल उठे। वे कहने लगे—"मूर्ख! गलती अपनी है और दोषी मुझे बतलाता है। तपस्वी साधुओं से अड़ा तो यहीं का यहीं ढेर हो जाएगा।"

"क्या कहा? तेरे जैसे सैकड़ों तपस्वी देखे हैं, ढेर करने वाले! अभी देख, मैं तो तुझे यहीं ढेर कर देता हूँ।" यों कहकर धोबी ने तपस्वी साधु की गर्दन पकड़कर जमीन पर पटका और कंकरीली जमीन पर खूब जोर से घसीटा। फिर बोला—"अब तेरी अक्ल ठिकाने आई या नहीं? नहीं तो, यहीं तेरी कपालक्रिया कर दूंगा।"

तपस्वी साधु को होश आया। सोचा—अरे! मैं साधु होकर कहाँ उलझ गया इससे झगड़ा करने। मेरी सारी प्रतिष्ठा इसने मिट्टी में मिला दी। बड़ी गलती हो गई। मेरी अर्जित की हुई साधुत्व की कीर्ति पर पानी फिर गया। फिर उसने धोबी से कहा—"अच्छा भैया! छोड़ दो मुझे। मैं हारा और तू जीता। क्षमा कर मुझे।"

धोबी ने कहा—"नहीं-नहीं, अभी भी तेरे में कोई चमत्कार हो तो बता दे।"

साधु ने क्षमा माँगी। धोबी अपने रास्ते चल पड़ा। साधु दुर्बल शरीर से लड़खड़ाते हुए धीरे-धीरे पश्चात्ताप करते हुए चलने लगे।

इतने में सेवा में रहने वाले सेवक देव ने तपस्वी साधु के चरण छुए और सुख

शान्ति की पृच्छा की। साधु ने पूछा—"देवानुप्रिय! कहाँ रहे अब तक? मैं तो आज बड़े संघर्ष में फंस गया।"

देव बोला—"था तो मैं आपकी सेवा में ही। लेकिन धोबी और चाण्डाल की लड़ाई का नाटक देख रहा था।"

मुनि ने कहा—"चाण्डाल वहाँ कोई नहीं था, मैं और धोबी थे।"

देव ने कहा—"मुनिवर! आपकी ओर तो कोई आँख भी नहीं उठा सकता, लेकिन आप अपने आपे में नहीं थे, उस समय आप में क्रोधरूपी चाण्डाल घुसा हुआ था, इसलिए मैं चाण्डाल की सेवा में नहीं आया। तटस्थ होकर दूर से तमाशा देखता रहा।"

तपस्वी बोले—"सचमुच तुमने ठीक कहा। मुझे उस समय क्रोध आ गया था। मैं अपने आपे में नहीं था। क्रोधरूपी चाण्डाल ने घुसकर मेरी सारी कीर्ति चौपट कर दी। अब मैं अपने आपे में आया हूँ।"

बन्धुओ! क्रोध के साथ अभिमान, द्वेष, रोष आदि जब साधक में प्रविष्ट हो जाते हैं तो कीर्ति को नष्ट करते देर नहीं लगाते।

इसी प्रकार कीर्ति का दूसरा शत्रु है—कुशील। कुशील का अर्थ है—सदाचरणहीनता, चरित्रभ्रष्टता।

थेरगाथा (६२४) में स्पष्ट कहा है—

'अवण्णं च अकित्ति च दुस्सीलो लभते नरः'

—दुःशील पुरुष अपयश और अपकीर्ति पाता है।

यही बात दशवैकालिक सूत्र की चूर्णि (१।१३) में कही गई है—

इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती···
संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई।

—वृत्त-चरित्र से भ्रष्ट पुरुष का इस लोक में अपयश और अपकीर्ति होती है तथा परलोक में अधोगति होती है।

कुशीलसेवन से व्यक्ति की कीर्ति किस प्रकार नष्ट हो जाती है और उसकी कैसी विडम्बना होती है, इसके लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

धारा नगरी में मुँजराजा राज्य करते थे। उनके पास राज्य वैभव आदि सभी प्रकार का ठाठ था। एक बार किसी शत्रु राजा के साथ उन्हें युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में उनकी हार हुई। शत्रु राजा ने मुंजराजा को बाँधकर अपने राज्य में नजरबंद कैद कर दिया। उनको भोजन कराने के लिए वह राजा प्रतिदिन एक दासी के साथ थाली में परोसकर भेजता था। दासी अत्यन्त रूपवती थी। मुंजराजा उसके रूप पर मोहित हो गए और उसके साथ दुराचार सेवन करने लगे।

इधर भोजराजा को मुंजराजा के नजरबंद कैद का पता लगा तो उसने धारा नगरी से कैदखाने तक एक सुरंग खुदवाकर मुंजराजा को गुप्त रूप से सूचित किया कि इस सुरंग-मार्ग से धारा नगरी आ जाओ, उसका दरवाजा अमुक जगह है। दासी जब भोजन देने आई तो मुंज ने उसे कहा—"मैं इस सुरंगमार्ग से जाऊँगा, अगर तुम्हें मेरे साथ आना हो तो चलो।" इस पर दासी ने कहा—"ठहरो, मैं अपने आभूषण ले आती हूँ। फिर हम चलेंगे।" लेकिन दासी जब आभूषण लेकर बहुत देर तक नहीं आई तो मुंज ने सोचा—'हो न हो, किसी को मेरे जाने का पता लग गया है। अतः अब यहाँ से झटपट चल देना चाहिए।' यों सोचकर मुंज चल पड़ा। इतने में दासी आ गई, उसने मुंज को जाते देखा तो सोचा—'मुझे छोड़कर चला गया है कितना विश्वास-घाती है।' अतः दासी जोर से चिल्लाई—"दौड़ो-दौड़ो, मुंज भाग रहा है।" यह सुनते ही राजपुरुष दौड़कर आए। उन्होंने मुंजराजा का सिर ऊपर से पकड़ लिया. उधर नीचे से मुंज के अपने आदमियों ने उसके पैर पकड़ लिए। दोनों तरफ खींचातान होने लगी, तब मुंज ने अपने आदमियों से कहा—"तुम लोग पैर खींचोगे तो शत्रु ऊपर से मेरा सिर काट डालेगा। अतः तुम पैर छोड़ दो।" यह सुनकर वे आदमी चले गए।

राजा ने मुंज को गिरफ्तार कराकर एक हाथ में खप्पर देकर नगर में भीख माँगने का आदेश दिया। एक घर में जब भीख माँगी तो गृहिणी चर्खा कात रही थी उसकी चरड-चरड आवाज के कारण उसने कुछ सुना नहीं। तब मुंज ने कहा—

"रे रे यंत्रक! मा रोदीर्यदहं भ्रामितोऽनया।
राम-रावण-मुंजाद्याः, स्त्रीभिः के के न भ्रामिता॥

—अरे चर्खायंत्र! इस स्त्री ने मुझे फिराया है, यह सोचकर मत रो। स्त्रियों ने राम, रावण और मुंज आदि कई मनुष्यों को घुमाया है। आगे चला तो एक घर मे एक महिला ने घी से तर रोटी आधी तोड़कर दी। उसे देख मुंज ने कहा—

रे रे मण्डक मा रोदीर्यदहं त्रोटितोऽनया।
राम-रावण मुंजाद्या. स्त्रीभिः के के न त्रोटिता.॥

—अरे फुलके! इस नारी ने मुझे तोड़ दिया, यह सोचकर मत रो। स्त्रियों ने तो राम, रावण. मुंज आदि न जाने कितने लोगों को तोड़ दिया है।

आगे चला तो एक धनाढ्य स्त्री मुंजराजा को भीख माँगते देखकर हँसी। यह देख मुंज बोला—

आपद्गतं हससि किं द्रविणान्धमूढ़े!
लक्ष्मीः स्थिरा न भवतीति किमत्र चित्रम्?
दृष्ट सखे! भवति यज्जलयन्त्रमध्ये,
रिक्तो भृतश्च भवति, भरितश्च रिक्तः॥

अरी, धन में अंधी बनी हुई मुग्धे ! आफत में पड़े हुए को देखकर क्यों हँस रही है ? इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती। हे सखि ! आपने देखा होगा कि रेंहट यंत्र में लगा घड़ा भरा हुआ खाली हो जाता है और खाली भर जाता है।

इस प्रकार सारे नगर में अपमानित दशा में घूमते हुए मुँज राजा की अपकीर्ति जन-जन के मुख से मुखरित हो रही थी। राजा ने इस प्रकार अपमानित करके उसे मरवा डाला।

सच है, कुशील पुरुष को कीर्ति नष्ट होते देर नहीं लगती। यों तो कुशील शब्द में हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह आदि सभी अनिष्ट कदाचार आ जाते हैं। इन सब कदाचारों से मानव की कीर्ति समाप्त हो जाती है और अपकीर्ति ही बढ़ती है।

बौद्धधर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ दीर्घनिकाय (३।८।५) में यशकीर्ति कौन-कौन व्यक्ति अर्जित कर सकता है, इस सम्बन्ध में सुन्दर प्रेरणा दी है—

उट्ठानको अनलसो आपदासु न वेधति।
अच्छिद्दवत्ति मेधावी तादिसो लभते यसं ॥
पंडितो सीलसंपन्नो सण्हो च पटिभानवा।
निवातवुत्ति अत्थद्धो तादिसो लभते यसं ॥

उद्यमी (पुरुषार्थी), निरालस, आपत्ति में न डिगने वाला, निरन्तर दान परोपकारादि सत्कार्य करने वाला, एवं मेधावी पुरुष यशकीर्ति पाता है। इसी प्रकार पंडित, सदाचारसम्पन्न, धर्मस्नेही, प्रतिभावान, एकान्तसेवी (राजनीति तथा लोगों के झगड़ों-प्रपंचों में न पड़ने वाला) अथवा आत्मसंयमी एवं विनम्र पुरुष यशकीर्ति पाता है।

यह बात सोलहों आने सच है कि यशकीर्ति प्राप्त करने के लिए सौम्य, नम्र एवं शीलसम्पन्न (चरित्रवान्) होना अत्यन्त आवश्यक है। गौतम ऋषि ने अकीर्ति के लिए जिन दो दुर्गुणों की ओर इंगित किया है, कीर्ति के लिए उनसे विपरीत दो मुख्य सद्गुणों का व्यक्ति के जीवन में होना आवश्यक है। प्रसिद्ध साहित्यकार शेक्सपियर (Shakespeare) के शब्दों में कहूँ तो—

"See that your character is right and in the long run your reputation will be right."

"देखो कि तुम्हारा चरित्र ठीक है तो अन्त में तुम्हारी प्रतिष्ठा (कीर्ति) भी ठीक हो जाएगी।"

धन के अभाव में मनुष्य ऊँचा उठ सकता है, विद्या के बिना भी वह प्रगति कर सकता है, दान और परोपकार के लिए भौतिक साधनों के अभाव में भी मनुष्य आगे बढ़ सकता है, किन्तु चरित्र, सुशीलता या सदाचार के अभाव में वह कदापि नैतिक-आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकता और न ही अपनी कीर्ति को सुरक्षित रख सकता है।

यदि मनुष्य अपने चरित्र (शील) को उज्ज्वल नहीं रख सकता, यदि वह लोगों के साथ नम्र और प्रेममय व्यवहार नहीं कर सकता तो भले ही वह धनवान हो, अथवा विद्यावान हो, लोग उसके धन से घृणा करेंगे, तथा उसके ज्ञान में अविश्वास करेंगे। भला ऐसे चरित्रहीन एवं उद्धत व्यक्ति की कीर्ति कैसे सुरक्षित रह सकेगी ? चरित्रहीन एवं कर्कश व्यक्ति का समाज में मूल्य एवं प्रभाव नष्ट हो जाता है। किसी भी तरह का चारित्रिक एवं व्यावहारिक दोष मनुष्य को असफलता एवं पतन की ओर प्रेरित करता है, फिर जनता की जवान पर उसका यशोगान कैसे होगा ?

महान पण्डित, विज्ञानी, वलवान एवं सत्ताधीश रावण अपने क्रोध, अहंकार एवं परस्त्री-आसक्ति सम्वन्धी चारित्रिक पतन के कारण अपनी उच्च कीर्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर वैठा। उस युग के सारे समाज, यहाँ तक कि पशु-पक्षियों तक ने उसके इन अकीर्तिकर दुर्गुणों का विरोध किया था। इस प्रकार चरित्र (शील) और सौम्य नम्र व्यवहार की साधारण-सी भूलें मनुष्य को अकीर्ति की राह पर ले जाती हैं। और फिर चरित्रहीन (कुशील) एवं सौम्य नम्र व्यवहारहीन मनुष्य का कोई भी कथन या कार्य समाज या राष्ट्र में विश्वसनीय नहीं होता।

चरित्रहीन के पास ईमान या सिद्धान्त नाम की कोई वस्तु नहीं होती। उसका ईमान अधिकतर पैसा और सिद्धान्त केवल स्वार्थ होता है। चरित्रहीन ईमानदारी दिखलाता है, किसी को धोखा देने के लिए, और सिद्धान्त की दुहाई देता है, केवल स्वार्थ के लिए। ऐसी स्थिति में चरित्रहीन या सद्व्यवहारहीन व्यक्ति शंका, सन्देह, अविश्वास, लांछना या कलंक से युक्त जीवन जीते हैं वे स्वयं इस जीवन को नीरस, शुष्क एवं मनहूस महसूस करते हैं। अतः उनसे कीर्तिदेवी का रूठना स्वाभाविक है। वे कीर्ति के लिए तरह-तरह के हथकंडे जरूर करते हैं, पर पाते हैं, अपकीर्ति ही। कीर्ति का द्वार तो वे पहले से ही वंद कर देते हैं। इसीलिए महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र में वताया—

'कुद्धे कुसीलं भयए अकित्ती'

अतः आप भी अकीर्तिमय जीवन से वचकर कीर्तिमय जीवन व्यतीत करें।

☆

२७

संभिन्नचित्त होता श्री से वंचित : १

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं ऐसे जीवन पर विवेचन करना चाहता हूँ, जो सदैव सर्वत्र 'श्री' से वंचित रहता है, अर्थात्—लक्ष्मी, शोभा, सफलता, विजयश्री या सिद्धि उसके पास फटकती नहीं, श्री उस अभागे से सदा रूठी रहती है। जीवन में वह सदैव दुर्भाग्य-ग्रस्त बना रहता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन सदा अनिश्चयात्मक स्थिति में रहता है। जीवन का सच्चा आनन्द, असली मस्ती और आत्मिक सुख वह नहीं प्राप्त कर सकता है। गौतम महर्षि ने ऐसे जीवन को संभिन्नचित्त-जीवन कहा है, जो सदैव, सर्वत्र श्री से रहित रहता है। गौतमकुलक का यह पच्चीसवाँ जीवनसूत्र है, जो इस प्रकार है—

"संभिन्नचित्त भयए अलच्छी"

'संभिन्नचित्त मानव अलक्ष्मी—दरिद्रता पाता है, श्री से वंचित रहता है।'

'श्री' का महत्व

मानवजीवन में 'धी' और श्री' यानी बुद्धि और लक्ष्मी, दोनों का महत्व प्राचीनकाल से माना जाता रहा है। यद्यपि त्यागीवर्ग के जीवन में लक्ष्मी—'श्री' का महत्त्व इतना नहीं है, किन्तु जहाँ गृहस्थ भौतिक लक्ष्मी की आकांक्षा में रहता है, वहाँ साधु-संन्यासी वर्ग आत्मिकलक्ष्मी आध्यात्मिक श्री या लक्ष्मी को पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। बुद्धि (धी) के महत्त्व के सम्बन्ध में पिछले दो प्रवचनों में बता आया हूँ। इस प्रवचन में श्री (लक्ष्मी) के महत्त्व की ओर इंगित किया गया है। 'श्री' से वंचित जीवन सदैव कुण्ठाग्रस्त, अभावपीड़ित, अनादरणीय और उपेक्षणीय रहा है। जहाँ 'श्री' नहीं होती, वहाँ उदासी, मायूसी और दुर्दैव की छाया रहती है। श्रीहीन जीवन कान्तिहीन चन्द्रमा, प्रकाशहीन सूर्य या उजाले से रहित दीपक की तरह निस्तेज और फीका होता है। श्रीविहीन जीवन में कोई उत्साह, किसी कार्य को करने का साहस, संकल्प अथवा स्फुरण नहीं होता। वह सदैव चिन्तित, उदासीन, एवं अभाग्यग्रस्त होता है। श्रीविहीन व्यक्ति से परिवार वाले भी सीधे मुँह नहीं बोलते, समाज में भी उसकी कोई कद्र नहीं करता, बन्धु-बान्धव, मित्र तक उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लग जाते हैं। कहा भी है—

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके, यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥

जिसके पास धन होता है, उसी के मित्र होते हैं; जिसके पास लक्ष्मी है, उसी के बान्धव होते हैं; वही संसार में मर्द समझा जाता है, जिसके पास धन का ढेर हो; और वही पण्डित (समझदार) माना जाता है, जिसकी तिजोरी में चाँदी की छनाछन हो।

श्रीहीनता बनाम दरिद्रता

श्रीहीनता का अर्थ दरिद्रता, निर्धनता या गरीबी होता है। दरिद्रता कोई नैसर्गिक या स्वाभाविक वस्तु नहीं होती, किन्तु जब वह मनुष्य के किसी दुर्गुण या प्रमाद के कारण आती है तो उसके विकास को रोक देती है। वास्तव में जो मनुष्य चारों ओर से दरिद्रता से जकड़ा हुआ हो, वह अपने गुणों या क्षमताओं का पूरा विकास नहीं कर पाता, अच्छे से अच्छा काम करके नहीं दिखला सकता।

नारकीय जीवों का अथवा तिर्यञ्चों का जीवन दरिद्रता, पराधीनता, अज्ञानता से परिपूर्ण होता है, यह तो आपने शास्त्रों से जाना ही होगा। घोर दरिद्रावस्था या विपन्नता में विकास के सारे द्वार प्रायः बन्द हो जाते है; उसके सामने केवल जीने का प्रश्न मुख्य रहता है। परन्तु ऐसी श्रीहीनता या विपन्नता में जीना मरणतुल्य है। मृच्छकटिक में इस सम्बन्ध में सुन्दर प्रकाश डाला है—

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मे रोचते, न दारिद्र्यम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्॥

'दरिद्रता और मृत्यु इन दोनों में से मुझे मृत्यु पसन्द है, दरिद्रता नहीं; क्योंकि मृत्यु में तो थोड़ा-सा कष्ट है, किन्तु दरिद्रता में तो आमरणान्त कष्ट है।'

जिसे दिन-रात यह चिन्ता लगी रहती है, कि मैं किस प्रकार अपना पेट भरूँ, वह अपना जीवन सुव्यवस्थित, संगत, एवं स्वतन्त्र नहीं रख सकता। प्रायः वह निर्भीकतापूर्वक अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट नहीं कर सकता। यदि वह किसी अच्छे और स्वच्छ स्थान में रहना चाहता है तो विवशतावश रह नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि दरिद्रता मनुष्य को बहुत ही तुच्छ और छोटा बना देती है, वह उसकी समस्त महत्त्वाकांक्षाओं और सत्कार्य की भावनाओं को मटियामेट कर देती है।

दरिद्रावस्था में मानव के जीवन में कोई आशा, उत्साह, आनन्द और प्रगति का अवसर नहीं रहता। यहाँ तक कि जिन लोगों को सदैव परस्पर प्रसन्नतापूर्वक हिल-मिलकर रहना चाहिए, जीवन निर्वाह करना चाहिए, उन लोगों के पारस्परिक प्रेम का नाश इसी दरिद्रता के कारण हो जाता है। दरिद्रता के कारण निस्तेज जीवन का चित्रण करते हुए एक कवि कहता है—

निर्द्रव्यं पुरुषं सदैव विकलं, सर्वत्र मन्दादरम्,
तातभ्रात सुहृज्जनादिरपि तं दृष्ट्वा न सम्भाषते।

भार्या रूपवती कुरंगनयना स्नेहेन नालिंगते,
तस्माद् द्रव्यमुपार्जयाशु सुमतेः! द्रव्येण सर्ववशाः ।।

निर्धन पुरुष सदैव व्याकुल बेचैन रहता है, उसका आदर सर्वत्र कम हो जाता है; उसके पिता, भाई, मित्रजन आदि भी उसे देखकर उससे बात नहीं करते। यहाँ तक उसकी मृगनैनी रूपवती पत्नी भी उससे स्नेहपूर्वक व्यवहार नहीं करती। इसलिए हे बुद्धिमान् ! तुम्हें शीघ्र ही द्रव्य का उपार्जन करना चाहिए। द्रव्य के कारण सभी वश में हो जाते हैं।

सचमुच दरिद्रता से बढ़कर कष्टदायक और सदा बचने योग्य कोई चीज नहीं है। दरिद्रता में लज्जा, संकोच, मानमर्यादा, शील, शान्ति, दया आदि सभी गुणों का नाश हो जाता है।

एक दरिद्रता की प्रतिमूर्ति ब्राह्मण पण्डित था। वह इतना स्वाभिमानी था कि स्वतः जो कुछ मिल जाता, उसी में सन्तुष्ट हो जाता, किसी से कुछ माँगने में उसे लज्जा का अनुभव होता था। एक बार ऐसी स्थिति हो गई कि ब्राह्मण किसी कारणवश तीन-चार दिन तक कहीं कमाने नहीं जा सका। घर में आटा-दाल समाप्त हो गये थे। ब्राह्मणी प्रतिदिन अपने पति से कहती—"अजी ! कहीं बाहर जाकर कुछ काम ढूँढो, जिससे घर का काम चले। घर में आटा-दाल समाप्त होने जा रहे हैं।" पर ब्राह्मण नहीं जा सका। तीन दिन के बाद उसने ब्राह्मणी से माँग की—"लाओ कुछ भोजन बना है तो खिला दो। आज मैं काम पर जाने की सोच रहा हूँ।" पर घर में कुछ बचा तो था नहीं, वह कैसे बनाती ? अतः उसने कहा—"घर में तो आटा-दाल का जयगोपाल है। कुछ होता तो बनाती। एक तुम हो कि इतना कहने पर भी कुछ कमाने नहीं जाते। बताओ, मैं कहाँ से रोटी बनाकर दूँ।"

पत्नी की जली-कटी बात सुनकर ब्राह्मण को ताव आ गया। उसने गुस्से में आकर कहा—"ज्यादा बकबक मत कर। मैं काम पर नहीं जा सका तो तू भी तो थी। कहीं से आटेदाल का जुगाड़ करती, पर तुझमें कुछ अक्ल हो तो ! अब तक दूसरों पर धौंस जमाना ही जानती है।" इस पर ब्राह्मणी को भी तैश आ गया। वह भी तमककर बोली—"तुममें कमाने की ताकत नहीं थी तो विवाह किये बिना कौन-सा काम अटका था। दुनिया में ऐसे भी लोग हैं, जो जो विवाह करके ले आते हैं, पर उनका निर्वाह नहीं कर सकते। तुम्हारी माँ ने क्यों विवाह कर दिया तुम्हारा? उसने कमाना तो सिखाया नहीं, आलसी बनकर पड़े रहना सिखाया !" यह सुनते ही ब्राह्मण आग-बबूला हो गया। उसने जूतों से ब्राह्मणी को इतना पीटा कि उसके मस्तक में रक्त की धारा बह चली। ब्राह्मणी भी जोर-जोर से चिल्ला रही थी—दौड़ो-दौड़ो बचाओ ऐसे निर्दय से। और ब्राह्मण भी बड़बड़ा रहा था। लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। कुछ देर में पुलिस भी घटनास्थल पर आ पहुँची। अब ब्राह्मण को अपने द्वारा किये गये व्यवहार पर पश्चात्ताप होने लगा। पुलिस ने ब्राह्मणी के

बयान लिए । उसने कहा—"मैंने इन्हें कमाकर लाने को कहा । भोजन का सामान ला देने के लिए बार-बार सावधान किया, जिस पर नाराज होकर मुझे पीट दिया । देखलो, मेरा हाल यह है ।"

पुलिस ने ब्राह्मण का अपराध मानकर उसे गिरफ्तार कर लिया और सीधे वे कोतवाली-थाने में ले गए । वहाँ ब्राह्मण से कहा गया कि, "अपने बयान लिखाओ कि तुमने अपनी पत्नी को इतना क्यों पीटा ?"

ब्राह्मण ने लज्जावश सोचा—अगर इनके सामने बयान दिया तो कुछ आश्वासन मिलना तो दूर रहा, उलटे फजीहत होगी । अतः मुझे तो राजा के सामने ही बयान देना चाहिए । अतः ब्राह्मण ने उनसे कहा—"मैं अपने बयान राजाजी के सामने ही दूँगा, यहाँ नहीं ।" कोतवाल तथा अन्य पुलिस विभाग के कर्मचारियों ने ब्राह्मण को बहुत कुछ धमकाया, समझाया किन्तु वह टस से मस न हुआ । ब्राह्मण की जिद् देखकर थाने के लोगों ने सोचा—जाने दो, यह राजा के सामने ही अपने बयान दे देगा । अगर गलत बयान दिया तो हम भी देख लेंगे ।

दूसरे ही दिन सिपाहियों ने दरिद्र ब्राह्मण को राजा भोज के समक्ष प्रस्तुत किया । राजा भोज ने पूछा—"इसे किस अपराध में पकड़ा गया है ?"

सिपाही बोला—"हुजूर ! इस ब्राह्मण ने बिना ही अपराध के अपनी पत्नी को बहुत अधिक मारा-पीटा है, उसके सिर से रक्त की धारा बह चली । अपनी पत्नी के प्रति इसका व्यवहार अच्छा नहीं है ।"

राजा भोज ने दरिद्र विप्र से पूछा—"क्यों विप्रवर ! यह कह रहा है, वह ठीक है न ?"

ब्राह्मण ने लज्जा के मारे सिर नीचा करके कहा—"और तो सब ठीक है । मगर मुझे ब्राह्मण कहा जा रहा है, यह गलत है । मैं अपने अपराध को स्वीकार करता हूँ और जो भी दण्ड देंगे वह भी मंजूर करूँगा ।"

राजा ने पूछा—"क्या तुम ब्राह्मण नहीं हो ?" वह बोला—"देव ! ब्राह्मण तो था, पर अपनी पत्नी को क्रोधवश पीटते समय मुझमें चाण्डालत्व आ गया था ।"

राजा भोज ने सोचा—यह ब्राह्मण वैसे तो विद्वान है, कुलीन है, इसकी आँखों में शर्म है, मन में पश्चात्ताप भी है, अपनी सारी स्थिति सत्य-सत्य बतला दी है । इसलिए मूल अपराध इसका नहीं और न ही इसकी पत्नी और माता का है । यह कहता है कि 'न तो पत्नी मुझसे सन्तुष्ट है, न माता और न दोनों परस्पर एक दूसरे से तुष्ट है और न ही मैं उन दोनों से सन्तुष्ट हूँ, बताइए राजन् किसका दोष है ?'[1] मेरी

---

१ अम्बा न तुष्यति मया, साऽपि नाम्बया न मया ।
अहमपि न तया, न तया, वद राजन् कस्य दोषोऽयम् ?

अन्तरात्मा कहती है, यह दोष इनमें से किसी का नहीं, सिर्फ इसकी दरिद्रता का है। इसके घर में दरिद्रता का राज्य है, जिसके कारण यह सारी सिरफुटौव्वल है। मुझे इसकी दरिद्रता को दण्ड देना चाहिए।

राजा भोज ने दरिद्र विप्र से कहा—"मैंने आपकी सारी व्यथा समझ ली है और मैं इसका उचित उपाय करता हूँ। परन्तु भविष्य में फिर इस घटना की पुनरावृत्ति हुई तो भारी दण्ड मिलेगा। जाओ, भण्डारी को मेरा यह परिपत्र दिखा दो और एक हजार स्वर्णमुद्राएँ ले लो।"

ब्राह्मण गम्भीर होकर बोला—"महाराज ! आपने घर में कलह कराने और खुराफात मचाने वाली दरिद्रता को दण्ड दे दिया है, फिर मैं क्यों ऐसा करूँगा ?" ब्राह्मण वह परिपत्र लेकर जब भण्डारी के पास गया और भण्डारी ने कैफियत सुनी तो वह राजा भोज के पास आया और हाथ जोड़कर निवेदन करने लगा—"महाराज ! क्या इस ब्राह्मण की अपनी पत्नी को पीटने के अपराध में आप दण्ड न देकर उलटे एक हजार स्वर्णमुद्राएँ पुरस्कारस्वरूप दिला रहे हैं। इससे अनर्थ हो जाएगा। भविष्य में पत्नियों की दुर्गति हो जाएगी। आए दिन कोई न कोई व्यक्ति अपनी पत्नी को पीटकर इनाम लेने के लिए आपके पास दौड़ा आएगा।"

भोज राजा ने कहा—"भण्डारी ! मैं भी इसे समझता हूँ। यह इनाम पत्नी को पीटने के उपलक्ष्य में नहीं, इस ब्राह्मण के घर में गृहकलह और एक दूसरे के प्रति विनयमर्यादा के अभाव के मूल कारण—दारिद्र्य को दण्ड देने के उपलक्ष्य में है। यों कोई भी मनचला अकारण ही या स्वभाववश पत्नी को पीटेगा तो उसे तो दण्ड दिया ही जाएगा।"

भण्डारी का समाधान हो गया। उसने ब्राह्मण को एक हजार स्वर्णमुद्राएँ गिनकर दे दीं। ब्राह्मण एक गठड़ी में उन स्वर्णमुद्राओं को रखकर उस गठड़ी को अपने सिर पर उठाए घर की ओर चल पड़ा। दूर से ही ब्राह्मण को आते देख उसकी पत्नी ने अपनी सास से कहा—"देखो ! वे आ रहे हैं, मैं जाती हूँ, उनके सिर का बोझ ले लेती हूँ। थैलो में कुछ पीली-पीली-सी चीज है। मालूम होता है, कहीं से मक्की ले आए हैं।"

माता ने कहा—"बहू ! तू मत जा। तेरे सिर का अभी तक घाव भरा नहीं है। मैं जाती हूँ।" "नहीं माताजी ! आप बूढ़ी हैं। आपसे यह बोझ न उठेगा।" यों कहती हुई वे दोनों ही ब्राह्मण के सिर का बोझ लेने चल पड़ीं। ब्राह्मण से जब उसकी पत्नी और माँ दोनों ने बोझ दे देने के लिए कहा तो उसने साफ इन्कार करते हुए स्नेहवश कहा—"देखो, प्रिये ! तुम्हारे सिर में तो अभी चोट लगी है, और माँ बूढ़ी है। दोनों को यह बोझ नहीं दूँगा।" यों कहते-कहते उसने घर पहुँचकर वह गठड़ी नीचे उतारी। गठड़ी खोलकर देखा तो चमचमाती हुई स्वर्णमुद्राएँ। माता और पत्नी

दोनों ने अपने-अपने दोष को स्वीकार करते हुए पश्चात्ताप प्रगट किया। ब्राह्मण ने भी दोनों से अपने अपराध के लिए क्षमायाचना करते हुए कहा—"अगर तुम मुझे गिरफ्तार न करातीं तो राजा भोज हमारी दरिद्रता को दण्ड कैसे देता ? एवं हमारे स्वर्णमुद्राएँ कैसे आतीं ?"

बन्धुओं ! यह है दरिद्रावस्था से होने वाली दुरवस्थाओं का चित्रण ! क्या आप कह सकते हैं कि दरिद्रता-श्रीहीनता अच्छी वस्तु है ?

भौतिक दरिद्रता कितनी खतरनाक

जिसमें भौतिक दरिद्रता तो और भी अधिक भयंकर और विनाशक है। जब मनुष्य घोर दरिद्रावस्था में हो, उस समय उसकी मानवता भी सुरक्षित रहनी कठिन हो जाती है। जब वह चारों ओर तकाजे करने वाले ऋणदाताओं से घिरा हुआ हो, पैसे-पैसे का मोहताज हो, उसके स्त्री-बच्चे भूख के मारे बिलबिला रहे हों, उस समय उसके लिए मानमर्यादा का निभाना भी प्रायः असम्भव हो जाता है। कोई विरला ही ज्ञानी एवं सम्यग्दृष्टि पुरुष होता है, जो ऐसी दरिद्रावस्था में भी प्रसन्न, मस्त, निर्भीक होकर स्वतंत्रतापूर्वक सिर उठा सकता है। अन्यथा, देखा यह गया है कि दरिद्रता के कारण कई अच्छे-अच्छे जीवन भी नष्ट हो गए हैं, कई अच्छे प्रतिभावान व्यक्ति दरिद्रता की चक्की में पिसकर अपनी योग्यताओं और क्षमताओं से हाथ धो बैठे हैं। दरिद्रावस्था में पैदा होने वाले अधिकांश व्यक्ति न तो बलवान हो सके हैं, और न ही प्रसन्न व स्वस्थ रह सके हैं। दरिद्रता के कारण उनका चेहरा मुर्झाया रहता है, वे असमय में ही बूढ़े हो जाते हैं।

जो किसी अंगविकलता या शारीरिक अस्वस्थता के कारण दरिद्र हो जाते हैं, उनका समाज में अनादर नहीं होता, समाज उनको सहायता भी देता है। वास्तविक दरिद्रता तो वह है, जिसमें मनुष्य स्वयं दीन-हीन बन जाएँ, अपने प्रति, या अपनी योग्यता, शक्ति, सामर्थ्य और क्षमता के प्रति अविश्वास लाकर आत्महीनता का शिकार बन जाए। या वह दरिद्रता जो चित्त में चंचलता और शिथिलता के भाव लाकर निठल्ला, अकर्मण्य, उदास और परभाग्योपजीवी बनकर बैठने, किसी भी कार्य को मन लगाकर न करने अथवा अनाचार एवं दुर्व्यसनों से युक्त जीवन बिताने के कारण होती है। अथवा ठीक समय से विचार और कार्य न करने के कारण होती है।

कई बार जब मनुष्य सामर्थ्य रहते और स्वस्थ होते हुए भी हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है, अमुक परिश्रम का कार्य करने से जी चुराता है, अपनी अयोग्यता और [illegible] का पर्दा ढकता है, या भाग्यवादी बनकर यह कहता फिरता है कि मेरे भाग्य में तो दरिद्रता ही लिखी है, मैं तो आजीवन दरिद्र ही रहूँगा, अगर भगवान की इच्छा मुझे धनवान बनाने की होती तो जन्म से ही या होश संभालते ही मुझे धन दे देता, दरिद्र न रखता, या दरिद्र के घर में जन्म न देता; अथवा हमारे [illegible] ही ऐसे हैं कि जिनके द्वारा प्राप्त [illegible] से और दरिद्रता मिला है, क्योंकि भग

ही धन को खींचता है, माया से ही माया मिलती है, इस प्रकार की उत्साहहीन बातें कहकर स्वयं के भाग्य को कोसता हुआ दरिद्रता की आग में झुलसता रहता है, वह वास्तव में दरिद्र है। ऐसी दरिद्रता का निवारण किया जा सकता है, पर जो स्वयं अपने-आप को दरिद्रता की मूर्ति ही मान बैठता है, और उसके निवारण के लिए कुछ भी प्रयत्न भी नहीं करता, उसे तो कोई भी शक्ति ऊँचा नहीं उठा सकती। मन के लूले-लँगड़े और बुद्धि से दरिद्र व्यक्ति को कोई भी धनसम्पन्न नहीं बना सकता।

एक सज्जन ने बहुत परिश्रम करके बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करली। साथ ही वकालत भी पास कर ली। परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी वे दरिद्र ही रहे, अपना निर्वाह भी न कर पाये। क्योंकि न तो उनसे वकालत ही हुई, न उन्होंने छोटी-मोटी नौकरी ही ढूंढ़ी। उनके चित्त में यह बात बैठ गयी थी कि मैं जन्म से दरिद्र हूँ। मेरा जीवन दरिद्रता में ही बीतेगा। व्यर्थ भटकने और इधर-उधर हाथ-पैर मारने से क्या लाभ? इस प्रकार आत्मविश्वास की कमी के कारण वे निराश हो गए। एक दिन वे एक ज्योतिषी के पास पहुँचे और उससे अपनी कष्ट कथा कहने लगे—"महाराज! मैंने बहुत से काम कियें, पर मुझसे कोई भी काम पूरा न हो सका। न धन मिला, और न यश! सर्वत्र अपमानित होकर मैं आज दरिद्र बनकर जी रहा हूँ। देखिये तो मेरी यह जन्मकुण्डली, इसमें कहीं मेरी दरिद्रता दूर होने की बात भी लिखी है या नहीं?"

ज्योतिषी बहुत ही चालाक और मन के पारखी थे। उन्होंने उसकी जन्म-कुण्डली देखकर कुछ गणना की और अन्त में मानसिक दरिद्रता से परास्त उस व्यक्ति से कहा—"हाँ भाई! ऐसा ही कुछ जान पड़ता है।"

वास्तव में, जो मन से दरिद्रता को अपने पर ओढ़ चुकता है, उसे ज्योतिषी क्या, कोई भी देवी-देव या भगवान भी दरिद्रता से बचा नहीं सकते। जब मनुष्य में अपनी योग्यता और शक्ति पर विश्वास नहीं रह जाता, तब धीरे-धीरे उसमें उन गुणों का भी ह्रास होने लगता है, जिनके कारण वह सफल मनोरथ, श्रीसम्पन्न या विजयश्री से युक्त हो सकता है। ऐसी अवस्था में उसका जीवन ही दूभर हो जाता है। तब न तो उसमें किसी प्रकार की सदाकांक्षा रह जाती है, न सत्कार्य करने की शक्ति रह जाती है, न कार्य करने का ढंग रहता है और न उसे सफल होने में कोई सहायता मिलने की आशा रहती है। परिणाम यह होता है कि वह एक ऐसे ढालुए स्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ से वह बराबर नीचे ही गिरता जाता है, ऊपर नहीं उठ पाता। जैसा कि पाश्चात्य विदुषी औइडा (Ouida) ने कहा है—

"Poverty is very terrible and sometimes kills the very soul within us."

"दरिद्रता बड़ी खतरनाक वस्तु है, और कभी-कभी वह हमारी अन्तरात्मा को मार देती है।"

दरिद्रता अपने आप में उतनी भयंकर और विनाशक नहीं है, किन्तु जब मनुष्य दरिद्रता को अपने में ओत-प्रोत कर लेता है, अपनी दरिद्रता को शाश्वत समझ बैठता है, अपने आपको दीन-हीन, भिखारी एवं कंगाल मान लेता है, दरिद्रता के भय से सदा भयभीत, आतंकित और शंकित बना रहता है, सदैव विफलता के ही विचार किया करता है, तब वह दरिद्रता अत्यन्त भयंकर और विनाशक हो जाती है। दरिद्रता के भावों से पीड़ित ऐसा व्यक्ति दीनतापूर्वक दरिद्रता की ओर बढ़ता जाता है, उससे पराङ्मुख होकर पीछा छुड़ाने का साहस नहीं करता। जब देखो तब वह दरिद्रता के वातावरण एवं मनोभावों से घिरा रहता है। ऐसी मानसिक दरिद्रता सदैव आत्म-विश्वास और आत्मगौरव पर आघात किया करती है। तात्पर्य यह है कि दरिद्रता का विचार करते हुए मनुष्य चाहे जितना कठोर पुरुषार्थ क्यों न कर ले, न तो वह उस कार्य में सफल होगा और न ही श्रीसम्पन्न। जब व्यक्ति अपना मुख दरिद्रता की ओर ही रखेगा, तब वह श्रीसम्पन्नता कैसे प्राप्त कर सकेगा? जब किसी का कदम विफलता की ओर ले जाने वाली सड़क पर पड़ेगा तो वह सफलता के मन्दिर तक कैसे पहुँच सकेगा? जब दृष्टि दरिद्रता पर ही गड़ी होगी तो श्रीसम्पन्नता तक वह कैसे पहुँच सकेगा?

दरिद्रता के विचार ही मनुष्य को दरिद्रता से जोड़े-बाँधे रखते हैं और दरिद्रता-पूर्ण परिस्थितियाँ ही उत्पन्न करते हैं। क्योंकि जब व्यक्ति रात-दिन दरिद्रता के सम्बन्ध में ही चर्चा, बात-चीत या जीवनयापन करता है, तब वह मानसिक दृष्टि से बिलकुल दरिद्र हो जाता है और यही सबसे अधिक निकृष्ट दरिद्रता है।

जिन लोगों का चित्त सदा चिन्तित रहता है, हृदय बहुत ही संकुचित, अनुदार और स्वार्थी रहता है, वे धन एकत्र होने पर भी दरिद्र-मनोवृत्ति के रहते हैं। बहुत ही कंजूसी करके और कष्ट सहकर मम्मण सेठ की तरह धन को एकत्र करके उसको तिजोरी में बंद कर देना, स्वयं बीमार पड़ने पर या अपने परिवार में से किसी के बीमार पड़ने पर एक पैसा भी खर्च न करना, ठण्ड में ठिठुरते रहना, पर गर्म कपड़े न लेना, किसी दुःखी को एक पैसा मदद भी न करना, ये सब मनोव्यापार धन होने पर भी दरिद्रता के समान हैं। जैसे धन न होने के कारण एक दरिद्र सदा शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाया करता है, वैसे ही इस प्रकार का अनुदार, संकीर्णहृदय कंजूस धन होने पर भी कष्ट उठाया करता है। है वह दरिद्र का दरिद्र ही।

श्रीसम्पन्नता किसको, किसको नहीं ?

श्रीसम्पन्नता संसार में उन्हीं लोगों को वास्तविक रूप में प्राप्त हुई है, जो उदारचेता, सन्तोषी, व्यापक मनोवृत्ति वाले तथा पुरुषार्थी रहे हैं। जिनके चित्त में आत्मविश्वास और उत्साह का दीपक जल उठा है, जो दान, पुण्य, परोपकार एवं सेवा करके श्रीसम्पन्नता के बीज बोते रहे हैं। जिन लोगों ने अपने हृदय से दरिद्रता के भाव निकाल फेंके हैं, जो सदा सत्प्रवृत्ति को अपनाते रहे हैं, सदा प्रसन्न और उत्साह के साथ काम करते रहे हैं और सदा अपने चित्त में सम्पन्नता और सफलता की

बातें सोचते रहे हैं, विफलता और विपन्नता के विचारों से जिन्होंने बिलकुल मुख मोड़ लिया है।

विदेश में एक व्यक्ति बहुत वर्षों तक गरीब रहा, खाने-पीने तक का कोई ठिकाना न था। पर कुछ ही दिनों बाद वह एकाएक धनवान हो गया। उसके इस प्रकार अकस्मात धनवान होने के कारण एक लेखक द्वारा पूछे जाने पर उसने बताया कि "चिरकाल तक दरिद्रता में रहने पर जब मैं ऊब गया तो एक दिन मैंने अपने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे कुछ भी हो, मैं अब दरिद्र नहीं रहूँगा। मैंने अपनी समस्त शक्तियों को दरिद्रता मिटाने में लगा दी। मैं एकचित्त, दृढ़निश्चयी होकर पुरुषार्थ करने लगा। इस प्रकार सतत प्रयत्न करके मैंने अपने चित्त से दरिद्रता का भाव बिलकुल निकाल फैंका। फलत: मेरा मुँह सफलता की ओर हो गया। चित्त की इस एकाग्रता और दृढ़निश्चय के फलस्वरूप मैं शीघ्र ही लक्ष्मी का कृपापात्र बन गया। फिर मैं धनवान होने के साथ ही सेवा-भावी संस्थाओं और सार्वजनिक कार्यों में दान देने लगा, गरीबों और दीन-दु:खियों को सहायता देने लगा। अपने खान-पान और रहन-सहन में भी मैंने यथोचित परिवर्तन कर दिया। यही मेरे श्रीसम्पन्न होने का रहस्य है। अब मुझे भलीभाँति ज्ञात हो गया कि मेरी दरिद्रता का कारण और कुछ नहीं, मेरा संशयशील, अनिश्चयी, अनेकाग्र और अविश्वासी चित्त ही था, जो मुझे दरिद्रता की दिशा में ले जाता था, मेरी शक्तियों को जिसने कुण्ठित कर दिया था। मेरे चित्त में से उत्साह, साहस, पराक्रम और कार्यक्षमता को निकालकर निराशा, निरुत्साह, शिथिलता, अकर्मण्यता और उदासी भर दी थी।"

गौतम ऋषि ने भी तो यही बात कही है कि जिस व्यक्ति का चित्त सम्भिन्न रहता है, उसे श्रीसम्पन्नता या लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती, वह दरिद्रता से ओतप्रोत रहता है। श्री से वंचित रहता है। वास्तव में जिसके चित्त में निराशा, संशय और अविश्वास भरा रहता है, जो अपने चित्त को एकाग्र करके दृढ़ निश्चयपूर्वक किसी सत्कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, उससे लक्ष्मी कोसों दूर रहती है, दरिद्रता दानवी ही उसकी सेवा में रहती है।

भौतिक दरिद्रता से आध्यात्मिक दरिद्रता भयंकर

आप यह मत समझिए कि दरिद्रता केवल भौतिक जगत् में ही होती है। आध्यात्मिक जगत् में भी दरिद्रता होती है और वह भौतिक जगत् की दरिद्रता से अधिक भयंकर होती है। कारण यह है कि भौतिक जगत् की दरिद्रता प्राय: एक जीवन को ही वर्बाद करती है, परन्तु आध्यात्मिक जगत् की दरिद्रता अनेक जन्मों को बिगाड़ देती है। भौतिक जगत् में पूर्वकर्मवशात् प्राप्त दरिद्रता तो आध्यात्मिक श्रीसम्पन्न व्यक्ति के लिए सह्य, क्षम्य और वरदानरूप हो जाती है। वह स्वेच्छा से दरिद्रता को स्वीकार कर लेता है, और उसे अपरिग्रहवृत्ति का रूप दे देता है।

कणाद ऋषि के समक्ष वहाँ के जनपद के राजा स्वयं भौतिक सम्पत्ति लेकर

उपस्थित हुए थे, लेकिन कणाद ने उनमें से एक कण भी स्वीकार नहीं किया। वे स्वेच्छा से स्वीकृत गरीबी, (जिसे अपरिग्रहवृत्ति कहना चाहिए) में ही मस्त रहे। यह भौतिक दरिद्रता उनके लिए वरदान रूप थी। क्योंकि वे आध्यात्मिक श्री से पूरी तरह सम्पन्न थे, आध्यात्मिक दरिद्रता उनके पास बिलकुल नहीं फटकती थी। क्योंकि उनके हृदय में कोई निराशा, भविष्य की चिन्ता, धनसंग्रह की लालसा तथा अन्य भौतिक सुखों की कामना नहीं थी।

आध्यात्मिक दरिद्रता तो वहाँ निवास करती है, जिसके चित्त में अपनी शक्तियों के प्रति अविश्वास हो, आत्महीनता की भावना हो, जिसका जीवन चाहों और चिन्ताओं से भरा हो। जिसका जीवन शंका, कुण्ठा, वहम और अनिश्चय के दलदल में फँसा हो, जिसकी तृष्णा, विशाल हो, जिसके जीवन में पद-पद पर असन्तोष हो, अपने संघ, संस्था, परिवार या समाज में हरएक के प्रति घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, रोष या विरोध हो। दूसरों को नीचा दिखाकर या दूसरों की प्रवृत्तियों की निन्दा करके स्वयं की प्रतिष्ठा या अपने माने हुए समाज या संघ की प्रतिष्ठा बढ़ाने की मनोवृत्ति हो, जिसमें दूसरों के प्रति उदारता न हो। बाहर से समता का ढिंढोरा पीटा जाता हो, मगर अपने व्यवहार में समता का अभाव हो। सिद्धान्तों की दुहाई दी जाती हो, लेकिन व्यावहारिक धरातल पर उनका बिन्दु भी न हो, केवल सिद्धान्तों के नाम पर क्रियाकाण्डों का जाल हो। पाश्चात्य विचारक डेनियल (Daniel) ने ठीक ही कहा है

"**He is not poor, that has little, but he that desires much.**"

"दरिद्र वह नहीं है, जिसके पास बहुत कम है, किन्तु वह है, जो बहुत चाहता है।"

फिर वह चाहना पैसे की हो, पुत्र की, प्रतिष्ठा, कीर्ति, शिष्य, अनुयायी, विचरण क्षेत्र आदि की वृद्धि की लालसा भी आध्यात्मिक दरिद्रता है।

व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों जगत् में श्री की आवश्यकता

आध्यात्मिक श्री के अभाव में त्यागीजीवन विडम्बना से परिपूर्ण होता है। आध्यात्मिक श्रीहीन साधक सदैव मानसिक संताप, पश्चात्ताप, दुःख-दैन्य एवं व्यथा से घटता रहता है। जिसका उसके शरीर और स्वभाव पर भी असर पड़ता है। उसका शरीर चिन्ताग्रस्त, रुग्ण, दुर्बल और अस्वस्थ हो जाता है। उसकी प्रकृति में चिड़चिड़ापन, क्रोध, उग्रता, ईर्ष्या, शंका, भीति और बहम प्रविष्ट हो जाता है। उसके स्वभाव में आध्यात्मिक जीवन के प्रति अश्रद्धा, घृणा और उपेक्षा पैदा हो जाती है। उसका चित्त भ्रान्त और चंचल हो उठता है, उसका दिमाग प्रत्येक बात में शंकाशील हो जाता है, उसकी बुद्धि सन्देहग्रस्त, अनिश्चयात्मक एवं निष्क्रिय हो जाती है।

आध्यात्मिक जगत् का श्रीहीन मानव व्यावहारिक जगत् के श्रीहीन मानव की अपेक्षा अधिक बदतर स्थिति में होता है। व्यावहारिक जगत् का श्रीहीन मानव तो धन के अभाव में कदाचित् किसी से मांगकर, उधार लेकर या कर्ज लेकर भी काम चला सकता है, किन्तु आध्यात्मिक जगत् का श्रीहीन मानव आध्यात्मिकता, आत्मशक्ति, मनोबल या अध्यात्म गुण न तो किसी से मांग सकता है, न किसी से कर्ज या उधार ही ले सकता है। आध्यात्मिक श्री के बिना मानवजीवन नीरस, शुष्क और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। आध्यात्मिक श्री से वंचित मनुष्य की आँखों के आगे सदा अन्धेरा छाया रहता है, वह विवेक के प्रकाश से रहित हो जाता है, उसके हृदय में बोध का दीपक बुझ जाता है।

अगर आपके ज्ञानचक्षु पर आवरण है, आपके मन में वासनाएँ और कामनाएँ हैं। आपकी इन्द्रियाँ चंचल हैं, तो निश्चय समझिए आप आध्यात्मिक श्री से हीन हैं, दरिद्र हैं, आपका शक्तिस्रोत सूखा हुआ है। आपकी आत्मा में अनन्तशक्ति, अनन्त-ज्ञान-दर्शन और अनन्तसुख है। आपके पास वे वस्तुएँ हैं, जिन्हें पाने के लिए अन्यत्र नहीं भटकना है। जो अपने आपको पहचान लेता है, उसे बाहर का वैभव मिले, चाहे न मिले, वह बाहर से अकिंचन होकर भी समृद्ध है, श्रीसम्पन्न है।

मनुष्य अपने भीतर के खजाने को नहीं पहचानने के कारण दरिद्र है। आत्म-विश्वास की यह दुर्बलता ही दरिद्रता है। आवरणों को दूर हटाकर वासनाओं और कामनाओं से मुक्त बनो, इन्द्रियों और मन पर अपना नियन्त्रण करो, फिर देखो कि तुम कितने समृद्ध हो?

आप यह भी मत समझिए कि आध्यात्मिक श्री की आवश्यकता केवल ऋषि-ं को ही है, गृहस्थवर्ग को नहीं। इसकी जितनी आवश्यकता त्यागीवर्ग को , उतनी ही, बल्कि कभी-कभी उससे भी अधिक आवश्यकता गृहस्थवर्ग को रहती है। यदि गृहस्थवर्ग केवल भौतिक श्री की उपासना करता है, रात-दिन धन और भौतिक पदार्थों को बटोरने में लगा रहता है तो उससे उसकी सुख-शान्ति चौपट हो जाएगी, उसे भौतिक सम्पत्ति के उपार्जन, उसके व्यय और उसकी सुरक्षा की सतत

चिन्ता नहीं रहेगी। भौतिक विज्ञान पर आत्मज्ञान का एवं अर्थोपार्जन पर नीति-धर्म का अंकुश नहीं रहेगा तो वह लोभाविष्ट होकर नाना प्रकार दुष्कर्मों का बन्धन कर लेगा, जिसका फल उसे आगे चलकर भोगना पड़ेगा। इस प्रकार निरंकुश भौतिक श्री की उपासना से मनुष्य का जीवन शान्त, स्वस्थ एवं सुखी नहीं रह सकेगा। उसे आध्यात्मिक श्री का सहारा लेना अनिवार्य होगा, अन्यथा वह स्वयं अनेक दुःखों से संतप्त और जीवन से असन्तुष्ट रहेगा।

यों तो त्यागीवर्ग को भी शरीर रक्षा और धर्म साधना के लिए भौतिक साधनों—भोजन, वस्त्र, पात्र, मकान, पुस्तक आदि तथा अध्ययन के साधनों—की आवश्यकता रहती है, जिनकी पूर्ति गृहस्थवर्ग अपनी भौतिक श्री के माध्यम से इन सब साधनों को अपनाकर करता है। यद्यपि त्यागीवर्ग गृहस्थवर्ग की तरह भौतिक श्री से प्राप्त इन धर्मोपकरणों या भोजनादि साधनों में आसक्त नहीं होता, उसे भौतिक श्री की चिन्ता नहीं होती, केवल आध्यात्मिक श्री की सुरक्षा की लगन होती है तथापि शरीरादि भौतिक साधनों का वह विवेकपूर्वक निर्वाह करता है। अगर त्यागीवर्ग के पास आध्यात्मिक श्री का दिवाला निकल जाए तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता, न उस गृहस्थ का मूल्य रहता है, जिसके पास भौतिक श्री का दिवाला निकल जाता है।

'श्री' के लिए सारे संसार का प्रयत्न

आज दुनिया में त्यागीवर्ग के सिवाय शायद ही कोई व्यक्ति हो जो भौतिक श्री से वंचित रहना चाहता हो। श्री के लिए लोग देवी-देवों की मनौती, पूजा किया करते हैं, अनेक प्रकार के जप-तप, ग्रहशान्ति-पाठ एवं प्रयत्न किया करते हैं।

आज के भौतिकवादी मानव का खयाल है कि श्रीसम्पन्न व्यक्ति सर्वगुणों से युक्त हो जाते हैं, परन्तु ऐसा विचार एकांगी और भ्रमयुक्त है। यह तो 'श्री' के सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है। 'श्री' तो अपने आप में एक शक्ति है। यह तो उपयोगकर्ता पर आधारित है कि वह 'श्री' शक्ति का उपयोग किस दिशा में और कैसे करता है? एक पाश्चात्य विद्वान् एल-एस्ट्रेंज (L'Estrange) लिखता है—

"Money does all things, for it gives and it takes away, it makes honest men and knaves, fools and philosophers and so on to the end of the chapter."

'धन सब कुछ करता है, क्योंकि वह देता है और वह लेता भी है। वह मनुष्यों को ईमानदार और धोखेबाज भी बनाता है, मूर्ख और दार्शनिक भी। और इस प्रकार यह जीवन के अध्याय के अन्त तक चलता रहता है।'

राष्ट्र के लिए धन जीवन का रक्त है।[1] क्योंकि किसी भी राष्ट्र का कोई कार्य धन के बिना चल नहीं सकता। यहाँ तक कि धर्म कार्य भी बिना धन-साधन के नहीं चल सकता।

1. 'Money is the lifeblood of the nation. —Swift

जैनशास्त्रों में जहाँ-जहाँ बड़े-बड़े नगरों के वर्णन आते हैं, वहाँ उनके साथ तीन विशेषण खासतौर से प्रयुक्त किये जाते हैं—

'रिद्धत्थिमियसमिद्ध'

वह नगर ऋद्धि से युक्त, स्तिमित (स्वचक्र-परचक्र के भय से रहित, स्थिर, शान्तियुक्त) और समृद्ध (धन-धान्य से परिपूर्ण) था।

यही कारण है कि भौतिक श्री की आवश्यकता त्यागियों के सिवाय सर्व-साधारण को है।

त्यागी साधुसाध्वी के लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्र, यह रत्नत्रय—आध्यात्मिक श्री है। उन्हें भी इस श्री की उतनी ही, बल्कि इससे भी अधिक जरूरत है, जितनी एक गृहस्थ को भौतिक श्री की जरूरत होती है।

श्री : विभिन्न अर्थों में

वैसे 'श्री' एक शक्ति है। पाश्चात्य विचारक डी. बौहावर्स (D.Bouhours) इस सम्बन्ध में कहता है—

"Money is a good servant, but a poor master."

'धन एक अच्छा सेवक है, किन्तु है वह गरीब मालिक।'

'श्री' शब्द का प्रयोग भारतीय धर्मग्रन्थों में अति प्राचीन काल से किया जाता रहा है। जैनशास्त्रों में 'श्री' को एक देवी माना गया है, जो प्रकारान्तर से एक शक्ति है। विष्णु के नाम का पर्यायवाची 'श्रीपति' शब्द है। किसी भी आदरणीय पुरुष के नाम के पूर्व 'श्री' लगाने का रिवाज भी बहुत पुराना है, जैसे श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्री-महावीर, श्रीहरि। किसी भी प्रतिष्ठित मनुष्य के नाम के पूर्व भी श्री लिखा जाता है, जैसे 'श्री मनोहरलालजी'। इसी प्रकार बड़े आदमी के पद के आगे भी 'श्री' लगाया जाता है, जैसे—महाराजश्री, पिताश्री, मातुश्री, भाईश्री, पद्मश्री।

शब्दशास्त्र के अनुसार 'श्री' के कान्ति, शोभा, लक्ष्मी, सफलता, विजयश्री, विभूति, सम्पत्ति आदि अनेक अर्थ होते हैं।

कान्ति शब्द प्रभा का सूचक है। यहाँ श्री उत्पादनशक्ति—पुरुषार्थ—के रूप में है। जो मनुष्य श्रम नहीं करता, उसकी 'श्री' (कान्ति) में वृद्धि नहीं होती। दूसरा अर्थ है—लक्ष्मी, जो लक्ष्य की ओर गति करने—पुरुषार्थ करने का सूचक है। अथवा धन की शक्ति भी लक्ष्मी है। और तीसरा अर्थ है—शोभा। इसमें बहुत-सी चीजों का समावेश हो जाता है। जो चीज जहाँ उचित है, वहीं वह शोभा पाती है। यदि गोबर रास्ते में पड़ा हो तो खराब माना जाता है, वही मल खेत की मिट्टी में मिल गया हो तो अच्छा लाभकर माना जाता है। जो वस्तु जहाँ उचित हो, वहीं उसे सजाया, जमाया या रखा जाय, उसी में उसकी शोभा है। जैसे पैर में पहनने का पायल मस्तक पर शोभा नहीं देता, वैसे ही मस्तक पर पहनने का मुकुट पैर में शोभा नहीं देता।

गहनों से घर शोभा नहीं देता, मनुष्य ज्ञान और सदाचार के बिना शोभा रहित है। स्वच्छता, पवित्रता और व्यवस्थितता, ये सब शोभा (श्री) में समाविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रसंग पर मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ गया —

एक बार राजा भोज की पण्डित सभा में चार प्रश्न शोभा के विषय में पूछे गये

(१) मर्द की शोभा किसमें है?

(२) नारी की शोभा किसमें है?

(३) भैंस की शोभा किसमें है?

(४) घोड़ी की शोभा किसमें है?

कई विद्वानों ने कई तरह के उत्तर दिये। एक पण्डित ने एक दोहे में उत्तर दिया—

मर्द सोहे मूंछ बांका, नैन बांकी गोरियाँ।
भैंस सोहे सींग बांकी, रंग बांकी घोड़ियाँ॥

सभा में यह दोहा जोर-जोर से सुनाया जा रहा था, तभी सभा के द्वार के बाहर खड़े एक चरवाहे ने जोर से चिल्लाकर कहा—"पण्डितजी का यह कथन गलत है। ये सही नहीं है, मुझे सही है।"

लोगों ने राजा भोज के कहने से उस चरवाहे को सभा में बुलाया और कहा—"क्यों भाई! तू इन चार प्रश्नों के सही उत्तर देने का दावा करता है, तो तू भी उत्तर दे।" उसने कहा—

मर्द सोहे बोल बांका, शील बांकी गोरियाँ।
भैंस सोहे दूध बांकी, चाल बांकी घोड़ियाँ॥

मर्द के चाहे मूंछ कितनी ही लम्बी क्यों न हो, अगर वह बात पर [illegible] के समय, अपना वचन-बोलों को इनकार नहीं कर सकता हो, [illegible] [illegible] सही किन्तु उसकी क्या शोभा है? वह तो श्रीहीन है। इसी प्रकार स्त्री के अंग प्रत्यंगों [illegible] [illegible] शोभा [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible]।

राजा और सभी सभासद ये उत्तर सुनकर दंग रह गये। सभी ने उस चरवाहे को धन्यवाद दिया।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि श्री का अर्थ शोभा है, जो बहुत व्यापक है। इसमें आध्यात्मिक प्रतिभाएँ, शक्तियाँ, तेजस्विता, चमक आदि सभी का समावेश हो जाता है।

'श्रीमान' शब्द केवल लक्ष्मी (धन) वान के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता, तेजस्वी त्यागी, प्रतिभासम्पन्न, आदरणीय, उच्च पदाधिकारी आदि सबको श्रीमान् कहा जाता है।

निष्कर्ष यह है कि 'श्री' शब्द केवल लक्ष्मी (धन) अर्थ में ही नहीं, तथा यह केवल भौतिक लक्ष्मी के अर्थ में ही नहीं, भौतिक कान्ति, शोभा, तेजस्विता, सफलता, सिद्धि, विजयश्री आदि अर्थ में भी है, और आध्यात्मिक कान्ति, शोभा, तेजस्विता, सफलता, सिद्धि एवं विजयश्री आदि अर्थों में भी समझ लेना चाहिए। भगवद्गीता में विभूतियों का वर्णन करते हुए योगीश्वर श्रीकृष्ण ने कहा है—

यद् यद् विभूति मत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव च।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥

अर्थात्—"जो-जो विभूतिमान् (ऐश्वर्ययुक्त) सत्त्व (प्राणी) है, जो श्रीमान (श्रीसम्पन्न) है, तथा ऊर्जित (आन्तरिक बलशाली) है, उस सत्त्वशाली प्राणी को तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न समझ।"

यहाँ 'श्री' केवल भौतिक लक्ष्मी का वाचक नहीं, अपितु आन्तरिक लक्ष्मी का सूचक है।

'श्री' कहाँ रहती है, कहाँ नहीं ?

'श्री' का महत्त्व और उसके इतने अर्थ और रूप समझ लेने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जिस 'श्री' की इतनी महत्ता है, वह कहाँ रहती है? कहाँ नहीं रहती ? भारतीय चिन्तकों ने इस बात को तो एक स्वर से स्वीकार किया है कि—

'उद्योगिनः पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः'

जो व्यक्ति पुरुषार्थी है, उद्योगी है, उसी को लक्ष्मी प्राप्त होती है। परन्तु पुरुपार्थ या उद्योग का मतलब चाहे जैसा, अनीतियुक्त, हिंसाजनित, आरम्भ-समारम्भ का पुरुपार्थ नहीं है, इसी का स्पष्टीकरण करते हुए चाणक्य सूत्र में बताया है—

'परीक्ष्यकारिणि श्रीश्चिरं तिष्ठति'

"जो व्यक्ति चारों ओर से सोच-विचारकर किसी कार्य में पुरुषार्थ करता है, उसके पास ही लक्ष्मी चिरकाल तक ठहरती है।"

जो जुआ खेलकर लक्ष्मी प्राप्त करने की या अन्याय-अनीति या बेईमानी से, या पशुहत्या करके या महारम्भ करके धन पाने का पुरुषार्थ करता है, उसने कदाचित् उसे लक्ष्मी मिल भी जाए, लेकिन वह अधिक दिन टिकती नहीं ।

इसी बात का समर्थन शुक्रनीति में किया गया है—

"यत्र नीति-बले चोभे, तत्र श्रीः सर्वतोमुखी ।"

जहाँ नीति और बल (भौतिक एवं आध्यात्मिक) दोनों का सम्मिलन है, वहाँ लक्ष्मी सर्वतोमुखी होकर रहती है ।

व्यावहारिक जीवन में लक्ष्मी का निवास कहाँ है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है । पुराणों में लक्ष्मी और इन्द्र के संवाद का वर्णन मिलता है । वहाँ इन्द्र के पूछने पर लक्ष्मी स्वयं अपने निवास के सम्बन्ध में बताती है—

गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र वाणी सुसंस्कृता ।
अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥

"जहाँ गुरुजनों की पूजा (सत्कार-सम्मान) होती है, जहाँ सुसंस्कृत सभ्य वाणी है, और जहाँ दन्तकलह (लड़ाई झगड़ा) नहीं है, हे इन्द्र ! वहीं मैं (लक्ष्मी) निवास करती हूँ ।"

इसके विपरीत जहाँ बड़ों-बुजुर्गों का सम्मान नहीं होता, जिस घर में कटु एवं असभ्य वाणी है, और जहाँ आए दिन महाभारत होता है, वहाँ लक्ष्मी नहीं टिकती । इसी प्रकार आलसी, अकर्मण्य एवं संशयशील के पास भी लक्ष्मी नहीं फटकती । लक्ष्मी कहाँ नहीं रहती ? इसके उत्तर में भोजप्रबन्ध (२०) में कहा गया है—

अतिदाक्षिण्ययुक्तानां, शंकितानां पदे-पदे ।
परापवादभीरूणां, दूरतो यान्ति सम्पदः ॥

जो आदमी अत्यन्त सयाने होते हैं, पद-पद पर शंका करते रहते हैं, एवं लोकनिन्दा (लोगों के द्वारा सच्ची बात की भी की गई आलोचना) से डरते हैं, उनसे सम्पत्तियाँ दूर ही रहती हैं ।

चाणक्यनीति (१५/४) में श्रीहीनता के सम्बन्ध में कहा गया है—

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं,
बह्वाशिनं निष्ठुर भाषिणं च ।
सूर्योदये चास्तमिते शयानं,
विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिम् ॥

इससे ध्वनित होता है कि जो आलस्यशिरोमणि है, प्रमादशंकर है, दिन-रात पड़ा रहता है, पेटू है, कोई भी अच्छा कार्य या जिम्मेदारी का नैतिक कार्य करने को जी नहीं चाहता, कहने पर काटने को दौड़ता है, ऐसे व्यक्ति के पास लक्ष्मी आएगी और टिकेगी भी क्यों ? उसकी श्रीहीनता तो उसके व्यवहार एवं रहन-सहन से ही स्पष्ट है। उसके जीवन में शोभा या तेजस्विता आएगी ही कहाँ से, जो बात-बात में शंकाशील है, अत्यन्त सयानापन करता है, या जो आलोचना से कतराता है ?

वास्तव में जिस व्यक्ति को लक्ष्मी मिलती है, वह पुण्यशाली होता है, परन्तु वही व्यक्ति पुण्यशाली है, जो नैतिक एवं पवित्र दिशा में अपनी प्रवृत्ति चलाता है। संतों का कथन है—यह नीति-धर्म से प्राप्त लक्ष्मी भोगविलास के लिए, ऐशआराम के लिए या दुर्व्यसनों में खर्च करने के लिए नहीं है। जो व्यक्ति प्राप्त लक्ष्मी का दुरुपयोग करता है, उसके पास लक्ष्मी टिकती नहीं, कदाचित् कुछ दिन टिकती भी है तो वह अभिशाप रूप बन जाती है, सुखशान्ति के बदले वह दुःखदर्द बढ़ाती है। दान, पुण्य या परोपकार के कार्यों में निष्कांक्ष रूप से लक्ष्मी का उपयोग होने पर ही वह स्थिर रहती है। जो लक्ष्मी दान, पुण्य आदि सत्कार्यों में व्यय की जाती है, वही प्रशंसनीय और वृद्धिगत होती है। सदाचार से ही लक्ष्मी टिकती है। वैदिक पुराण में वर्णन है कि लक्ष्मी ने इन्द्र के पूछने पर कहा था—"देवराज ! जब किसी राष्ट्र में प्रजा सदाचार खो देती है, तो वहाँ की भूमि, अन्न, जल, अग्नि कोई भी मुझे स्थिर नहीं रख सकते। मैं लोकश्री हूँ। मुझे लोकसिंहासन चाहिए, व्यक्ति के सदाचारी मानस में ही मैं अचल निवास करती हूँ।"

अब आइए महर्षि गौतम के जीवनसूत्र पर। महर्षि ने एक सूत्र में सभी नीतिकारों, धर्मशास्त्रों के मंतव्य का निचोड़ बता दिया—

'संभिन्नचित्त भयए अलच्छी'

'जो संभिन्नचित्त होता है, उसके पास लक्ष्मी नहीं रहती, अलक्ष्मी-दरिद्रता का ही वास रहता है।'

संभिन्नचित्त में सभी अयोग्यताओं का समावेश

संभिन्नचित्त व्यक्ति का विशेषण है। संभिन्नचित्त में पहले बताई हुई सभी अयोग्यताएँ—लक्ष्मी प्राप्त न करने या उसके स्थिर न रहने की बातें—समाविष्ट हो जाती हैं। क्योंकि जिसका चित्त संभिन्न होता है, उसका संशयशील, अकर्मण्य, अविश्वासी, आलसी, चित्त में नाना कल्पनाएँ करके हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने वाला विक्षिप्तचित्त-सा, गंदा, अव्यवस्थित एवं अनिश्चयी व्यक्ति होना स्वाभाविक है। इसलिए गौतम ऋषि ने सौ बातों की एक बात कह दी—संभिन्नचित्त व्यक्ति के पास लक्ष्मी नहीं फटकती, उसे सदा दरिद्रता ही घेरे रहती है।

संभिन्नचित्त : विभिन्न अर्थों में

आइए अब 'संभिन्नचित्त' शब्द पर विचार कर लें। संभिन्नचित्त शब्द बहुत ही

इससे ध्वनित होता है कि जो आलस्यशिरोमणि है, प्रमादशंकर है, दिन-रात पड़ा रहता है, पेटू है, कोई भी अच्छा कार्य या जिम्मेदारी का नैतिक कार्य करने को जी नहीं चाहता, कहने पर काटने को दौड़ता है, ऐसे व्यक्ति के पास लक्ष्मी आएगी और टिकेगी भी क्यों ? उसकी श्रीहीनता तो उसके व्यवहार एवं रहन-सहन से ही स्पष्ट है । उसके जीवन में शोभा या तेजस्विता आएगी ही कहाँ से, जो बात-बात में शंकाशील है, अत्यन्त सयानापन करता है, या जो आलोचना से कतराता है ?

वास्तव में जिस व्यक्ति को लक्ष्मी मिलती है, वह पुण्यशाली होता है, परन्तु वही व्यक्ति पुण्यशाली है, जो नैतिक एवं पवित्र दिशा में अपनी प्रवृत्ति चलाता है। संतों का कथन है—यह नीति-धर्म से प्राप्त लक्ष्मी भोगविलास के लिए, ऐशआराम के लिए या दुर्व्यसनों में खर्च करने के लिए नहीं है । जो व्यक्ति प्राप्त लक्ष्मी का दुरुपयोग करता है, उसके पास लक्ष्मी टिकती नहीं, कदाचित् कुछ दिन टिकती भी है तो वह अभिशाप रूप बन जाती है, सुखशान्ति के बदले वह दुःखदर्द बढ़ाती है । दान, पुण्य या परोपकार के कार्यों में निष्कांक्ष रूप से लक्ष्मी का उपयोग होने पर ही वह स्थिर रहती है । जो लक्ष्मी दान, पुण्य आदि सत्कार्यों में व्यय की जाती है, वही प्रशंसनीय और वृद्धिगत होती है । सदाचार से ही लक्ष्मी टिकती है। वैदिक पुराण में वर्णन है कि लक्ष्मी ने इन्द्र के पूछने पर कहा था—"देवराज ! जब किसी राष्ट्र में प्रजा सदाचार खो देती है, तो वहाँ की भूमि, अन्न, जल, अग्नि कोई भी मुझे स्थिर नहीं रख सकते । मैं लोकश्री हूँ । मुझे लोकसिंहासन चाहिए, व्यक्ति के सदाचारी मानस में ही मैं अचल निवास करती हूँ ।"

अब आइए महर्षि गौतम के जीवनसूत्र पर । महर्षि ने एक सूत्र में सभी नीतिकारों, धर्मशास्त्रों के मंतव्य का निचोड़ बता दिया—

'संभिन्नचित्तं भयए अलच्छी'

'जो संभिन्नचित्त होता है, उसके पास लक्ष्मी नहीं रहती, अलक्ष्मी-दरिद्रता का ही वास रहता है ।'

संभिन्नचित्त में सभी अयोग्यताओं का समावेश

संभिन्नचित्त व्यक्ति का विशेषण है । संभिन्नचित्त में पहले बताई हुई सभी अयोग्यताएँ—लक्ष्मी प्राप्त न करने या उसके स्थिर न रहने की बातें—समाविष्ट हो जाती हैं । क्योंकि जिसका चित्त संभिन्न होता है, उसका संशयशील, अकर्मण्य, अविश्वासी, आलसी, चित्त में नाना कल्पनाएँ करके हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने वाला विक्षिप्तचित्त-सा, गंदा, अव्यवस्थित एवं अनिश्चयी व्यक्ति होना स्वाभाविक है । इसलिए गौतम ऋषि ने सौ बातों की एक बात कह दी—संभिन्नचित्त व्यक्ति के पास लक्ष्मी नहीं फटकती, उसे सदा दरिद्रता ही घेरे रहती है ।

संभिन्नचित्त : विभिन्न अर्थों में

आइए अब 'संभिन्नचित्त' शब्द पर विचार कर लें । संभिन्नचित्त शब्द बहुत ही

अर्थगम्भीर है, महत्त्वपूर्ण है। मेरी नम्र मति में 'संभिन्नचित्त' शब्द के कम से कम सात अर्थ फलित होते हैं—

(१) भग्नचित्त या विक्षिप्तचित्त
(२) टूटा हुआ (निराश) चित्त
(३) रूठा हुआ या विरुद्ध चित्त
(४) व्यग्र या बिखरा हुआ चित्त या असंलग्नचित्त
(५) अव्यवस्थित चित्त
(६) अस्थिर चित्त
(७) असंतुलित चित्त

अब हम क्रमशः इनके अर्थों पर विचार करेंगे और साथ ही गौतम ऋषि के बताये हुए सूत्र के साथ उसकी संगति बिठाने का प्रयत्न करेंगे।

संभिन्नचित्त का प्रथम अर्थ : भग्नचित्त

संभिन्नचित्त का प्रथम अर्थ है—भग्नचित्त, यानी भागा हुआ, उखड़ा हुआ या विक्षिप्तचित्त। जिसका चित्त भग्न होता है, वह प्रायः अवांछित कल्पनाएँ किया करता है।

मनुष्य का चित्त प्रायः मधुमक्खियों के छेड़े गए छत्ते की तरह है। वह बार-बार नई-नई कल्पनाएँ और विकल्प उठाता रहता है। कल्पनाओं की यह भिनभिनाहट मनुष्य के चित्त को घेर लेती है और व्यर्थ की ऊलजलूल कल्पनाओं से घिरा हुआ मनुष्य तनाव, व्यथा और अशान्ति से जीता है। जीवन को, यथार्थ जीवन को तथा उसके उद्देश्य और लक्ष्य को जानने के लिए झील की तरह शान्तचित्त चाहिए, जिसमें कोई भी विक्षोभ या व्यग्रता की लहर न हो। ऐसे भग्नचित्त को लेकर आप यथार्थरूप से कुछ जान सकें, या पा सकें, यह सम्भव नहीं। यह दशा चित्त की रुग्ण दशा है। इसमें चित्त दर्पण की तरह निर्मल, स्वच्छ एवं शुद्ध नहीं होता, जिस पर सद् ज्ञान प्रतिबिम्बित हो सके।

एक युवक था। उसने एक बहुत बड़े धनिक को देखकर धनवान बनने का विचार किया। कई दिनों तक वह कमाई में लगा रहा, कुछ पैसे भी कमा लिए। इसी बीच उसकी भेंट एक विद्वान् से हुई। विद्वान् की सर्वत्र प्रतिष्ठा और प्रशंसा होती देख उसने कल्पना की कि मैं विद्वान् बन जाऊँ तो ठीक रहेगा। दूसरे ही दिन वह कमाई छोड़कर अध्ययन करने में लग गया। अभी कुछ लिखना-पढ़ना सीख ही पाया था कि उसकी भेंट एक संगीतज्ञ से हुई। संगीत से लोगों को अधिक आकर्षित होते देखकर उसे भी संगीतज्ञ बनने की धुन लगी और उसी दिन से पढ़ाई छोड़-छाड़कर वह संगीत सीखने लगा। उसके बाद एक दिन उसने एक नेताजी का धुँआधार भाषण सुना। लाखों आदमियों की भीड़ उनकी सभा में देखकर उसका संगीत सीखने का विचार बदल गया और नेता बनने की फिराक में लगा। नेताजी के साथ-साथ वह

जगह-जगह घूमने लगा। काफी उम्र बीत गई। वह युवक अब प्रौढ़ क्या, बूढ़ा हो गया, लेकिन न तो वह धनिक बन सका, न विद्वान् और न ही वह संगीतज्ञ बन पाया और नेता भी न बन पाया। तब उसे अपनी असफलता पर बड़ा दुःख हुआ।

एक दिन उसे एक महात्मा मिल गए। महात्मा से उसने अपनी सारी व्यथा-कथा कह सुनाई। महात्मा ने मुस्करा कर कहा—"बेटा ! दुनिया बड़ी चिकनी है, जहाँ जाओगे, वहाँ कोई न कोई आकर्षण देखकर तुम फिसल जाओगे। इसलिए इस प्रकार के भग्नचित्त को लेकर मत घूमो, दत्तचित्त होकर एक कार्य का निश्चय करके उसमें लग जाओ। तुम सब कुछ पा सकोगे। सफलतारूपी लक्ष्मी तुम्हारे चरणों में लौटेगी। बार-बार रुचि बदलने और नई-नई रंगीन कल्पनाओं में विचरण करने से तुम्हें उन्नति एवं समृद्धि नहीं प्राप्त होगी।"

महात्मा का मार्गदर्शन पाकर युवक एक उद्देश्य निश्चित करके एक ही कार्य में संलग्न होकर अभ्यास करने लगा।

यह है भग्नचित्त का ज्वलन्त उदाहरण, जो बार-बार कल्पनाओं या रुचियों के बदलने का सूचक है। एक पाश्चात्य लेखक हेरी ए० ओवरस्ट्रीट (Harry A. Overstreet) इस सम्बन्ध में यथार्थ कहता है—

"The immature mind hops from one thing to another; the mature mind seeks to follow through."

"अपरिपक्व चित्त एक चीज से दूसरी चीज पर फुदकता—उछलता रहता है, जबकि परिपक्व चित्त एक ही उद्देश्य का अनुसरण ढूंढता है।"

प्रतिदिन कोई न कोई मन्तव्य बनाते रहने और दूसरे दिन उसे बदलते रहने से किसी भी काम में सफलता और विजयश्री नहीं मिलती, न कोई समस्या हल होती है। ऐसा करने से वह संभिन्नचित्त व्यक्ति हर प्रयत्न में विचलित और असफल होता है। कहावत है—

आधी छोड़ सारी को धावे, आधी रहे न सारी पावे।

तात्पर्य यह है कि अनेक कल्पनाएँ करने की अपेक्षा किसी एक विचार या कार्य में दृढ़तापूर्वक चित्त को स्थिर करना अधिक लाभदायक होता है। विजयश्री या सफलता के दर्शन भी उसी में होते हैं। चाहे उसमें प्रारम्भ में थोड़ा ही लाभ हो, पर दृढ़ता के साथ उस पर टिके रहने से अन्त में सफलता मिलती ही है। इसके विपरीत जो लोग किसी व्यक्ति की किसी कार्य में बहुत बड़ी सफलता देखकर या किसी महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर उस कार्य में बिना सोचे-समझे कूद पड़ते हैं, किन्तु चित्त की भग्नता के कारण वे कुछ ही दिनों में असफल हो जाते हैं, तब उनका विश्वास टूट जाता है, आशाओं के किले ढह जाते हैं, हृदय की सारी उमंगें भग्न हो जाती हैं। ऐसे लोग भी भग्नचित्त होते हैं। वे अपनी मनोवृत्ति पल-पल पर बदलते रहते हैं और

जिस कार्य में विजयश्री पाने के लिए उत्सुक होते हैं, उसमें जब पूरी तरह से सारी शक्ति लगाकर सक्रिय नहीं होते और न ही उपयुक्त साधन जुटाते हैं, तब उन्हें विजय-श्री कैसे मिल सकती है ? जिसके चित्त की स्थिति डांवाडोल रहती है, वह कभी एक कार्य, फिर दूसरा और फिर तीसरा, इस तरह से इधर-उधर चक्कर काटता रहता है और जिस कार्य को करने चले थे, वह अधूरा ही रह जाता है।

अमेरिका के प्रसिद्ध धनवान 'राथ्स चाइल्ड' ने किसी युवक को सलाह देते हुए कहा था—"तुम्हें जो भी व्यवसाय पसंद हो, उसी में लग जाओ, इस प्रकार तुम्हें अधिकाधिक लक्ष्मी, सफलता और कीर्ति मिल सकेगी। पर यदि तुम एक साथ ही होटल वाले, अर्थशास्त्री, व्यापारी, कारीगर आदि सब तरह के काम करने की कोशिश करोगे तो अखबारों में तुम्हारा नाम दिवालिया होने वालों के स्तम्भ में निकलने में देर न लगेगी।"

इस प्रकार जो व्यक्ति संभिन्नचित्त होकर अपने समय और श्रम को इधर-उधर के अनेक कामों में व्यर्थ ही खोता रहता है, उसे सफलता और श्री की आशा कदापि नहीं रखनी चाहिए।

लन्दन में एक व्यक्ति ने अपने निवास-स्थान पर एक साइनबोर्ड लगा रखा था, उस पर लिखा था—"यहाँ सामान बदला जाता है, खबर ले जाई जाती है, फर्श धोये जाते हैं और किसी भी विषय पर कविता लिखी जाती है।" कहने की आवश्य-कता नहीं कि इनमें से किसी भी काम को वह मनुष्य ठीक तरह से नहीं जानता था, न कर सकता था। फलतः इन असम्बद्ध और बेमेल कामों में उसे जीवनभर जरा भी सफलता नहीं मिली और न ही कुछ धन मिला। क्योंकि लोग ऐसे व्यक्ति को सनकी, विक्षिप्त-चित्त और झक्की समझते थे। ऐसे अनाड़ी को काम देना कोई भी समझदार पसंद नहीं करता था। भला, ऐसे हरफनमौला को कोई भी समझदार आदमी किसी जिम्मेदारी का काम कैसे सौंप सकता है, जो एक-एक घंटे में अपने विचार बदलता हो।

पागल आदमी का भी चित्त विक्षिप्त रहता है, वह कभी कुछ बोलता है, कभी कुछ। उसका पूर्वापर कथन असम्बद्ध-सा मालूम देता है। ऐसे उखड़े हुए चित्त वाला व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। धार्मिक क्षेत्र में भी वह अपने लक्ष्य की ओर गति नहीं कर सकता, वह आज एक साधना को स्वीकार करेगा, कल दूसरी साधना पकड़ लेगा। उससे न जप होगा और न तप, न वह किसी धर्मक्रिया को ठीक से कर सकेगा, न ही किसी विधि को पूर्ण कर सकेगा। आर्थिक क्षेत्र में तो वह सर्वथा असफल रहेगा। व्यावहारिक क्षेत्र में भी वह किसी भी कार्य को पूरी जिम्मेदारी के साथ, लगन के साथ नहीं कर सकेगा।

युद्ध में लड़ने का काम सैनिक करते हैं, किन्तु विजय का श्रेय कमाण्डर को मिलता है। क्या कभी आपने सोचा है, ऐसा क्यों होता है ? समझदार लोग जानते हैं कि युद्ध की सारी योजना एवं व्यूहरचना की योजना सेनापति ही बनाता है। वही

यह निश्चित करता है कि किस टुकड़ी को कहाँ लगाया जाय ? कहाँ गोला-बारूद या रसद भेजा जाए ? कहाँ की संचारव्यवस्था कैसी हो ? सेनापति स्वयं सहसा युद्ध में नहीं कूदता, परन्तु युद्ध का सारा नक्शा उसके मस्तिष्क में चित्रपट की तरह घूमता रहता है। उसका चित्त युद्ध के दौरान कदापि इधर-उधर के व्यर्थ के कामों में नहीं जाता। अगर वह संभिन्नचित्त होकर अपना ध्यान वार-बार अन्यान्य अनावश्यक एवं असम्बद्ध कार्यों में मोड़ता है तो युद्ध में कदापि विजयश्री पा नहीं सकता। वह चित्त की पूर्ण एकाग्रता एवं तन्मयता से अपनी जिम्मेदारी के कार्य का विश्लेषण करता रहता है, तब कहीं विजय का श्रेय उसे मिल पाता है। अगर सेनापति युद्ध के दौरान अनेक उतार-चढ़ाव आने पर वार-बार अपने चित्त को डांवाडोल करता रहे, बात-बात में वहाँ से भागने-उखड़ने लगे तो उसे विजयश्री के बदले पराजय का मुँह देखना पड़ता है।

जैसे संग्राम में सेनापति को संभिन्नचित्तता छोड़कर एकाग्रता, तन्मयता और संलग्नता के साथ ठीक संचालन करना पड़ता है, तभी वह विजयश्री पाता है, वैसे ही जीवन-संग्राम में विजयश्री प्राप्त करने के लिए भी संभिन्नचित्तता छोड़कर चित्त की एकाग्रता और संलग्नता अपेक्षित है। इसीलिए किसी कवि की ये पंक्तियाँ कितनी प्रेरणादायक हैं—

जीवन है संग्राम बंदे ! जीवन है संग्राम।
जन्म लिया तो जी ले बन्दे ! डरने का क्या काम ? बन्दे....
जो लड़ता कुछ करता वन्दे ! जो डरता सो मरता बंदे !
जो रोना था, क्यों आया तू, जीवन के मैदान। बंदे...

सम्भिन्नचित्त का दूसरा अर्थ : टूटा हुआ चित्त

सम्भिन्नचित्त का दूसरा अर्थ है—**टूटा हुआ चित्त**। टूटे हुए चित्त का अर्थ है—जीवन संग्राम में चलते-चलते कहीं थपेड़ा लगा विपत्ति का, कभी आफत की आँधी आई, या कभी कर्जदारी की नौवत आ गई, या जरा-सा व्यापार में घाटे का झौंका आ गया, किसी इष्टजन का वियोग हो गया, अथवा कोई इष्टवस्तु हाथ से चली गई, उस समय अपने लक्ष्य से हट जाना, निराश और हताश होकर सब कुछ छोड़-छाड़कर बैठ जाना, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर चित्त को निराशा की भट्टी में झौंक देना। ये और इस प्रकार की परिस्थितियों में चित्त टूट जाता है। चित्त की जो तेजस्वी शक्ति थी, वह नष्ट हो जाती है। इस प्रकार टूटे हुए चित्त का व्यक्ति अपने पर आई हुई विपत्तियों को अपने पर हावी होने देता है, वह विपत्ति की सम्भावना अथवा उसके आने पर घबराकर उद्विग्न और अशान्त हो जाता है, उसका समग्र जीवन निराशापूर्ण, कटुता से भरा और दु:खित हो जाता है।

चित्त जब टूट जाता है तो वह अशान्त और उद्विग्न हो जाता है। ऐसे टूटे चित्त वाले व्यक्ति के भाग्य से जीवन के सारी सुख-सुविधा, सम्पत्ति और विभूति रूठ

जाती है। उसके विकास और उन्नति की सारी सम्भावनाएँ काफूर हो जाती हैं। निराशा, विषाद और आर्तध्यान उसे रोग की तरह घेरे रहते हैं। न उसे भोजन अच्छा लगता है, न नींद आती है और न किसी के साथ प्रेम से बातचीत करना सुहाता है। वह जरा-जरा-सी बात पर कुढ़ता, खीजता और चिढ़ता है। बड़ी-बड़ी अप्रिय एवं अस्वास्थ्यकर कुण्ठाओं से उसका चित्त भरा रहता है।

संभिन्नचित्त : तुनुकमिजाज

ऐसा भग्नचित्त व्यक्ति तुनुकमिजाजवाला भी बन जाता है। तुनुकमिजाजी एक बड़ी भारी दिमागी बीमारी है, जो प्रतिक्षण चित्त की प्रसन्नता, हँसी-खुशी और सामंजस्य पर चोट करती रहती है। तुनुकमिजाजी के कुछ उदाहरण लीजिए—

एक युवक की अपने कार्यालय में किसी कारणवश थोड़ी-सी भर्त्सना हो गई कि बस तुनुकमिजाज का पारा लाल बिन्दु तक चढ़ गया। उसके प्रतिकूल कल्पनाओं का झंझावात उठा—अब तो इस कार्यालय में अथवा अमुक अधिकारी के मातहत काम करने का धर्म ही नहीं रहा। एक स्वाभिमानी व्यक्ति ये सब बातें कैसे बरदाश्त कर सकता है? आखिर मैं भी सरकारी नौकर हूँ। मेरी भी अपनी कुछ प्रतिष्ठा है। कुछ भी हो, ऐसा अपमानित जीवन जीकर नौकरी अब नहीं करूँगा।' बस, इस कल्पना के सक्रिय होने में क्या देर लगती है? तुनुकमिजाज युवक ने फट् से इस्तीफा लिखकर पेश कर दिया। अधिकारी ने उसका इस्तीफा मंजूर कर लिया और वह टाइप होकर उसके हाथ में आ गया। बस, तुनुकमिजाज साहब उसे लेकर अपने सहकर्मचारियों की मेजों पर जाकर लगे बड़बड़ाने—'भाई! मैंने तो इस नौकरी से अलविदा ले ली है। मैं सरकार से इस बात की लिखा-पढ़ी करूँगा। जरा-जरा-सी बात पर बिगड़ उठना अफसरों की आदत बन गई है। अपने मातहतों को तो वे तिनके की तरह तुच्छ समझते हैं।' अपनी सनक में उसे भान ही नहीं रहता कि जिस सहकर्मचारी की मेज के पास खड़ा वह गुब्बार निकाल रहा है, उस पर क्या बीतेगी? यदि उसका अधिकारी यह सुन या देख लेगा तो उसे भी इन अनर्गल बातों में शामिल समझ लेगा, उसको भी नौकरी से बरखास्त कर देगा। आफिसर से उसे बिगाड़ना नहीं है, बनाये रखना है। लेकिन तुनुकमिजाज को इसकी परवाह नहीं होती है। आखिरकार साथी उसे कह ही देते हैं—"कृपया ये सब बातें यहाँ न करिये, बाहर जाकर आपके मन में आए सो कहें और बकें।"

बस, इस पर तुनकमिजाज का पारा और गर्म हो गया। अपना अपमान समझकर साथी को भी विरोधी मानने लगे और उसी सनक में बकने लगे—"ये सब अफसरों के गुलाम हैं। किसी में भी स्वाभिमान नहीं है। सबके सब बुरे हैं। कोई उसकी बात का समर्थन नहीं करता।"

जब घर गया, एकाकी बैठकर ठंडे दिल-दिमाग से सोचा तो अपनी गलती मालूम हुई, पश्चात्ताप हुआ कि जरा-सी बात पर आफिसर से क्यों बिगाड़ लिया। पर अब क्या हो सकता था? अब तो उसका नाम कट चुका होता है, आचरण-

पुस्तिका में उसके विरुद्ध टिप्पणी लिखी जा चुकी होती है। यदि कदाचित् आफिसर से माफी माँगने और इस्तीफा वापस लेने पर वह नौकरी मिल भी जाए तो आगामी वेतन वृद्धि में खतरा पैदा हो चुकता है, साथियों की नापसन्दगी या उपेक्षा के पात्र बन चुके होते हैं। अपनी तुनुकमिजाजी के कारण जरा-सी बात का बतंगड़ बनाकर कितनी हानि कर ली। यही तो संभिन्नचित्त से बहुत बड़ी हानि है।

और लीजिए तुनुकमिजाजी के दौर! तुनुकमिजाज एक दिन घर में रात को देर से पहुँचे। इस पर उसकी पत्नी ने जरा-सी शिकायत कर दी कि आपको दूसरे की तकलीफ-आराम का तो जरा भी खयाल नहीं है। कितनी रात बीते तक मैं खाना लिए बैठी रहूँ। घर के और भी तो काम निपटाने होते हैं। बस, तुनुकमिजाजी का दौरा शुरू हो गया—'पत्नी बड़ी धृष्ट है। मेरे प्रति अपनापन तो बिलकुल ही नहीं। खाना क्या पका लेती है, मानो पहाड़ तोड़ देती है। जरा-सा बैठना पड़ गया तो इसकी कोमल कली-सी देह छिल गई। मेरा अपने दोस्तों के साथ बैठना तो इसे फूटी आँखों नहीं सुहाता। मेरे प्रेम और परिश्रम की तो कोई कीमत ही नहीं। क्या मैं इसका खरीदा हुआ गुलाम हूँ, जो इसके इशारों पर नाचूं, इसके संकेतों पर कहीं जाऊँ-आऊँ, उठूँ-बैठूँ। घर में आऊँगा ही नहीं तो रोज-रोज की खटखट समाप्त हो जायगी। बाजार बहुत पड़ा है, होटलें क्या कम हैं? कहीं भी चाहूँगा, खा लूंगा।' बात कुछ भी नहीं थी, पत्नी की शिकायत भी यथार्थ और उचित थी, लेकिन तुनुकमिजाजी ने तिल का ताड़ बना दिया। घर में खाना बन्द हो गया। पत्नी से रूठ गये। होटल में खाकर पेट भरने का कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया। पैसे के साथ स्वास्थ्य की भी बर्बादी होने लगी। पत्नी बेचारी मन ही मन दुःखित होती, पर करती क्या? अच्छे से अच्छा खाना बनाकर प्रस्तुत करती पर खाते ही नहीं, उत्तेजित होकर थाली फैंक देते। बच्चों के कारण खाना बनाना पड़ता था, वरना बेचारी उपवास भी करती। रो-झींककर थोड़ा-सा बेमन से खा भी लिया तो वह अंग में क्या लगता।

बच्चों, पड़ौसियों और देखने-सुनने वालों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? लोगों की नजरों में ओछे, सनकी, जिद्दी तथा झक्की सिद्ध हो रहे हैं। इसकी कोई परवाह नहीं। होटल ने जेब खाली कर दी, पेट का बुरा हाल हो गया, तब जाकर श्रीमान की खुमारी उतरी। तब अपनी गलती के लिए पश्चात्तापपूर्वक पत्नी से क्षमा माँगते हैं। पत्नी मान जाती हैं। परन्तु धन, स्वास्थ्य और मन की क्षति हुई, प्रतिष्ठा को हानि पहुँची, यह तुनुक मिजाजी कितनी मँहगी पड़ी।

ये तुनुकमिजाजी लोग व्यर्थ ही खर्च करके दरिद्र हो जाते हैं, फिर भी अपना फटाटोप करना नहीं छोड़ते।

कुछ सम्भिन्नचित्त लोग झक्की या धुनी होते हैं। झक्की आदमी को कुछ न कुछ विचित्र बात करते रहने की धुन सवार होती है। आपने देखा होगा कि कुछ लोग बार-बार एक ही काम को किये जाते हैं। एक महिला को झक सवार हो गई

थी कि वह घर में बार-बार झाड़ू लगाती थी। यदि कोई बच्चा या बड़ा तनिक-सी गन्दगी कर देता तो वह बुरी तरह उखड़ पड़ती थी।

मैंने एक झक्की को देखा है, जो टट्टी जाने के बाद बार-बार मिट्टी से अनेक बार अपने हाथ धोता था। बीसियों बार मिट्टी से हाथ धोने के बाद भी वह साबुन से हाथ धोता था। उसे यही भ्रमपूर्ण और सन्देहात्मक कल्पना रहती थी कि टट्टी अब भी हाथ में लगी रह गई है।

एक सज्जन अपने आपको बड़ा भक्त कहते और अछूतों से घृणा करते थे। यदि कोई शूद्र घर में आ जाता तो वे फर्श को कई बार धुलवाते थे। बाहर से खरीदे हुए पदार्थ को भी वे धोते थे और किसी से छू जाने पर वे कई बार नहाते थे।

सम्भिन्नचित्त व टूटे हुए चित्त कुण्ठाग्रस्त भी होते हैं।

कुण्ठा चित्त में किसी भाव को दबाने से उत्पन्न होती है। बचपन की किसी कटु अनुभूति के कारण ये दमित या दलित (कुण्ठित) भाव दुःख और व्याधि के कारण बनते हैं और मनुष्य को परेशान किये रहते हैं। ऐसे कुण्ठाग्रस्त चित्त वाला व्यक्ति किसी काम में सफलता, शोभा या सुखशान्ति नहीं पाता। क्रोधी, चिड़चिड़ी, बात-बात में झगड़ा करने वाली कर्कशा नारी के बिगड़े हुए स्वभाव का कारण कुण्ठाग्रस्त चित्त ही है, जो प्रायः बचपन में उस पर किये गये नाना प्रकार के दमन के कारण बनता है।

कई नारियाँ या पुरुष छोटे बच्चों से बहुत घृणा करते हैं, उसका कारण यही कुण्ठाग्रस्तचित्त है, उनमें मातृत्व या पितृत्व के सहजभाव पनप नहीं पाये हैं, कुण्ठित हो गए हैं।

एक लड़का था, जो छोटे-छोटे जानवरों को पीटने और सताने में आनन्द मानता था। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि वास्तव में वह लड़का अपने में कुण्ठित (छिपे हुए) पौरुष और शासन करने के भाव को गलत तरीके से व्यक्त कर रहा था। सम्भव है, ऐसा लड़का आगे चलकर दुष्ट और हत्यारे के रूप में पनपे।

एक युवक था। उसका विवाह उसकी मनोनीत प्रेमिका से होना तय हो चुका था। इससे वह जोश में आ गया था। परन्तु अकस्मात उसका वह सम्बन्ध टूट गया। तब उसे निराशा का भारी धक्का लगा। वह टूटे हुए चित्त का युवक विद्रोही बन गया। विध्वंसात्मक प्रवृत्ति में पड़कर समाज से प्रतिशोध लेने पर उतारू हो गया। इस प्रकार के कुण्ठाग्रस्त टूटे हुए चित्त वाले व्यक्तियों में क्रोध का ज्वाला-मुखी, घृणा का तूफान या आवेश की सुलगती आग भड़क उठती है, जो उसके चित्त के अनुकूल, प्रिय, सम्बन्धित कार्य में लगने से शान्त हो सकती है।

एक उत्पातकारी विद्यार्थी के विषय में सुना था। वह कालेज में जाते हुए बाग के पेड़ और फल तोड़ता, मालियों को परेशान करता और विद्यार्थियों को पीट देता था। सभी उससे तंग थे। पढ़ने में उसका मन कतई नहीं लगता था। एक मनो-

वैज्ञानिक ने उसके कुण्ठाग्रस्त चित्त को सुधारने के लिए सेना में भर्ती करा देने की सलाह दी। फलतः वह भर्ती करा दिया गया। आज वह एक अच्छा फौजी जनरल है। सैनिक जीवन की कठोरताओं में भी वह सफलता पाता रहा।

कई कुण्ठाग्रस्त लोग अन्दर ही अन्दर घुलते रहते हैं, कोई आन्तरिक दुःख, पीड़ा, व्यथा या वेदना उन्हें व्यथित करती रहती है। इस प्रकार के आन्तरिक दुःख का कारण गुप्त (अवचेतन) मन में कटु स्मृतियों या भावी आशंकाओं को सहेजना और सतत उन्हें पोसना है। ऐसे लोगों के चित्त पर एक बोझ हो जाता है, जो हटाने का प्रयत्न किये जाने पर भी नहीं हटता, चित्त का भार हलका नहीं होता। ऐसे व्यक्ति ऊपर से हँसते हैं, पर अन्दर से निराशा की काली छाया से घिरे रहते हैं। जब वे एकान्त में होते हैं, तब विक्षुब्ध होकर रोते हैं, आँसू बहाते हैं, संसार उन्हें अन्धकारपूर्ण एवं निराशा से भरा लगता है।

ऐसे व्यक्ति का किसी भी काम में मन नहीं लगता। सब व्यर्थ-सा जान पड़ता है उसे। न उसका जप-तप में चित्त लगता है न धर्म-ध्यान में। कभी-कभी वह अत्यन्त दुःखित होकर आत्महत्या करने पर उतारू हो जाता है। आर्तध्यान की इस प्रक्रिया का नाम कुण्ठित चित्त है। ऐसे कुण्ठितचित्त व्यक्ति के चित्त का भार उसके प्रति आत्मीयता रखने वाले इष्ट मित्रों या सज्जनों द्वारा ही हलका हो सकता है। ऐसे लोगों से खुलकर बातें करने से वे अपनी असली व्यथा प्रकट करते हैं। उनके साथ सान्त्वनापूर्वक बात करने से चित्त में छिपी हुई मिथ्याभीति या शंका निर्मूल हो सकती हैं।

बन्धुओ ! ऐसा कुण्ठितचित्त व्यक्ति कैसे श्रीसम्पन्न हो सकता है? उसके भाग्य में तो दरिद्रता ही लिखी होती है। क्योंकि कुण्ठितचित्त के कारण वह यथार्थ दिशा में पुरुषार्थ नहीं कर सकता, और जब पुरुषार्थ नहीं करेगा तो भौतिक या आध्यात्मिक किसी भी प्रकार की श्री उसके जीवन में निवास नहीं कर सकेगी। वह दरिद्रता से घिरा हुआ रहेगा।

इसीलिए योगवशिष्ठ (३।२२।२२) में कहा है—

'अनुद्वेगः श्रियोमूलम्'

"चित्त का उद्विग्न न होना ही श्री का मूल है।"

सम्भिन्नचित्त के दो अर्थों पर मैं विस्तार से विवेचन कर चुका हूँ। अन्य अर्थों पर अगले क्रम में विवेचन करने की भावना है।

आशा है, आप सब महर्षि गौतम के संकेत के अनुसार **सम्भिन्नचित्त** से बच कर सम्यक् पुरुषार्थ करेंगे और 'श्री' से सच्चे माने में सम्पन्न होंगे। ☆

२८

संभिन्नचित्त होता श्री से वंचित : २

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष गौतमकुलक के पच्चीसवें जीवनसूत्र पर ही चिन्तन प्रस्तुत करूँगा। कल मैंने इसी सूत्र पर 'श्री' का महत्त्व, श्रीसम्पन्नता और श्रीहीनता तथा श्री के निवास-अनिवास पर वर्णन करते हुए 'संभिन्नचित्त' शब्द के दो अर्थों पर विवेचन किया था। आज उससे आगे के अन्य अर्थों पर मैं अपना चिन्तन प्रस्तुत करूँगा।

'संभिन्नचित्त' का तीसरा अर्थ : रूठा हुआ, विरुद्ध चित्त

संभिन्नचित्त का तीसरा अर्थ रूठा हुआ चित्त भी होता है। संभिन्न का अर्थ विरुद्ध होता है, अतः इसमें से रूठा हुआ अर्थ फलित होता है।

प्रायः लोगों की यह शिकायत रहती है कि 'हमारा चित्त अशुद्ध है।' यह शिकायत ठीक भी है। अगर उनका चित्त अशुद्ध न होता तो उन्हें दुःख-द्वन्द्वों का सामना न करना पड़ता। मनुष्य चाहता है कि चित्त उसके वश में रहे, सत्कार्यों को करे, प्रसन्न रहे, किन्तु चित्त की उच्छृंखलता के कारण यह ऐसा नहीं कर पाता। चित्तदोष के कारण उसका चित्त उच्छृंखल एवं विरोधी हो जाता है, इसे ही रूठा चित्त कहा जाता है। यही कारण है कि उच्छृंखल एवं विरोधी चित्त वाला मनुष्य न चाहते हुए भी असत्कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। फलस्वरूप वह दुःख, शोक और पश्चात्ताप का भागी बनता है।

वस्तुतः लोगों की यह शिकायत सही है कि हमारा चित्त बुराई से हटता नहीं; चाहते तो बहुत हैं, धर्मध्यान भी करते हैं, जप, तप, एवं उपासना तथा सामायिक आदि अनुष्ठान भी करते हैं, किन्तु फिर भी चित्त विषयों से हटता ही नहीं, बुराइयाँ हर क्षण चित्त में आती रहती हैं।

वस्तुतः व्यक्ति को रुचि जिन विषयों में होती है, उसी में वह तृप्ति अनुभव करता है, उन्हीं का चिन्तन करता है। चित्त को जब किसी विषय में रुचि नहीं होती, तभी वह अन्यत्र भागता है। चित्त तो व्यक्ति की इच्छानुसार रुचि लेता है। जिन व्यक्तियों को तरह-तरह की स्वादिष्ट वस्तुएँ खाते रहने में रुचि होती है, वे इसी में भटकते रहते हैं। स्वादिष्ट चीजें बार-बार खाते रहने पर भी किसी से उनकी तृप्ति नहीं होती। एक के बाद दूसरे पदार्थ में अधिक स्वाद प्रतीत होता है। इस स्वाद के चक्कर में न तो उन्हें अपने स्वास्थ्य का ध्यान रहता है और न भविष्य का। उनका पाचन संस्थान खराब हो जाता है, स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, तब कहते हैं—हम क्या

करें ? हमारा चित्त नहीं मानता । भला चित्त का क्या दोष है ? चित्त तो आपका सहायकमात्र है, वह जिस वस्तु में आपकी रुचि देखता है, उसी ओर और वही कार्य किया करता है ।

दूसरा व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहता है, वह स्वाद के लोभ में पड़कर अंटसंट नहीं खाता । वह आसन, प्राणायाम, व्यायाम आदि करता है, इसी प्रकार जप, तप, ध्यान, मौन, संयम आदि क्रियाएँ भी करता है । उसका चित्त उस विषय में सहायक बनता है । यों चित्त आपकी इच्छाएँ पूर्ण करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसे शत्रु नहीं मित्र समझना चाहिए ।

वयस्क मनुष्य के लिए प्रायः यह बात अज्ञात नहीं रह गई है कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं ? क्या करने में उसका कल्याण या अकल्याण है ? परन्तु कल्याणकारी कार्य करना चाहते हुए भी वह नहीं कर पाता, प्रत्युत उससे परवश ही ऐसे कार्य हो जाते हैं, जो अमांगलिक एवं अकल्याणकारी होते हैं, वे न सामाजिक दृष्टि से लाभदायक होते हैं, न आर्थिक-धार्मिक दृष्टि से भी । ऐसी स्थिति में उसे पश्चात्ताप होता है । वह मन ही मन रोता, खीजता और स्वयं को कोसता है। वह यह भी जानता है कि इस प्रकार के अवांछनीय कार्य उसे प्रगतिपथ पर, सुख-शान्ति, श्री एवं सुधी के महामार्ग पर नहीं बढ़ने देंगे, जिसके कारण उसका बहुमूल्य मानव-जीवन यों ही नष्ट होकर वृथा चला जाएगा, उसे आत्मा के अभ्युदय एवं श्रेय का अवसर नहीं मिलेगा ।

मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है, वह आत्मकल्याण का अधिकारो बने, मुक्तिलक्ष्मी प्राप्त करे, या स्वर्गश्री को उपलब्ध करे, मानवजीवन का सदुपयोग करे । किन्तु खेद है, चित्त की इसी संभिन्नता के कारण जो कि चित्तदोष के कारण होती है, वह अपने इस महान् उद्देश्य में सफल नहीं हो पाता । चित्त की उच्छृंखलता के कारण वह ऐसा नहीं कर पाता । अगर चित्त स्वाधीन एवं अनुशासित हो जाए तो वह निरुपद्रवी होकर सत्कर्मों और शुभ संकल्पों के माध्यम से सुख का हेतु बनता है । इसी कारण हर मनुष्य चित्त को स्वाधीन रखना चाहता है, मगर स्वाधीन वह तभी हो सकता है, जब वह निर्दोष हो । सदोष या अशुद्धचित्त उपद्रवी होता है। वह विपरीतगामी होने से मनुष्य को भयावह अन्धकार की ओर लिये भागता रहता है ।

बहुधा लोग मान लेते हैं कि चित्त की चंचलता ही चित्तदोष है, जिसके कारण वे उसे वश नहीं कर पाते । परन्तु चित्त की चंचलता वास्तव में उसका दोष नहीं है, बल्कि चित्त की चंचलता उसकी विकलता है, छटपटाहट है, जो शुद्धि पाने की इच्छा एवं प्रयत्न से होती है । चित्त की चंचलता इस बात की द्योतक है कि वह अपने अभीष्ट लक्ष्य को नहीं पा रहा है, जिसके लिए लालायित होकर वह भागा-भागा फिर रहा है ।

नैसर्गिक नियमानुसार चित्त स्वभावतः शुद्धि की ओर स्वतः गतिशील रहा करता है, लेकिन जब तक उसे अभीष्ट शुद्धता नहीं मिलती है; तब तक वह एक ओर

से दूसरी ओर भागता रहता है। अभीष्ट शुद्धता है —उसकी स्वाभाविकता, प्रसन्नता। वह जब मिल जाती है तो यह सन्तुष्ट, स्थिर एवं शान्त हो जाता है। फिर न वह व्यग्र होता है, न चंचल और न ही उच्छृंखल—विरोधी। चित्त को जो स्ववश करना चाहता है, उसे चाहिए कि वह अभीष्ट शुद्धि की ओर गतिशील होने में उसे मदद दे। एक बार उसे अपने केन्द्रबिन्दु तक पहुँच जाने में सहायता करे जिससे कि वह शुद्ध एवं प्रबुद्ध होकर पिता द्वारा पाले-पोसे हुए सयाने पुत्र की तरह मनुष्य को सहायक एवं सुखदाता बन सके।

चित्त में अस्वाभाविकता आना ही उसकी अशुद्धि है। जिसके कारण मनुष्य उसे वश में नहीं रख पाते। वासनाओं की तृप्ति या विषयोत्पत्ति को ही मनुष्य जब जीवन मान लेता है, तब उसमें अस्वाभाविकता आती है, जो कि अशुद्धि का कारण है। वासनाओं से परे सत्य, शिव और सुन्दर जीवन की अनुभूति कर लेने पर मनुष्य का चित्त शान्त, सन्तुष्ट एवं स्थिर हो जाता है। चित्तशुद्धि के लिए वस्तुओं—सांसारिक, नश्वर एवं परिवर्तनशील वस्तुओं—से निःसंग, निर्मोह एवं निरासक्त रहना आवश्यक है। असंगता (संयोग से विप्रमुक्ति) आ जाने पर मनुष्य के चित्त में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममत्व एवं अहंकार आदि वे विकृतियाँ नहीं रह पातीं, जो चित्त की अशुद्धि या मल कही गई हैं। जब ये विकृतियाँ नहीं रहेगी, तब चित्त शुद्ध, शान्त एवं स्थिर रहेगा, जिससे एक शाश्वत, सात्त्विक, अनिर्वचनीय प्रसन्नता प्राप्त होती है, जो जीवन का लक्ष्य है।

श्रमण भगवान महावीर ने भी दूषित चित्त को व्यक्ति के लिए दुःखों की परम्परा बताया है—

पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे —उत्तराध्ययन सूत्र

जिसका चित्त प्रदुष्ट, अशुद्ध, दूषित है, वह दुष्कर्मों का संचय करता है, और वे ही दुष्कर्म फल भोगने के समय उसके लिए दुःखरूप होते हैं।

निष्कर्ष यह है कि जब तक आपका चित्त अशुद्ध एवं दोषयुक्त रहेगा, तब तक आपकी कोई भी क्रिया, यहाँ तक कि कोई भी जप, तप, स्वाध्याम, ध्यान आदि धर्मक्रिया शुद्ध नहीं होगी। भिन्नचित्त को कोई भी सफलता, सिद्धि या लक्ष्मी प्राप्त नहीं होगी। एक कवि बहुत ही सुन्दर उक्ति कहता है—

मन[1] का कलुष अगर ज्यों का त्यों, लाख संवारो तन क्या होगा?
दिन-दिन भारी अधिक गठरिया, छिन-छिन मैली अधिक चदरिया।
पल-पल प्यास प्रबल होती है, रह-रह रिसती अधिक गगरिया॥
आज न वल्गा[2] अगर कसी तो, कल सौ करो जतन क्या होगा?

---

१ 'युगगायन' से, २ वल्गा का अर्थ है—लगाम

अतः चित्त के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करेंगे, तभी चित्त संभिन्न न रहकर आप का चित्त एकाग्र, अनुशासित, शान्त एवं स्वस्थ होगा। अतः आपके गुप्त चित्त में कोई प्रच्छन्न कसक, पीड़ा, व्यथा, दोष, ग्लानि आदि हो तो चित्त में रुके हुए उन दुष्ट विकारों को उसी तरह निकालकर फैंक दीजिये, जैसे आप अपने घर को झाड़बुहार कर स्वच्छ करते समय कूड़े-करकट को निकालकर बाहर फैंक देते हैं।

एक बात और है जिसे रूठे या टूटे चित्त वाले को समझ लेना है। दुनिया में बुद्धिमान उसे समझा जाता है, जो रूठे हुए को मनाना और टूटे हुए को बनाना जानता हो। आप अपने कपड़े, बर्तन, फर्नीचर, मकान आदि को कहीं टूट-फूट जाने पर एकदम फैंक नही देते, उसकी मरम्मत करते-कराते हैं। सब कुछ नया ही नया हो, यह कैसे हो सकता है? इस मामले में तो आप बड़े चतुर हैं। किन्तु चित्त यदि किसी कारणवश टूट रहा हो या टूटने की स्थिति में हो, उस समय क्या आप उसे सर्वथा फैंक देंगे, उसकी उपेक्षा कर देंगे, क्या आप उससे होशियारी से काम नहीं लेंगे? उसे भी आप टूटने नहीं देंगे। उसकी मरम्मत करेंगे। जहाँ कहीं चित्त की दरारों को जोड़ने वाले मित्र, स्नेही, गुरुजन या बुद्धिमान होंगे, उनसे सम्पर्क करके आप उसे जोड़ेंगे।

उसी प्रकार परिवार में भी कोई व्यक्ति किसी कारणवश रूठ जाए, उच्छृंखल होकर विद्रोह करने लगे तो क्या उससे परिवार का मुखिया भी रूठ बैठेगा? यों वह बात-बात में रूठने लगेगा तो परिवार चलाना भी कठिन हो जाएगा। परिवार में कभी पत्नी से अनबन हो जाती है, कभी बच्चों से कहासुनी हो जाती है, कभी भाई से मनमुटाव और कभी पड़ौसियों से चख-चख हो जाती है, अगर इस स्थिति को यों ही रहने दिया जाए या गेंठ को कड़ी करते रहा जाए तो काम नहीं चलेगा। उलझनें बढ़ती ही जाएँगी. जिनके साथ रहना है, उनसे मधुर सम्बन्ध बनाए रखने में ही फायदा है।

चित्त आपका निकट का सम्बन्धी है, आपके परिवार वालों, यहाँ तक कि शरीर और इन्द्रियों से अधिक समीप रहने वाला स्वजन है। चित्त की समझदारी और अनुकूलता-अधीनता से हमारे शरीर की अस्तव्यस्तता तथा सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक आदि सभी क्षेत्रों की उलझी हुई समस्याएँ मिनटों में सुलझ सकती है। प्रसिद्ध पाश्चात्य साहित्यकार गोल्डस्मिथ (Goldsmith) ने ठीक ही कहा है—

"A mind too vigorous and active serves only to consume the body to which it is joined, as the richest jewels are soonest found to wear their settings."

"चित्त अत्यन्त शक्तिशाली और कार्यक्षम है, पर आज वह शरीर के साथ जुड़ा होने पर भी सिर्फ उसे नष्ट करने की सेवा करता है, जैसे बहुमूल्य जवाहरात जहाँ पहनने के लिए जड़े जाते हैं वहीं वे टिक जाते हैं।"

यों तो चित्त आँखों से दिखाई नहीं देता। इसलिए उसका रूठना भी नहीं दीखता, मगर विवेक की आँख से देखें तो वह रूठा हुआ दृष्टिगोचर होगा। रूठने वाले की पहचान है—साथ न देना, कहना न मानना, उच्छृंखल होकर उलटे ही चलना, सहयोग न देना, वल्कि नुकसान और तोड़फोड़ ही अधिक करना। जब बच्चा रूठ जाता है तो घर का सामान तोड़ता-फोड़ता है, अपने हाथ पैर पछाड़ता है, घर को नुकसान पहुचाता है, स्वयं कष्ट पाता है। नौकर रूठ जाता है जो वह काम नहीं करता, करता है तो ऐसे ढँग से करता है कि मालिक को और उलटा नुकसान पहुँचे।

चित्त भी जब रूठ जाता है तो वह हमारे सत्कार्य एवं सद्विचार में सहयोग नहीं देता, उलटे-उलटे काम करने लगता है। कुमार्गगामी होकर सफलता के साधन रूप सद्गुणों को तोड़ता-फोड़ता रहता है, और अपने घर (अन्तर) में ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, छल, स्वार्थ. आदि विकारों को घुसा देता है। आत्मा के पास बैठकर कभी विचार नहीं करता कि इस घर का बनाव-बिगाड़, हानि-लाभ किस में है? यहाँ तक कि स्वाध्याय एवं सत्संग का भोजन लेना भी बन्द कर देता है। स्वयं निन्दा, तिरस्कार, दारिद्र्य, शोक-संताप एवं असफलता का भागी बनकर कष्ट पाता है, अपने मालिक को भी कष्ट में डाल देता है।

अत: अच्छा तो यही है कि चित्त को अधिक समय तक रूठे और विरुद्ध, उच्छृंखल बने रहने देना नहीं चाहिए। उसे समझा-बुझाकर, मनाकर झटपट अपना साथी-सहयोगी बना लेना चाहिए। अन्यथा रुष्ट, उच्छृंखल और विरोधी मन आपके जीवन की समस्त श्री (शोभा) को छिन्न-भिन्न और मटियामेट कर देगा।

पर मैं देख रहा हूँ कि आप लोगों में से अधिकांश का चित्त अब भी रुष्ट और विरोधी बना हुआ है। अगर चित्त ने सहयोग दिया होता तो शरीर की ऐसी दुर्गति न होती, जैसी आज है। व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों जीवनों में आपकी उन्नति और सन्तुलितता हो गई होती। चित्त आपका आज्ञाधीन होता तो उसने शरीर को स्वस्थ और समर्थ रखने के लिए संयम बरता होता। लोभ, काम, मोह, अहंकार आदि के चक्कर में न पड़ा होता, वल्कि विषयों से स्वयं निःस्पृह या अनासक्त रहकर आत्मा की सेवा में इन्द्रियों को लगाता; पर उसने तो आत्मा की फजीहत कर दी, उसकी प्रभुता को भी समाप्त-सी कर दी। अगर चित्त ने आहार-विहार में नियमितता रखी होती तो देह गुलाब के पुष्प की तरह खिली हुई और चेहरा प्रसन्न होता।

चित्त रूठा बैठा रहा, उसने शरीर, इन्द्रियों, वातावरण, पार्श्ववर्ती जन-समुदाय आदि की गतिविधि पर कोई ध्यान नहीं दिया। फलतः शरीर रुग्ण हो गया, इन्द्रियाँ शिथिल और अशक्त हो गई, आत्मा को भी अशान्ति और उद्विग्नता रही, वह किसी भी सत्कार्य में न लग सका। चित्त भी स्वयं मकान में रहने वाले किराये-

दार की तरह उद्विग्न बना रहा। आत्मा को सहयोग तो वह स्वयं अदूषित, शुद्ध एवं सुसंस्कृत दशा में ही दे सकता था, किन्तु दूषण, कुत्सा और मलीनता से लिपटा हुआ चित्त भला आत्मा की बात कैसे सुनता, और कैसे सोचता शास्त्रों और गुरुओं की वाणी पर ? यही कारण है कि असहयोगी रूठे चित्त ने जीवन-प्रासाद की सारी शोभा बिगाड़ डाली। तब हर कार्य में विजयश्री के बदले पराजय एवं असफलता के ही दर्शन न होंगे तो क्या होगा ?

संभिन्नचित्त का चौथा अर्थ : व्यग्र या असंलग्न चित्त

संभिन्न चित्त का एक अर्थ है—व्यग्र, बिखरा हुआ या असंलग्न चित्त। चित्त की एकाग्रता से जहाँ काम नहीं किया जाता, वहाँ शक्ति बिखर जाती है और उस काम में सफलता एवं विजयश्री प्राप्त नहीं होती। किसी भी कार्य में चित्त की एकाग्रता के साथ संलग्न हो जाने से ही उस कार्य में सिद्धि या विजयश्री मिल सकती है।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् कार्लाइल का कथन है कि एक ही विषय पर अपनी शक्तियों को केन्द्रित कर देने से कमजोर से कमजोर प्राणी भी कुछ कर सकता है, मगर एक बहुत बलवान प्राणी भी यदि अपनी शक्तियों को अनेक विषयों में बिखेर देता है तो फिर वह कुछ भी नहीं कर सकता। एक-एक बूंद पानी अगर एक ही स्थान पर निरन्तर पड़ता रहे तो कठोर से कठोर पत्थर में भी छेद हो जाता है, पर यदि पानी का बहाव एक बार शीघ्रतापूर्वक उस पर से निकल जाए तो उसका नामो-निशान भी उस पत्थर पर नहीं दिखाई पड़ता।

सूर्य की स्वाभाविक धूप जो शरीर पर पड़ती है, कठोर गर्मी में भी उसे शरीर सहन कर लेता है, क्योंकि किरणें बिखरी हुई होती हैं, अतः वे अपना साधारण ताप ही दे पाती हैं। लेकिन नतोदर आतशी शीशे के लेन्स से अगर एक इंच भी स्थान में सूर्य किरणों को केन्द्रित कर दिया जाए तो उस ताप को शरीर का कोई भी अंग सहन न कर सकेगा। कोई भी वस्त्र या कागज उसके निकट होगा तो जले बिना न रहेगा। केन्द्रीभूत सूर्यकिरणसमूह से कहीं भी आग पैदा हो जाती है, केन्द्रित सूर्य किरणों की शक्ति की तरह किसी एक विषय में केन्द्रित चित्त की शक्ति भी अपरिमित हो जाती है।

बहुत बार देखा जाता है कि एक ही व्यक्ति द्वारा एक बार किया हुआ काम बड़ा सुन्दर होता है, और उसी व्यक्ति द्वारा वही काम दूसरी बार बिगड़ जाता है। एक ही काम, एक ही कर्त्ता और एक ही समय, फिर कार्य की यह उत्कृष्टता और निकृष्टता क्यों ? ऐसा तो नहीं हो सकता कि पहली बार जब उसने उस कार्य को सुन्दरतापूर्वक किया, तब उसकी योग्यता अधिक थी और दूसरी बार जब काम बिगड़ गया तो उसकी योग्यता कुछ कम हो गई थी। बल्कि पहली बार की अपेक्षा दूसरी बार में अभ्यास और अनुभव के कारण योग्यता में वृद्धि होनी चाहिए थी, कमी नहीं।

इसी प्रकार एक ही काम में लगे दो व्यक्तियों को देख लीजिए। एक अधिक कुशल है जबकि दूसरा कम। एक ही कक्षा में पढ़ने वाले एक ही विषय के दो विद्यार्थियों को लीजिए, परीक्षा के समय उनमें से एक अधिक अंक लाता है, दूसरा कम। संसार के विद्वान्, कलाकार, अध्यापक, धर्मगुरु, वैज्ञानिक, दार्शनिक, लेखक किसी भी वर्ग के व्यक्तियों को ले लीजिए, अनेकों में उन्नीस बीस का अन्तर मिलेगा ही। एक का कार्य दूसरे की अपेक्षा कुछ न कुछ न्यूनाधिक सुन्दर होगा।

क्या आपने कभी सोचा है कि इस अन्तर का वास्तविक कारण क्या है ? आप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम बतला देंगे, परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम जिस कारण से अधिकाधिक होता है, वह कारण है–चित्त की एकाग्रता, तल्लीनता एवं तन्मयता। जो व्यक्ति जिस समय अपना कार्य जितना अधिक चित्त की एकाग्रता, तल्लीनता या तन्मयता से करेगा, उसका कार्य उस समय उतना ही अधिक सुचारु एवं सुन्दर होगा। जो व्यक्ति जितनी अधिक एकाग्रता से किसी विषय में चित्त को केन्द्रित करके चिन्तन करेगा, उसके विचार उतने ही स्पष्ट एवं उन्नत होंगे। वह अपने कार्य में उतनी ही शीघ्र सफलता एवं विजयश्री प्राप्त करेगा। चित्त की एकाग्रता, तन्मयता और तल्लीनता, जितनी सूक्ष्म एवं स्थायी होती है कार्य का सम्पादन उतना ही शीघ्र और सुन्दर होता है। किसी कला एवं कार्य के प्रशिक्षण में दो व्यक्तियों में समय, मात्रा, कुशलता और सीमा में जो अन्तर रहता है, वह भी इसी एकाग्रता की मात्रा के अन्तर के कारण होता है।

संसारभर की समस्त क्रियाओं का आद्यकर्त्ता चित्त है, शरीर तो केवल साधन है। क्या आपने नहीं देखा है कि एक व्यक्ति, जो शरीर से स्वस्थ, हृष्टपुष्ट एवं सम्पन्न है, वह किसी कार्य को इतनी सुन्दरता से सम्पन्न नहीं कर पाता, जबकि दूसरा व्यक्ति, जो शरीर से दुबला-पतला और अस्वस्थ एवं असम्पन्न है, उसी काम को बहुत ही सुन्दर ढंग से सम्पन्न कर दिखाता है ? यदि शरीर ही वास्तविक कर्त्ता हो तो शारीरिक सम्पन्नता वाले हर व्यक्ति का कार्य दूसरे दुर्बल एवं असम्पन्न व्यक्ति से अवश्य ही सुघड़ एवं सुन्दर होना चाहिए। मगर ऐसा नहीं होता। इसका कारण है—एक का वास्तविक कर्त्ता चित्त एकाग्र एवं तन्मय होने के कारण स्वस्थ एवं सशक्त है, जबकि दूसरे का उतना नहीं।

क्या लौकिक, क्या अलौकिक समस्त सफलताएँ, विजयलक्ष्मी एवं उन्नतियाँ वास्तविक कर्ता–चित्त की क्षमताओं पर निर्भर है। और चित्त की शक्ति है–एकाग्रता। इसीलिए गौतम महर्षि ने जीवनसूत्र के रूप में कह दिया—"जिस व्यक्ति का चित्त एकाग्र—अपने लक्ष्य में केन्द्रित—नहीं होगा, जो व्यक्ति अपने सत्कार्य या सदुद्देश्य में तल्लीन और तन्मय नहीं होगा, उसे किसी सिद्धि, सफलता, विजयलक्ष्मी या उन्नति के दर्शन नहीं होंगे।"

संसार का प्रत्येक व्यक्ति जीवन के हर क्षेत्र में सफलता, सिद्धि, विजयश्री एवं उन्नति चाहता है, परन्तु जीवन में निश्चित सफलता या विजयश्री पाने के लिए

चित्त में एकाग्रता का स्वभाव उत्पन्न करना और उसे व्यग्रता से, बिखरने से बचाना आवश्यक है।

वैज्ञानिक शोधकार्यों में इतने दत्तचित्त एवं एकाग्र होकर कार्य करते हैं कि उन्हें लैबोरेटरी से बाहर की दुनिया का भी ज्ञान नहीं होता। एक-एक सिद्धान्त के रहस्यों की वे छानवीन करते चले जाते हैं, और कोई न कोई नई चीज ढूंढकर निकाल लाते हैं। एक ही बात जब तक मस्तिष्क में रहती है तब तक उसी के अनेक साधनों के विषय में सूझबूझ एवं स्फुरणा होती रहती है। उनमें से उपयोगी बातों की पकड़ चित्त की एकाग्रता से ही होती है।

जैनशास्त्रों में कछुए का दृष्टान्त देकर चित्त की एकाग्रता साधने की प्रेरणा दी गई है। जैसे कछुआ विपत्ति की आशंका होते ही अपने सारे अंगों को चारों ओर से समेट लेता है, सिकोड़ लेता है। इससे उसके जीवन में उपस्थित होने वाले खतरों से वह सर्वथा बच जाता है, इसी प्रकार साधक भी चित्त को चारों ओर से एकाग्र करके काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों के खतरे से बच जाता है।

विद्यार्थी के पाँच लक्षणों में एक लक्षण है—*'बकध्यानम्'* बगुला शरीर और मन की सारी क्रियाओं को साधकर एक प्रकार से निश्चेष्ट हो जाता है। और इसी धोखे से मछली बाहर आती है, वह खट से उसे पकड़ लेता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सच्ची सफलता पाने के लिए साधक को भी बकध्यानी की तरह एकाग्रचित्त होना आवश्यक है।

एक ही अभीष्ट लक्ष्य की दिशा में अपनी सारी चित्तवृत्तियाँ समारोपित रखने से महत्त्वपूर्ण बातों की जानकारी तो होती ही है, साथ ही भूलें और त्रुटियाँ भी उसकी समझ में आ जाती हैं, जिससे कार्य में गड़बड़ी होने की आशंका नहीं रहती है। इस अनुभव के आधार पर ही कठिनाइयों से बच जाना सम्भव होता है। प्रतिदिन नया काम बदलने से किसी तरह का ज्ञान प्राप्त नहीं होता और न ही अनुभव विकसित होते हैं।

आकाश में उड़ने वाले हवाई जहाज के पायलट को कुतुबनुमा के सहारे रास्ता तय करना और चलना पड़ता है। वहाँ सड़कों के से निशान नहीं होते, जैसे सड़कों पर मोटरें दौड़ती हैं, वैसे वहाँ जहाज नहीं दौड़ सकते। पायलट को बादलों से बचाव तथा हवा के कटाव आदि में पंखों को भी ऊपर-नीचे करना पड़ता हैं। पायलट यदि कोई उपन्यास पढ़ना चाहे तो विमान के गिर जाने का ही खतरा पैदा हो सकता है, इसलिए उसका सारा ध्यान एकाग्रतापूर्वक विमान को ठीक तरह से चलाने में लगा रहता है। लक्ष्य में एकाग्र हुए बिना जहाज के पायलट को कोस भर की यात्रा करना भी दु:साध्य हो जाएगा। भारी भरकम मशीनरी पर नियन्त्रण करने की क्षमता इन्जीनियर में क्यों होती है? उसमें यह विशेषता होती है कि कार्य करने के समय उनका सारा ध्यान मशीन के कल-पुर्जों के साथ बँध जाता है। एक-एक हिस्से पर

पूरा-पूरा ध्यान रखकर ही सारी मशीनरी को वह अपने नियन्त्रण में रख पाता है। अगर इन्जीनियर अपना चित्त व्यग्र करके ध्यान इधर-उधर बाँट दे तो प्रतिदिन कारखाने में विस्फोट हो जाए।

इसीलिए प्रत्येक कार्य की सफलता के लिए उसमें एकाग्रता और संलग्नता बहुत जरूरी है। तीरन्दाज तीर चलाने के पूर्व अपना सारा ध्यान सांस रोककर अपने लक्ष्य की ओर लगा देता है। लक्ष्य पर ठीक तरह से निशाना साधे बिना कोई सफलता नहीं मिलती।

द्रोणाचार्य ने कौरवों और पांडवों को धनुर्विद्या सिखलाई थी। एक दिन वे अपने शिष्यों की परीक्षा लेने लगे। उन्होंने एक कड़ाह में तेल भरवाया, और उसमें एक खम्भा गाड़कर उसके सिरे पर चन्दे वाला मोर का पंख लगवा दिया। फिर उन्होंने अपने सब शिष्यों को एकत्रित करके घोषणा की—जो विद्यार्थी तेल से भरे कड़ाह में प्रतिबिम्बित होने वाले मोरपंख के चन्दे को बाण से बींध देगा, वही मेरा पक्का और उत्तीर्ण शिष्य कहलाएगा। अभिमानी दुर्योधन सर्वप्रथम चन्दा भेदने के लिए आगे आया। उसने धनुष पर बाण चढ़ाया। इसी समय द्रोणाचार्य ने उससे पूछा—"तुम्हें कड़ाह में क्या दिखाई दे रहा है?" वह बोला—"गुरुजी! मैं सब कुछ देख रहा हूँ। कड़ाह, तेल, खम्भा, मोरपंख का चन्दा, मैं, आप एवं मेरी हँसी उड़ाने वाले सब मुझे दिखाई दे रहे हैं?"

दुर्योधन का उत्तर सुनकर आचार्य ने कहा—"चल, रहने दे! तू परीक्षा में सफल नहीं होगा। अपने विकार को दूर कर।" मगर अभिमानी दुर्योधन न माना और उसने गर्व के साथ तेल भरे कड़ाह में देखकर मोरपंख के चन्दे के बाण मारा। किन्तु निशाना ठीक नहीं बैठा। इसके बाद एक-एक करके सभी कौरवों ने बाण मारा, लेकिन कोई भी लक्ष्यवेध न कर सका। अन्त में जब पाण्डवों की बारी आई तो युधिष्ठिर ने कहा—"गुरुजी! हमारी ओर से केवल अर्जुन ही परीक्षा देगा। अगर अर्जुन परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ तो हम सभी उत्तीर्ण हैं, अन्यथा अनुत्तीर्ण।"

आचार्य पाण्डवों की बात सुनकर बहुत खुश हुए उन्होंने अर्जुन को कड़ाह के पास बुलाकर कहा—"वत्स! मेरी शिक्षा की इज्जत तेरे हाथ में है।"

अर्जुन ने तेल के कड़ाह में मोरपंख का चन्दा देखते हुए बाण का निशाना साधा। द्रोणाचार्य ने पूछा—"तुम्हें कड़ाह में क्या दिखाई दे रहा है?"

अर्जुन बोला—"मुझे सिर्फ मोरपंख का चन्दा और अपने बाण की नोक ही दिखाई देती है, इसके सिवाय और कुछ नहीं।"

"अच्छा अर्जुन! बाण चलाओ।" आचार्य ने कहा।

गुरु-आज्ञा पाकर अर्जुन ने बाण चलाया, जो ठीक लक्ष्य पर लगा और मोरपंख का चन्दा भिद गया। चन्दावेध देने से पाण्डवों को तो प्रसन्नता हुई ही, द्रोणाचार्य भी अतीव प्रसन्न हुए।

जिस प्रकार अर्जुन अपने लक्ष्य में एकाग्र होकर उसे वेध सका था, उसी प्रकार प्रत्येक विचारशील साधक को अपना चित्त सब ओर से हटाकर अपने लक्ष्य—अभीष्ट कार्य में एकाग्र, तन्मय करना चाहिए, तभी वह सिद्धि, सफलता या विजयश्री को प्राप्त कर सकेगा।

एकाग्रता में बड़ी अद्भुत शक्ति है। साधक अपना अभीष्ट लक्ष्य-ध्येय निश्चित करके चित्त को उसमें ओत-प्रोत कर दे, उसके साथ जोड़ दे, चित्त सतत ध्येय (लक्ष्य) में संलग्न रहे, जब भी वह ध्येय से छूटने या बिछुड़ने लगे, कोई विकल्प आ जाए तो जागृत साधक चित्त को वहाँ से हटा दे, उसे खींच कर पुनः ध्येय में जोड़ दे, चित्त का समाहार कर ले, तो चित्त को महान् शक्ति प्राप्त हो जाती है।

जैसे चर्खा चलाने वाला देखता रहता है कि कोई भी सूत की पूनी का तार न टूटे। अगर तार टूट जाता है तो वह पुनः उससे जोड़ देता है। इसी प्रकार चित्त का तार न टूटे; वह एक ही ध्येय पर सतत चलता रहे, क्रम न टूटे, टूटे तो तत्काल उसे जोड़ दिया जाए, यही है चित्त की एकाग्रता, चित्त की संलग्नता या समाधि।

इसकी साधना यह है कि चित्त को उस भूमिका पर ले जाना, जहाँ पहुँचने पर उसके आगे और कोई भूमिका नहीं, उसी लक्ष्यभूत भूमिका में इतना अधिक आकर्षण होता है, कि उसमें अन्य सभी आकर्षण समा जाते हैं, उस एक आकर्षण के सिवाय सारे आकर्षण समाप्त हो जाते हैं। यह उत्कृष्ट एकाग्रता की भूमिका है, यही चित्तसमाधि है। इस भूमिका पर आरूढ़ साधक के सामने कोई भी वासना, लालसा, समस्या, द्वन्द्व या आकांक्षा आदि नहीं रहती। साधक इन सबको पार कर जाता है।

परन्तु इस परम एकाग्रता के लिए साधक का ध्येय उच्च होना चाहिए, नीचा नहीं। एकाग्रता एक शक्ति है; वह उच्च ध्येय में भी काम करती है, नीचे ध्येय में भी। वह तो अपना चमत्कार दिखाएगी। चित्त को निम्न ध्येय में एकाग्र करने पर नीचे स्तर का विस्फोट होगा। वह चेतना के प्रवाह को नीचा ले जाएगा। इसलिए साधक को अपने निश्चित एक उच्च ध्येय की धारा में बहकर चित्त को ऊर्ध्व भूमिका पर ले जाना चाहिए।

एक भंगी था। वह राजमहल की सफाई करता था। संयोगवश एक दिन उसने राजकुमारी को देखा। उसका रूप, लावण्य, शरीर-सौष्ठव आदि देखकर वह उस पर मोहित हो गया। उसके चित्त में राजकुमारी बस गई। राजमहल की सफाई करके वह घर आया, किन्तु उसका चित्त राजकुमारी को पाने के लिए व्यग्र हो गया। खाना-पीना, नींद लेना आदि सब छोड़ दिया। उसे कोई भी अन्य काम नहीं सुहाता था। एक ही धुन लग गई। जब दूसरे दिन वह काम पर नहीं जाने लगा तो उसकी पत्नी ने उसे झकझोरकर कहा—"क्या हुआ है, तुमको आज? काम पर क्यों

नहीं जाते ? चलो, उठो देर हो रही है।" जब बार-बार हिलाने पर भी वह नहीं उठा तो उसने दु:खित होते हुए पूछा—"क्या हुआ है तुमको ? मुझे तो बतला दो।"

बहुत आग्रह करने और उसका वांछित पूर्ण करने का वायदा करने पर भंगी ने बतलाया—"कल जब से मैंने राजकुमारी को देखा है, तब से मेरे मन में वह बस गई है। वह मिले, तभी मुझे चैन पड़ेगा।"

भंगिन ने कहा—"छोड़ो इस पागलपन को। राजकुमारी तुम्हें कहाँ से मिलेगी ? कहाँ वह, कहाँ हम ? कोई सुनेगा भी तो क्या कहेगा ?" "किसी तरह से तू उससे मिला दे, फिर मैं ठीक हो जाऊँगा।" भंगी ने अपनी पत्नी से कहा।

वह मन मसोसकर राजमहल में सफाई करने गई। वहाँ राजकुमारी मिली। उसने पूछा—"आज तेरा पति क्यों नहीं आया ?" उसने राजकुमारी को इशारे से एक ओर बुलाकर अश्रु बहाते हुए कहा—"वह तो कल से न खाता है, न पीता है, न सोता है। एक ही धुन लगी है उसे।"

राजकुमारी ने पूछा—'क्या धुन लगी है ?" भंगिन ने शर्माते हुए कहा—"क्या कहूँ, कहते हुए लज्जा आती है। पर न कहूँ तो उनकी तबियत दिन पर दिन बिगड़ती ही जाएगी। फिर सदा के लिए मेरे से बिछुड़ न जाएँ, मुझे यही भय है। उन्होंने कल जबसे आपको देखा है, तब से एक ही धुन लगी है कि मुझे राजकुमारी मिल जाए। क्या कोई उपाय हो सकता है, राजकुमारी जी !"

राजकुमारी बहुत समझदार थी। उसने भंगी के चित्त की व्यथा को समझ लिया। बात तो प्राय: सम्भव नहीं थी। पर राजकुमारी ने सोचा—'जिसका चित्त मुझमें इतना एकाग्र हो गया है, उसके चित्त को परमात्मा में एकाग्र होते क्या देर लगेगी ?' अत: राजकुमारी ने भंगिन से कहा—"मैं उससे तभी मिल सकती हूँ, जब वह भगवान में अपनी लौ लगा देगा, तन्मय हो जाएगा।" भंगिन आभार मानती हुई घर आई। आते ही भंगी ने पूछा—"मेरा काम कर आई हो ?" उसने कहा—"हाँ, काम हो जाएगा। राजकुमारी तुमसे मलेगी, पर एक ही शर्त है, जब तुम भगवान में पूरी तरह से अपनी लौ लगा दोगे।"

भंगी ने सुनकर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—"यह काम तो मेरे लिए आसान है। तब तो वह मिल जाएगी न ?"

भंगिन बोली—हाँ-हाँ, उसने वचन दिया है। भंगी थोड़ा-सा खा-पीकर घर से चल पड़ा और पहुँचा गाँव के बाहर एक वटवृक्ष के नीचे। वहाँ उसने अपना आसन जमाया और राम-राम (भगवान) का जाप करने बैठा। वह जाप में इतना मस्त हो गया कि उसे और किसी बात की सुध न रही। उसकी पत्नी घर से भोजन लेकर आती, पर वह यों ही पड़ा रहता। न वह भोजन करता, न पानी पीता और न ही किसी से बोलता। एक-एक करके आठ दिन व्यतीत हो गए। भंगी परमात्मा में पूरा तन्मय हो गया।

गाँव के लोगों को पता लगा तो महात्मा समझकर झुंड के झुंड दर्शन करने आने लगे, प्रसाद भी चढ़ा जाते। पर वह न तो किसी की ओर देखता, न प्रसाद ही उदर में डालता। भंगिन ने सोचा कहीं कुछ और हो गया तो और मेरे जी को परेशानी होगी। अतः वह घर चलने का आग्रह करने लगी। पर वह न तो भंगिन की तरफ देखता, न बोलता। अब उसे राजकुमारी की भी कोई स्मृति या आकर्षण नहीं रहा। बस, एक ही धुन भगवान की लग गई।

आखिर राजा-रानी और राजकुमारी के पास भी यह खबर पहुँची। भंगिन ने भी राजकुमारी से कहा। दूसरे दिन राजा, रानी और राजकुमारी वटवृक्ष के नीचे योगी की तरह समाधिस्थ बैठे हुए भंगी के पास पहुँचे, दर्शन किये। पर वह तो आँख उठाकर भी नहीं देखता था। तब राजा-रानी तथा अन्य लोगों के इधर-उधर हो जाने पर राजकुमारी ने उसके निकट निवेदन किया—"जिसको तुम पहले याद कर रहे थे, वह मैं राजकुमारी अपने वायदे के अनुसार आ गई हूँ।" पर भंगी तो अब प्रभु में इतना तल्लीन हो चुका था कि वह अन्यत्र बिलकुल झांकता या कुछ कहता न था। जब राजकुमारी ने उसे झकझोरकर कहा—"चलो, न अब ! मैं आ गई हूँ।" तब उसने धीरे से कहा—"अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। जो चाहिए था, वह (भगवान) मुझे मिल गया है।"

बन्धुओ ! भंगी के चित्त की एकाग्रता पहले निम्नकोटि के लक्ष्य में थी, लेकिन बाद में वह उच्चकोटि के लक्ष्य—भगवान में हो गई, तब उसके सामने सभी सांसारिक आकर्षण समाप्त हो गये। इस प्रकार की चित्त की एकाग्रता से तीन लोक की सम्पदा के तुल्य प्रभु मिल जाते हैं, शुद्ध आत्मा से मिलन हो जाता है।

जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र (अ. २६) में आध्यात्मिक क्षेत्र में चित्त की एकाग्रता से लाभ बताया है—

'एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ'

'एकाग्रचित्त से जीव मनोगुप्ति का और संयम का आराधक हो जाता है।'

जिसके चित्त में एकाग्रता नहीं होती उसे कहीं भी सफलता नहीं मिलती। अनेकाग्रचित्त व्यक्ति को सफलता, विजयश्री या सिद्धि मिलनी कठिन है।

एकाग्रता से सम्बन्धित गुण है, संलग्नता। उसका अर्थ है, जिस लक्ष्य में चित्त को एकाग्र किया है, उसमें उसे लगाये रखे। संलग्नता सतत लगे रहने का नाम है। जिसका चित्त निश्चित ध्येय या कार्य में संलग्न नहीं रहता उस संभिन्नचित्त व्यक्ति से सिद्धि, विजयश्री या सफलता कोसों दूर रहती है।

संभिन्नचित्त का पाँचवाँ अर्थ : अव्यवस्थित चित्त

एक व्यक्ति है, वह किसी लक्ष्य को पाने का इच्छुक है, परन्तु वह व्यवस्थित रूप से अपने चित्त को उसमें नहीं लगाता, वह कुछ न कुछ करता रहता है, पर

विचारपूर्वक कुछ नहीं करता। यही अव्यवस्थित चित्त का लक्षण है। एक युवक से पूछा गया—"जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है?" उसने उत्तर दिया—"यह तो मैं नहीं जानता, किन्तु सच्चे और कठोर परिश्रम में मुझे विश्वास है। मैं अपने समस्त जीवन भर सुबह से शाम तक जमीन खोदता ही रहूँगा। मैं जानता हूँ कि उसमें कुछ भी—सोना, चाँदी, और कुछ नहीं तो, लोहा अवश्य मिलेगा।" यह व्यवस्थित चित्त का लक्षण नहीं है। क्या सोने-चाँदी के लिए कोई अपनी तमाम जमीन खोद डालेगा? जो लोग शून्य चित्त से 'कुछ भी तो मिलेगा' इस विचार से काम करते हैं, वे भी अभीष्ट सफलता या विजयश्री से वंचित रहते हैं। अगर किसी विशिष्ट वस्तु का लक्ष्य न बनाकर काम किया जाता है, तो उसका परिणाम भी जैसा-तैसा ही होगा, उसका कोई उल्लेखनीय परिणाम नहीं आ सकता।

फूलों के आस-पास अनेक जीवजन्तु घूमते रहते हैं, परन्तु शहद तो मधुमक्खी ही प्राप्त करती है, क्योंकि वह एक निश्चित विचार से फूलों के पास मंडराती है। कई लोग जिन्दगी भर कठोर परिश्रम किया करते हैं, किन्तु उनके परिश्रम के पीछे कोई व्यवस्थित विचार नहीं होता, वे भविष्य के बारे में कोई निश्चय भी नहीं करते, इसलिए वे इतना सब कुछ करके भी असफल और दरिद्र रहते हैं।

एक किसान ने कुआ खोदना शुरू किया। दस हाथ खोदने पर भी जब पानी नहीं निकला तो वह निराश हो गया। दूसरी जगह खोदने लगा। दूसरी जगह भी जब दस हाथ खोदने पर पानी न निकला तो तीसरी जगह खोदने लगा। यों उसने ५-७ स्थानों पर दस-बारह हाथ खोदा, पर कहीं पानी नहीं मिला, तब हताश होकर घर लौट आया। उसने अपनी व्यथाकथा एक बुद्धिमान व्यक्ति को सुनाई। उसने उसे समझाते हुए कहा—"तुमने पाँच-सात स्थानों पर दस-दस हाथ खोदा, यदि तुम अलग-अलग जगह न खोदकर एक ही जगह ५०-६० हाथ खोदते तो अवश्य ही तुम्हें पानी मिल जाता। तुमने धैर्य रखकर व्यवस्थित और स्थिरचित्त से काम नहीं किया, बल्कि थोड़ा-थोड़ा खोदकर निर्णय बदल लिया। अब तुम व्यवस्थित ढंग से चित्त की स्थिरता एवं एकाग्रतापूर्वक एक ही स्थान पर खोदो और जब तक पानी न निकले, तब तक खोदते ही रहो।" उसने इस बार दृढ़ निश्चयपूर्वक व्यवस्थित ढंग से फिर खोदना शुरू किया। लगभग २० हाथ खोदते ही उसे पानी मिल गया।

बन्धुओ! आप समझ गये होंगे कि अव्यवस्थितचित्त से कार्य करने में कितनी हानि है और व्यवस्थितचित्त से कितना लाभ है? इसीलिए नीतिज्ञों की यह प्रेरणा कितनी लाभदायक है—

'अव्यवस्थितचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रियाः'

जैसे हाथी नदी में स्नान करने के बाद पुनः धूल में लोट जाता है, इसलिए उसकी स्नानक्रिया व्यर्थ हो जाती है, वैसे ही जिनका चित्त अव्यवस्थित है जमा हुआ नहीं है, एक ध्येय में एकाग्र नहीं है, उनकी क्रियाएँ भी व्यर्थ हैं।

कई बार अवांछित या व्यर्थ की कल्पनाएँ करने से चित्त अस्त-व्यस्त हो जाता है, वह किसी अभीष्ट कार्य को करने का विचार करता है, परन्तु दूसरे ही क्षण अनेक संशय, बहम और कल्पनाएँ आकर उस कार्य में रुकावट डाल देती हैं।

अव्यवस्थितचित्त वाला व्यक्ति हृदय की संवेदनशीलता के कारण एक साथ अनेक कल्पनाएँ करता है। कभी धनवान बनने, कभी विद्वान् और कभी पहलवान होने के स्वप्न देखता है और इन लालच भरे सपनों के पीछे अंधी दौड़ लगाया करता है। वह अपने अव्यवस्थितचित्त के कारण प्रत्येक अवस्था में अपने आपको ठीक समझता है, मगर इन अनेक कामनाओं का वह समन्वय नहीं कर पाता।

एक ही समय में कोई वक्ता एवं पहलवान दोनों बन सके, यह असम्भव है। एक बार में एक ही क्रिया को व्यक्ति अधिक उत्तमता और सफलता के साथ पूरा कर सकता है। अभी खाना, अभी पानी, अभी घर, अभी दूकान, अभी रेल, अभी मोटर सभी बातें एक साथ नहीं हो सकती। इन्हें क्रमिकरूप से पूरा करने से ही कोई उचित व्यवस्था बन पाती है। पर इनका क्रम बिठाने की क्षमता अव्यवस्थित चित्त वाले व्यक्ति में नहीं होती। इसलिए वह दुविधाओं और उलझनों में पड़ा रहता है। एक भी कार्य को व्यवस्थित रूप से कर नहीं पाता।

अव्यवस्थितचित्त वाला व्यक्ति इसी कारण अनेक कार्य सामने होने पर घबरा जाता है, वह क्रम नहीं जमा पता, व्यवस्थित ढंग से नहीं चलता। इस प्रकार अव्यवस्थितचित्त के कारण उसकी सभी प्रवृत्तियाँ श्रीहीन और असफल होती हैं। चित्त जब अव्यवस्थित होता है तो उस पर बोझ-सा पड़ जाता है। अव्यवस्थित चित्त के कुछ नमूने देखिये—

एक व्यक्ति स्टेशन की ओर जा रहा है। चित्त में धुकुर-पुकुर चल रही है कि "ट्रेन मिलेगी या नहीं? कहीं मेरे जाने से पहले ही ट्रेन न छूट जाए?" इस प्रकार चित्त की अव्यवस्था से सारा काम बिगड़ जाता है। कार्य तो होता है, पर श्रीहीन होता है। यदि उस व्यक्ति का चित्त यह सोच ले—'अगर स्टेशन पर पहुँचने से पूर्व ही गाड़ी छूट गई तो क्या होगा? यही न, कि जहाँ जाना वहाँ वह देर से पहुँचेगा। वह जहाँ जा रहा है, उसका भी तो यही लक्ष्य होगा कि वह कार्य व्यवस्थित ढंग से पूरा हो, प्रसन्नता मिले। पर वह चित्त को अव्यवस्थित बनाकर अगली प्रसन्नता के लिए अब की प्रसन्नता को खो देता है। पहले से ही चित्त को व्यवस्थित रखे तो अलमस्त होकर प्रसन्नतापूर्वक कार्य निपटाएगा, यही तो होगा कि कार्य कुछ विलम्ब से होगा। अपना क्रम या अपनी व्यवस्थाएँ ठीक रखे तो चित्त में घबराहट या अव्यवस्थितता नहीं आएगी।

एक विद्यार्थी पुस्तक लिए बैठा है। पर चित्त की अव्यवस्थितता के कारण फेल हो जाने की घबराहट सता रही है। फलतः पेज तो खुला है, पर चित्त और कहीं घूम रहा है।

एक गृहस्थ है, अव्यवस्थित चित्त के कारण सोचता है—'कल न जाने क्या होगा ? नौकरी मिलेगी या नहीं ? बच्चे परीक्षा में उत्तीर्ण होंगे या अनुत्तीर्ण ? लड़की के लिए योग्य वर कहाँ मिलेगा ? मकान न जाने कब तक बनकर पूरा होगा ? कहीं वर्षा न हो जाए, हो गई तो पकी हुई फसल खराब हो जाएगी ।'

ये और इस प्रकार की सैकड़ों अवांछनीय एवं निराशाजनक कल्पनाएँ करके व्यक्ति घबराहट पैदा कर लेता है। व्यवस्थितचित्त से अगर वह यह सोचे कि जो कुछ होना है, वह एक व्यवस्थित क्रम से ही होगा, फिर घबराने, व्यर्थ विलाप करने अथवा भविष्य की चिन्ता में पड़ने से क्या लाभ ? किन्तु अव्यवस्थितचित्त वाला व्यक्ति इस प्रकार की ऊलजलूल कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाकर जीवन को अस्त-व्यस्त बना लेता है, व्यर्थ की कठिनाई में अपने आपको पीड़ित अनुभव करता रहता है। समय पर प्रायः सभी के कार्य पूरे हो जाते हैं। इसलिए व्यक्ति को प्रयास जारी रखना चाहिए, परन्तु चित्त में व्यर्थ की घबराहट पैदा करके कार्य को बोझिल बना देना उचित नहीं।

आपका चित्त भारमुक्त होगा तो आप अधिक रुचि और जागृति के साथ व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक सभी कार्य कर सकेंगे और वे कार्य श्रीयुक्त (शोभा-स्पद) बनेंगे। घबराने वाले व्यक्ति फूहड़ माने जाते हैं। वे श्रम भी करते हैं और कार्य भी बिगाड़ते हैं, या कार्य सही नहीं होता। अगर कार्य सही है तो चित्त पर घबराहट का बोझ न डालिए। आप उसके फलाफल की परवाह किये बिना करते जाइए ।

कई लोगों को अवांछनीय कल्पना करने के कारण चित्त में समस्या का यथार्थ समाधान या हल नहीं मिल पाता। चित्त की अव्यवस्थितता के कारण ऐसे व्यक्ति के विचार जब लड़खड़ा जाते हैं, तब दिनचर्या और कार्यक्रम सभी कुछ गड़बड़ा जाते हैं, और उलटे परिणाम निकलते हैं। सवारी पाने की जल्दी में सामान पीछे छूट जाता है, स्वागत की तैयारी में कई महिलाओं को ध्यान ही नहीं रहता, उधर भोजन जल जाता है। कई बार इसी झोंक में वे इतनी बेभान हो जाती हैं कि चूल्हे या स्टोव की आग से उनके कपड़े जल जाते हैं, या घर में आग लग जाती है। इसलिए नियम यह है कि प्रत्येक कार्य एक व्यवस्था के साथ हो। एक कार्य जब चल रहा है तो बीच में दूसरे विचार को चित्त में स्थान देने की क्या आवश्यकता है ? एक बार में एक ही विचार और एक ही कार्य शोभास्पद होता है। हड़बड़ाने से सारा ही खेल चौपट हो सकता है।

चित्त में उदासी, खिन्नता या अप्रसन्नता के वास्तविक कारण बहुत ही कम होते हैं, अधिकांश कारण घबराहट से उत्पन्न भय ही होता है और मनुष्य जाने-अनजाने इससे अपनी बहुत सी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों को बर्बाद करता रहता है। जिन्होंने जीवन में बड़ी-बड़ी सफलताएँ या विजयश्री पाई हैं, उन सबके चित्त सुव्यवस्थित रहे हैं, जिससे उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति क्रमबद्ध और सुचारु रही है।

जिनके चित्त में विश्रृंखलता होती है उनके पास सदैव समय की कमी की शिकायत रहती है। फिर भी अन्त तक वे थक-पचकर सिर्फ एक-दो कार्य ही कर पाते हैं। परन्तु जिन लोगों ने व्यवस्थितचित्त से विधिपूर्वक चिन्ताविमुक्त होकर धैर्य से कार्य प्रारम्भ किये, उन्होंने सैकड़ों कार्य ठीक किए, सफलताएँ अर्जित कीं, श्रीसम्पन्नता भी प्राप्त की, जो सामान्य व्यक्ति के लिए चमत्कार सी लग सकती हैं अतः श्रीसम्पन्नता चाहने वाले व्यक्ति के लिए उचित है कि वह चित्त से उलझन, भय, घबराहट आदि बिलकुल निकाल फैंके और शान्ति एवं स्थिरचित्त से आत्मविश्वास-पूर्वक समस्या या उलझन को सुलझाने का प्रयत्न करे।

अव्यवस्थितचित्त किसी कार्य में श्री को पास भी न फटकने देगा।

अव्यवस्थितचित्तता एक ही प्रकार की नहीं है। दुर्बल चित्त वाले व्यक्ति के अनेक रूप होते हैं, और वे सब अव्यवस्थित होते हैं।

एक व्यक्ति मानसिक रोगों से पीड़ित था। उसके चित्त में मौत और विद्रोह के अनेक विचार सतत विद्रोह मचाए रहते थे। उसे हर समय कुछ न कुछ चिन्ता, शंका और भीति बनी हुई रहती थी। उसे अपने घर, परिवार एवं व्यापार में हानि का डर लगा रहता था। इस कारण उसे नींद नहीं आती थी, उसकी स्मरणशक्ति भी क्षीण हो गई थी, किसी काम में चित्त नहीं लगता था। चित्त की शान्ति के लिए वह कई गण्डे-तावीज भी करा चुका, पर कोई लाभ नहीं हुआ। उसका चित्त जीवन से ऊब गया।

एक सरकारी ऑफिसर की पदोन्नति नहीं हो रही थी। उससे कम योग्यता वाले व्यक्ति सिफारिश और रिश्वत के बल पर चढ़ गए। वह जहाँ का तहाँ रहा। इस अत्याचार का उसके चित्त पर इतना आघात लगा कि नौ वर्षों तक वह अनिद्रा, चिन्ता और शोक से दग्ध रहा, उसका चित्त काम में नहीं लगता था। चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा उसके सामने था।

ये और इस प्रकार के कई दुर्बल चित्त वाले लोग अपने चित्त को अव्यवस्थित बनाकर कष्ट पाते रहते हैं। न तो उन्हें कोई सफलता या विजयश्री मिलती है और न ही 'श्री'।

मनुष्य का 'अहं' तनिक-सी बात से कुण्ठित हो जाता है। चित्त में उत्पन्न प्रत्येक दुर्भाव—क्रोध, निराशा, द्वन्द्व, अतृप्ति, आतुरता, कामावेग, विक्षोभ, उद्वेग, डर, अभिमान, अहंभाव एवं अपराधवृत्ति आदि धीरे-धीरे दबकर मानसिक रोग या चित्त-वृत्ति की विकृति के रूप में फूट निकलते हैं। उसका चित्त अव्यवस्थित हो जाता है। हर बात को वह शंकाशील और विपरीत दृष्टि से सोचने लगता है।

इसी प्रकार कोई भी कार्य प्रारम्भ करने का विचार करते ही असफलता का भय चित्त में उठा करता है, जो व्यक्ति की दृढ़ इच्छाशक्ति को शिथिल कर देता

है। असफलता का भय मनुष्य के चित्त को संशयशील ही नहीं बनाता, बल्कि वह सच्चे रास्ते पर चलने में बाधक बन जाता है। सच्चे रास्ते से मतलब है—अपने विवेक द्वारा जिस रास्ते पर उसने चलने का निश्चय किया है, वह ! ऐसी दशा में व्यक्ति चलना चाहता है—विवेक द्वारा निश्चित रास्ते पर लेकिन चल पड़ता है—उलटे रास्ते पर। यही अव्यवस्थितचित्त की निशानी है, इसे चित्तभ्रम या स्मृति-विभ्रम या चित्त का दीवानापन भी कहते हैं। चित्त की यह दुःस्थिति काफी देर तक रहने पर मानव की मानसिक स्नायुग्रन्थियाँ अत्यन्त निर्बल होकर जड़-सी हो जाती हैं।

चित्त की इस अव्यवस्थितता या विकृति का अकसीर इलाज यह है कि चित्त में किसी भी आघात या ठेस को गहराई से या देर तक टिकने मत दीजिए। जैसे चट्टान पर पानी पड़ता है, पर वह बह जाता है, चट्टान पर उसका कोई असर नहीं होता, वैसे ही बड़ी-बड़ी आपदाएँ, मुसीबतें, विघ्न-बाधाएं या प्रतिकूलताएँ आपके चित्त की चट्टान पर पड़ें तो भी उनसे घबराना नहीं चाहिए, न चित्त में उद्विग्न होना चाहिए। उतावले न होकर आपको शान्ति, धैर्य, साहस और विश्वास के साथ उन सभी आपदाओं का सामना करना चाहिए।

व्यक्ति के चित्त की अव्यवस्थितता का कारण उसकी क्षणिक भावुकता, अधीरता और उत्तेजनाएँ हैं। अगर वह धैर्य से सोचे कि ये विपदाएँ स्वयं टलने वाली हैं, धीरे-धीरे अच्छा समय आने वाला है, मेरी समस्याएँ स्वतः ही हल होने वाली हैं, तो उसकी बहुत-सी चित्तव्यथाएँ स्वयं दूर हो जाती हैं। परन्तु व्यक्ति अपनी मनगढ़न्त कल्पनाओं द्वारा विघ्नबाधाओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर अधीर हो जाता है, इससे चित्त अव्यवस्थित हो जाता है, विजयश्री या सफलता कोसों दूर चली जाती है।

संभिन्नचित्त का छठा अर्थ : अस्थिरचित्त

चित्त का एक कार्य या लक्ष्य में स्थिर न रहना भी संभिन्नचित्त है। चित्त की अस्थिरता का अर्थ है—चित्त का किसी एक विषय में स्थिर न रहना। साधारण मानव का चित्त गिरगिट की तरह रंग बदलता रहता है। यों बारबार चित्त का रंग बदलते रहने से चित्त की अस्थिरता मिटाई नहीं जा सकती। बहुधा मनुष्य चित्त को स्थिर करने के लिए एक मिनट का समय भी नहीं दे पाता। ऐसे गृहस्थ का चित्त पहले धन में, फिर प्रतिष्ठा में तदनन्तर कीर्ति में भटकता रहता है। वह एक ठिकाने नहीं रहता। ऐसे पुरुषों के चित्त पर महापुरुषों की वाणी का प्रभुभक्ति का और शास्त्रज्ञान का कोई रंग नहीं चढ़ता। वे पुनः-पुनः अपने चित्त को उन्हीं विषयविकारों में लगाते रहते हैं। जैनाचार्य रत्नाकर ने हारकर प्रभुचरणों में इसी प्रकार की प्रार्थना की है—

लोलेक्षणावक्त्वनिरीक्षणेन,
यो मानसे रागलवो विलग्नः।

न शुद्धसिद्धान्तपयोधिमध्ये,
धौतोऽप्यगात्तारक ! कारणं किम् ?

चंचल नेत्रवाली स्त्रियों के मुख को देखने से चित्त में जो राग का रंग लग गया है, वह शुद्ध सिद्धान्त रूपी समुद्र में धोने पर भी नहीं गया, हे तारक ! इसमें क्या कारण है ?

क्या इस प्रकार का अस्थिरचित्त कभी एकनिष्ठा से प्रभुचरणों में लग सकता है ? प्रभुचरणों में लगना तो दूर रहा, वह नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विषयों में भी नहीं लग सकता।

हमारे यहाँ एक कहावत प्रचलित है—

'काम काम को सिखाता है।'

इसमें जरा भी असत्य नहीं है, कार्य करते रहने से मनुष्य की उस कार्य में कुशलता बढ़ती है, किन्तु क्या उस आदमी में कार्य कुशलता ला सकती है जो आज तो अध्यापक का काम करता है, कल मशीनों के कारखाने में चला गया। कुछ दिन किसी सरकारी ऑफिस में नौकरी की; फिर कोई छोटा-मोटा व्यवसाय करने लगा, आज बजाज का काम करता है, कल बिसातखाना खोल दिया ? आशय यह है कि जो व्यक्ति लाभ के लोभ में आकर परेशानी से बचने या देखादेखी अपने चित्त की अस्थिरता के कारण जब-तब अपना व्यवसाय बदलता रहता है, या काम बदलता रहता है, क्या वह निपुण व्यवसायी या कुशल कार्यकर्ता हो सकता है, क्या वह श्री, सिद्धि और सफलता से सम्पन्न हो सकता है ? कभी नहीं। यदि ऐसा सम्भव होता तो एक ही व्यक्ति न जाने कितने कार्यों का गुरु बन जाता। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं। कोई-कोई व्यक्ति किसी एक ही कार्य में पूरे दक्ष होते हैं, बाकी कुछ न कुछ कार्य तो सभी करते रहते हैं, पर उनमें वे परिपक्व नहीं हो पाते।

यही कारण है कि प्राचीनकाल में वर्णव्यवस्था के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का धंधा नियत कर दिया था। इस कारण कोई भी व्यक्ति अपने पैतृक धंधे में बहुत निष्णात हो जाता था और सामाजिक अव्यवस्था नहीं हो पाती थी।

आज चित्त की अस्थिरता के कारण हर कोई चाहे जो धंधा ले बैठता है और उसमें सफल न होने पर वह दूसरा, तीसरा धंधा अपनाता रहता है। यही श्रीहीनता और असफलता का कारण है।

'काम काम को सिखाता है' यह उक्ति तभी चरितार्थ हो सकती है, जब कोई व्यक्ति किसी एक सत्कार्य को पकड़कर उसमें पूरे मनोयोग से चित्त की एकनिष्ठा से जुट जाता है। ऐसी स्थिति में वह कार्य कितना ही कठिन हो, उसमें कुशलता, सफलता और श्रीसम्पन्नता मिलती ही है। अपनी एकनिष्ठा के आधार पर कितने ही अनपढ़ एवं साधारण मिस्त्री तकनीकी क्षेत्र में बहुत ऊँचे पदों पर पहुँचते देखे गये हैं।

ंगूठाटेक व्यक्ति भी स्थिरचित्त के बल पर इंजीनियरों के बराबर बेतन लेते और न्हें परामर्श देते सुने गये हैं। केवल थ्योरी और नक्शों से सीखी तकनीकी विद्या किसी को उतना कुशल नहीं बना देती, जितना कि एकनिष्ठ चित्त से किया गया ाम उसे उस काम में दक्ष बना देता है। कृषि के स्नातक की उपाधि लेकर आने ाला युवक क्या उस वृद्ध अनुभवी किसान की बराबरी कर सकता है जिसका सीना खेत की मिट्टी में बहा है ?

निष्कर्ष यह है कि व्यावहारिक क्षेत्र में किसी एक कार्य में पूर्ण पारंगत और क्ष बनने के लिए और सब बातों से चित्त को हटाकर एकमात्र उसी कार्य में निश्चय-र्वक चित्त को लगाना आवश्यक है। चित्त की चंचलता से शक्तियों का ह्रास होता , सारी शक्तियाँ बिखर जाती हैं, या अनुपयोगी होकर नष्ट हो जाकी हैं।

जैसे मार्ग में जब बैलगाड़ी कहीं फँस जाती है तो गाड़ीवान दो क्षण सुस्ताकर अपनी अव्यवस्थित शक्तियों को एकाग्र करके जोर लगाता है, जिससे गाड़ी अवरोध को दूरकर बाहर आजाती है, वैसे ही चित्त की एकनिष्ठा से कार्य करते हुए कोई अवरोध आ जाए तो व्यक्ति द्वारा अपनी सारी अव्यवस्थित शक्तियों को एकमात्र उसी अवरोध को दूर करने में लगा देने से व्यावहारिक क्षेत्र में सफलता मिलती है।

आध्यात्मिक क्षेत्र के सम्बन्ध में भी यही बात है। चित्त को उसमें सम्पूर्णरूप े नियोजित करने से समस्या हल करली जाती है।

मैं आपको व्यावहारिक क्षेत्र का एक उदाहरण देकर इस बात को समझा दूं —सर वाल्टर स्काट की गणना अँग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ लेखकों में की जाती है। प्रारम्भ में उन्हें पढ़ने का शौक था, लिखने की ओर कोई ध्यान न था। किन्तु यदा-कदा पढ़ते-पढ़ते वे उस पढ़े हुए पर चिन्तन-मनन करते रहते थे। इससे उनकी मौलिक विचारशक्ति जाग उठी। अब उनकी रुचि पढ़ने के साथ-साथ लिखने की ओर झुक ई। वे जो कुछ भी लिखते, उसे विविध पत्र-पत्रिकाओं में भेजते, किन्तु कई लेख ापस आने लगे, तब मित्रों ने सलाह दी—"अब लिखना बन्द कर दो। व्यर्थ समय र्बाद न करो।" परन्तु वाल्टर स्काट एकनिष्ठा पर विश्वास रखते थे, इसलिए उन्होंने अपना प्रयत्न जारी रखा। जो लेख वापस आते, उन्हें वे ध्यान से पढ़ते, उनकी कमियाँ खोजते और पत्र-पत्रिकाओं में निर्धारित विषय से कहाँ विसंगति हुई, इसकी छान-बीन करते रहते। यों करते-करते धीरे-धीरे लेखन में सुधार करके उन्होंने उन लेखों को प्रकाशन योग्य बना दिया। निरन्तर अभ्यास ने लेखन दक्षता बढ़ा दी और उनके लेख पत्र-पत्रिकाओं में धड़ाधड़ छपने लगे। उनकी माँग भी आने लगी।

अगर वाल्टर स्कॉट प्रारम्भिक असफलता से हतोत्साह होकर लेखन कार्य छोड़ देते तो अवश्य ही वे इस क्षेत्र में मिलने वाली योग्यता, सफलता और श्री-सम्पन्नता से वंचित रह जाते।

उसके पश्चात् एकनिष्ठ भाव से लिखते-लिखते उनमें पुस्तक लिखने की प्रतिभा विकसित हो गई। वे विविध विषयों पर पुस्तकें लिखने लगे। किन्तु उनकी पुस्तकें छापने को कोई तैयार नहीं हुआ। यदि कोई पुस्तक छप भी गई तो वह लोकप्रिय न हो सकी। पुनः असफलता और एकनिष्ठा के बीच फिर टक्कर शुरू हो गई। जब उनकी पुस्तकों से प्रकाशकों को प्रोत्साहन न मिला तो उन्होंने एक मित्र को साझीदार बनाकर प्रेस लगाया। परन्तु इस कार्य में चालाक मित्र में वाल्टर स्काट की अनभिज्ञता का दुर्लाभ उठाकर उन्हें घाटे में डाल दिया। उन पर काफी कर्ज भी चढ़ गया। ऐसे समय में बड़े-से-बड़ा दृढ़निश्चयी भी हिम्मत हार सकता था, लेकिन वे एकचित्त और एक लगन से अपने मनोनीत क्षेत्र में जुटे रहे। पुस्तकों का प्रकाशन चलता रहा। पर वे अलोकप्रिय होकर पड़ी रहीं। कर्ज बढ़ता गया, लाखों के कर्जदार हो गए। फिर भी वे चट्टान की तरह अडिग रहे। क्योंकि एकनिष्ठा की शक्ति से वे परिचित एवं विश्वस्त थे। उनका विश्वास था कि असफलता के बाद सफलता और अवनति के बाद उन्नति आती ही है। विपत्तियों से घबराकर मैदान छोड़ भागने वाला भीरु कभी सम्पत्तियों का अधिकारी नहीं हो सकता। वे आशा, उत्साह, धैर्य और साहस का मूल्य जानते थे। वे यह भी जानते थे कि कि आज संकट में यदि हम साहस से काम लेकर स्थिरचित्त से काम में लगे रहे तो कल अवश्य ही यह काम हमें सुन्दर प्रतिफल देगा। अतः वे अपने निश्चित पथ पर दृढ़निष्ठा से आगे बढ़ते गए।

उन्होंने अपने साहित्य की अलोकप्रियता का कारण गहराई से खोज निकाला कि उनका विविध विषयों पर लिखना ही प्रगति-अवरोध का कारण है। एक मनुष्य अनेक विषयों में पारंगत नहीं हो सकता। अतः पूर्णतया चिन्तन के बाद अपने असंदिग्ध निश्चय पर पहुंचते ही उन्होंने अपने कार्य में सुधार कर लिया। उन्होंने विषय वैविध्य को छोड़कर केवल एक ऐतिहासिक विषय को उठा लिया और उसी में एकनिष्ठ तथा एकचित्त होकर पढ़ना-लिखना और विचार करना शुरू किया। इस एकनिष्ठा का सुफल यह हुआ कि वे शीघ्र ही ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में पारंगत हो गए। उनकी तपस्या के फलस्वरूप उनके ऐतिहासिक उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए कि कुछ ही समय में वे अपना बढ़ा हुआ सारा कर्ज ही नहीं चुका पाए, वरन् श्रीसम्पन्न भी बन गए।

यदि वाल्टर स्काट बिखरी लगन वाले और अस्थिरचित्त वाले होते तो क्या वे इस महती सफलता एवं श्रीसम्पन्नता के अधिकारी बन सकते थे? यदि वे अपना लेखन-कार्य छोड़कर अन्य व्यवसाय या नौकरी की ओर दौड़ते तो सम्भव है, उन्हें असफलता का मुंह देखना पड़ता। मैदान छोड़कर भागे हुए सिपाही की तरह उनका भी साहस मन्द होता।

मैंने आपको व्यावहारिक क्षेत्र में चित्त की स्थिरता से लाभ और अस्थिरता

से हानि के उदाहरण इस विषय को हृदयंगम करने की दृष्टि के प्रस्तुत किये हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी चित्त की अस्थिरता से बहुत बड़ी हानि और चित्त की स्थिरता से अपार शक्ति प्राप्त होती है।

लाग्रथिम (लघुगणक) के सिद्धान्त की खोज करने में नेपियर को बीस वर्ष तक कठिन परिश्रम करना पड़ा था। उसने लिखा है कि इस अवधि में उसने किसी अन्य विषय को मस्तिष्क में नहीं आने दिया। एक विषय पर ही बार-बार चित्त की स्थिरतापूर्वक उलट-पुलट कर विचार करने से ही तल्लीनता बनती है। उस चिन्तन-काल में सार्थक विचारों का एक पुंज मस्तिष्क में काम करने लग जाता है। यही है स्थिरचित्त का सुफल।

प्रश्न होता है कि चित्त स्थिर कैसे हो ? क्योंकि यह तो अतीव चंचल और अस्थिर है। इसे वश करना अत्यन्त कठिन है। चित्त एक धारा में बहना नहीं चाहता। तथागत बुद्ध ने भी चित्त को नदी की उपमा देकर बताया है—

'चित्तनदी उभयतो वाहिनी, वहति पुण्याय, वहति पापा य च'

चित्त नदी दोनों धाराओं में बहती है, कभी वह पुण्य की धारा में बहती है, कभी पाप की धारा में।

हाँ, तो चंचल चित्त को स्थिर रखने के लिए बार-बार अभ्यास करना और वैराग्य को जीवन में प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। चित्त की स्थिरता के फलीभूत होने में काल की सीमा है। किन्तु आज अभ्यास प्रारम्भ किया और कल ही फल मिल जाए, यह उसी तरह असंभव है, जिस तरह एक किसान को आज बीज बोते ही फल मिलना असम्भव है। पहले बीज अंकुरित होगा, फिर पौधा बनेगा, फिर फूल और फल लगेंगे। यही बात चित्त की स्थिरता के सम्बन्ध में समझिए।

संभिन्नचित्त का सातवाँ अर्थ : असंतुलित चित्त

चित्त का असंतुलित होना भी संभिन्नचित्त है। चित्त जब असंतुलित होता है तो मनुष्य हर्ष-शोक, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों में उसे अपने काबू में नहीं रख पाता। जो सुख में अत्यन्त प्रसन्न होता है, वह दुःख में उससे भी अधिक दुःखी होता है। अनुकूल परिस्थितियों में जो खुशी से पागल हो उठता है, वह प्रतिकूल परिस्थितियों में उसी अनुपात में दुःखी होगा। सुख प्रसन्नता का कारण है, लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आप उसमें अत्यन्त प्रसन्न होकर सन्तुलन खो बैठें।

दुःख से बचने का एक उपाय यह भी है कि सुख की दशा में बहुत प्रसन्न न हुआ जाए। चित्त-सन्तुलनपूर्ण तटस्थ अवस्था का अभ्यास इस दिशा में बहुत उपयोगी होगा। मनोनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर साधारण भाव से उनका स्वागत करने वाला ही प्रतिकूल परिस्थिति में घबराता नहीं। हर्ष के समय जो चित्त का सन्तुलन बनाए रखता है, वह विषाद के समय भी संतुलित रहता है। दुःख-सुख में समान भाव

इसके पश्चात् एकनिष्ठ भाव से लिखते-लिखते उनमें पुस्तक लिखने की प्रतिभा विकसित हो गई। वे विविध विषयों पर पुस्तकें लिखने लगे। किन्तु उनकी पुस्तकें छापने को कोई तैयार नहीं हुआ। यदि कोई पुस्तक छप भी गई तो वह लोकप्रिय न हो सकी। पुनः असफलता और एकनिष्ठा के बीच फिर टक्कर शुरू हो गई। जब उनकी पुस्तकों से प्रकाशकों को प्रोत्साहन न मिला तो उन्होंने एक मित्र को साझीदार बनाकर प्रेस लगाया। परन्तु इस कार्य में चालाक मित्र ने वाल्टर स्काट की अनभिज्ञता का दुर्लाभ उठाकर उन्हें घाटे में डाल दिया। उन पर काफी कर्ज भी चढ़ गया। ऐसे समय में बड़े-से-बड़ा दृढ़निश्चयी भी हिम्मत हार सकता था, लेकिन वे एकाग्रता और एक लगन से अपने मनोनीत क्षेत्र में जुटे रहे। पुस्तकों का प्रकाशन चलता रहा। पर वे अलोकप्रिय होकर पड़ी रहीं। कर्ज बढ़ता गया, लाखों के कर्जदार हो गए। फिर भी वे चट्टान की तरह अडिग रहे। क्योंकि एकनिष्ठा की शक्ति से वे परिचित एवं विश्वस्त थे। उनका विश्वास था कि असफलता के बाद सफलता और अवनति के बाद उन्नति आती ही है। विपत्तियों से घबराकर मैदान छोड़ भागने वाला भीरु कभी सम्पत्तियों का अधिकारी नहीं हो सकता। वे आशा, उत्साह, धैर्य और साहस का मूल्य जानते थे। वे यह भी जानते थे कि आज संकट में यदि हम साहस से काम लेकर स्थिरचित्त से काम में लगे रहे तो कल अवश्य ही यह काम हमें सुन्दर प्रतिफल देगा। अतः वे अपने निश्चित पथ पर दृढ़निष्ठा से आगे बढ़ने लगे।

उन्होंने अपने साहित्य की अलोकप्रियता का कारण गहराई से खोज निकाला कि उनका विविध विषयों पर लिखना ही प्रगति-अवरोध का कारण है। एक मनुष्य अनेक विषयों में पारंगत नहीं हो सकता। अतः पूर्णतया चिन्तन के बाद अपने असंदिग्ध निश्चय पर पहुँचते ही उन्होंने अपने कार्य में सुधार कर लिया। उन्होंने विषय वैविध्य को छोड़कर केवल एक ऐतिहासिक विषय को उठा लिया और उसी में दत्तचित्त तथा एकनिष्ठ होकर पढ़ना-लिखना और विचार करना शुरू किया। इस एकनिष्ठा का सुफल यह हुआ कि वे शीघ्र ही ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में पारंगत हो गए। उनकी तपस्या के फलस्वरूप उनके ऐतिहासिक उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए कि कुछ ही समय में वे अपना चढ़ा हुआ सारा कर्ज ही नहीं चुका पाए, वरन् श्रीसम्पन्न भी बन गए।

से हानि के उदाहरण इस विषय को हृदयंगम करने की दृष्टि के प्रस्तुत किये हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी चित्त की अस्थिरता से बहुत बड़ी हानि और चित्त की स्थिरता से अपार शक्ति प्राप्त होती है।

लाग्रथिम (लघुगणक) के सिद्धान्त की खोज करने में नेपियर को वीस वर्ष तक कठिन परिश्रम करना पड़ा था। उसने लिखा है कि इस अवधि में उसने किसी अन्य विषय को मस्तिष्क में नहीं आने दिया। एक विषय पर ही बार-बार चित्त की स्थिरतापूर्वक उलट-पुलट कर विचार करने से ही तल्लीनता बनती है। उस चिन्तन-काल में सार्थक विचारों का एक पुंज मस्तिष्क में काम करने लग जाता है। यही है स्थिरचित्त का सुफल।

प्रश्न होता है कि चित्त स्थिर कैसे हो? क्योंकि यह तो अतीव चंचल और अस्थिर है। इसे वश करना अत्यन्त कठिन है। चित्त एक धारा में बहना नहीं चाहता। तथागत बुद्ध ने भी चित्त को नदी की उपमा देकर बताया है—

'चित्तनदी उभयतो वाहिनी, वहति पुण्याय, वहति पापा य च'

चित्त नदी दोनों धाराओं में बहती है, कभी वह पुण्य की धारा में बहती है, कभी पाप की धारा में।

हाँ, तो चंचल चित्त को स्थिर रखने के लिए बार-बार अभ्यास करना और वैराग्य को जीवन में प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। चित्त की स्थिरता के फलीभूत होने में काल की सीमा है। किन्तु आज अभ्यास प्रारम्भ किया और कल ही फल मिल जाए, यह उसी तरह असंभव है, जिस तरह एक किसान को आज बीज बोते ही फल मिलना असम्भव है। पहले बीज अंकुरित होगा, फिर पौधा बनेगा, फिर फूल और फल लगेंगे। यही बात चित्त की स्थिरता के सम्बन्ध में समझिए।

संभिन्नचित्त का सातवाँ अर्थ : असंतुलित चित्त

चित का असंतुलित होना भी संभिन्नचित्त है। चित्त जब असंतुलित होता है तो मनुष्य हर्ष-शोक, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों में उसे अपने काबू में नहीं रख पाता। जो सुख में अत्यन्त प्रसन्न होता है, वह दुःख में उससे भी अधिक दुःखी होता है। अनुकूल परिस्थितियों में जो खुशी से पागल हो उठता है, वह प्रतिकूल परिस्थितियों में उसी अनुपात में दुःखी होगा। सुख प्रसन्नता का कारण है, लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आप उसमें अत्यन्त प्रसन्न होकर सन्तुलन खो बैठें।

दुःख से बचने का एक उपाय यह भी है कि सुख की दशा में बहुत प्रसन्न न हुआ जाए। चित्त-सन्तुलनपूर्ण तटस्थ अवस्था का अभ्यास इस दिशा में बहुत उपयोगी होगा। मनोनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर साधारण भाव से उनका स्वागत करने वाला ही प्रतिकूल परिस्थिति में घबराता नहीं। हर्ष के समय जो चित्त का सन्तुलन बनाए रखता है, वह विषाद के समय भी संतुलित रहता है। दुःख-सुख में समान भाव

से तटस्थ रहना इसलिए भी आवश्यक है कि अतिरेकता के समय किसी बात का ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। हर्ष के समय ठीक बात भी गलत लगती है। तब अभ्यासवश बुद्धिभ्रम हो जाने से दुःख के समय भी वह गलत लग सकती है। चित्त की असंतुलित अवस्था में मनुष्य भावुकतावश कुछ का कुछ निर्णय ले लेता है।

जिसका चित्त असंतुलित होता है, वह उद्विग्न रहता है। चिन्ता, शोक, भय, निराशा, घबराहट, क्षोभ, कायरता आदि चित्त के उद्वेग हैं। चित्त की शान्त, संतुलित अवस्था ही सबसे स्वस्थ और उपयोगी स्थिति है। इस स्थिति में मनुष्य का विवेक पूरी तरह जागृत रहता है और वह कर्तव्यपथ दिखाता रहता है।

जैसे तराजू के दोनों पलड़े समान रूप से भारी होने के कारण डंडी को संतुलित रखते हैं, वैसे ही चित्त की पूर्ण संतुलित अवस्था में उद्वेग, उत्तेजना, भीति, शंका, वितर्क या व्यर्थ की उथल-पुथल नहीं रहती। चित्त की संतुलित और शान्त अवस्था में ही मनुष्य अपना भला-बुरा सोच सकता है। संतुलित अवस्था में ही मनुष्य अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है।

शूद्रकुमार एम. आर. जयकर महाराष्ट्र का एक होनहार युवक था। उस समय अठारहवीं सदी का अन्तिम चरण चल रहा था। शूद्रजातीय व्यक्ति के प्रति ब्राह्मणों में छुआछूत और घृणा का भाव बहुत जोर-शोर से चल रहा था। जब जयकर ने एक दिन एक ब्राह्मण अध्यापक से संस्कृत पढ़ाने का अनुरोध किया तो वे आपे से बाहर हो गये। उस समय भारत में ब्रिटिश सरकार का शासन था, इसलिए वे अपने क्रोध को उग्र रूप तो न दे सके, तथापि अध्यापक ने जयकर को एकलव्य की संज्ञा देकर व्यंग्यबाणों से घायल करने में कोई कसर न रखी। पाठशाला में टंगे एक वाक्य—'**स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्**' की ओर संकेत करते हुए वे साक्रोश बोले—"मूढ ! पढ़ इसे और समझ कि अनधिकारी होकर भी तू देववाणी संस्कृत के ज्ञान की आकांक्षा करता है।" जयकर ने शान्ति से उत्तर दिया—"यह वाक्य तो संस्कृत में है। अतः पहले मुझे आप उसका ज्ञान कराइए, तभी तो मैं उसे पढ़ और समझ सकूँगा।"

अध्यापक अपने अस्त्र से स्वयं आहत हो गया। बात का रुख बदलकर बोला —"संस्कृत देववाणी है। बिना तप और साधना के उसकी प्राप्ति नहीं होती और तुम शूद्रों में उसका नितान्त अभाव है।"

जयकर ने पुनः कहा—"गुरुजी ! यदि कोई विद्या शूद्र को नहीं आ सकती तो एकलव्य को धनुर्वेद कैसे उपलब्ध हो गया ?"

अध्यापक से अब न रहा गया। उसने जयकर को तिपाई पर खड़े रहने का दण्ड देते हुए कहा—"जब तक तेरे मस्तिष्क से संस्कृत पढ़ने का विचार न निकल जाये तब तक यों ही खड़ा रह। देखूँगा, तुझमें संस्कृत पढ़ने की कितनी जिज्ञासा है ?"

जयकर तिपाई पर पाँच दिन तक निरन्तर बिना हिले खड़ा रहा। न उसने कुछ खाया और न पानी पिया। उसकी इस तपस्या और लोकापवाद के भय से अध्यापक का आसन हिला और वह संस्कृत पढ़ाने पर मजबूर हुआ। जयकर का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर लेने के साथ उसने वैदिक विभाग में प्रवेश माँगा। इस बार अध्यापकों ने शपथ खाकर इन्कार किया कि "शूद्र संस्कृत का लौकिक साहित्य तो पढ़ सकता है, वैदिक साहित्य कदापि नहीं।"

जयकर का उद्देश्य ज्ञानार्जन का था, व्यर्थ विग्रह नहीं। वह सत्याग्रही था, दुराग्रही नहीं। अतः उसने वैदिक कक्षा में प्रवेश के लिए हठ नहीं किया। सतत अध्ययन करके उसने संस्कृत की स्नातकोत्तर परीक्षा उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण की और अपने ढंग से वेद वेदांगों का गहन मन्थन करके वेदान्त के एक बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। किन्तु इस ऊँचाई तक जयकर बिना विघ्न-बाधाओं के यों ही सरलतापूर्वक नहीं पहुँच गया।

जयकर के संसार में आने से पूर्व उसके माता-पिता की निर्धनता, विषम स्थिति ने प्रारम्भिक अवरोध तो पहले से ही खड़ा कर रखा था। दुर्भाग्य से पिताजी का देहान्त हुआ तब जयकर माँ की गोद में ही पल रहा था। जयकर को लेकर उसकी माँ अपने पिता के घर चली गई। वहीं नाना ने उसका लालन-पोषण किया। नाना के कोई पुत्र न होने से जयकर को विरासत नाना की सम्पत्ति मिल गई जो थोड़ी-सी थी।

जयकर इतने अवरोधों और विरोधों के बीच अपने चित्त का संतुलन खो बैठता और सतत अपने अध्ययन को न बढ़ाता तो इतना सुयोग्य विद्वान कैसे बनता? इतने तिरस्कारों और अपमानों के बीच भी जयकर ने अपनी संस्कृति न छोड़ी।

आगे चलकर जयकर अच्छे वकील बने। इंग्लैण्ड में जाकर वकालत करने लगे। इतने लम्बे अरसे और बड़े-बड़े विलासी एवं व्यसनी मित्रों के बीच रहते हुए भी जयकर ने कभी मद्य और मांस का सेवन न किया, यहाँ तक कि सिगरेट भी नहीं पी। उनका चरित्र उज्ज्वल एवं निष्कलंक रहा।

यह है संतुलितचित्त का चमत्कार, जो दुर्बलताओं से दूर रहने से प्राप्त होता है।

चित्त की संतुलित स्थिति [illegible] है। [illegible] का कोई भी रोग इतना [illegible] नहीं होता, जितना चित्त का [illegible]। चित्त की स्वस्थ, शान्त एवं संतुलित रहने से [illegible] प्राप्त होती है, जो सबसे बड़ी श्री है, [illegible] है। चित्त के संतुलन से [illegible] होती है, [illegible] है, [illegible] है। [illegible] है, [illegible] है, [illegible] होता है। [illegible] होने की [illegible] है। चित्त की

असतुलित स्थिति में मनुष्य को हिताहित का, भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता, न कर्तव्यबुद्धि का भान रहता है।

इसलिए संभिन्नचित्त का एक अर्थ असंतुलित चित्त है, जिसके रहते मनुष्य को अपने जीवन में सफलता, विजयश्री, शान्ति और प्रसन्नता नहीं मिलती।

मैंने आपके समक्ष सभिन्नचित्त के विभिन्न अर्थों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। आप इस पर मनन-चिन्तन कीजिए और समस्त प्रकार की 'श्री' से वंचित रखने वाले संभिन्नचित्त से बचने का प्रयत्न कीजिए। श्रीहीन जीवन कथमपि उपादेय नहीं, है, जिसकी ओर महर्षि गौतम ने संकेत किया है—

'संभिन्नचित्तं भयए अलच्छी' ☆

२६

सत्यनिष्ठ पाता है श्री को : १

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले दो प्रवचनों में मैं श्रीहीन जीवन के सम्बन्ध में विस्तृतरूप से विवेचन कर चुका हूँ। आज मैं आपके समक्ष श्रीसम्पन्न जीवन के सम्बन्ध में अपना चिन्तन प्रस्तुत करूँगा। गौतमकुलक का यह छब्बीसवाँ जीवनसूत्र है, जिसमें महर्षि गौतम ने बताया है—

'सच्चे ठियंतं भयए सिरी य'

सत्य में स्थित व्यक्ति श्री को पाता है। सर्वतोमुखी श्री से युक्त बनता है।

सत्य में स्थित कौन ? क्या पहिचान ?

सत्यनिष्ठ व्यक्ति जीवन में समग्र श्रीसमूह को उपलब्ध करता है, परन्तु प्रश्न यह है कि सत्यस्थित व्यक्ति कैसा होता है, उसकी क्या पहिचान है ?

वैसे तो आज विश्व में ढाई-तीन अरब मानव हैं, किसी के ललाट पर यह नहीं लिखा है कि यह सत्यवादी है या सत्यनिष्ठ है, मगर जो सत्य का मन, वचन और काया से पालन करता है, अपने जीवन को, जीवन के प्रत्येक व्यवहार और आचरण को सत्य के चरणों में समर्पित कर देता है, वही सत्यनिष्ठ कहलाता है और दुनिया उसे पहचान लेती है, चाहे वह धरती के किसी भी कोने में क्यों न बैठा हो। सत्य की किरणें सूर्य की किरणों की तरह सर्वत्र स्वतः ही पहुँच जाती है। अपने सत्याचरण के लिए कहीं ढिंढोरा नहीं पीटना पड़ता और न ही उसे सिद्ध करने के लिए किसी वकील की आवश्यकता रहती है। सत्य अपने आप ही अपना प्रचार कर देता है।

वैदिक पुराणों में बताया गया है कि जब किसी की तपस्या बढ़ जाती है तो इन्द्र का आसन हिल जाता है, वह समझ जाता है कि कोई विशिष्ट तपस्वी स्वर्ग के सिंहासन को अधिकृत करने हेतु आने वाला है। इसलिए इन्द्र उसकी कसौटी करता है, तमाम देवों को कसौटी करने के लिए भेजता है, उसे अपने तप से विचलित करने के लिए नाना उपाय करता है, और जब वह देख लेता है कि यह अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ है, तब उसे नमन-वन्दन करता है, उसकी पूजा करता है। उसी प्रकार जो व्यक्ति सत्य से ओतप्रोत होते हैं, उनके आचरण का प्रभाव मनुष्यलोक, तिर्यञ्च-लोक पर तो पड़ता ही है, देवलोक पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। देवगण उसकी

सत्यता की कसौटी करते हैं और कसौटी में खरा उतरने पर वे उस सत्यनिष्ठ की पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं, उसे सब प्रकार से सहायता देते हैं, उस पर आई हुई विपत्तियों को दूर करते हैं। यहाँ तक कि सारी प्रकृति उस सत्यवादी के अनुकूल हो जाती है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे, समुद्र, नदी, पर्वत, वन, वनस्पति, जल, पवन, पृथ्वी, अग्नि, आदि सभी सत्यवादी के अनुकूल बन जाते हैं। इस प्रकार उस सत्यवादी का जीवन सबसे परिचित हो जाता है। आम जनता भी उसे परख लेती है, उस पर विश्वास कर लेती है।

और भी अनेक तरीके हैं—सत्यवादी को पहचानने के। जिसके जीवन में सत्य के प्रति पूर्ण निष्ठा होगी, उसका प्रत्येक व्यवहार सत्य से युक्त होगा। उसकी वाणी सत्य से सनी होगी, उसके विचार अनाग्रहयुक्त, सत्याग्रहपूर्ण, अनेकान्त से ओत-प्रोत होंगे। वह अपने ही सत्य को सत्य नहीं कहेगा, बल्कि उसकी दृष्टि में यही होगा कि विश्व में जहाँ भी सत्य है, वह सब मेरा है।

सत्यनिष्ठ व्यक्ति बहुत ही जागरूक रहता है। वह किसी भी बात को बिना तोले मुँह से नहीं निकालता और जो कुछ भी उसके मुँह से निकल जाता है, वह उस पर अन्त तक टिका रहता है। उसने जैसा देखा है, जैसा सुना है, जैसा अनुमान किया है, दूसरों को समझाने के लिए वह उसी प्रकार कहेगा, अपनी ओर से उसमें जरा भी नहीं मिलाएगा। वह अपने किसी भी स्वार्थ के लिए लोभ या भयवश, आवेश और द्वेषवश कभी झूठ नहीं बोलेगा। वह देखी हुई और सुनी हुई बात से ही सहसा निर्णय नहीं करेगा।

सत्यवादी का जीवन खुली हुई पुस्तक के समान होगा, कोई भी वस्तु उसके जीवन में गुप्त या प्रच्छन्न नहीं होगी, यहाँ तक कि वह अपनी समझदारी से पहले भूतकाल में की गई भूलों और दोषों को भी खुल्लमखुल्ला प्रगट कर देगा; क्योंकि सत्य तो कहीं भी छिप नहीं सकता, वह एक दिन उजागर होकर रहता है। पाश्चात्य विचारक विलसन के शब्दों में देखिये—

"Truth is like a lighted lamp, in that it cannot be hidden away in the darkness, because it carries its own light."

"सत्य एक प्रकाशित लैंप की तरह है, जैसे लैंप में प्रकाश छिपाया नहीं जा सकता, क्योंकि वह अपने अन्दर अपने प्रकाश को लिए हुए है, वैसे ही सत्य का प्रकाश छिपाया नहीं जा सकता, क्योंकि वह अपने में स्वतः ही प्रकाश को लिए हुए है।"

मुस्लिम सरदार हजरत उमर मस्जिद में बैठे अनेक मामलों का निपटारा कर रहे थे। वहाँ अनेक लोग उपस्थित थे। इतने में दो व्यक्ति एक सुन्दर युवक को पकड़कर हजरत उमर के पास लाए और कहा—"हजूर! इस जुल्मी ने हमारे पिता की हत्या की है, इसे सजा फरमाई जाए।" हजरत ने युवक पर निगाहें डालकर उससे पूछा—"क्या यह बात सत्य है?"

युवक ने पश्चात्तापपूर्वक अपना अपराध स्वीकार किया। साथ ही ऐसा करने का कारण भी वताया। हजरत ने सारी कैफियत सुनकर कहा—"इसे मैं कानून की रूह से मौत की सजा देता हूँ।"

युवक ने निवेदन किया—"मुझे आपके द्वारा दी गई मौत की सजा मंजूर है, परन्तु तीन दिन की मुद्दत दीजिए।" हजरत ने पूछा—"क्यों ?"

उसने कहा—"एक मेरा छोटा भाई है। पिताजी ने मरते समय मुझे थोड़ा-सा सोना उसे देने के लिए सौंपा था, जो जमीन में गाड़ा हुआ है। मेरे सिवाय किसी को यह मालूम नहीं है। अतः मुझे इजाजत दीजिए कि मैं घर जाकर अपने छोटे भाई को वह अमानत सौंप आऊँ। यह काम निपटाकर मैं स्वयं हाजिर हो जाऊँगा।"

हजरत ने कहा—"तुम्हारा कोई जामिन है यहाँ कि अगर तुम तीन दिन बाद हाजिर न हो सको तो वह तुम्हारे बदले में मौत की सजा स्वीकार करले।"

युवक ने कातर नेत्रों से पास ही बैठे हजरत मुहम्मद के दो सोहवतियों की ओर देखा। उनमें से एक अबूवकर साहव थे, वे इस युवक के जामिन बने। उन्होंने कहा "अगर युवक तीन दिन बाद नहीं आया तो मैं इसका जामित हूँ।" तीसरा दिन होने आया। सबकी आँखें उस युवक की ओर लगी थीं। जब गुनहगार युवक नहीं आया तो सभी व्याकुल हो उठे। दोनों फरियादियों ने अबूबकर से कहा—"साहव ! हमारा अपराधी कहाँ है ? उसे हाजिर करें।"

अबूवकर ने दृढ़ता से जबाव दिया—"अगर तीन दिन पूरे बीत जाएँगे और अपराधी नहीं आएगा तो उसके बदले मैं प्राण देने को तैयार हूँ।"

हजरत उमर सावधान होकर बैठे थे। तीसरे दिन दोपहर के वाद तक गुनहगार नहीं आया तो हजरत ने कहा—"अबूबकर ! गुनहगार यदि आज रात तक नहीं आया तो सजा का हुक्म तुम पर लागू किया जाएगा।" वहाँ बैठे हुए सभी लोग चिन्तातुर एवं भयविह्वल हो उठे। उस जमाने में हत्या का बदला हत्या से लेने का रिवाज था। अहिंसा का इतना विकास उस देश में नहीं हुआ था। अतः कुछ लोगों ने जामिन अबूवकर के साथ हमदर्दी दिखाते हुए फरियादियों से कहा—"अगर आज अपराधी न आए तो तुम हत्या का बदला हत्या से न लेकर इनसे धन लेकर संतोष मान लेना।" फरियादियों ने ऐसा करने से साफ इन्कार कर दिया। सभी चिन्तित हो उठे। इतने में तो अपराधी युवक दूर से आता दिखाई दिया। वह हाँफ रहा था, और पसीने से तरवतर था। आते ही उसने हजरत उमर एवं सवको सलाम किया और अर्ज की—"खुदा का शुक्रिया है, कि मैं समय पर पहुँच सका हूँ। मैं अपने भाई को सोना देकर तथा उसे पढ़ाने के लिए मामा को सौंपकर सीधा दौड़ता-दौड़ता आ रहा हूँ, ताकि मेरे जामिन को कोई कष्ट न पहुँचे, जो मुझ अपरिचित पर विश्वास करके मेरे जामिन बने।" यों कहकर उसने अबूवकर का हाथ चूमा। इस पर अबूवकर ने कहा—"भाइयो ! इस युवक ने जब भरी सभा में मुझ पर विश्वास

रखा, तब इसे निराश करना मेरे लिए अनुचित था। यह अपना वायदा पूरा करेगा, इसका मुझे पूरा भरोसा था।"

इस घटना का फरियादियों पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने युवक पर दया दिखाते हुए कहा—"उमर साहब ! हम इसकी हत्या माफ करते हैं। खुदा जाने, ऐसे सत्यवादी युवक से यह गुनाह कैसे हो गया ?"

सबका समर्थन मिला। हजरत उमर ने उस गुनाहगार युवक को उसकी सत्यवादिता से प्रभावित होकर दण्डमुक्त कर दिया। वह सबका आभार मानता हुआ चल पड़ा।

बन्धुओ ! जब उस अपराधी में सबको सत्य की झलक दिखाई दी तो उन्होंने उसके घोर अपराध को माफ कर दिया। सचमुच, सत्यवादी अपने सत्य-आचरण से पहचाना जाता है। पाश्चात्य विचारक राबर्टसन (Robertson) ने ठीक ही कहा है—

"Truth lies in character, for truth is a thing not of words, but of life and being."

"सत्य आचरण में निहित होता है, क्योंकि सत्य ऐसी चीज है, जो शब्दों की नहीं, किन्तु जीवन जीने की और अस्तित्व की वस्तु है।"

जो लोग केवल अपनी प्रशंसा, प्रतिष्ठा या सम्मान के लिए सत्य बोलते हैं, उनका सत्य हृदय की गहराई से तथा मन-वचन-काया की एकता से नहीं होता और एक न एक दिन उस अवसरवादी सत्य की कलई खुल ही जाती है। स्थानांग सूत्र (स्था० ४) में श्रमण भगवान महावीर ने मानव में निहित सत्य को पहचानने के लिए चार बातें बताई हैं—

"चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—
"काउज्जुयया, भासुज्जुयया, भावुज्जुयया, अविसंवायणाजोगे।"

सत्य चार प्रकार से जीवन में प्रतिष्ठित होता है—काया की सरलता से, भाषा की सरलता से, भावों की सरलता से और अविसंवादिता (परस्पर विरुद्ध वचन या विसंगति न होने) से।

सत्यनिष्ठ व्यक्ति शरीर से गलत चेष्टा नहीं करेगा। वह आँखों के इशारे से, हाथ-पैर और मुँह की चेष्टा से तथा खाँसकर अथवा किसी चीज को फैंककर कोई असत्य कार्य करने चेष्टा न करेगा, न ही प्रेरणा देगा। वह मन में दूसरे के प्रति गलत विचार या दुष्टभाव नहीं रखेगा, न बाहर से वाणी एवं व्यवहार से अच्छाई प्रगट करके पीछे से गलत काम करेगा। उसके जो मन में होगा, वही वह वचन से कहेगा और वही व्यवहार या कार्य काया से करेगा।

सत्यनिष्ठ व्यक्ति सत्य का सम्बन्ध केवल शब्दों से नहीं मानता अपितु आन्त-

रिक भावना से मानता है। कई बार लोग अपनी सत्यवादिता बताने के लिए शब्दों का आश्रय लेते हैं। फिर उन शब्दों का अर्थ खींचतान करके या तोड़मरोड़कर दूसरा ही लगाते हैं। बोलते समय उनका कुछ और भाव रहता है, परन्तु उस भाव पर अन्ततः टिका नहीं जाता या टिकना नहीं चाहते, तब वे शब्दों से चिपककर अपने आशय को बदल देते हैं।

एक मौलवी ने कुरानेशरीफ में आए हुए पाठ—'**नमाज नहीं पढ़ना चाहिए, जब नापाक हों**' में से जब नापाक हों, इन शब्दों को अंगुली से दबाकर गाँव में यह प्रचार कर दिया कि 'नमाज नहीं पढ़ना चाहिए,' ऐसा कुरान में लिखा है। दूसरे नये मौलवी आए और उन्होंने यह माजरा देखा तो दंग रह गए। लोगों में उलटा प्रचार सुनकर नये मौलवीजी ने पुराने मौलवी जी से ऐसा परम्परा विरुद्ध विधान करने का कारण पूछा तो उन्होंने 'जब नापाक हों' पर अंगुली दबाकर बता दिया—"देख लो कुरानेशरीफ में लिखा है या नहीं।" नये मौलवी उसकी चालाकी समझ गए और अँगुली हटवाकर पढ़ने को कहा। इस पर पुराने मौलवी की कलई खुल गई। वे बगलें झाँकने लगे।

हाँ तो, मैं कह रहा था सत्यनिष्ठ व्यक्ति की पहचान यह है कि वह शब्दों की अपेक्षा आशय को पकड़ेगा। महात्मा गांधी जब विदेश गए थे, तब तीन प्रतिज्ञाएँ बेचरजी स्वामी से लेकर गए थे। उनमें से एक थी—'मांसाहार न करना।' विदेश में गांधीजी के मित्रों ने उनसे कहा—'तुमने तो मांसाहार की प्रतिज्ञा ली है, अण्डे खाने में क्या हर्ज़ है?" इस पर गाँधीजी ने कहा—"मेरी माता अण्डों एवं मछलियों के खाने को भी मांसाहार में मानती हैं, मैंने भी उसी आशय से प्रतिज्ञा ली थी। अतः अण्डों को मैं मांसाहार में समझकर सेवन नहीं कर सकता।"

सत्यनिष्ठ साधक सत्य को बोलने तक ही सीमित नहीं समझता। जो सिर्फ सत्य बोलने को ही सत्य मानता है, समय आने पर सत्य सिद्धान्त का आग्रह नहीं रखता, सिद्धान्त के अनुसार अपना व्यवहार जरा भी नहीं बनाता। जब उसके साथ रहने वाले असत्य का आचरण करते हों तो वह यों कहकर छटक जाता है कि मैं स्वयं सत्य बोल सकता हूँ, सत्यसिद्धान्त का पालन कर सकता हूँ, मेरे साथ रहने वालों पर कैसे लाद सकता हूँ, ऐसे अर्धसत्य को सत्यनिष्ठ नहीं स्वीकार करता।

साथ ही सत्यनिष्ठ व्यक्ति सत्य की खोज, सत्य का अन्वेषण सतत चालू रखेगा।

सत्य का अन्वेषक परम्पराओं, रीतिरिवाजों, प्रथाओं एवं सामाजिक रूढ़ियों में आँखें मूँदकर नहीं चलेगा। अगर कोई परम्परा या रीतिरिवाज अथवा प्रथा आज गलत है, उसके पालन से समाज में विषमता पैदा होती है, अधर्म फैलता है, हिंसा होती है, अत्यन्त ख़र्चीली होने से घातक है, या युग बाह्य है, विकास में बाधक है, आत्मिक परतंत्रता बढ़ाती है तो सत्यनिष्ठ साधक उन परम्पराओं, प्रथाओं या रीति-

रिवाजों को असत्य समझकर मानने से इन्कार कर देगा, वह स्वयं ऐसी कुरूढ़ियों का पालन नहीं करेगा। वह ऐसी घातक कुरूढ़ियों को वैचारिक असत्य मानेगा। क्योंकि सत्य वही है, जिससे प्राणिमात्र का हित हो।[1] महाभारत में बताया है—

'यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम।'

जो एकान्त रूप से प्राणिमात्र के लिए हितकर है, वही मेरे मत से सत्य है।

मान लीजिए किसी सम्प्रदाय का अनुयायी सत्यार्थी साधक यह मानता है कि 'पशुवलि करना सत्य है, मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा और मैथुन, ये पाँच मकारों का सेवन करना सत्य है, शूद्र नीचे हैं, ब्राह्मण उच्च हैं, शूद्रों को वेद या शास्त्र नहीं पढ़ाना चाहिए, उनको छूना अधर्म है, या कोई मुस्लिम मौलवी यह मानता है कि दूसरे सम्प्रदाय वाले (काफिर) लोगों को जबरन मुसलमान बनाना धर्म है, पर्दाप्रथा धर्म है, मृतभोज करना सत्य है। बताइए प्राणियों के लिए तथा मनुष्यों के लिए अहितकर ये और ऐसी बातें क्या सत्य हो सकती हैं ? कदापि नहीं। यही कारण है कि सत्यनिष्ठ व्यक्ति केवल सत्य ही नहीं बोलता, मन-वचन-काया से सत्य का आचरण करता है, अपने साथियों से सत्य का आचरण कराने (सत्याग्रह) का प्रयत्न करता है और सत्यासत्य का भलीभाँति अन्वेषण करके सत्य विचारों या व्यवहारों को मानता है, असत्य विचारों को नहीं। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र (अ.६) में कहा है—

'अप्पणा सच्चमेसेज्जा।'

'अपने आप सत्य का अन्वेषण करे, ढूंढे और परखे।'

कई वार सत्य परस्पर विरोधी और भिन्न दिखाई देता है, उस समय सत्यनिष्ठ साधक मन में घवराता नहीं। वह सोचता है, मनुष्य के मन की भूमिकाएँ, दृष्टिविन्दु एवं अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए सत्य भी अनेक रूप हो सकता है। सूर्य एक होते हुए भी, जितने और जैसे जलपात्र होंगे, तदनुसार उतने और वैसे ही सूर्य के प्रतिविम्व दिखाई देंगे। एक ही सत्य भगवान सव देहों में विराजमान है, फिर भी अभिव्यक्ति का आधारभूत मन प्रत्येक शरीर में विभिन्न स्वरूप का है। इसीलिए तो कहा गया है—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'

'एक ही सत्य का विद्वान् अनेक प्रकार से कथन करते हैं।'

अतः सत्यनिष्ठ साधक परस्पर भिन्न दिखाई देने वाले सत्यों में सापेक्ष दृष्टि से समन्वय स्थापित करने का प्रयास करेगा, वह घवरायेगा नहीं वह जिस सत्य को पकड़ कर चल रहा है, उसे सरलता से, विना किसी पूर्वाग्रह के अनाग्रहपूर्वक समझने का प्रयत्न करेगा, और अन्तःस्फुरित सत्य के अनुसार जिस समय जो सत्य प्रतीत होगा, उसी के अनुसार आचरण करेगा। वह मुक्तचिन्तन करेगा।

---

१. सत्य की व्युत्पत्ति है—'सद्भ्यो हितम् सत्यम्' —उत्तराध्ययन पाईयटीका

हाँ तो, मैंने सत्यनिष्ठ में सत्य की त्रिवेणी धारा प्रवाहित होने की वात वताई—(१) वह स्वयं सत्य बोलेगा, (२) पार्श्ववर्ती जनों से सत्याचरण की अपेक्षा रखेगा और सत्य का आग्रह भी, और (३) सत्य का सतत अन्वेषण करता रहेगा।

यही कारण है कि सत्यनिष्ठ पुरुष का चित्त शुद्ध और सरल होने से उस पर प्रत्येक वस्तु उसी तरह प्रतिविम्बित हो जाती है, जैसे दर्पण तल पर प्रत्येक चेहरा। इस कारण सत्यनिष्ठ पुरुष को अपनी गलती या दोष के विचार का भान तुरन्त हो जाता है। गलत मार्ग पर जाने का प्रसंग उसके लिए प्रायः कम हो जाता है क्योंकि गलत विचार या दोषयुक्त भाव आते ही वह तुरन्त संभल जाता है और वह सत्यरूपी भगवान की प्रेरणा से, आज्ञा से चलता है, इसलिए उनकी आज्ञा का भंग प्रायः नहीं करता। किसी कारणवश कभी गलती हो भी जाती है तो वह उसे सुधार लेता है, गलती को वह विना झिझक के कबूल कर लेता है। इसलिए ठोकर लगते ही सीधे सरल सत्यमार्ग पर चला आता है। उसे सत्यमार्ग ही सीधा और सरल लगता है, सत्यभिन्न मार्ग टेढ़ा प्रतीत होता है। उसके विचार पाश्चात्य विचारक वुल्वर(Bulwer) के शब्दों में कहें तो यों कह सकते हैं—

"One of the sublimest things in the world is plain truth."

'संसार की वस्तुओं में एकमात्र सरल सादा सत्य ही सर्वोत्कृष्ट है।'

ऐसा सत्यनिष्ठ व्यक्ति निर्भय होता है। भय तो उसे होता है, जिसमें कुछ कमजोरी हो, जिसे अपने प्राणों का मोह हो, जो कदम-कदम पर अपने धन, साधन, सुख-सुविधा, मकान और प्रतिष्ठा, आदि की आसक्ति से लिपटा हो। जिसे इनकी चिन्ता नहीं है, एकमात्र सत्यभगवान पर अखण्ड विश्वास है, जो सत्यभगवान के चरणों में समर्पित है, उसे भय किसका? उसे कोई भी आतंक, विप्लव, शस्त्रास्त्र प्रहार डरा नहीं सकता। **'सत्ये नास्ति भयं किञ्चित्'** यही उसका जीवनमन्त्र होता है। उसे कोई कितना ही डराए, धमकाए, सत्य से वह इन्च भी विचलित नहीं होता। मृत्यु उसका कुछ भी विगाड़ नहीं सकती, व्याधि उसकी सत्यनिष्ठा भंग नहीं कर सकती, दरिद्रता आदि अन्य विपत्तियाँ उसे अपने सत्यपथ से डिगा नहीं सकतीं। पाश्चात्य विचारक रस्किन (Ruskin) के शब्दों में इसे दोहरा दूँ तो कोई अत्युक्ति न होगी—

"He, who has the truth in his heart needs never fear."

"जो सत्य को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर लेता है, उसे कदापि डरने की जरूरत नहीं है। वह सर्वदा अजेय रहता है।"

यद्यपि सत्य के आराधक पर कई वार विपत्तियाँ आती हैं, भयंकर कष्ट आते हैं, परन्तु वह उनसे घवराता नहीं, उन्हें वह अपनी सत्यनिष्ठा की कसौटी मानता है।

वात उन दिनों की है, जव भारत की राजधानी कलकत्ता थी। वहीं वॉयसराय

केनिंग रहते थे। सर्दी का मौसम था। एक सत्याचरणी सिपाही उस कड़ाके की सर्दी में वॉयसराय की कोठी पर गश्त लगाता हुआ पहरा दे रहा था। उसके चलने से बूट की खटखट की आवाज होती थी। अन्दर सोई मेम साहब की नींद उड़ गई। उसे बार-बार की इस खटखट से नींद नहीं आ रही थी। मेम ने एक नौकर को बुलाकर कहा—"उस सिपाही से कह दो, एक जगह खड़ा रहे, गश्त लगाना बन्द करदे।"

नौकर ने आकर जब सिपाही से मेम साहब की ओर से घूमने की मनाही का आदेश सुनाया, तो उसने ऐसा करने में लाचारी बताते हुए कहा—"अपने अफसर का हुक्म ऐसा ही है।" लौटकर नौकर मेम साहब के पास आया सारी बात सुनकर मेम को भी गुस्सा आ गया। वह स्वयं उठकर बाहर आई और सिपाही को गश्त लगाने के लिए मना करने लगी। सत्यप्रिय सिपाही ने कहा – "मुझे घूमकर पहरा देने का ही आदेश है, इसलिए एक जगह खड़ा नहीं रह सकता।" इस पर क्रुद्ध होकर मेम ने लार्ड को जगाया और सारी बात कही। लार्ड ने फिर नौकर को सिपाही के पास भेजा तो उसने वही पहले वाला जबाव दिया। अन्त में लार्ड ने स्वयं आकर सिपाही से पूछा-—"तुम्हारा नाम क्या है?"

'मेरा नाम छोगसिंह है, साहब!'

"कहाँ का है?"

"राजस्थान का हूँ।"

"क्या तुम राजपूत हो?"

"जी हाँ"

"नम्बर कितना है?"

'एक सौ पिचहत्तर!'

"अच्छा तुम एक जगह ही खड़े रहो, तुम्हारे घूमने से मेम साहब की नींद उड़ जाती है।"

"साहब! मैं खड़ा नहीं रह सकता। मुझे अपने आफिसर का यही आदेश है।"—अदब से उसने कहा।

"मैं तुमसे कहता हूँ। जानते हो, मैं कौन हूँ? लार्ड, हिन्दुस्तान का लार्ड....।" वायसराय ने कहा।

"आप सच फरमाते हैं, लेकिन यह बात आप मेरे आफिसर से कहें। हमें तो उनका आदेश मानना पड़ता है। वे जैसा आदेश देंगे, वैसा मैं कर लूंगा।"—छोगसिंह ने निर्भीकता से कहा।

"क्या मेरा कहना भी नहीं मानोगे?" वायसराय ने गुस्से में कहा।

"मैं मजबूर हूँ, साहब!" सिपाही ने कहा।

वॉयसराय आगबबूला होकर अन्दर चले गये। उन्होंने मेम से दूसरे कमरे में

जाकर सो जाने को कहा। सत्य पर दृढ़ उस सिपाही के मन में कोई भय या खेद नहीं था। वल्कि उसे सत्यनिष्ठ होकर अपने कर्त्तव्य पर डटे रहने का हर्ष था।

इधर वॉयसराय के चिन्तन ने नया मोड़ लिया। रह-रहकर सिपाही की निर्भीकता एवं निष्ठापूर्वक आदेश पालन आँखों के सामने घूमने लगा। दिन निकलने पर लार्ड ने पुलिस के कप्तान को बुलाकर उस सिपाही की सत्यनिष्ठा और वफादारी की वात कही। स्वयं जाकर उस सिपाही की पीठ थपथपाई और कहा—"शावाश छोगसिंह! तुम वहुत सच्चे आदमी हो। ऐसे सत्यनिष्ठ सिपाहियों की भर्ती अपनी पुलिस में अधिक से अधिक होनी चाहिए।" वॉयसराय ने उस सिपाही की सत्यता, साहस और नियम पालन से प्रभावित होकर उसकी पदोन्नति कर दी, उसे कप्तान वना दिया।

सचमुच सत्यनिष्ठ व्यक्ति किसी भी भय, स्वार्थ और प्रलोभन से अपनी सत्यनिष्ठा, वफादारी और कर्तव्यपरायणता से विचलित नहीं होता।

कई लोग अवसरवादी होते हैं, वे अमुक समय पर तो सत्य वोलकर दूसरों को प्रभावित कर देते हैं, परन्तु आगे चलकर भय या प्रलोभन का प्रसंग उपस्थित होते ही सत्य को ताक में रख देते हैं। ऐसे व्यक्ति सत्यनिष्ठ न होने पर भी सत्यनिष्ठ होने का ढोंग करते हैं, किन्तु कभी न कभी उनकी कलई खुल ही जाती है।

किसी यात्री के हाथ पर रेल्वे के डिब्बे की खिड़की का काँच गिरा। चोट तो उसे साधारण-सी आई थी, लेकिन रेल्वे कम्पनी से एक वड़ी राशि वसूल करने की नीयत से उसने कोर्ट में केस कर दिया। उसने अपने हाथ पर पट्टा वँधवा लिया। कोर्ट में जव वह पेशी पर गया तो लोगों से कहने लगा—'मेरे हाथ में इतनी चोट आई है कि वह ऊपर को नहीं उठ रहा है।' रेल्वे कम्पनी की ओर से फिरोजशाह मेहता वकील थे। मजिस्ट्रेट के सामने जिरह करते हुए वकील श्री मेहता ने उस व्यक्ति से पूछा—"भाई! हाथ में चोट लगने से पहले तुम्हारा हाथ किस तरह ऊपर को उठता था?"

चोट लगे यात्री ने हाथ ऊपर को उठाते हुए कहा—"पहले तो इस तरह आसानी से उठ जाया करता था साहव!"

वस, इसी क्रिया से सावित हो गया कि उसका हाथ ऊपर उठ सकता है, लेकिन वह जानबूझकर ऊपर नहीं उठा रहा है। फलस्वरूप वह केस हार गया। उसके असत्य की कलई खुल गई।

वास्तव में असत्य के पैर कमजोर होते हैं। मनुष्य व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोषों के कारण असत्य की ओर लुढ़क जाता है। फिर तो वह व्यवस्थित ढंग से असत्य की ट्रेनिंग लेता है और सत्य की स्वाभाविकता खो वैठता है। ऐसा व्यक्ति असत्य वोलने का अभ्यास करता है, तव तो वड़ा आश्चर्य होता है कि विना ही किसी स्वार्थ के यह झूठ क्यों वोलता है।

मैंने सुना है एक मुनि के पास गुप्तचर विभाग का एक भाई कई दिनों तक लगातार प्रतिदिन आने लगा। उसने अपने जीवन की बहुत-सी बातें बताई और मुनि जी से सुनी भी। उसका बात करने का ढंग बड़ा ही रोचक और आकर्षक था। उसके चले जाने के बाद मुनिजी के मन में विचार आया—'यह इतनी छप्परफाड़ बातें कहता है, ये सत्य हों, इसमें सन्देह है। परन्तु साथ-साथ उसके असत्य बोलने का कोई प्रयोजन भी तो नहीं था। धीरे-धीरे मुनियों को लगा—वह पौने सोलह आने असत्य बोलता है। पर हम साधुओं के पास वह क्यों आता है, क्यों इतनी निरर्थक बातें करता है? यह एक कुतूहल का विषय था। बहुत दिनों के सम्पर्क के बाद एक दिन उन मुनिजी ने पूछ ही लिया—"भैया! तुम्हारी बातें सारी की सारी असत्य निकलती जा रही हैं। तुम्हारा इस प्रकार असत्य बोलने का प्रयोजन क्या है?" उसने अत्यन्त स्वाभाविक रूप से कहा—"मैं गुप्तचर (सी. आई. डी.) विभाग में काम करता हूँ। मेरी तो निपुणता ही असत्य का अभ्यास करने में है।"

तब उन साधुओं ने समझ लिया कि यह आदमी असत्य का अभ्यास करने के लिए हमारा समय खराब करने आता है।

वास्तव में ऐसे सरासर असत्यवादी की समाज या परिवार में कोई इज्जत नहीं होती। एक बार असत्य जीवन में दृढ़ होने के बाद उसे जड़मूल से निकालना बड़ा कठिन होता है।

कई लोग दूसरों के प्रति भले बनने के लिए जहाँ सत्य कहना चाहिए, वहाँ मौनावलम्बन कर लेते हैं। उनसे पूछने पर वे तपाक से कह बैठते हैं—"थोड़ा-सा सत्य बोलकर कौन इस आदमी से दुश्मनी मोल ले?" कुछ लोग ऐसे होते हैं कि श्रोताओं को धोखे में डालने के लिए या तो चिकनी-चुपड़ी बात करेंगे, जिनमें असत्य भरा होगा, या फिर वे मौन रहकर इशारों से असत्य चेष्टाएँ करेंगे, अथवा द्व्यर्थक शब्द बोलेंगे, जिससे सुनने वाला कुछ और समझे और कहने वाला किसी और अर्थ में कहे। ऐसे लोग उलझन भरा सवाल पूछे जाने पर सीधा सरल समझ में आने योग्य उत्तर न देकर ऐसा असत्य मिश्रित उत्तर दे देते हैं कि सामने वाला चक्कर में पड़ जाता है। जैसे किसी ने किसी व्यक्ति को एक उपवास करते देखकर कहा—"धन्य हो, आपको! आप बड़े तपस्वी हैं!" तब उसका निषेध न करके यों उत्तर दे देते हैं—"हाँ भाई! तपस्या तो हम ही लोग करते हैं न?"

मनुष्य असत्य क्यों बोलता है? इसलिए कि सत्य बोलने से शरीर को कष्ट सहना पड़ेगा, मार भी खानी पड़ेगी, शायद नुकसान भी सहना पड़े। इस प्रकार के डर से वह सत्य का द्रोह करता है। मनुष्य जब सत्य की अपेक्षा शरीर को, सुरक्षा को, समाज को या प्रतिष्ठा को श्रेष्ठ समझता है, तब सत्य को छोड़कर असत्य का सहारा लेता है, सत्य का द्रोह करता है। ऐसा करके वह अपनी आत्मा को अपमानित करता

व्यक्ति सत्ता, धन, स्वार्थ के लिए तथा दूसरों पर अधिकार करने के लिए

सत्य के प्रति द्रोह करके असत्याचरण करता है। परन्तु सत्यनिष्ठ मानव इन या ऐसे ही किसी भी कारणवश असत्य का आचरण करके सत्य के प्रति द्रोह नहीं करता। वह जरा-सा भी असत्य बोलना अपनी आत्मा का अपमान करना समझता है। वह अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति, वचन, विचार या चेष्टा पर पूरी पहरेदारी रखता है। उसमें सत्य-निष्ठता के कारण निर्भयता, साहस और अखण्डजागृति होती है। वह परिणामभीरुता को बिलकुल तिलांजलि दे देता है, और निखालिस सत्य का मन, वचन, काया से आचरण करता है।

सत्यनिष्ठ अवसरवादी बनकर कभी सत्य और कभी असत्य, बोलकर दोहरे व्यक्तित्व का व्यक्ति नहीं बनता। वह जैसा है, वैसा ही दुनिया के सामने आता है, वह घर और बाहर, दूकान और मकान में अलग-अलग के रूप में नहीं आता। वह बनावट, दिखावट, सजावट को कृत्रिम और एक प्रकार से असत्यपोषक मानता है और विकारी एवं कृत्रिम सत्य को असत्य। क्योंकि उसके असत्य की परिभाषा महा-भारत के अनुसार यही होती है—

"अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत !"

'हे अर्जुन ! सभी वर्णों में अत्यन्त अविकारी को सत्य कहा गया है।'

इसी प्रकार सत्यनिष्ठ व्यक्ति जब किसी सत्य को यथार्थतया समझकर पक-ड़ता है, तब यह परवाह नहीं करता है, अहा ! मेरे पुराने अन्धविश्वासों और अन्ध-परम्पराओं की जड़ें उखड़ रही हैं। वह पाश्चात्य विचारक स्टापफोर्ड ए० ब्रूक (Stopford A. Brooke) के इन विचारों से पूर्णतया सहमत हो जाता है—

"If a thousand old beliefs were ruined in our march to truth we must still march on."

"अगर सत्य की ओर गमन करने में हजारों पुराने अन्धविश्वास नष्ट हो जाते हैं तो हमें उनकी परवाह न करके सत्य की ओर सतत चलते रहना चाहिए।"

सत्याराधक के साथ सत्य की ओर गमन करने में यदि कोई साथी-सहयोगी नहीं बनता है तो वह उनकी प्रतीक्षा न करके अकेले ही सत्यपथ पर आगे से आगे बढ़ता रहता है।

कई आत्म-प्रशंसा के भूखे लोग, जिनमें कुछ साधु भी होते हैं, आत्म-प्रशंसा के अवसर पर असत्य को सौ पर्दों के पीछे छिपाने में नहीं चूकते। वे बाहर से पूरे सत्यवादी बने रहते हैं, पर अन्दर में असत्यवादी होते हैं।

एक गाँव में एक आत्म-प्रशंसक गुरु रहते थे। एक दिन एक किसान ने उनकी प्रशंसा व चामत्कारिक शक्ति से प्रभावित होकर उनसे एक प्रश्न का उत्तर देने की प्रार्थना की—"महाराज ! मेरा बोया हुआ अनाज खेत में सूख रहा है, बरसात होगी या नहीं ?"

किसान के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर उसके दिल में श्रद्धा जमाने के लिए

अहंकारी गुरु बोले—"अच्छा, आज रात को तेरे खेत में वर्षा होगी, दूसरों के खेतों के लिए कुछ नहीं कहता।" किसान यह सुनकर प्रसन्नता से घर लौटा। रात को जब चारों ओर सन्नाटा छा गया, तब गुरुजी अपनी शिष्य मण्डली को साथ लेकर उस किसान के खेत पर पहुँचे और रातभर निकटवर्ती कुएँ से पानी निकालकर खेत को सींचा। ब्राह्म-मुहूर्त होते-होते वे अपने आश्रम पर वापिस लौट आए। प्रातःकाल होते ही किसान गुरु के वचन का प्रभाव देखने के लिए अपने खेत पर पहुँचा। खेत को गीला देख किसान ने सोचा—गुरुजी की बात तो सोलहों आने सत्य सिद्ध हुई। गुरु की इस वचनशक्ति की प्रशंसा उसने सभी पड़ौसी किसानों से कर दी। फिर क्या था, पड़ौसी किसान भी गुरु के पास पहुँचे और उनकी वचन-सिद्धि प्राप्त होने की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने खेतों में वर्षा के लिए पूछताछ करने लगे। गुरुजी ने उन्हें भी वैसा ही उत्तर देकर विदा किया।

शिष्यगण पहले दिन गुरु की आज्ञा पालन करने के कारण बेहद थके हुए थे, नींद भी पूरी न ले सके थे। जब उन्होंने किसानों को दिये हुए गुरु के थोथे आश्वासन के विषय में सुना तो आने वाली इस विपत्ति से बचने के लिए आपस में सलाह की —"कल हमें रातभर परेशान होना पड़ा और आज भी गुरुजी परेशान करेंगे। इससे बेहतर है कि हम सब मिलकर सदा के लिए पतंग काट दें। अन्यथा, यह चक्कर रोज-रोज चलता रहेगा।" इस प्रकार एकमत होकर वे सब गुरुजी के पास आए और बोले—"हमें निकट के गाँव में भ्रमण के लिए जाने की आज्ञा दें।" परन्तु गुरुजी तैयार न हुए। उन्होंने शिष्यों को रात्रि के कार्यक्रम की सूचना दी। शिष्यों ने कहा—"गुरुजी! हम नहीं जानते। जो कहेगा, सो करेगा।" यों कहकर सभी शिष्य वहाँ से चले गए।

सुबह किसानों ने जब खेत को सूखा पाया तो वे इस असत्यवादी गुरु की भर्त्सना करने लगे। इस प्रकार आत्मप्रशंसालिप्सु गुरु को असत्यवादी सिद्ध होने के कारण नीचा देखना पड़ा।

वास्तव में, जो इस प्रकार झूठे आश्वासन देकर अपने आपको सत्यवादी या वचनसिद्ध प्रमाणित करना चाहता है, उसकी कलई खुले बिना नहीं रहती। शेखसादी ने लिखा है—

"झूठ बोलना वक्र तलवार से कटे हुए घाव के समान है। यद्यपि वह घाव भर जाता है किन्तु उसका दाग रह जाता है।"

सत्यनिष्ठ साधक आत्मप्रशंसा का लोभी बनकर असत्य नहीं बोलता। वह अपनी योग्यता जैसी और जितनी है, उतनी ही कहेगा।

प्रसिद्ध निबन्धकार बेकन (Bacon) के मतानुसार सत्यनिष्ठ में सत्य की पूछ अवश्य होगी, उसके बिना वह एक कदम भी न चलेगा—

"There are three parts in truth; first, the inquiry, which is the

wooing of it; secondly, the knowledge of it, which is the presence of it; and thirdly, the belief, which is the enjoyment of it."

"सत्य में तीन भाग महत्त्वपूर्ण हैं—पहला है परिपृच्छा या जिज्ञासा जो इसके सम्बन्ध में जानकारी की याचना करना है। दूसरा है—इसका ज्ञान, जो कि सत्य का सान्निध्य है, और तीसरा है—विश्वास, जो कि सत्यप्राप्ति का आनन्द है।"

असत्यवादी में ये सत्य के तीनों भाग होने कठिन हैं, उसमें सत्य की जिज्ञासा और सत्य के प्रति विश्वास होना कठिन है।

ये ही कुछ मुद्दे हैं, जिससे सत्यनिष्ठ असत्यवादी से पृथक् करके पहचाना जा सकता है।

सत्यनिष्ठ सत्य का आचरण क्यों करता है ?

अब प्रश्न यह होता है कि सत्यनिष्ठ को कई बार अनेक संकटों का सामना करना पड़ता है, अपनी जान को जोखिम में डालकर वह सत्य बोलने का प्रयास करता है, इससे उसे मिलता क्या है ? बल्कि सुकरात जैसे सत्यनिष्ठ व्यक्ति को अन्त में जहर का प्याला पीना पड़ा, महात्मा गांधी को गोली खानी पड़ी और भी अनेक सत्यनिष्ठ व्यक्तियों को अपने परिवार स्वजन-स्नेहियों का वियोग सहना पड़ा, अनेक मुसीबतें उठानी पड़ीं।

सत्यनिष्ठ के लिए सत्य ही एकमात्र निरपेक्ष कसौटी है, उसी पर कस करके वह प्रत्येक निर्णय करता है। कार्याकार्य, हिताहित, या प्राप्तव्य-अप्राप्तव्य ज्ञान का निर्णय भी वह सत्य की दृष्टि से करता है, जो अचूक और स्थायी होता है। सत्यनिष्ठ को सत्यपालन, सद्ज्ञान प्राप्ति और सत्यनिष्ठा का जो आनन्द मिलता है, उसके आगे बाह्य विषयानन्द का कोई मूल्य नहीं है। न ही सत्यपालन के पीछे सत्यनिष्ठ की दृष्टि प्राणों या धनादि पर मोह-ममत्व रखकर उन्हें बचाने की होती है। बाह्य ज्ञान या बाह्य आनन्द सत्यार्थी की दृष्टि में गौण हैं। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार ऐसा सत्यार्थी सत्य को अनन्त ज्ञान एवं ब्रह्म की प्राप्ति का स्रोत मानता है। उसे सत्य को पाकर असीम आनन्द मिलता है।

असत्य का आचरण करते हुए बार-बार जन्ममरण करने, अप्रतिष्ठित और निन्द्य जीवन बिताने और कुगतियों या कुयोनियों में कष्ट तथा अज्ञानमय जीवन जीने की अपेक्षा वह सत्याचरण करते हुए मृत्यु का सहर्ष वरण करना अच्छा समझता है। वह मृत्यु केवल शरीर की होती है, जो कि अनिवार्य है, मगर उसकी आत्मा सत्य-पालन से अमर हो जाती है, अनेक गुणों से समृद्ध और यशस्वी हो जाती है, उसे फिर बार-बार जन्ममरण की यातना और निन्द्य एवं अज्ञानमय जीवन की विडम्बना नहीं सहनी पड़ती।

सत्यनिष्ठा से उसका जीवन तेजस्वी, निर्भीक और प्राणादि के मोह से निर-

पेक्ष वन जाता है कि उसे अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित
या चिन्ता नहीं सताती। वह सत्यपालन में मानवजीवन की सा
जीवन में जहाँ शिष्टता, नम्रता, उदारता, शील आदि गुणों को
है, वहाँ सत्यता को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। वास्तव में
गान (चिन्तन-मनन) करने वाला, सत्य की परख, उसका यथ
करने वाला एवं सत्य का दर्शन—अनुभव करने वाला ही
जान सकता है। प्रसिद्ध सगुणभक्त अब्दुर्रहीम खानखाना का
जीवन में अंकित हो जाता है—

होने लगती हैं। ऐसा होने पर सत्यनिष्ठ साधक बाह्य प्रयोजनों और साधनों को सहायक तो मानता है, परन्तु साध्य नहीं मानता, वह उनकी अपेक्षा नहीं करता क्योंकि वह मानता है कि अपना उपादान शुद्ध होगा तो निमित्त स्वतः दौड़-दौड़कर उसके पास आएँगे।

सत्यनिष्ठ को साध्य विराट् पुरुष परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के जब दर्शन हो जाते हैं, तब उसके जीवन की दिशा ही बदल जाती है। वह जीने-मरने को एक सरीखा मानता है। सत्य के प्रकाश में जब उसका अन्तःकरण जगमगाने लगता है, तब उसकी दृष्टि में बाह्य आडम्बर, मान-सम्मान और यशकीर्ति का महत्त्व गिर जाता है। दूसरों पर अपना प्रभाव डालने और बड़प्पन दिखाने का भाव अब उसे तुच्छ प्रतीत होता है। उसके विचारों में श्रेष्ठता और जीवन में सादगी आने लगती है। मनुष्य को दिखावटीपन की ओर खींचने वाली महत्त्वाकांक्षाओं तथा लौकिक कामनाओं की विपुलता अब उसके जीवन में बिलकुल नहीं रहती। तुलसीकृत रामायण की इस चौपाई के अनुसार उसका जीवन बन जाता है—

तनु तिय तनय धाम धन धरनी।
सत्यवन्त कहँ तृन सम बरनी॥

सत्यनिष्ठ पुरुषरत्न सर्वत्र आदर-सम्मान पाता है। सत्यनिष्ठ यह भलीभाँति समझता है कि मानवजीवन के सभी क्षेत्रों की सुव्यवस्था का आधार सत्य है। अगर सत्य नहीं होता है तो पारिवारिक, सामाजिक, व्यावसायिक एवं राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में अव्यवस्था एवं अविश्वास फैल जाता है, फिर इन क्षेत्रों की सुखशान्ति हवा हो जाती है। असत्य, धोखादेही, बेईमानी, बेवफाई, आदि से तो पारस्परिक विश्वास खत्म हो जाता है। पाश्चात्य विचारक 'इमर्सन' का कथन है—

"व्यापारिक जगत् में यदि विश्वास व्यवस्था का लोप हो जाए तो समग्र मानवसमाज का ढांचा ही अस्तव्यस्त हो सकता है।"

जब तक लोगों में पारस्परिक विश्वास नहीं होता, तब तक कोई भी किसी के साथ रोटी-बेटी का, जीवनयापन की सामग्री का, व्यावसायिक सौदे का आदान-प्रदान करने में हिचकिचाता है। असत्य के अन्धकार में जब तक किसी को वस्तु-स्थिति का यथार्थरूप से पता न चल जाए, तब तक भ्रमवश भले ही वे एक दूसरे से सम्पर्क कर लें या व्यवहार कर लें, लेकिन सत्य के सूर्य का प्रकाश होते ही परस्पर घृणा और तिरस्कार, निन्दा और निरादर की परिस्थितियाँ आते देर नहीं लगती। इसीलिए सत्यनिष्ठ व्यक्ति सत्य का मन-वचन-काया से आचरण करता है, ताकि राष्ट्र, समाज और परिवार आदि में सुव्यवस्था बनी रहे, जिससे परस्पर विश्वास, सुखशान्ति, सहयोग, स्वस्थ चिन्तन एवं आदरभाव से सबका कार्य चले। सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने प्रति, अपनी आत्मा, समाज, राष्ट्र, परिवार एवं विश्व के प्रति, अपने कर्त्तव्यों और

पेक्ष बन जाता है कि उसे अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं की अपेक्षा या चिन्ता नहीं सताती। वह सत्यपालन में मानवजीवन की सार्थकता समझता है। जीवन में जहाँ शिष्टता, नम्रता, उदारता, शील आदि गुणों को आवश्यक बताया गया है, वहाँ सत्यता को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। वास्तव में सत्य का ही ध्यान और गान (चिन्तन-मनन) करने वाला, सत्य की परख, उसका यथार्थ ग्रहण और बखान करने वाला एवं सत्य का दर्शन—अनुभव करने वाला ही सत्य स्वरूप परमात्मा को जान सकता है। प्रसिद्ध सगुणभक्त अब्दुर्रहीम खानखाना का यह दोहा सत्यनिष्ठ के जीवन में अंकित हो जाता है—

> साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
> जाके हिरदै सांच है, ताकै हिरदै आप॥

सत्य से बढ़कर कोई तप, जप, नियम, संयम नहीं है। जिसके हृदय में सत्य बैठ जाता है, उसके हृदय से समस्त पाप, दोष, मलिनताएँ निकल जाती हैं, हृदय निर्मल हो जाता है, जिसमें परमात्मा (शुद्ध आत्मा) विराजमान हो जाता है।

मनुष्य ईंट, पत्थर-चूने के बने हुए मन्दिरों में जाकर भगवान् की पूजा करता है, लेकिन सत्यनिष्ठ अपने हृदय मन्दिर में ही सत्यभगवान् को प्रतिष्ठित करके उनकी पूजा करता है। वह सत्य का आचरण करता है, यही सत्य की पूजा है। सत्य का आचरण ही उसके लिए आन, मान, शान, प्रभुवर का गुणगान और उनके गौरव का आह्वान है। सत्य ही उसके लिए रत्न का प्रकाश है और सत्य ही सुख है। सत्य के अद्भुत प्रकाश से उसका व्यक्तित्व चमक उठता है, उसका निर्मल यश चारों ओर फैल जाता है। सत्य ही उसके और संसार के जीवन का आधार है। स्थूलबुद्धि लोग अपने पाप-कलुष धोने और पुण्योपार्जन करने के लिए बाह्य यज्ञ और गंगा आदि नदियों में स्नान करते हैं, लेकिन सत्यार्थी सत्यव्रतपालन रूप महायज्ञ करके एवं सत्य की पावन गंगा में अवगाहन करके अपने अन्तःकरण को शुद्ध और निष्कलंक बना लेता है। वैदिक परम्परा के ग्रन्थ महाभारत में स्पष्ट बताया है—

> अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
> अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

"तराजू के एक पलड़े में एक हजार अश्वमेध यज्ञों का फल रखा गया और दूसरे पलड़े में एक सत्य के फल को, तो भी हजार अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का पलड़ा भारी रहा।"

सत्यार्थी पुरुष सत्य की आग में तपकर सोने-सा खरा बन जाता है। वह अपने जीवन में जितना अधिक सत्यता का समावेश करता जाता है, उतनी ही अधिक उसे विराट् पुरुष की अनुभूति होने लगती है। वह समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है। उससे उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है, आत्मिक महानताएँ उसमें विकसित

होने लगती हैं। ऐसा होने पर सत्यनिष्ठ साधक बाह्य प्रयोजनों और साधनों को सहायक तो मानता है, परन्तु साध्य नहीं मानता, वह उनकी अपेक्षा नहीं करता क्योंकि वह मानता है कि अपना उपादान शुद्ध होगा तो निमित्त स्वतः दौड़-दौड़कर उसके पास आएँगे।

सत्यनिष्ठ को साध्य विराट् पुरुष परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के जब दर्शन हो जाते हैं, तब उसके जीवन की दिशा ही बदल जाती है। वह जीने-मरने को एक सरीखा मानता है। सत्य के प्रकाश में जब उसका अन्तःकरण जगमगाने लगता है, तब उसकी दृष्टि में बाह्य आडम्बर, मान-सम्मान और यशकीर्ति का महत्त्व गिर जाता है। दूसरों पर अपना प्रभाव डालने और बड़प्पन दिखाने का भाव अब उसे तुच्छ प्रतीत होता है। उसके विचारों में श्रेष्ठता और जीवन में सादगी आने लगती है। मनुष्य को दिखावटीपन की ओर खींचने वाली महत्त्वाकांक्षाओं तथा लौकिक कामनाओं की विपुलता अब उसके जीवन में बिलकुल नहीं रहती। तुलसीकृत रामायण की इस चौपाई के अनुसार उसका जीवन बन जाता है—

तनु तिय तनय धाम धन धरनी।
सत्यवन्त कहँ तृन सम बरनी॥

सत्यनिष्ठ पुरुषरत्न सर्वत्र आदर-सम्मान पाता है। सत्यनिष्ठ यह भलीभाँति समझता है कि मानवजीवन के सभी क्षेत्रों की सुव्यवस्था का आधार सत्य है। अगर सत्य नहीं होता है तो पारिवारिक, सामाजिक, व्यावसायिक एवं राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में अव्यवस्था एवं अविश्वास फैल जाता है, फिर इन क्षेत्रों की सुखशान्ति हवा हो जाती है। असत्य, धोखादेही, बेईमानी, बेवफाई, आदि से तो पारस्परिक विश्वास खत्म हो जाता है। पाश्चात्य विचारक 'इमर्सन' का कथन है—

"व्यापारिक जगत् में यदि विश्वास व्यवस्था का लोप हो जाए तो समग्र मानवसमाज का ढांचा ही अस्तव्यस्त हो सकता है।"

जब तक लोगों में पारस्परिक विश्वास नहीं होता, तब तक कोई भी किसी के साथ रोटी-बेटी का, जीवनयापन की सामग्री का, व्यावसायिक सौदे का आदान-प्रदान करने में हिचकिचाता है। असत्य के अन्धकार में जब तक किसी को वस्तु-स्थिति का यथार्थरूप से पता न चल जाए, तब तक भ्रमवश भले ही वे एक दूसरे से सम्पर्क कर लें या व्यवहार कर लें, लेकिन सत्य के सूर्य का प्रकाश होते ही परस्पर घृणा और तिरस्कार, निन्दा और निरादर की परिस्थितियाँ आते देर नहीं लगती। इसीलिए सत्यनिष्ठ व्यक्ति सत्य का मन-वचन-काया से आचरण करता है, ताकि राष्ट्र, समाज और परिवार आदि में सुव्यवस्था बनी रहे, जिससे परस्पर विश्वास, सुखशान्ति, सहयोग, स्वस्थ चिन्तन एवं आदरभाव से सबका कार्य चले। सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने प्रति, अपनी आत्मा, समाज, राष्ट्र, परिवार एवं विश्व के प्रति, अपने कर्तव्यों और

दायित्वों के प्रति मन-वचन-काया से सच्चा रहता है, इसके कारण वह इसी जीवन, इसी देह और इसी संसार में स्वर्गीय सुख प्राप्त करता है। उसके लिए सुख-शान्ति और साधन-संतोष की कमी नहीं रहती। न मिले तो भी वह आत्मसंतुष्ट रहता है। वह अपने स्वरूप में स्थिर रहकर आत्मलाभ जैसा सुख भोगता है, उसे बाह्य हानि-लाभ की कोई चिन्ता नहीं होती। उसका अन्तःकरण दर्पण की तरह निर्मल और मस्तिष्क प्रज्ञा की तरह सन्तुलित रहता है। वह न तो मानसिक द्वन्द्वों से त्रस्त रहता है, और न ही निरर्थक तर्क-वितर्कों से अस्त-व्यस्त। वह जो कुछ करता है—कल्याणमय करता है, जो कुछ सोचता है—विश्वहित की दृष्टि से सोचता है।

असत्य के दोष से मुक्त सत्यनिष्ठ व्यक्ति के मन में कुकल्पनाओं का रोग फटक नहीं सकता। आदर्श की ओर उसकी दृष्टि रहती है, यथार्थ व्यवहार के धरातल पर उसके चरण उसे सत्य पर चलने में कहीं थकान, निराशा, द्वन्द्व, कुविकल्प, अशान्ति नहीं घेरती इसीलिए सत्यनिष्ठ व्यक्ति के लिए सत्य का आचरण सहज है, स्वाभाविक है। वह किसी के दवाव से, भय से या प्रलोभन से प्रेरित होकर सत्याचरण नहीं करता। वह समझता है कि सारे जगत् का मूलाधार सत्य है। उसके बिना जगत् का एक भी व्यवहार चल नहीं सकता। सत्य के पालन से ही जगत् सुखी, स्वस्थ और व्यवस्थित रह सकता है। इसलिए वह सत्यबल का आश्रय लेकर जीवनयापन करता है।

संसार में उन्हीं का सम्मान होता है, जिनके पास सत्यबल है। उन्हीं पर जनता की श्रद्धा होती है। जिनका आचरण, व्यवहार और संभाषण असत्य के सहारे टिका है, ऐसे लोग सभी की आँखों में गिर जाते हैं। हजारों वर्ष होने पर भी आज लोग सत्य हरिश्चन्द्र को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं, इसलिए कि सत्य की बलिवेदी पर उन्होंने अपना सर्वस्व चढ़ा दिया। उनका प्रण था—

चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥

सत्यनिष्ठा से लाभ

सत्य मानव जीवन को महानता और उत्कृष्टता के शिखर पर पहुँचाने वाला प्रशस्त और निरापद राजमार्ग है। इस पर निष्ठापूर्वक चलने वाले पथिक को किसी भी देश, काल एवं परिस्थिति में भय या संकट नहीं रहता सत्यनिष्ठा व्यक्ति को पाप-कर्म से विरत रखती है। वह ऐसा कोई भी अकरणीय कार्य नहीं करता, जिससे उसे किसी प्रकार का भय हो, दण्ड या बदनामी का डर हो। वह अपने सत्यव्यवहार और सत्य-आचरण से जनता का विश्वासभाजन बन जाता है। सत्यार्थी पर विपत्ति आ भी जाए तो वह उससे डरता नहीं, विपत्ति को सम्पत्ति में बदल देने की क्षमता उसमें होती है, जनता भी उसकी सत्यनिष्ठा से सन्तुष्ट होकर विपत्ति या संकट के समय सहयोग देती है और सत्याधिष्ठित देवता भी उसकी तमाम समस्याओं को सुलझा देते

है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने सत्य से उपलब्ध होने वाली विविध शक्तियों का परिचय देते हुए कहा है—

विश्वासायतनं विपत्तिदलनं देवैः कृताराधनम्,
मुक्तेः पथ्यदनं जलाग्निशमनं व्याघ्रोरगस्तम्भनम्।
श्रेयः संवननं समृद्धिजननं सौजन्य-संजीवनम्,
कीर्तेः केलिवनं प्रभावभवनं सत्यं वचः पावनम्॥

"सत्य वाणी को पवित्र करता है, विश्वास का स्थान है, विपत्तियों को नष्ट करने वाला है, देवता सत्यनिष्ठ की सेवा करते हैं, यह मुक्तिमार्ग का पाथेय है, जल और अग्नि को शान्त कर देता है, व्याघ्र और सर्प को पास आने से रोक देता है, श्रेय का दाता है, समृद्धि का जनक है, सौजन्य की संजीवनी बूटी है, कीर्ति का क्रीड़ावन है और प्रभाव का निवासभवन है।"

बन्धुओ! इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि सत्यनिष्ठ के पास कितनी महाशक्तियाँ हैं। जिसके पास इतनी महाशक्ति रूपी श्रीपुंज है, क्या उस पर कोई विघ्न-बाधा, विपत्ति, भय, कष्ट या अशान्ति आ सकती है? आएगी तो भी फौरन ही चली जाएगी। स्थूलदृष्टि वाले लोग ही सत्यनिष्ठ पर पड़ने वाली बाह्य विपत्तियों की कल्पना करते हैं, परन्तु वह उन्हें ऐसी कष्टदायिनी महसूस नहीं करता। वह तो निश्चिन्त और निर्भय होकर सत्यपथ पर चलता है।

सत्यनिष्ठ के पास सब प्रकार की श्री कैसे-कैसे और किस-रूप में आती है? इस पर मैं अगले प्रवचन में अपना चिन्तन प्रस्तुत करूँगा। आप सत्यनिष्ठा से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों पर गहराई से चिन्तन करें और अपना जीवन सत्यनिष्ठ बनाने का प्रयत्न करें। ☆

३०

सत्यनिष्ठ पाता है श्री को : २

धर्मप्रिय बन्धुओ !

कल मैंने छब्बीसवें जीवनसूत्र पर विवेचन किया था। आज उसी जीवनसूत्र के अवशिष्ट पहलुओं पर विस्तार से अपने विचार प्रकट करूंगा।

सत्य : समस्त 'श्री' का मूलस्रोत

गौतम महर्षि ने इस जीवनसूत्र में बताया है कि जिस व्यक्ति का मन, वचन, शरीर, अन्तःकरण, बुद्धि आदि सब सत्य की सेवा में स्थित हैं, उसे सब प्रकार की श्री प्राप्त होती है। श्री केवल एक प्रकार की ही नहीं होती। आप लोग चाहे लौकिक दृष्टि से भौतिक श्री (लक्ष्मी) को महत्त्व देते हों, परन्तु वीतराग-उपासक श्रमण केवल भौतिक श्री को ही महत्त्व नहीं देते। वे आध्यात्मिक श्री को ही अधिक महत्त्व देते हैं। जब वे आध्यात्मिक श्रीसम्पन्न होकर, आध्यात्मिक वैभव से परिपूर्ण होकर विचरण करते हैं तो भौतिक श्री या लौकिक वैभव तो स्वतः उसके पीछे दौड़ा आता है, भौतिक श्री के लिए उन्हें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। आप भौतिक श्री केवल रुपये-पैसे को ही न समझें, यशकीर्ति, सुखसामग्री, सुन्दर-स्वस्थ-सुडौल शरीर, पारिवारिक, सांघिक, सामाजिक आदि जीवन में परस्पर विनय, अनुशासन, धर्ममर्यादापालन, सिद्धि, उपलब्धि या प्रत्येक सत्कार्य में सफलता, आज्ञाकारिता, वचन की उपादेयता आदि सब बातें भौतिक श्री के अन्तर्गत हैं।

तीर्थंकरों को जो आठ महाप्रातिहार्य[1] मिलते हैं, वे भी भौतिक श्री (विभूति) के प्रतीक हैं। विविध तपस्याओं या सत्यादि धर्म के पालन से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ, लब्धियाँ, उपलब्धियाँ, क्षमताएँ या शक्तियाँ, अथवा सफलताएँ भौतिक श्री की प्रतीक हैं। सत्यनिष्ठ को उसकी भूमिका के अनुरूप भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की 'श्री' उपलब्ध होती है। निष्कर्ष यह है कि सत्य समस्त श्रीपुंज का मूलस्रोत है।

सत्यनिष्ठ को भौतिक श्री की उपलब्धि क्यों और कैसे ?

सत्य में स्थित व्यक्ति को सत्याचरण से अनेक लाभ होते हैं, भौतिक भी,

---

१ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रमष्टौ महाप्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्।

आत्मिक भी। ऐसी कौन-सी विजयश्री है, सफलता है या सिद्धि है, जो सत्य की साधना से प्राप्त न होती हो ? यह दुनिया संघर्षभूमि है। यहाँ मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए, अपनी प्रगति और स्थायित्व के लिए तथा समाज में प्रतिष्ठा के लिए पद-पद पर संघर्ष करना पड़ता है। परन्तु इस प्रकार के संघर्ष में विजयश्री उसी को मिलती है, जो सत्यपथ पर दृढ़ रहता है, जो सत्य का अवलम्बन लेकर अन्त तक उस पर टिका रहता है, वह जीवन-संघर्ष में सदैव सफलता पाता है।

यह ठीक है कि सत्य का आश्रय लेकर चलने वाले सत्यार्थी को प्रारम्भ में कुछ कठिनाइयाँ आती हैं, किन्तु धैर्यपूर्वक सत्य पर डटे रहने से आशातीत लाभ भी होता है। सत्य पुण्य की खेती है। जिस प्रकार अन्न की खेती करने में प्रारम्भ में कुछ कठिनाई उठानी पड़ती है, उसकी फसल के लिए थोड़ी प्रतीक्षा भी करनी पड़ती है, किन्तु बाद में जब वह कृषि फलीभूत होती है, तब घर धन-धान्य से भर देती है, इसी प्रकार सत्य की कृषि भी प्रारम्भ में थोड़ा त्याग, धैर्य, कष्टसहिष्णुता, तपस्या और बलिदान माँग लेती है, किन्तु जब वह फलती है तो सत्यनिष्ठ के जीवन को लोक से लेकर परलोक तक पुण्यों से भर देती है, उसे कृतार्थ कर देती है। संसार में जितने भी पुण्य हैं, सुकृत है, उनका मूल सत्य है। इसीलिए तुलसी ने रामायण में कहा है—

"सत्यमूल सब सुकृत सुहाए।"

सत्य ही एक प्रकार से पुण्यों का अखण्ड स्रोत है। अतः सत्य से पुण्यश्री की उपलब्धि होती है। इसीलिए धर्मसंग्रह में सत्य के पुण्य से होने वाली उपलब्धियों का वर्णन करते हुए कहा है—

सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सासकारणं परमं।
सच्चं सग्गद्दारं, सच्चं सिद्धीइ सोपाणं॥

'सत्य यश का मूल कारण है, सत्य विश्वास का मुख्य कारण है, सत्य स्वर्ग का द्वार है और सिद्धि का सोपान है।'

वस्तुतः सत्यवादी की समाज में सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है, जनता उसका हृदय से स्वागत करती है, अभिनन्दन करती है और उसे उच्चासन देती है। उसकी कीर्ति की सुगन्ध चारों ओर फैलती है। मृत्यु के बाद भी सत्यवादी अपने यशःशरीर से अमर हो जाता है। सचमुच, सत्य मनुष्य के सम्मान, प्रतिष्ठा और आत्म-गौरव के लिए अमोघ कवच के समान होता है। जिसने इस कवच को धारण कर लिया, उसके लिए अपमान, निन्दा और अपवाद का कोई कारण ही नहीं रहता।

सत्यनिष्ठ व्यक्ति की निखालिसता, सरलता और निश्छलता का प्रत्यक्ष या परोक्ष में व्यक्ति-व्यक्ति पर अमिट प्रभाव पड़ता है. जिसके कारण सारा समाज उसके प्रति श्रद्धा, सम्मान और भक्ति के फूल चढ़ाता है। सत्य ऐसे सत्यव्रती के जीवन की शोभा (श्री) होता है। शरीर का उत्तमांग जैसे मस्तिष्क कहलाता है, उसके अभाव से समग्र शरीर ही नहीं, जीवन की भी श्री नष्ट हो जाती है, वैसे ही सत्य जीवन का

उत्तमांग है, इसके कारण जीवन की गतिविधियाँ ठीक रूप में होती हैं। सत्य के कारण सत्यनिष्ठ व्यक्ति को भौतिक लक्ष्मी और प्रतिष्ठा कैसे मिलती है? इसके लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

महणसिंह देवगिरि दौलताबाद के सेठ जगतसिंह जी का पुत्र था। वह सत्यनिष्ठ था। जीवन में कभी असत्य बोलने, आचरण करने और असत्य विचार उसने नहीं किया था। उसके प्रबल पुण्य से उसके पास सम्पत्ति भी पर्याप्त थी। इसका कारण था सत्यप्रिय महणसिंह ने दिल्ली जाकर अपना कारोबार बढ़ाया। सत्य के प्रभाव से उसका व्यवसाय भी खूब चला, कीर्ति भी खूब फैली। समाज में उसकी प्रतिष्ठा भी काफी थी। थोड़े ही समय में सेठ महणसिंह की गणना लखपतियों में होने लगी।

दिल्ली के सिंहासन पर उस समय फिरोजशाह का शासन था। कुछ ईर्ष्यालु चुगलखोरों ने राजा के कान भरे—'हजूर! महणसिंह को सभी सत्यावतार कहते हैं, परन्तु हमें तो ऐसा कुछ मालूम नहीं होता। इसने यहाँ आकर लाखों रुपये कमाये हैं। परन्तु राजकोष में शायद ही कुछ धनराशि देता होगा। देता होगा तो भी मामूली रकम देता होगा। आपको इधर भी ध्यान देना चाहिए। यह बनिया नाहक अभिमान में फटा पड़ता हैं।'

राजा ने पूछा—'महणसिंह के पास कितनी पूंजी होगी?'

चुगलखोर ने कहा—'हजूर! दस लाख से कम नहीं होगी।' यह सुनकर राजा की आँखें कठोर हो गई। उन्होंने फौरन अपने विश्वस्त सेवक को आदेश दिया—'जाओ सेठ महणसिंह को यहाँ बुलाकर ले आओ। कहना—राजाजी ने आपको याद फरमाया है।'

सेवक से समाचार मिलते ही महणसिंह फौरन राज दरबार में पहुँचे और विनयपूर्वक प्रणाम करके राजा के सामने खड़े हो गये। राजा ने पूछा—'कहो, महणसिंह! आजकल व्यापार कैसा चलता है?'

महणसिंह ने कहा—'हजूर! एकदम अच्छा चल रहा है व्यापार। जहाँ भी हाथ डालता हूँ, वहीं पौबारा पच्चीस हो जाता है। आपकी दया से खूब कमाया है।'

राजा बोले—'कितना कमाया है? दस लाख या पन्द्रह लाख?'

महणसिंह—'राजन्! अनुमान से तो कैसे कह सकता हूँ? आप कहें तो कल मैं पूरा हिसाब देखकर आपको सही-सही बता दूंगा।'

राजा—'अच्छा, ऐसा ही करो। परन्तु इसमें जरा भी झूठ हुआ या तुमने असलियत छिपाई तो उचित नहीं रहेगा।'

महणसिंह—'हजूर! जन्म धारण करके आज तक तो मैंने झूठ नहीं बोला। अब असत्य क्यों बोलूंगा?'

दूसरे दिन राजदरबार खचाखच भरा था। कुतूहलवश सैंकड़ों दर्शकगण भी महणसिंह की सत्यप्रियता का नाटक देखने आये हुए थे। सबको ऐसा लग रहा था कि आज महणसिंह सेठ को सजा मिलेगी। कुछ लोग आपस में कानाफूसी करने लगे—'आखिर तो व्यापारी बच्चा है। दो-चार लाख कम ही बताएगा।'

राजा ने पूछा—'क्यों महणसिंह ! हिसाब कर लाए ?'

महणसिंह—'जी हजूर।'

राजा—'कुल कितनी रकम हुई ?'

महणसिंह—'हजूर ! कुल रकम ८४ लाख है।'

यह सुनकर सब आश्चर्य व्यक्त करने लगे—'हैं ! चौरासी लाख ! तब तो आ बनी ! अब राजाजी इसे दण्ड दिये बिना न छोड़ेंगे।' परन्तु सबके आश्चर्य के बीच राजाजी ने अपने सेवक को आदेश दिया—'खजांची से कहो सोलह लाख रुपये राजकोष से निकल कर लाये।' सभी विस्मित-से रह गये कि ये सोलह लाख रुपये पता नहीं, क्यों मंगवा रहे हैं राजाजी ? यह रहस्य किसी की समझ में न आया। इतने में खजांची १६ लाख की थैली लेकर हाजिर हुआ। राजाजी ने उससे कहा—'खजांची ! यह सोलह लाख की थैली सेठ महणसिंह को दे दो। आज से मेरे प्रजाजनों में सत्यनिष्ठ सेठ महणसिंह कोटिध्वज कहलाएगा। सत्य के पुजारी सेठ महणसिंह को उसकी सचाई के लिए मेरी ओर से यह पुरस्कार है। 'धन्य हो, महणसिंह तुम्हारी सत्यता को !' और तभी सारा उपस्थित जनसमुदाय एक स्वर से बोल उठा—'धन्य हो, सत्यता का सम्मान करने वाले को !'

इसके पश्चात सत्यनिष्ठ सेठ महणसिंह को ससम्मान विदा किया। सारी सभा विसर्जित हुई।

बन्धुओ ! राजा फिरोजशाह ने सेठ महणसिंह को पुरस्कृत और सम्मानित किया था, वह केवल धन के कारण नहीं, परन्तु उनकी सत्यता के कारण। श्री गौतम महर्षि ने सच ही कहा है—'सत्यनिष्ठ 'श्री' पाता है।' प्रतिष्ठा, पुरस्कार, सम्मान, यशःकीर्ति, पद आदि सब भौतिक श्री है, जो सत्य के पुजारी को प्राप्त होती है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का कथन है—'सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसकी ज्यों-ज्यों सेवा की जाती है, त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते हुए नजर आते हैं। उनका कभी अन्त नहीं आता।'

सत्य के पुजारी का नैतिक बल इतना बढ़ जाता है कि उसकी तुलना दस हजार हाथियों के बल के बराबर की जाती है। बड़ी से बड़ी भौतिक शक्तियाँ, फौजी ताकतें और साम्राज्यीय संगठन भी सत्य के समक्ष पराजित होते देखे जाते हैं। सत्यवादी हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा के सामने विश्वामित्र को घुटने टेकने पड़े।

महात्मा गांधी की सत्यनिष्ठा के समक्ष ब्रिटिश साम्राज्य जैसी शक्तिशाली

सत्ता को भी हथियार डाल देने पड़े। मनुष्य की शक्ति, उसका व्यक्तित्व और उसकी महानता सभी उसकी सत्यता में अन्तर्निहित है। उसकी सत्यता के कारण उसकी नैतिक शक्ति, क्षमता और तेजस्विता बढ़ जाती है, जिसके सामने बड़े से बड़े सत्ताधारी को झुकना पड़ता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति के जीवन में इस प्रकार का सात्त्विक बल एवं प्रकाश उत्पन्न हो जाता है, जिनके कारण वह संकट और विपत्ति के समय वह निर्भय होकर विचरण करता है। न तो उसे कहीं शंका होती है और न भय। सत्याश्रयी व्यक्ति का जीवन सुख और शान्ति से परिपूर्ण रहता है, उसकी प्रसन्नता में विघ्न डालने वाले तत्त्व उसके पास कदाचित् ही आ पाते हैं।

एक बार दिल्ली का बादशाह प्रातःकाल योग्य व्यक्तियों को पदवियाँ और इनाम बाँटने के लिए सिंहासन पर बैठा था। जब समारोह समाप्त होने आया तो उन्होंने देखा कि जिन व्यक्तियों को उन्होंने बुलाया है, उनमें सैयद अहमद नामक सत्यवादी युवक नहीं आया है। बादशाह पालकी पर बैठकर राजमहल में जाने के लिए ज्यों ही सिंहासन से उठे, त्यों ही एक युवक भागा-भागा आया। उतावली से ज्यों ही युवक ने प्रवेश किया, बादशाह ने उससे पूछा—'इतनी देर क्यों हुई ?' युवक ने सच-सच कह दिया—'बादशाह सलामत ! मैं आज बहुत देर तक सोया रहा।' सैयद की इस सच्ची बात पर दरबारी लोग आश्चर्य से उसकी ओर ताकने लगे। आपस में कानाफूसी करने लगे कि 'जिस ढिठाई से यह बादशाह से बात कर रहा है, कितनी आफत उठानी पड़ेगी इसे। यह कोई उचित बहाना भी तो नहीं है।' परन्तु हुआ इसके विपरीत। बादशाह ने एक क्षण कुछ सोचा, फिर युवक की सत्यवादिता की प्रशंसा की, फिर उसके सत्य कहने के साहस पर उन्होंने मोतियों की एक माला और आभूषण प्रदान किये। सैयद अहमद सत्य से प्रेम करता था। चाहे बादशाह हो या साधारण किसान, वह सबसे सत्य बात कहता था। इसी सत्यवादिता का प्रतिफल उसे भौतिक श्री के रूप में मिला।

सत्यार्थी व्यक्तियों में महानता और देवत्व का अवतरण सत्यनिष्ठा के आधार पर होता है। कुछ समय तक उन्हें सोने की तरह परख की कसौटी पर कसा जाता है, पर उस अग्नि-परीक्षा के बाद उनकी भौतिक श्री (आभा) और प्रामाणिकता चमक उठती है। जो धैर्यपूर्वक परख की मंजिल पार कर लेते हैं, उन्हें सत्य की महान शक्ति को मानना पड़ता है। सत्यवादी अपने आप में एक देवता है, फिर भी सत्यवादी के चरणों में देव, दानव, यक्ष, राक्षस, व्यन्तर आदि सभी नमन करते हैं, वे धर्म सहायता भी करते हैं। साथ ही सत्यवादी का प्रभाव इतना होता है कि भूत, प्रेत, सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। यही बात योगशास्त्र (प्रकाश २, श्लो० ६४) में बताई है—

अलीकं ये न भाषन्ते, सत्यव्रतमहाधनाः।
नापराद्धुमलं तेभ्यो भूतप्रेतोरगादयः ॥

"जो सत्यव्रतरूपी महाधन से युक्त हैं, वे कभी असत्य भाषण नहीं करते। अतः भूत, प्रेत, सांप, सिंह, व्याघ्र आदि उनको कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकते।"

वास्तव में सत्यवादी को महान भौतिक शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं, वह उनका स्वयं प्रयोग शायद ही करता है। सिद्धियाँ और लब्धियाँ उसकी चेरी बनी फिरती हैं। प्रश्नव्याकरण और आवश्यकसूत्र में सत्यनिष्ठा से प्राप्त होने वाली विविध उपलब्धियों का वर्णन किया गया है।

आवश्यकसूत्र में बतलाया गया है कि सत्य के प्रभाव से सत्यवादी समुद्र या जल की बाढ़ में डूब नहीं सकता, जल ही उसके लिए स्वतः तैरने योग्य जाता है। दिशा भूल जाने पर यथास्थान ले जाने वाला कोई न कोई मार्गदर्शक मिल जाता है। खौलता हुआ तेल, गर्म लोहा, शीशा आदि हाथ में लेने पर आग उसका हाथ जलाती नहीं। सत्यधारी को ऊपर से गिराने पर भी उसकी मृत्यु नहीं होती. शस्त्रधारी शत्रुओं से घिर जाने पर भी सत्यधारी सही सलामत बच जाता है। वध, बन्धन, अभियोग, वैर आदि घोर उपद्रवों के समय वह बाल-बाल बच जाता है। सत्यपालकों में ऐसी दिव्यशक्ति होती है कि स्वयं देवता भी उसकी सेवा में सहायता के लिए चले आते हैं। सत्यार्थी स्वयं भी देव के समान पूजनीय बन जाता है।

कान्तिपुरी नगरी के राजा वैरिदमन का छोटा पुत्र राजकुमार मकरध्वज बहुत ही विनीत, उदार, गम्भीर, सरल और पुण्यशाली था। एक बार नगरी के बाहर वन में वसन्तोत्सव था। वनपालक ने वसन्तोत्सव की अनुपम छटा निहारने के लिए राजा से प्रार्थना की। किन्तु बुढ़ापा आया देख राजा स्वयं न गए, उन्होंने सभी राजकुमारों को वसन्तोत्सव देखने भेजा। वहाँ वसन्तोत्सव देखते-देखते अन्य राजकुमारों में से किसी ने लाख, किसी ने दो लाख, किसी ने तीन लाख और किसी ने चार लाख स्वर्णमुद्राएँ याचकों को दान दीं, परन्तु अकेले मकरध्वज राजकुमार ने एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ दान दीं। भंडारी ने राजा से जाकर राजकुमार मकरध्वज की शिकायत की। इस पर राजा ने मकरध्वज से कहा—"पुत्र ! सुना है, तुम एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ दान दे आए हो। परन्तु मान लो, अकस्मात् किसी शत्रु राजा से युद्ध करना पड़े, या दुष्काल आ पड़े उस समय भंडार खाली हो तो कैसे काम चलेगा? यदि तुम अकेले ही एक दिन में एक करोड़ सोनैया खर्च कर आओ तो थोड़े ही दिनों में सारा भण्डार खाली हो जाएगा। भंडार में प्रतिवर्ष आवश्यक खर्च के बाद सिर्फ तीन करोड़ सोनैये बचते हैं। अतः जरा विचार करके खर्च करना चाहिए।"

यह सुनकर मकरध्वज ने विनयपूर्वक कहा—"पिताजी ! जिनके पुण्य प्रबल होते हैं, उस व्यक्ति के दान देते रहने पर भी भंडार में श्रीवृद्धि होती रहती है, भंडार उसी के खाली होते हैं, जो भाग्यहीन हो।"

इस पर राजा ने कहा—"अगर ऐसी बात है तो तुम जो एक करोड़ सोनैये

खर्च कर आए हो, उन्हें अपने पुण्यबल से वापस लेकर आओ, अन्यथा तुम्हारा यह कथन कोरा बकवास समझा जाएगा।"

पिता की बात सुनकर स्वाभिमानी एवं सत्यप्रिय राजकुमार मकरध्वज उठा और वहाँ से चलकर ज्योंही नगरी के मुख्य द्वार के पास आया, त्योंही एक शृगाली की आवाज सुनी। उसे शुभशकुन मानकर अपने शकुनज्ञान के आधार पर यह जान लिया कि यहाँ जो बाँसों का भार रखा है, उसमें एक बाँस में चार रत्न हैं। अतः वही बाँस उठाकर राजकुमार ने उसे फाड़ा तो उसमें से चार रत्न निकले। यह सब पुण्यप्रभाव से मिला है, वह जानकर मकरध्वज राजमहल की ओर लौटने लगा। इतने में ही दिव्य संगीत की ध्वनि उसके कानों में पड़ी। वह उसी आवाज की दिशा में चला तो आगे एक यक्ष का देवालय आया; जहाँ एक मुनिवर की सेवा में एक देव ने आकर नाटक किया था, उसी का उपसंहार करके वह अभी जा रहा था। मुनिराज से सविनय पूछने पर उन्होंने उस देव का परिचय दिया। जो मृषावाद (असत्य) का त्याग करने के कारण देव बना था। अन्त में राजकुमार को उन्होंने उपदेश दिया कि "तुम में सत्य भाषण का जो गुण है, उस पर प्राणान्त तक दृढ़ रहना, चाहे प्राण चले जाएँ, असत्य कभी मत बोलना।" राजकुमार ने मुनिवर से सत्य-अणुव्रत पालन करने की प्रतिज्ञा ले ली और सन्तुष्ट होकर मुनि को वन्दन करके वह घर लौट गया।

कुमार के चले जाने के पश्चात उस देव ने मुनि से पूछा—"मुनिवर! यह राजकुमार प्राणप्रण से इस सत्यव्रत का पालन करेगा या डिग जाएगा?"

मुनि ने कहा—"यह प्राणान्त तक सत्य पर दृढ़ रहेगा।"

इस पर उस देव ने राजकुमार की परीक्षा करने की ठानी। वह एक वस्त्र व्यापारी का वेष बनाकर राजसभा में घास का पूला लेकर आया और पुकार करने लगा—"राजन्! मैंने एक बांस में चार रत्न रखे थे, उन्हें कोई चोर चुरा ले गया है। अतः उस चोर को पकड़वाकर उससे चोरी कबूल करावें।"

यह सुनकर राजा ने नगरी में ढिंढोरा पिटाया। ढिंढोरा सुनकर सत्यनिष्ठ राजकुमार मकरध्वज ने बांस में से निकाले हुए वे चारों रत्न लाकर सौंप दिये। लोगों ने कुमार से कहा—"आपको रत्न निकालते किसी ने देखा तो नहीं है। अतः आप झूठ बोलकर ये रत्न बचा लीजिए। उसके पास कोई साक्षी तो है नहीं, क्या कर लेगा?" परन्तु मकरध्वज ने कहा—"नहीं मुझसे ऐसा कदापि नहीं होगा। मेरे प्राण चले जाएँ, तो भी मैं असत्य नहीं बोलूंगा।" सत्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होने से वह देव प्रगट हुआ और प्रसन्न होकर उसने राजकुमार को श्रद्धाभक्ति से नमस्कार किया, उसके सत्य पर दृढ़ रहने की प्रशंसा की और स्वर्णवृष्टि करके वे चारों रत्न वापिस दिए। राजा मकरध्वज कुमार का यह पुण्यप्रभाव देखकर चकित हो गया। उसने मकरध्वज से अपने अपराध के लिए क्षमायाचना की। कहा—"पुत्र! तुमने जो जो पुण्यातिशय की बात कही थी, उसे सत्य सिद्ध करके बता दी है। अतः मैं तुम्हारे

सत्याचरण से प्रभावित होकर यह राज्यश्री तुम्हें सौंपता हूँ।" यों कहकर राजा ने उसे राजगद्दी पर बिठाकर स्वयं मुनिदीक्षा ले ली।

सचमुच, सत्यनिष्ठ के सत्याचरण से देवता भी नमन करके उसे भौतिक श्री से समृद्ध कर देते हैं।

सत्यनिष्ठ को श्री प्राप्ति के चार मुख्य स्रोत

वास्तव में सत्यनिष्ठ को श्रीप्राप्ति के चार मुख्य स्रोत हैं, जिनसे वह समग्र प्रकार की 'श्री' से समृद्ध होता है। उसकी पुण्यश्री में श्रीवृद्धि होती है, यशःश्री में भी तथा अन्य सभी प्रकार की श्री में भी। वे चार स्रोत ये हैं—

१—सत्यवाणी

२—सत्य व्यवहार

३—सत्य विचार

४—सत्य आचरण

सत्यनिष्ठ की वाणी में जो माधुर्य होता है, उसका प्रभाव जादू-सा पड़ता है। यद्यपि सत्यनिष्ठ व्यक्ति कम बोलते हैं, किन्तु वाक्‌शक्ति के द्वारा जो लम्बे-चौड़े भाषण झाड़कर जनता को क्षणिक उत्तेजित एवं प्रभावित कर देते हैं, उनकी अपेक्षा मितभाषी सत्यनिष्ठ की वाणी का प्रभाव स्थायी और अमिट होता है, क्योंकि उसके पीछे आचरण की शक्ति होती है। सत्यनिष्ठ की वाणी और उसका थोड़ी-सी देर का सम्पर्क भी जनता भूलती नहीं।

सत्यनिष्ठ व्यक्ति की वाणी के विषय में सामवेद १।५।१६।२० में कहा है—

'ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियम्'

'सत्यभाषी की जिह्वा से अतिमोहक मधुरस झरता है।'

सत्यनिष्ठ की वाणी में इतना तेज आ जाता है, कि वह जो कुछ कह देता है, वह होकर रहता है। उसकी वाणी अमोघ होती है। उसे वचनसिद्धि प्राप्त हो जाती है। सुनते हैं—प्राचीनकाल में ऋषि लोग किसी को आशीर्वाद दे देते थे, या किसी को शाप दे देते थे, वह वैसा होकर ही रहता था।

जैन शास्त्रों में महाव्रतधारी मुनियों के लिए किसी को श्राप या कठोर अपशब्द कहना मना है। जो सारे संसार के मित्र हैं, बन्धु हैं, वत्सल हैं या आत्मीय हैं, वे किसी को कटु, कठोर, घातक या हृदयविदारक वचन, चाहे वह सत्यभूत हो, नहीं कह सकते।

असत्य स्थान पर दृष्टि न डालने और असत्य भाषण न करने से सत्यनिष्ठ की वाणी और नेत्रों में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो सकती है कि वाणी से जो कह दे वही हो जाए, एवं नेत्रों से जिसे देख ले उसका शरीर तत्क्षण सुन्दर हो जाए या भस्म हो जाए। यही कारण है कि सत्यनिष्ठ की वाणी का सर्वत्र अचूक प्रभाव पड़ता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र (सं० २) में बताया गया है कि संसार में जितने भी मंत्र, तंत्र, यंत्र, विद्या, योग, जप, जृम्भकं, अस्त्र, शस्त्र, शिक्षा और आगम हैं, वे सभी सत्य पर अवस्थित[1] हैं। यह सत्य वचन का ही प्रभाव है कि सत्यनिष्ठ के द्वारा जपे हुए मंत्रादि शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं, और अचूक रूप से काम करते हैं। इसी कारण कहा गया है कि—

प्रियं सत्यं वाक्यं हरति हृदयं कस्य न सखे !
गिरं सत्यां लोकः प्रतिपदमिमामर्थयति च।
सुराः सत्याद् वाक्याद् ददति मुदिता कामिकफलं,
अतः सत्याद् वाक्याद् व्रतमभिमतं नास्ति भुवने ॥

'सत्यनिष्ठ व्यक्ति का प्रिय सत्य वाक्य किसके हृदय को प्रभावित नहीं करता ? वे सबके हृदय को हरण कर लेते हैं। जनता सत्यनिष्ठ की उस सत्यवाणी का एक-एक पद सुनना चाहती है। देवता सत्यवचन से प्रसन्न होकर सत्यनिष्ठ को यथेष्ट फल प्रदान कर देते हैं। अतः मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि सत्य वाक्य (वाणी) से बढ़कर अभीष्ट या रुचिकर संसार में दूसरा कोई व्रत नहीं है।'

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो भी सत्य वचन के विषय में यही कहता है—

"There is nothing so delightful as the hearing or the speaking of the truth."

'सत्य वचन सुनने या बोलने से बढ़कर आनन्दप्रद संसार में और कोई चीज नहीं है।'

'सत्य सुनने में सत्यनिष्ठ को जितना आनन्द आता है, उतना ही आनन्द सत्य कहने में आता है।'

सुत्तनिपात के अनुसार '**सत्य ही अमृतवचन होता है**'[2] इसलिए उसे कहने-सुनने में आनन्द आना स्वाभाविक है।

शास्त्रों में सत्यनिष्ठ की वाणी को कामधेनु की उपमा दी गई है। कामधेनु का अर्थ होता है—इच्छित वस्तु प्राप्त करा देने वाली वस्तु। सत्यनिष्ठ साधक जब कामधेनु के समान सत्यवाणी का ही प्रयोग करता है, तब उसे सुन्दर मनचाहा दूधरूपी फल मिलता है। उत्तररामचरित (५।३०) में यही बात कही है—

---

१ "जे वि य लोगम्मि अपरिसेसा मंता, जोगा, जवा य, विज्जा य, जंभका य, अत्थाणि वा सत्थाणि य, सिक्खाओ य, आगमा य, सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं।" —**प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार २**

२ सच्चं वे अमत्ता वाचा। —सुत्तनिपात ३।२६।४

कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं ।
कीर्ति सूते दुष्कृतं या हिनस्ति ॥
तां चाप्येतां मातरं मंगलानां,
धेनुः धीराः सुनृतं वाचमाहुः ॥

'सत्यवाणी को धीर विद्वान् ऐसी गौ कहते हैं, जो कामना की पूर्ति करने वाली कामधेनु है, वह अलक्ष्मी—दरिद्रता को दूर भगा देती है, कीर्ति रूपी बछिया को पैदा करती है। वह मंगलों की माता है और दुष्कृतों—पापों को नष्ट कर देती है।'

सचमुच यदि सत्यार्थी साधक सत्यवाणी रूपी कामधेनु को पाले-पोसे और प्रत्येक क्रिया उसी की प्रेरणा से करे तो वह उसकी प्रत्येक शुभेच्छा और सत्यसंकल्प को पूर्ण करती है। उसके मनोवांछित सभी सत्कार्यक्रम पूर्ण होकर रहते हैं।

जिसकी वाणी में सचाई होती है, वह व्यक्ति कदाचित् किसी कारणवश बन्धन में डाल दिया जाए, फिर भी जब उस व्यक्ति को उस सत्यवादी की सत्यता का पता लगता है तो उसे छोड़ दिया जाता है।

भीमाशाह नाम के एक वणिक् बहुत ही सत्यवादी हो गये हैं। उनकी सत्यवादिता से प्रभावित होने के कारण उनकी दूकान पर ग्राहकों की भीड़ लगी रहती थी। इस प्रकार सत्यवाणी के कारण उन्होंने प्रसिद्धि भी प्राप्त की और लक्ष्मी भी। एक बार भीमाशाह की सत्यवादिता की कसौटी हुई। वे अकेले एक जंगल के मार्ग से होकर किसी कार्यवश जा रहे थे। रास्ते में भीलों ने उन्हें देखा और उनकी वेशभूषा से जान लिया कि यह व्यापारी वनिया है। अतः उन्हें लूटने के इरादे से घेर लिया और कहा—'जो कुछ भी तुम्हारे पास हो रख दो। अन्यथा जान से मार दिये जाओगे।' भीमाशाह सत्यवादी थे। प्राणों का संकट आने पर भी वह झूठ नहीं बोलते थे। उन्होंने कहा—'इस समय तो मेरे पास सिर्फ कुछ रुपये हैं। कहो तो दे सकता हूँ।'

भीलों ने कहा—'थोड़े-से रुपयों से क्या होगा? यदि तुम्हें बन्धनमुक्त होना है तो अपने पुत्र पर चिट्ठी लिखकर दो—पाँच सौ स्वर्णमुद्राएँ हमारे आदमियों को दे देने के लिए। जब हमारे आदमी ५०० स्वर्ण मोहरें लेकर आ जावेंगे, तभी तुम्हें हम छोड़ेंगे।'

भीमाशाह ने अपने पुत्र के नाम एक चिट्ठी पांच सौ स्वर्णमुद्राएँ भीलों को दे देने के लिए लिखकर दे दी। चार भील उस चिट्ठी को लेकर भीमाशाह के गांव में गये, उनके लड़के को वह चिट्ठी बताई। लड़के ने सोचा—'पिताजी विपत्ति में फँस गये लगते हैं।' अतः ५०० असली सोने की मोहरें देने के बजाय, उसने एक थैली में नकली खोटी ५०० मोहरें भरकर उन भीलों को वह थैली पकड़ा दी। भील

विश्वास पर ले आये। जब भीमाशाह को वह थैली खोलकर दिखाई तो खोटी माहरें देखकर उन्होंने भीलों से कहा—'भाइयो ! ये खोटी मोहरें मेरे पुत्र ने तुम्हें दे दी हैं, लो, मैं तुम्हें दूसरी चिट्ठी असली मोहरें देने के लिए लिख देता हूँ। अन्यथा, तुम लोगों का सदा के लिए विश्वास उठ जाएगा।'

भीलों पर भीमाशाह की इस सत्यवाणी का अद्भुत प्रभाव पड़ा। और उन्होंने यह कहकर उन्हें बन्धनमुक्त कर दिया कि 'ऐसे महान् सत्यवादी को हम हैरान नहीं कर सकते।' भीलों ने उन्हें वह थैली भी वापस कर दी। भीमाशाह ने भीलों को खेती के लिए जमीन और साधन दिलाने का वचन दिया, जिससे उन्होंने लूटपाट करना छोड़ दिया।

इस प्रकार सत्यनिष्ठ को सत्यवाणी के द्वारा मनोवाञ्छित कार्यसिद्धि रूपी श्री की प्राप्ति होती है। इसलिए सत्यवाणी श्री प्राप्ति का प्रथम स्रोत है।

सत्यनिष्ठ के लिए श्रीप्राप्ति का दूसरा मुख्य स्रोत है—सत्यव्यवहार। सत्यनिष्ठ के व्यवहार में सरलता होती है। वह अमृत के समान मधुर लगता है। सत्यव्यवहार अपने अन्तःकरण में शान्ति और सन्तोष पैदा करता है, और दूसरों को भी अग्रगामी बनाता है। सच्चाई और सज्जनता का व्यवहार जिस किसी के साथ भी किया जाता है वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। सत्यव्यवहार से परस्पर स्थिर घनिष्ठता और मित्रता उत्पन्न होती है। इसीलिए सत्यनिष्ठ पुरुष किसी के भी साथ कपटयुक्त व्यवहार नहीं करता। कोई उसके साथ विद्वेषपूर्ण व्यवहार करे तो भी वह किसी को धोखा नहीं देता। सत्यनिष्ठ के व्यवहार में बनावटीपन, ढोंग, छल, कपट और झूठफरेब के झोंपड़े नहीं होते, जो थोड़ी-सी आँधी चलते ही उखड़कर दूर जा पड़ते हैं, अपितु सत्य व्यवहार के ईंट और गारे से बना हुआ जीवन का मकान तेज तूफानों में भी सुदृढ़ रहता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति संसार में निर्भय, निश्चिन्त और स्पष्ट होकर व्यवहार करता है।

इस संघर्षपूर्ण संसार में सत्यव्यवहार से ही विजयश्री प्राप्त होती है, इसका एकमात्र कारण यह है कि सत्यव्यवहार से सहयोग और विश्वास की प्राप्ति हो जाती है। संसार में सभी कर्मों की गति-प्रगति विश्वास पर निर्भर है। व्यापारी या उद्योगपति अपने सत्यव्यवहारी मुनीम-गुमाश्तों के विश्वास पर लाखों रुपयों की सम्पत्ति छोड़ देता है। सत्यव्यवहार करने वाले पर कदापि अविश्वास नहीं होता। और विश्वास के कारण ही सत्य व्यवहार वाले के यहाँ लक्ष्मी बरसने लगती है।

विक्रम संवत् २००६ की घटना है। बीकानेर के महाराजा करणीसिंहजी ने स्थानीय प्रसिद्ध सर्राफ श्री ताराचन्द जी केसरीचन्दजी को सोने की चार सौ तश्तरियाँ वेचीं। साथ में शर्त थी—सवा आना तोला खाद काटने की। परन्तु महाराजा के कामदार ने भूल से सवामाशा के हिसाब से खाद काटकर बिल बना दिया। वह बिल जब ताराचन्दजी ने देखा तो बोले—'यह बिल गलत बनाया गया है। हमारे सवा

आना तोला खाद काटने के वादे से २४०००) रुपये की भूल है। ये २८ हजार रुपये हमसे और अधिक ले जाइए।' जब यह बात महाराजा श्री करणीसिंह जी के कानों में पहुँची तो वे ताराचन्द जी के इस सत्यव्यवहार से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने अपना लाखों रुपयों का और भी सोना उनके हाथ बेचा।

यह था सत्यव्यवहार का प्रभाव, जिसके कारण उस सत्यार्थी का विश्वास जम जाने से प्रतिष्ठा, यशःश्री और भौतिकश्री भी उसके पास दौड़ी हुई आई।

सत्य एक वशीकरण मंत्र है। जो वकील, राजनीतिज्ञ, एवं व्यापारी अपने-अपने क्षेत्र में सत्य व्यवहार करते हैं, वे विश्वसनीय एवं जनता के आकर्षण केन्द्र बन जाते हैं। वकालत में सत्य व्यवहार करने वाले वकील के कथन पर न्यायाधीश का पूर्ण विश्वास हो जाता है इससे अभियोगों में उनके पक्ष को विजयश्री मिलती है। राजनीतिक क्षेत्र में भी सत्य व्यवहार करके व्यक्ति अपने पक्ष में विश्व का लोकमत कर सकता है। सत्य व्यवहार से वह राष्ट्रों में परस्पर शान्ति स्थापित कर सकता है। और व्यापारी भी अपने सत्य व्यवहार से विश्वसनीय बनकर लाखों कमा लेता है। सत्यनिष्ठ का सत्य व्यवहार अनायास ही, अज्ञातरूप से कोई न कोई ऐसा निमित्त मिला देता है, जिससे उसकी श्रीवृद्धि हो जाती है। एक सत्य घटना मैंने सुनी थी—

बीकानेर के 'अगरचन्दजी भैरोंदानजी सेठिया' का नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। सेठ अगरचंदजी उन दिनों कलकत्ता में रंग का काम करते थे। जर्मनी की एक कंपनी के मालिक के साथ उनका लेन-देन था। एक बार भूल से उनके दस हजार रुपये ज्यादा आ गए। साहब के भी ध्यान में यह बात नहीं आई। दीपावली के दिन जब आँकड़ा मिलाने लगे, तब सेठ अगरचंदजी के ध्यान में आया कि उक्त साहब के दस हजार रुपये खाते में अधिक जमा है। अतः सेठजी दस हजार रुपयों की थैलियाँ लेकर एक घोड़ागाड़ी में बैठकर उक्त साहब की कोठी पर पहुँचे। उनसे कहा—"साहब! हमने दिवाली पर आंकड़ा मिलाया, उसमें आपके दस हजार रुपये अधिक जमा निकलते हैं। अतः आप अपना एकाउंट देखकर ये रुपये ले लीजिए।" साहब ने एकाउंट बुक देखकर कहा—"नहीं, हमारे एकाउंट में दस हजार रुपये कम नहीं है।" हुआ ऐसा कि भूल से एकाउंट बुक में एक जगह एक बिन्दी अधिक लगी हुई थी, यह साहब के ध्यान में नहीं आई थी। सेठजी ने कहा—"जरा एकाउंट बुक मुझे दें तो मैं भी वह हिसाब जाँच लूं।" साहब ने एकाउंट बुक सेठ अगरचन्दजी को दे दी। उन्होंने बारीकी से देखा तो एक जगह भूल से एक बिंदी अधिक लगी हुई दिखाई दी। उन्होंने उसी समय साहब को हिसाब की यह भूल बता दी। साहब बहुत प्रसन्न हुए। कहने लगे—"सेठजी! हमने हिन्दुस्तान में आकर आप सरीखा ईमानदार एवं सत्यनिष्ठ व्यक्ति नहीं देखा। आपने अपनी सत्यनिष्ठा के साथ भूल से अधिक आए हुए रुपये लेकर कोठी पर आने का कष्ट उठाया। अतः हम आपको ये रुपये खुशी से देते हैं।" इस पर सत्यनिष्ठ सेठजी ने कहा—"साहब! हम व्यापारी हैं

साहूकार हैं, इस प्रकार से बिना कमाई की एक पाई भी नहीं ले सकते। आप इन थैलियों को संभालिए, मैं जाता हूँ।"

सेठजी जा ही रहे थे कि साहब को एक बात सूझी कि इन्हें जर्मनी के रंग की एजेंसी ही क्यों न दे दी जाए, जिसमें दस हजार से भी ज्यादा कमाई हो जाए। साहब ने तुरंत सेठजी को बुलाया और बिठाकर कहा—

"सेठजी ! हम आपको ऐसे रुपये नहीं देते, हमने सोचा है कि जर्मनी से अमुक अमुक रंग के इतने ड्रम आने वाले हैं, वह सारा माल हम आपको कमीशन एजेंट बना कर दे देते हैं। अभी बाजार पहले से तेज है। इसलिए इस व्यापार से आप लाभ उठाइए।" सेठजी के बात जच गई। उन्होंने रंग की एजेंसी ले ली और हावड़ा में 'सेठिया कलर एण्ड केमिकल वर्क्स' खोला। उधर जर्मनी का युद्ध छिड़ गया। रंग के दाम कई गुना बढ़ गए, जिसमें उन्हें लाखों की कमाई हुई।

यह था सत्य-व्यवहार से श्रीप्राप्ति के रूप में प्रत्यक्ष फल !

सत्यनिष्ठ के लिए श्रीप्राप्ति का तीसरा मुख्य स्रोत है—सत्य-विचार। जो मनुष्य सत्य विचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, वह स्वयं सुख-शान्ति और सन्तोष धन को प्राप्त करता है, और जिसको वह सत्य विचार या सत्परामर्श देता है, वह भी सुखी और विवेकी हो जाता है। सत्य विचार एक प्रकाश है, जिसमें मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य, हिताहित, धर्माधर्म एवं हेय-उपादेय का भलीभाँति विवेक कर सकता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति किसी के द्वारा पूछे जाने पर सत्य विचार ही प्रगट करता है।

पाण्डवों और कौरवों में युद्ध चल रहा था। दुर्योधन पाण्डवों के द्वारा युद्ध में किये जाने वाले प्रहार सहते-सहते थक गया था। किसी ने उससे कहा कि अगर तुम्हें अजेय बनना हो तो सत्यवादी धर्मराज युधिष्ठिर के पास जाओ, वे तुम्हें सच्ची सलाह देंगे, चाहे वे तुम्हारे विरोधी पक्ष के हैं, परन्तु इतने विश्वसनीय हैं कि वे तुम्हें सत्य परामर्श देंगे।"

दुर्योधन सीधा युधिष्ठिर के पास पहुँचा और नमस्कार करके पूछा—"भाई साहब ! मैं आपसे एक विषय में सत्परामर्श के लिए आया हूँ। आशा है, आप मुझे सच्ची सलाह देंगे।"

युधिष्ठिर ने कहा—"कहो, दुर्योधन ! क्या पूछना है ?"

दुर्योधन बोला—"मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि क्या ऐसा कोई उपाय है, जिससे मैं अजेय हो जाऊँ। मेरे शरीर पर शस्त्र का प्रहार असर न कर सके।"

युधिष्ठिर—"इसका उपाय है और वह उपाय तुम्हारे घर में ही है।"

दुर्योधन—"कौन-सा उपाय है ? जरा बताइए तो।"

युधिष्ठिर—"उपाय यह है कि अगर तुम अपनी माता गांधारी के सामने नंगे

बदन होकर बैठ जाओ और वह तुम्हारे सारे शरीर पर अपनी दृष्टि फिरा दे तो तुम्हारा शरीर वज्रमय हो सकता है। फिर तो तुम अजेय हो जाओगे। कोई भी प्रहार तुम पर असर नहीं कर सकता।"

दुर्योधन बोला—"यह उपाय तो मेरे घर में ही है।"

युधिष्ठिर—"तो जाओ और इस उपाय को कर देखो।"

दुर्योधन खुशी के मारे नाचता हुआ माता गांधारी के पास पहुँचा। श्रीकृष्णजी के कहने से उसने अपने गुप्तांग पर कमलपत्र लगा लिये और बाकी के सब अंग खोल कर माताजी के सामने बैठ गया।

आगे की कहानी लम्बी है। उससे यहाँ कोई मतलब नहीं। यहाँ तो सिर्फ यही बताना है कि दुर्योधन जैसे कट्टर शत्रु को भी सत्यवादी युधिष्ठिर ने सच्ची विचारणा व सलाह दी, क्योंकि वे यह जानते थे कि मेरा उपादान शुद्ध होगा तो कोई भी निमित्त कुछ भी बाल बाँका नहीं कर सकेगा।

सत्यविचार का यह एक पहलू है, जो जीवन को समृद्ध बनाता है।

सत्यविचार का दूसरा पहलू है—समाज में प्रचलित कुरूढ़ियों, कुरीतियों, कुप्रथाओं, अन्धविश्वासों एवं मूढ़ताओं के चक्कर में नहीं पड़कर सत्यनिष्ठ सत्यविचार करता है। वह सत्यविचार पर अन्त तक टिका रहता है। लोग उसकी पूरी कसौटी करते हैं, लेकिन वह इस कसौटी में खरा उतरता है। एक व्यक्ति सत्य बोलता है, लेकिन विकासघातक, अन्धश्रद्धापोषक, हिंसक एवं खर्चीली अहितकर कुरूढ़ियों या कुरीतियों में फंसा है, उसे हम सत्यनिष्ठ नहीं कह सकते। अतः उसके लिए सत्य-विचार का होना बहुत आवश्यक है। सत्यविचार से ही उसकी बौद्धिकश्री बढ़ती है, जिससे वह समाज में अशान्तिवर्द्धक असंतोषजनक नाना समस्याओं को मिनटों में हल कर देता है। यही विचार समृद्धि उसके जीवन-वैभव को बढ़ाती है। इस प्रकार का सत्यविचारमय जीवन एवं मंगलमय विभूति बन जाता है।

अब आइए, सत्यनिष्ठ की श्रीवृद्धि में कारणभूत चौथे स्रोत की ओर। वह है—सत्य-आचार। सत्य-आचार का मतलब है—आचरण में सत्यता। 'करण सच्चे' का रहस्य यही है। वास्तव में जो अपने मन-वचन-काया को एक करके प्रवृत्ति करता है, वही सत्य-आचरण है। सत्य आचरण से व्यक्ति का जीवन पवित्र, निर्मल, शुद्ध एवं मनोविकारमुक्त बनता है। ऐसे सत्याचरणी व्यक्ति का जीवन [illegible] एवं [illegible] [illegible] श्री से युक्त बन जाता है। [illegible] उसकी [illegible] [illegible] होती है। गुजरात के एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति का उदाहरण लीजिए—

धोराजी-निवासी मेमनकुल के [illegible] एक सज्जन लगभग ३४ साल के थे। वे बड़े निर्धन और फटेहाल थे, किन्तु थे बड़े ही कुलीन, सत्यपरायण एवं धार्मिक। वे एक बार [illegible] से [illegible] जा रहे थे। रास्ता चलते में उन्हें एक [illegible] रुपये का वजनदार बटुआ मिला। हाथ में उठाकर खोला तो [illegible]

लगा; क्योंकि उस बटुए में कोई साधारण चीज नहीं थी। किन्तु सोने के हार, कण्ठी, बाजूबंद आदि गहने थे, जिनमें रत्न, माणिक्य, हीरा, पन्ना, पुखराज आदि जड़े हुए थे। एक बार तो इतने बहुमूल्य आभूषण देखकर किसी भी व्यक्ति का मन विचलित हो सकता था, लेकिन सत्य पर दृढ़ नीतिमान खानुमूसा के दिल में इस कीमती माल को हजम करने या अपने कब्जे में करने का जरा भी विचार नहीं आया। अन्यथा, ऐसी दरिद्रता में बड़े-बड़े सत्य महारथी, नीतिपरायण पुरुष डिग जाया करते हैं। वल्कि उन्होंने तुरन्त प्रभु से प्रार्थना की—"या पाक परवरदिगार खुदा ! मुझे अनीति-असत्य के नापाक विचारों एवं कृत्यों से बचाना। मुझे तो इसमें से एक अंशभर भी लेना सूअर के मांस खाने के समान है।"

दूसरे ही क्षण विचार आया—"मालूम होता है, किसी भाग्यशाली के ये गहने हैं और इस रास्ते से जाते हुए यह बटुआ गिर गया है। अतः वापस वाघणिया जाऊँ और इस बटुए का मालिक मिल जाए तो उसे सौंप दूं। न मिले तो वाघणिया गाँव के मुखिया को यह माल सुपुर्द कर दूं।"

मुखियाजी को जब खानुमूसा ने यह गहनों से भरा बटुआ बताया तो उनके मन में लोभ की लहर व्याप्त हो गई। उन्होंने खानुमूसा से इशारे में कहा—"इसमें से आधा भाग तुम्हारा और आधा मेरा। वीता हुआ समय लौटकर नहीं आएगा। जिंदगीभर की दरिद्रता दूर हो जाएगी।" खानुमूसा ने खिन्न मन से सोचा—"मैंने कहाँ बिल्ली को दूध सौंपने जैसा काम कर दिया ?" फिर मुखियाजी से कहा—"अजी मुखियाजी ! अगर इस माल को हड़पने की मेरी नीयत होती तो मैं वाघणिया तक लौटकर क्यों आता ? रास्ते में एक भी आदमी तो क्या चिड़िया भी नहीं मिली। इस बटुए का माल मैं अकेला ही नहीं हजम कर सकता था, आपको सौंपने क्यों आता ?"

मुखियाजी बोले—"भाई ! थोथी बड़ाई मत हाँक। कपड़े देखते हुए बिलकुल गरीब मालूम होते हो, इसलिए मेरा कहना मानो, आजीवन सुखी रहोगे।" यों कहकर मुखियाजी माल हजम करने का षड्यन्त्र रचने लगे। परन्तु खानुमूसा को सत्य से विचलित करना आसान काम न था। वह दृढ़ता के स्वर में बोला—"भाई ! अलबत्ता मैं गरीब हूँ, परन्तु अपने ईमान पर दृढ़ हूँ, मैं अपनी खानदानी पर जरा भी कलंक लगाना नहीं चाहता। मेरे भाग्य में धन होगा तो खुदा मुझे चाहे जिस रास्ते से दे देगा।"

मुखिया ने कहा—"यह भी खुदा ने ही दिया है, यों मान लो न !"

"नहीं, मुखियाजी ! यों रास्ते में पड़ा हुआ माल खुदा का दिया हुआ नहीं माना जा सकता। यह तो दूसरों की मालिकी का है। इसे हड़पने में न तो नीति है, न सचाई है। हजार हाथ वाला चाहे जिस रास्ते से देगा; मगर इसमें से जरा-सा भी लेना मेरे लिए सूअर के मांस के समान है। आप इस झूठे लालच में न पड़ें, मुखियाजी !" यों कहकर वह बटुआ लेकर खानुमूसा फौरन वहाँ से चल पड़े और

सामने के एक मकान के चबूतरे पर आ बैठे। सोचने लगे—"शाम तक यहीं बैठता हूँ, अगर कोई इस माल का मालिक या उसका आदमी आए तो मैं उसे माल सौंपकर फिर बगसरा जाऊँगा। और तो कोई उपाय नहीं सूझता।"

यों खानुभूसा के मन में शुभविचारों की तरंगें उठ रही थीं, तभी घोड़ा दौड़ाता हुआ एक घुड़सवार एकाएक वहाँ आ पहुँचा। खानुभूसा के पास इकट्ठी हुई भीड़ ने पसीने से तरबतर एवं घबराए हुए उस सवार से पूछा—"भाई! कैसे घबराए हुए हो? क्या बात है?" सवार बोला—"भाइयो! क्या कहूँ? गजब हो गया है आज तो!" "क्या हो गया? शान्ति से कहो।" सबने उत्सुकतापूर्वक पूछा। आगन्तुक ने कहा—"हमारे गाँव (चूड़ाराणपुर) के मोलेसलाम दरबार की रानी साहिबा चूड़ाराणपुर से भेंसाणराणपुर जा रही थीं। साथ में सिपाही तथा ८–१० सवार थे। रास्ते में दामणिया से जब वे गुजर रही थीं, तभी अचानक लगभग ५० हजार के गहनों से भरा एक बड़ा बटुआ गिर पड़ा। जब वे बगसरा पहुँचकर विश्राम के लिए रुकीं, तब देखा तो बटुआ गायब! उसी बटुए की तलाश करने मैं वहाँ से निकला हूँ। अगर बटुआ न मिला तो हमारी तो शामत आ जाएगी। दरबार को मुँह बताने लायक नहीं रहेंगे हम।" यों कहते वह गद्गद हो गया।

खानुभूसा ने जब यह सुना तो वे खड़े हुए और आगन्तुक से पूछने लगे कि उस बटुए में कौन-कौन से गहने थे? सवार ने फटाफट उनके नाम गिना दिये। यह सुनकर खानुभूसा ने तुरन्त वह बटुआ सवार के सामने रखा और पूछा—"देखो यह बटुआ तो नहीं था?" सवार हर्षित होता हुआ आनन्दमग्न होकर बोला—"हाँ भाई! यही है वह बटुआ। आपको यह कहाँ मिला था?"

"भाई! मुझे यह रास्ते में मिला था, वहाँ से लेकर मैं यहाँ आया और इसके मालिक की प्रतीक्षा में बैठा था। इतने में आप आ गए। लो, इन सब मनुष्यों के समक्ष खोलो इस बटुए को और सब गहने देख लो।" बटुआ खोला और एक-एक गहना मिलानकर देखा तो सभी गहने ज्यों-के-त्यों रहे मिले। अब तो खानुभूसा, सवार तथा गाँव के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्ति मिलकर बगसरा पहुँचे। वहाँ रानी साहिबा भी सवार की उत्सुक नेत्रों से प्रतीक्षा कर रही थी। इतने में तो वह घुड़सवार खानुभूसा को साथ लेकर पहुँचा। उसके हृदय में हर्ष समा नहीं रहा था। उसने गहनों का बटुआ रानीजी को सौंपते हुए आद्य से इति तक सारी बात कही। रानी साहिबा ने खानुभूसा का बहुत उपकार माना और उनकी [illegible] से प्रसन्न होकर [illegible] एक हजार के रुपये देने लगी। परन्तु [illegible] खानुभूसा ने [illegible] हुए कहा—"[illegible] से [illegible] भी [illegible] लेने के लिए [illegible] हूँ। आपकी [illegible] थे, आपको [illegible] मिल गए। मैंने तो अपने कर्तव्य [illegible] किया है, कोई उपकार नहीं किया।"

यों कहकर खानुभूसा चलने लगे, रानी साहिबा [illegible] ने उन्हें [illegible] कुछ

सौगन्ध दिलाकर १०-१५ दिन बाद अवश्य ही राणपुर आने का आग्रह किया। उन्होंने इसके लिए स्वीकृति दी और गये भी।

कुछ ही अर्से बाद खानुमूसा बम्बई पहुँच गए और अल्पवेतन पर एक भाई के यहाँ काम करने लगे। एक दिन वहाँ के भीड़ भरे सराफा बाजार से खानुमूसा जा रहे थे कि एक नीलाम करने वाले को देखा, जो एक हाथ में सोने का कर्णफूल लेकर उच्च स्वर से बोली बोल रहा था—"सवा तीन रुपये एक, सवा तीन रुपये दो।" खानुमूसा ने अपनी जेब सँभाली तो उसमें साढ़े तीन रुपये थे। उन्होंने उस कर्णफूल की बोली लगाई—"साढ़े तीन रुपये।" नीलाम करने वाले ने तुरन्त साढ़े तीन रुपये एक, साढ़े तीन रुपये दो, साढ़े तीन रुपये तीन, कहकर बोली खत्म कर दी और खानुमूसा से साढ़े तीन रुपये लेकर वह सोने का कर्णफूल दे दिया।

खानुमूसा कर्णफूल लेकर उसे देखते-देखते अपने मालिक की दूकान पर पहुँचे, और उन्हें वह कर्णफूल बताया। सेठ ने कहा—"क्या इस कर्णफूल के बिना तुम्हारा कोई काम अटका था? नाहक ही साढ़े तीन रुपये खोये। सोना तो इसमें जरा-सा है।"

खानुमूसा ने विनयपूर्वक कहा—"बोली, बोली जा रही थी। मैंने साढ़े तीन रुपये बोले तो नीलाम करने वाले ने तुरन्त इस पर बोली खत्म कर दी और मुझे यह कर्णफूल दे दिया। भाग्य-भरोसे पर ले आया हूँ।"

सामने ही एक जौहरी बैठा-बैठा यह सब सुन रहा था। उसकी नजर इस कर्णफूल पर जाते बोल उठा—"सेठ! बोलो, इसे बेचना हो तो इसके पाँच रुपये मैं देता हूँ।"

सेठ ने कर्णफूल पर बारीकी से दृष्टिपात किया तो उसके नीचे के भाग में एक चमकता हुआ हीरा जड़ा था। सोचा—'जौहरी पाँच रुपये दे रहा है तो अवश्य ही यह हीरा कीमती है।' अतः सेठ ने उस जौहरी को और बारीकी से परखने को कहा। इस पर उसने कहा—"लो, दस रुपये ले लो।" सेठ ने देने से इन्कार किया तो वह बढ़ता-बढ़ता दो सौ रुपये तक पहुँच गया। सेठ ने खानुमूसा से कहा—"खानु! तुम्हारी तकदीर खुल गयी है।" प्रत्युत्तर में खानुमूसा ने कहा—"खुदा की और आपकी मेहरबानी है।" तुरन्त सेठ खानुमूसा को साथ लेकर अपने एक परिचित जौहरी के यहाँ पहुँचे। उसे वह कर्णफूल बताया। जौहरी ने उस कर्णफूल की कीमत दस हजार रुपये आँकी। सेठ ने कहा—"इसकी उचित कीमत बताओ।" जौहरी बोला—"फिर तो इस वस्तु का मालिक जो कहे, वही ठीक है।" सेठ—"इसमें माल का मालिक क्या कहेगा? आप ही जो उचित हो, वह कीमत बता दो न?" यों सेठ और जौहरी के बीच झकझक चल रही थी, तभी उतावले होकर खानुमूसा बोले—"अच्छा भाई! इसके सोलह हजार दो।" सेठ ने कहा—"नहीं, जौहरी! यह तो पागल है। कोई इतनी कीमती चीज सोलह हजार में दी जा सकती है? कम से

कम दीस हजार तो देने ही चाहिए ।" इस पर खानुभूसा ने सेठ से कहा—"आप तो मेरे मुरब्बी हैं । मैंने अपनी जबान से जब एक बार सोलह हजार रुपये कह दिये तो अब इससे उपरान्त एक पाई भी लेना मेरे लिए हराम है । मैं सत्य पर दृढ़ हूँ, इसलिए सोलह हजार से अधिक नहीं ले सकता ।" जौहरी ने सोलह हजार रुपयों की स्वर्णमुद्राएँ गिनकर दे दीं, जिन्हें लेकर सेठ और खानुभूसा घर आए ।

आप सुनकर आश्चर्य करेंगे कि उस सत्यवादी खानुभूसा ने सेठ की अनुमति लेकर बम्बई में अपनी दुकान की । उसमें लाखों रुपये कमाये । यही नहीं, उन्होंने बम्बई में और देश-विदेश में खूब प्रसिद्धि भी पाई । वे नामी नगरपतियों में गिने जाने लगे । इसके अतिरिक्त लोकोपयोगी कार्यों में लाखों रुपये दान देकर अपनी यशकीर्ति बढ़ाई । कुछ ही वर्षों के बाद धन्धे से निवृत्त होकर घोराजी रहने लगे और खुदा की बन्दगी में अपना जीवन बिताने लगे ।

वास्तव में खानुभूसा की सत्यनिष्ठा, सत्य-आचरण के कारण समृद्धि, कीर्ति, प्रतिष्ठा, परिवार में परस्पर प्रेम और सेवा की भावना आदि के रूप में उन्हें भौतिक श्री मिली और जीवन के सान्ध्यकाल में वे आध्यात्मिक श्री बढ़ाने में जुट गये ।

इस तरह सत्य समस्त लक्ष्मी प्राप्तियों का मूलाधार है । यह स्वयं एक प्रकार की विराट विभूति है । यही साधन, मार्ग और लक्ष्य है । वास्तव में सत्य पर चलने वाले व्यक्ति की प्रत्येक सदिच्छा पूर्ण होकर रहती है । पारसी धर्म के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ (य० ४३।१) में भी इसी बात का समर्थन किया गया है—

'अषा सँतुई—चर इती । स्वओषगाद्न् मज्दा अहिर्तम् ।'

'अषा—सत्य पर चलता हुआ मनुष्य अपनी इस निर्णय करने वाली शक्ति से अपने हृदय की बड़ी से बड़ी इच्छा पूरी कर सकता है ।'

और योगदर्शन में भी पतंजलि ऋषि ने सबसे बड़ी बात दी, सत्यनिष्ठा के चमत्कार के सम्बन्ध में,

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।'

[illegible] में सत्य पूर्णरूप से प्रतिष्ठित (स्थिर) हो जाने पर उसकी [illegible] [illegible] ऐसी [illegible], [illegible] [illegible] होती है [illegible] [illegible] हो जाती है । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] से जो [illegible] [illegible] है और [illegible] से जो [illegible] होती है, [illegible] ही वे [illegible] हो जाते हैं । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हो जाता है । इस प्रकार की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है जो [illegible] की [illegible] हो जाती है ।

आध्यात्मिक श्री क्या और कैसे ?

[illegible]

तत्र सत्य की महिमा बतलाई गई है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में सत्य को भगवान् बतला कर उससे होने वाले भौतिक-आध्यात्मिक सभी लाभ बतलाये गये हैं।

आचारांगसूत्र में भी स्पष्ट बताया गया है—"सत्य की आज्ञा में उपस्थित मेधावी मृत्यु को पार कर लेता है। अर्थात् मृत्युंजयी बन जाता है।"[1] यजुर्वेद (१६।७७) में सत्यनिष्ठा का परिणाम बताते हुए कहा है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥
ऋतेन सत्यमिन्द्रियंविपान शुक्रमन्धस ।
इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥

अर्थात्—'प्रजापति ने असत्य के प्रति अश्रद्धा और सत्य के प्रति श्रद्धा स्थापित की। मनुष्य सत्य से भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त करता है। वास्तव में यह सत्य अमृत के समान मधुर है।'

किन्तु एक बात निश्चित है कि यह आत्मिक ऐश्वर्य या भौतिक ऐश्वर्य उन्हीं के पास सुरक्षित और स्थायी रहता है, जिनके रोम-रोम में सत्य रम गया है जिनके संस्कारों में सत्य ताने-बाने की तरह गुंथ गया है। सत्यनिष्ठा के कारण उनके मन, वाणी, बुद्धि और हृदय में वैभव व्याप्त हो जाता है; आध्यात्मिक वैभव, आत्मिक लक्ष्मी उसके जीवन में अठखेलियाँ करने लगती है।

आध्यात्मिक श्री क्या है? इसके विषय में मैं पहले कह चुका हूँ। आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप आदि की साधना के कारण उपलब्ध विशिष्ट शक्तियाँ—जैसे चित्तसमाधि, संतोष, सहिष्णुता, मन की एकाग्रता, आत्मबल आदि शक्तियाँ प्राप्त होना ही आध्यात्मिक श्री की प्राप्ति है। आध्यात्मिक श्री कोई आकाश से टपकने वाली या किसी देव-गुरु या भगवान द्वारा प्राप्त की जाने वाली वस्तु नहीं है। वह एक विशिष्ट शक्ति है, जो सत्य की सतत आराधना-साधना करने से प्राप्त होती है। मुण्डकोपनिषद् (३/१/५) में सत्य के द्वारा आत्मिक उपलब्धि बताते हुए कहा है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

'उस आत्मा को जो शरीर के भीतर हृदय में विराजमान है, जो ज्योतिर्मय, प्रकाशमान है, उज्ज्वल है, सत्य से ही, सत्य तप से ही नित्य प्राप्त किया जाता है; अथवा सत्य ज्ञान से या ब्रह्म (आत्मा) में विचरण से उपलब्ध किया जाता है। जितेन्द्रिय एवं दोषमुक्त तत्त्वदर्शी इसका साक्षात्कार (सत्य से) करते हैं।'

---

१ सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरइ — आचारांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध

चूंकि सत्य ज्ञान और चारित्र का मूल है, यह स्वयं अपने आप में एक आध्यात्मिक साधना है, अब उसमें आध्यात्मिक श्री वृद्धि न हो, ऐसा हो नहीं सकता। वास्तव में सत्य एक ऐसी आध्यात्मिक शक्ति है, जो सत्यनिष्ठ को निर्विकार, निर्भय एवं निश्चिन्त जीवन जीने की प्रेरणा करती है, तथा जो देश, काल, पात्र एवं परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होती। सत्य से अध्यात्मश्री प्राप्त होने के सम्बन्ध में पाइथागोरस (Pythagoras) कहता है—

"Truth is so great a perfection, that if God would render himself visible to men, he would choose light for his body and truth for his soul."

"सत्य इतना महान् परिपूर्ण है कि अगर परमात्मा किसी के समक्ष प्रकट होना चाहे तो उसे प्रकाश से अपना शरीर और सत्य से अपनी आत्मा को धारण करना पड़ेगा।"

सत्य को स्वयं भगवान कहा गया है तो जिस हृदय में सत्यरूप भगवान विराजमान हो गए, वह जगत् का मालिक एवं शाहंशाह बन सकेगा, क्योंकि फिर उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि दुर्गुण रहेंगे नहीं और इस प्रकार शुद्ध-निष्कलंक, निर्विकार, निर्भय आत्मश्री वहाँ जगमगाने लगेगी, जिसके प्रकाश में व्यक्ति अपने हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य को देख सकेगा। अतः सत्यनिष्ठा आत्मोन्नति करने वाले सारे ही सद्गुणों—विनय, नम्रता, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहवृत्ति, शम, क्षमा, दया आदि की आधारशिला बनेगी। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सत्य से विकास होने से आत्मा समस्त गुणरूपी पुष्पों से खिल उठेगी। सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने स्वभाव में स्थिर होकर शुद्धरूप आत्मश्री को शुद्ध रूप में प्राप्त करता है, जिससे वह स्वयं ही एक आत्मा के चार गुणों—आत्मसुख, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन और आत्मवीर्य को प्राप्त कर लेता है। अतः आत्मश्री को [illegible] से प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को एक सर्वोत्तम आधारशिला पर टिकाना आवश्यक होता है और वह आधारशिला है सत्य। पाश्चात्य विचारक इमर्सन के मुताबिक से भी इसी बात का समर्थन मिलता है—

"The finest and noblest ground on which people can live is truth."

"श्रेष्ठ सुन्दरतम और श्रेष्ठतम आधार पर जिस पर मनुष्य जीवन टिका सकता है, वह है—सत्य।"

[illegible]

[illegible]

सब पर विजयश्री प्राप्त करा सकता है, वह है—आत्मबल । और वह आत्मबल सत्यनिष्ठा से प्राप्त होता है । इसी कारण सत्य के द्वारा प्राप्त होने वाली आत्मशक्ति के आगे सत्ता की—दण्ड की शक्ति पानी भरती है ।

सत्य से मन और वाणी की शुद्धि हो जाती है ।[1] इनके शुद्ध होते ही आत्मा भी शुद्ध हो जाती है । शुद्ध आत्मा विकाररहित होकर मनुष्य को सद्‌विचारों और सत्कार्यों में ही प्रेरित करती है । सत्य की शक्ति से ओतप्रोत शुद्ध आत्मा सत्याचरण करने की ही साक्षी देती है, वह असत्कार्य का समर्थन नहीं करती । सत्य की यह शक्ति ही आध्यात्मिक श्री है । जब यह शक्ति आत्मा में से निकल जाती है तो आत्मा को बुरे विचार घेर लेते हैं, बुरे कार्यों में वह प्रवृत्त होने लगती है । 'सत्य हृदय का चक्षु है' यह बात तत्त्वदर्शियों ने बताई है । सत्यनिष्ठ के जब हृदयचक्षु खुल जाते हैं तो वह जीवों की गति-आगति, उनकी वेदनाओं, सुखदुःखों, उनके मनोभावों का संवेदन भलीभाँति कर सकता है । इस प्रकार सत्यनिष्ठा से वह आत्मौपम्य भाव की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है । यही अध्यात्मश्री की प्राप्ति का लक्षण है । एक पाश्चात्य विचारक डब्ल्यू आर० एल्जर (W. R. Alger) ने अध्यात्मश्री का मापदण्ड बताते हुए कहा है—

"The wealth of a soul is measured by how much it can feel, its poverty by how little."

"आत्मा की श्री का नाप यह है कि वह कितना अधिक संवेदन कर सकती है; और आत्मा की दरिद्रता का नाप यह है कि वह कितना कम संवेदन करती है ।"

परन्तु जैसा कि मैंने कहा—सत्यनिष्ठा से जब व्यक्ति आत्मौपम्य की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है तो उसे ब्रह्मप्राप्ति या ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होने में देर नहीं लगती, चाहे उसने किसी विश्वविद्यालय में किसी गुरु से साक्षात् यह आत्मविद्या नहीं पढ़ी हो ।

ब्रह्मचारी सत्यकाम ने जब हरिद्रुमतपुत्र महर्षि गौतम से ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करने की इच्छा से उनके आश्रम में जाना चाहा तो अपनी माता से पूछा—"माँ ! मेरा नाम और गोत्र क्या है ?"

माता ने निखालिस हृदय से कहा—पुत्र ! निराश्रित होने के कारण यौवनावस्था में मुझे अनेक गृहस्वामियों की परिचर्या करनी पड़ी थी, उनमें से तू किसका पुत्र है, यह मैं भी नहीं जानती । हाँ, मेरा नाम जाबाला है और तू अपने जीवन में सत्यकाम है, इसलिए जब ऋषि तेरा नाम पूछें तो अपना नाम सत्यकाम जाबाल बता देना ।"

सत्यकाम महर्षि गौतम के आश्रम में पहुँचा । जब उसका नाम और गोत्र उन्होंने पूछा तो उसने अपनी माँ कहे शब्द अक्षरशः दोहरा दिये ।

---

१ 'मनः सत्येन शुद्ध्यति'—मनु, ५/१०९, 'सत्येन शुद्ध्यते वाणी'—तत्त्वामृत

महर्षि क्षण भर विचार करके बोले—"वत्स ! तूने इतना साफ सत्य कह दिया, इसलिए निःसन्देह तू ब्राह्मण बीज है और ब्रह्मप्राप्ति का अधिकारी है। तूने सत्य का परित्याग न कर अपनी विशिष्टता प्रतिपादित की, इसलिए मैं तुझे ब्रह्मज्ञान दूंगा।"

सत्यकाम जाबाल को आश्रम में प्रविष्ट करके महर्षि गौतम ने पहला पाठ यही पढ़ाया—"ब्रह्मज्ञान पुस्तकों की नहीं, अनुभूति की भाषा है, आत्मा के पूर्ण निष्कपट होने पर ही पढ़ा जाता है। जो किसी भी सत्य को अपने अन्तर्मन से स्वीकार कर सकने का साहस रखता है, उसे शीघ्र ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है।' और एक दिन सत्यकाम जाबाल को गोपालन करते-करते ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया।

वास्तव में सत्य के स्वरूप को जानने वाला और सत्यभाषण तथा सत्य-आचरण करने वाला ही सत्यस्वरूप ब्रह्म (परमात्मा) को जान सकता है। इसी कारण सत्यकाम जाबाल को ब्रह्मज्ञान जैसी अलौकिक आत्मसमृद्धि प्राप्त हुई।

श्री ऋषिभाषितकार महर्षि गौतम भी यही बात कहते हैं—

'सच्चे ठियतं सव्वए सिरी य'

जो अन्त तक सत्य में स्थिर रहता है, उसे सब प्रकार की श्री प्राप्त होती है। बन्धुओ ! मैं इस विचार में सत्यनिष्ठ को प्राप्त होने वाली लौकिक और आध्यात्मिक श्री के बारे में कह गया हूँ। आप भी सत्यनिष्ठ जीवन बनाकर समग्र श्री को हस्तगत करें।

३१
कृतघ्न नर को मित्र छोड़ते

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष एक ऐसे जीवन की चर्चा करना चाहता हूँ, जो अपने आप में तो त्याज्य है ही, परन्तु ऐसा जीवन जीने वाले व्यक्ति को उसके हितैषी छोड़ देते हैं। उसके साथ रहना नहीं चाहते, न उसके साथ कोई लेन-देन का व्यवहार या सहकार करना चाहते हैं। ऐसा निकृष्ट एवं अधम जीवन है—कृतघ्न जीवन। गौतम कुलक का यह सत्ताइसवाँ जीवनसूत्र है, जिसमें महर्षि गौतम ने बताया है—

'चयंति मित्ताणि नरं कयग्घं'

'कृतघ्न मनुष्य को मित्र-हितैषीजन छोड़ देते हैं।'

कृतघ्न कौन और कैसे ?

आपके मन-मस्तिष्क में यह प्रश्न उठता होगा कि कृतघ्न किसे कहते हैं ? और मनुष्य कृतघ्न किन कारणों से हो जाता है ? कृतघ्न की वास्तविक पहिचान क्या है ?

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार कृतघ्न का अर्थ होता है—

'कृतमुपकारं हन्तीति कृतघ्नः'

'जो अपने पर दूसरों के द्वारा किये हुए उपकार का हनन कर देता है, वह कृतघ्न है।' साँप के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह दूध पिलाने वाले अपने उपकारी को काटने की चेष्टा करता है, इसी प्रकार दुष्ट कृतघ्न उपकारी के द्वारा किये हुए उपकार को भूलकर उसी की हानि करने की चेष्टा करता है।[1]

साँप तो कदाचित् उपकारी को पहचान कर उसका प्रत्युपकार भी कर देता है, किन्तु कृतघ्न मनुष्य तो साँप से भी बढ़कर निष्कृष्ट होता है। किसी के द्वारा किये गए उपकार को भूल जाना, उपकारी का उपकार न मानना, धन्यवाद देकर उपकारी के प्रति धन्यवादसूचक शब्दों से भी कृतज्ञता प्रगट न करना, विनय-नम्रता

---

१ देखिए सुभाषितरत्न भाण्डागार में कृतघ्न का लक्षण—

कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातंकः।
प्रत्युत हन्तु यतते काकोदरसोदरः खलो जगति ॥

वास्तव में कृतघ्न व्यक्ति दूसरों के गुण ग्रहण नहीं करता, उसकी दृष्टि में दूसरों के दोष ही नजर आते हैं। वह दूसरों के द्वारा कृत उपकारों को स्मृति से बिलकुल ओझल कर देता है। ऐसा करके वह अपने सिर पर उपकारों और एहसानों का बहुत बड़ा कर्ज या ऋण चढ़ा लेता है। इस जन्म में वह कृतघ्नता के कारण उस ऋण को नहीं चुका पाता, तो अगले जन्मों में तो उसे चुकाना ही पड़ता है, चाहे वह समझ-बूझकर हँसते-हँसते चुकाए, चाहे किसी के दवाब से रो-रोकर चुकाए।

एक पेड़ को माली ने अपने श्रम से सींच-सींचकर बड़ा किया था। जब वह बड़ा हुआ तो उसमें सुगन्धित फूल आए, वह फलों से लदकर और पत्तों और शाखाओं के भार से बहुत उन्नत हो गया। अब भौंरे आकर उस पर गुंजार करने लगे, पक्षी आकर उस पर चहचहाने और बसेरा करने लगे। पेड़ को अपनी समृद्धि का गर्व हो गया। वह अपने पुराने उपकारी माली को भूल गया। इसी प्रसंग को लेकर कवि दीनदयाल गिरि एक अन्योक्ति द्वारा कृतघ्नों को प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

वा दिन की सुधि तोहि को, भूल गई कित साखि ?
बागवान गहि घूर तें, ल्यायो गोदी राखि॥
ल्यायो गोदी राखि, सींचि पाल्यो निज कर तें।
भूलि रह्यो अब फूलि, पाय आदर मधुकर तें॥
बरनै दीनदयाल, बड़ाई है, सब तिनकी।
तू झूमे फलभार, भूलि सुधि को वा दिन की॥

कवि ने कितने गहन सत्य-तथ्य को अन्योक्ति द्वारा उजागर कर दिया है! वास्तव में, जिस व्यक्ति में कृतघ्नता आ जाती है, वह चाहे कितना ही सम्पन्न क्यों न हो जाए, चाहे उसमें कुछ गुण भी क्यों न हो, वह लोगों की दृष्टि में अधम, निकृष्ट और पापी समझा जाता है, एक कृतघ्नता ही उसके सभी गुणों पर पानी फिरा देती है। एक पाश्चात्य विचारक ब्रूक (Brooke) के शब्दों में देखिए—

"If there be a crime of deeper dye than all the guilty train of human vices, it is ingratitude."

'मानवीय बुराइयों के तमाम अपराधी परिचरों के बजाय संसार में अगर कोई गहरे रंग का अपराध है तो वह है—अकृतज्ञता-कृतघ्नता।'

जब मानव-जीवन में कृतघ्नता आती है तो उसमें अहंकार, झूठ, क्रोध, माया (कपट), एवं स्वार्थ आदि सभी दोष धीरे-धीरे प्रविष्ट हो जाते हैं, फिर उसकी जगत् के प्राणियों के प्रति ही नहीं, परमात्मा के प्रति भी श्रद्धा खत्म हो जाती है।

कृतघ्नता एक प्रकार का तीव्र विष है, जो अमृत-सम सभी गुणों को जहरीला बना देता है। उसके रहते कोई भी गुण विश्वसनीय नहीं रहता। कृतघ्न व्यक्ति में सत्य, दया, क्षमा, सेवा, नम्रता, शील, अचौर्य आदि कोई भी गुण विश्वसनीय नहीं

जाता। अतः उसके गुणों के प्रति भी उपेक्षा करने लगते हैं कि न उसके स्वयं का आदर्श बहुत ऊंचा, क्योंकि उसमें कृतघ्नता का भारी दुर्गुण है। सर फिलिप सिडनी (Sir P. Sidney) ने ठीक ही कहा है—

"Ungratefulness is the very poison of manhood"

'कृतघ्नता मानवता का तीव्र जहर है।'

भारतीय संस्कृति में कृतघ्न को बहुत ही नीच और निकृष्ट व्यक्ति माना गया है। वाल्मीकि रामायण में कृतघ्न व्यक्ति की शुद्धि के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं बतलाया है—

गोघ्ने चैव सुरापे च, चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः, कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥

गोहत्यारे, शराबी, चोर और व्रतभंग, इन सब के लिए तो सत्पुरुषों ने प्रायश्चित्त का विधान किया है, लेकिन कृतघ्न की शुद्धि के लिए कोई प्रायश्चित्त-विधि नहीं बताई।

वास्तव में कृतघ्नता इतना बड़ा पाप है कि वह सारी पवित्रता को नष्ट करके जीवन को कालिमा से आच्छादित कर देता है। कृतघ्नता व्यक्ति के हृदय में निहित श्रद्धा और आस्था की ज्योति नष्ट कर देती है। कृतघ्न व्यक्ति की निकृष्टता तथा अपयश को दृष्टिगत करते हुए एक दोहा इस प्रकार मुझे याद आ रहा है—

[illegible]

[illegible]
[illegible]

वह करती हूँ, इसलिए अपवित्र नहीं हूँ। परन्तु इस रास्ते से अभी एक कृतघ्न मनुष्य गया है, वह अत्यन्त अपवित्र है। उसके पैरों से लगकर गिरे हुए रजकण कहीं मेरे न लग जाएँ, इसलिए भूमि पर जल छींटती हुई चल रही हूँ।

वास्तव में कृतघ्न पुरुष ही महा अपवित्र एवं निन्द्य होते हैं।

कहना न होगा, ऋषि का मनःसमाधान चाण्डालिनी की तात्त्विक बात सुनकर हो गया और वे अपनी भूल के लिए क्षमा माँगकर आगे बढ़ गए।

कुत्ते, सर्प, सिंह आदि से भी नीच : कृतघ्न

लौकिक व्यवहार में लोग कुत्ते को नीच मानते हैं, परन्तु शेखसादी कहते हैं "एक स्वामिभक्त कृतज्ञ कुत्ता भी कृतघ्न मनुष्य से अच्छा है।"

एक बार एक कवि ने कुत्ते को चिन्तित देखकर आश्वासन देते हुए कहा—

शोकं मा कुरु कुक्कुर ! सत्त्वेष्वहमधम इति मुधा साधो !
दुष्टादपि दुष्टतरं दृष्ट्वा श्वानं कृतघ्ननामानम् ॥

"दुष्ट से भी दुष्टतर कृतघ्न नाम के कुत्ते को देखकर भले आदमी ! तू व्यर्थ शोक मत कर कि मैं प्राणियों में सबसे अधम हूँ।"

वास्तव में स्वामिभक्त असली कुत्ते से कृतघ्न कुत्ता ज्यादा खतरनाक है।

कुत्ता ही क्यों, सांप जैसा क्रूर प्राणी भी उपकारी का उपकार नहीं भूलता और किसी न किसी रूप में कृतज्ञता प्रगट करता है।

एक जगह कुछ ग्रामीण एक सांप को मार रहे थे, तभी उधर से आ पहुँचे सन्त एकनाथ। यह देखकर वे बोले—"भाइयो ! इसे क्यों मार रहे हो, छोड़ दो इसे। कर्मवश सांप की योनि मिली है इसे, यह है तो आत्मा ही।" एक युवक ने कहा—"आत्मा है तो फिर काटता क्यों है ?"

एकनाथ ने कहा—"तुम लोग इस सर्प को न मारो तो यह तुम्हें क्यों काटेगा ?" लोगों ने एकनाथ के कहने से उस सर्प को छोड़ दिया।

कुछ दिनों बाद एक दिन रात को एकनाथ अंधेरे में नदी स्नान करने जा रहे थे। तभी उन्हें सामने फन फैलाए खड़ा वह सर्प दिखाई दिया। उन्होंने उसे बहुत हटाना चाहा, मगर वह टस से मस न हुआ। एकनाथ मुड़कर दूसरे घाट पर स्नान करने चले गए। उजाला होने पर लौटे तो देखा कि वर्षा के कारण वहाँ एक गहरा खड्ड हो गया है। अगर उस सर्प ने न बचाया होता तो एकनाथ कब के ही उसमें समा चुके होते।

गिद्ध, जो मांसाहारी पक्षी हैं, वे भी उपकारी के प्रति प्रत्युपकार करना नहीं भूलते।

एक बार वाराणसी में एक जगह दो बूढ़े गिद्ध अत्यन्त कष्टदायक अवस्था में थे। एक सौदागर को उन पर दया आई। वह उन्हें एक सूखी जगह में ले गया और

[illegible] भागी चली गई । वहाँ वस्तु आई तब तक वे दोनों हृष्ट-पुष्ट हो गए थे, इसलिए वहीं से [illegible] वन पर चले गए । किन्तु उन्होंने सामान्यतया के [illegible] सौदागर के उपकार का बदला चुकाने का निश्चय किया । अतः वे प्रतिदिन [illegible] के [illegible] पर [illegible] गाँव में [illegible] और वहाँ से भी [illegible] [illegible] गाँव में [illegible] सौदागर के घर पर छोड़ जाते । सौदागर सिंहों के लाये हुए [illegible] को न तो स्वयं उपयोग में लेता और न ही बेचता था । [illegible] सुरक्षित रख देता था ।

कुछ लोगों ने राजा के पास सिंहों की शिकायत लगाई, तब राजा ने उन्हें पकड़ने के लिए जाल बिछवाया । उनमें से एक सिंह जब पकड़ा गया तो राजा ने उससे पूछा— "तुम मेरी प्रजा के पशु क्यों उठा ले जाते हो ?"

सिंह ने कहा— "इस नगर के एक सौदागर ने हम दोनों की जान बचाई थी । उस उपकार को चुकाने के लिए हम बारह वर्ष तक [illegible] और सौदागर के यहाँ डालते रहे हैं ।" राजा ने उस सौदागर को बुलाकर पूछा तो उसने कहा— "[illegible] ! इन दोनों सिंहों ने उपकार की बुद्धि से [illegible] किये हैं, परन्तु मैंने [illegible] सुरक्षित रख दिये हैं । अतः मैं इन पशुओं के मालिकों को [illegible] लौटाने को तैयार हूँ ।"

राजा ने उन सिंहों को तत्काल मुक्त किया, क्योंकि उन्होंने यह उपकार का बदला चुकाने की भावना से किया था । और सौदागर को भी छोड़ दिया ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जानवरों में सिंहों में भी जब कृतज्ञता की भावना है, तब विचारशील मनुष्य में तो कृतज्ञता होनी ही चाहिए ।

पाश्चात्य विद्वान कॉल्टन (Colton) इसी बात को पुष्ट करता है—

"Brutes leave ingratitude to man."

तीखा कांटा जोर से खींचकर निकाल दिया। कांटा निकालते ही सिंह की पीड़ा कम हो गई। अतः उसने अपने उपकारी तत्त्वचिन्तक के पैर चाटकर कृतज्ञता प्रकट की और धीरे-धीरे चला गया।

रोम में उस समय गुलामी प्रथा का जोर था। गुलामों को पकड़ने के लिए रोम के सैनिक इस जंगल में आए और इस तत्त्वचिन्तक को पकड़कर ले गए। उस जमाने में यह भी क्रूर प्रथा थी कि पकड़े हुए गुलामों को भूखे सिंह के आगे छोड़ा जाता और वह थोड़ी ही देर में उन्हें फाड़ खाता था। दर्शक लोग इस पर खुश होकर तालियाँ बजाते थे। इसी क्रूरता के कारण रोम साम्राज्य का पतन हुआ।

हाँ तो, उस तत्त्वचिन्तक को भूखे सिंह के सामने छोड़ा गया। सिंह छलांग मारता निकट आया, किन्तु यह क्या ! इसे फाड़कर खाने के बजाय, वह प्रेम से झुक-कर, इसके पैर चाटने लगा। कारण, यह वही सिंह था, जिसके पंजे में चुभा हुआ तीखा काँटा इसने निकाला था। सिंह ने अपने उपकारी को पहिचान लिया। लोगों ने अत्यन्त आश्चर्य प्रगट किया। तत्त्वचिन्तक ने अथ से इति तक सारी बात कहकर समाधान किया; इस पर रोम के अमीरों ने सभी गुलामों को मुक्त कर दिया। उनके मन में यह विचार स्फुरित हुआ कि सिंह जैसे क्रूर प्राणी में भी जब इतनी कृतज्ञता है तो जो मनुष्य कृतज्ञता से हटता है, वह पशु से भी गया-बीता है।

कृतघ्नता महापाप है, इसीलिए तो उसे नरक का मेहमान होना पड़ता है। एक आचार्य ने कहा है—

> **मित्रद्रोही कृतघ्नश्च, स्तेयी विश्वासघातकः।**
> **चत्वारो नरकं याति यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥**

मित्र के साथ द्रोह करने वाला, किये हुए उपकार को भूलने वाला, चोर और किसी के साथ विश्वासघात करने वाला, ये चारों तब तक नरक में रहते हैं, जब तक सूर्य और चन्द्रमा हैं।

चोर लुटेरे शत्रु भी कृतघ्न नहीं

मनुष्यों में चोर, डाकू, लुटेरे, हत्यारे आदि क्रूर से क्रूर मानव भी समय आने पर अपने प्रति किये हुए उपकार का बदला चुकाते हैं, तो फिर साधारण मनुष्य की तो वात ही क्या है ? क्रूर मानव कृतघ्नता को घोरातिघोर पाप समझते हैं, इसलिए वे अपने उपकारी के प्रति कृतघ्नता का परिचय नहीं देते।

मैं आपको कुछ वर्षो पहले की एक सत्य घटना सुनाता हूँ—

एक पशुचिकित्सक अपनी पत्नी और दो वच्चों को लेकर जीपकार में वैठकर सन्ध्या समय कहीं जा रहे थे। गाड़ी वे स्वयं चला रहे थे। दुर्भाग्य से रास्ते में ही उनकी जीप का पहिया रुक गया। वे जहाँ जा रहे थे, वह ग्राम वहुत दूर था। गाड़ी की मशीन खोलकर ठीक करने की वहुत कोशिश की फिर भी गाड़ी न चली।

अतः पशुचिकित्सक ने अपनी पत्नी और पुत्रों से कहा—"मैं इस पास वाले गाँव में जाता हूँ। तुम लोग गाड़ी में बैठो। मैं वहाँ से किसी को बुलाकर लाता हूँ।" डॉक्टर चले गए। रात्रि का अंधकार चारों ओर छा गया। सुनसान जगह थी। स्त्री और बच्चे तो घबराने लगे। इतने में ४-५ लुटेरे वहाँ आ पहुँचे। जीप देखकर सोचा—"अच्छा शिकार हाथ लगा है, आज तो। विना मेहनत के माल मिल जाएगा।" लुटेरे जीप के पास आकर बन्दूक तानकर खड़े हो गए। बोले—"जो कुछ गहने और रुपये हों हमें सौंप दो, नहीं तो यह बन्दूक तैयार है।" अचानक बन्दूकधारी लुटेरों को देखकर असहाय स्त्री-बच्चे घबरा गए। महिला अपने पास जो भी गहने एवं पैसे थे, सब निकालकर देने की तैयारी में थी। ऐसे समय में प्राण बचाने की सबको चिन्ता होती है। इतने में महिला का पति गाँव में किसी की मदद न मिलने से अकेला वापस लौटा। वे लुटेरे उन्हें मारने दौड़े, परन्तु लालटेन के प्रकाश में लुटेरों की नजर उस भाई पर पड़ी। अतः लुटेरों का सरदार तुरन्त रुका और बोला—"ओ हो! डॉक्टर साहब! आप यहाँ कहाँ से?" ये लोग डॉक्टर को अच्छी तरह पहिचानते थे। एक बार लुटेरों के सरदार की भैंस के प्रसव नहीं हो रहा था, तब उसने इन्हें बुलाया था। अनेक इलाज करके उसकी भैंस और पाड़े को बचाया था। इसके अतिरिक्त गाँव के अनेक पशुओं का इलाज करके उन्हें बचाया था। इसलिए लुटेरों का सरदार बोला—"डॉक्टर साहब! आप तो हमारे महान् उपकारी हैं। मेरी भैंस और उसके बच्चे को आपने खूब अच्छी तरह बचाया है। आपका वह उपकार हम भूले नहीं है। अब तो आपका वाल भी वांका नहीं होने देंगे। आज हमसे बहुत बड़ी भूल हो गई है। हमें पता नहीं था कि यह आपकी कार है तथा इसमें आपकी धर्मपत्नी तथा बच्चे हैं। हमें माफ करो।" यों कहकर जो गहने और रुपये लिये थे, वे सब वापस दे दिये। गाड़ी को धक्का मारकर गाँव में ले गए। वहाँ डॉक्टर का खूब स्वागत किया। लुटेरों ने अन्त में कहा—"यदि हम उपकारी के गुण को भूल जाएँ तो हमें नरक में जाना पड़े।"

वन्धुओ! चोर-लुटेरों में भी कितनी कृतज्ञता होती है, वे भी कृतघ्नता से डरते हैं।

एक अमेरिकन मासिकपत्र में एक फ्रेंच सैनिक ने अपनी आपवीती लिखी थी कि एक वार हम मित्रराज्यों के सैनिक नाजियों के हाथ में पड़ गये। हमें अंधेरी और संकड़ी कोठरी में डाल दिया। खूब यातनाएँ दीं और क्रमशः सबको घसीटकर ले जाते और पूछने पर अपने राज्य का भेद न वताने पर गोली से उड़ा देते। अन्त में मेरा नम्बर आया। मुझे भी यातना देकर पूछताछ की। मैंने बताया कि जर्मनी तथा फ्रांस की सीमा पर एक छोटे-से गाँव में मेरा जन्म हुआ। मेरी बूढ़ी दादी ने मुझे पाला-पोसा। मेरे पड़ौस में जोन स्टोपल नामक एक शराबी रहता था। उसके जोसेफ स्टोपल नाम का एक लड़का था। जोन शराब पीकर अपने स्त्री-वच्चे को

बहुत मारता, उस समय मेरी दादी जोसेफ पर दया करके अपने घर ले आती, खिला-पिलाकर रखती। एक बार जोन ने अपनी पत्नी को इतना पीटा कि वह बेभान होकर मर गई। एक बार जोन स्टोपल ने जोसेफ को खूब मारा, जिससे वह घर छोड़कर भाग गया। उसका पता न लगा। उसके वियोग में जोन बहुत विलाप करता-करता मर गया।" यह सुनते ही वह नाजी अफसर मुझे झाड़ी में ले गया और मुझे धीरे से कहा—"मैं ही जोसेफ स्टोपेल हूँ। तेरी वृद्ध दादी के मेरे पर बहुत उपकार हैं, इसलिए मैं तुम्हें जिन्दा छोड़ देता हूँ। इस झाड़ी के दाहिनी ओर की पगडण्डी से चला जा।"

इस प्रकार एक क्रूरता की प्रतिमूर्ति नाजी अफसर ने भी एक कैदी की दादी के द्वारा किये गये उपकारों को स्मरण करके कृतज्ञता का परिचय दिया, तब क्या समझदार मानव को कृतज्ञता के बदले कृतघ्नता का परिचय देना चाहिए? हर्गिज नहीं।

मिट्टी वनस्पति आदि भी कृतघ्न नहीं

बन्धुओ! और तो और, वनस्पति, पृथ्वी, जल आदि एकेन्द्रिय भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

गुलिश्तां बोस्तां में शेखशादी लिखते हैं—"एक बार एक मिट्टी का ढेला हाथ में लिया तो उसमें से बढ़िया महक उठ रही थी। तब मैंने उस मिट्टी के ढेले से पूछा तुझमें इतनी सुगन्ध कहाँ से आई?" उसने कहा—"यह सुगन्ध मेरी अपनी नहीं है। मैं गुलाब की क्यारी में रही हूँ, उसी ने मुझे सुगन्धि देकर मेरे पर उपकार किया है।" इसी का नाम है—कृतज्ञता।

मिट्टी ने अपनी सुगन्ध न बताकर गुलाब की सुगन्ध बताई। उपकारी के इस प्रकार गुणगान करना, उसके उपकार को भुलाना या छिपाना नहीं, बल्कि समय आने पर उस उपकार का बदला चुकाना, यही कृतज्ञता का लक्षण है।

वनस्पति के द्वारा प्रत्युपकार की कथा भी सुनिये! ये सब पेड़, पौधे, फल, फूल आदि मनुष्यों द्वारा पानी सींचे जाने, खाद दिये जाने, बीज बोये जाने तथा रखवाली किये जाने के कारण अपने पर कृत उपकार का बदला अपनी छाया, फल, फूल आदि देकर चुकाते हैं। देखिये अभिज्ञान शाकुन्तल में नारियल की कृतज्ञता का नमूना—

> प्रथमवयसि पीतं तोयमल्पं स्मरन्तः,
> शिरसि निहितभारा नारिकेला नराणाम्।
> उदकममृततुल्यं दद्युराजीवनान्तम्,
> न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥

बचपन में जब छोटा-सा पौधा था, तब पिये हुए थोड़े-से पानी का स्मरण करते हुए नारियल के पेड़ जीवनभर अपने सिर पर फलों का बोझ धारण किये रहते

हैं, और मनुष्यों को अमृत तुल्य जल देते रहते हैं, क्योंकि सज्जन अपने किये हुए उपकार को कभी नहीं भूलते।

जब मिट्टी, वनस्पति, हवा, आकाश, जल आदि मनुष्य पर अगणित उपकार करते रहते हैं, तब मनुष्य ही क्यों कृतघ्न बनकर उपकार करने से विमुख होता रहता है? यही कारण है कि पण्डितराज जगन्नाथ एक अन्योक्ति द्वारा मनुष्य को कृतज्ञ बनने और कृतघ्नता छोड़ने की प्रेरणा देते हैं—

भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता-
न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि।
रे राजहंस! वद तस्य सरोवरस्य,
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः?

एक राजहंस से कवि कहता है—"अरे राजहंस! जिस सरोवर में रहकर तूने उसका पानी पीया था, उसके कमलों तथा कमल की डंडियों का सेवन किया था, बता, कौन-सा कार्य करके उस सरोवर के उपकार से उऋण होगा?"

वास्तव में कृतज्ञ बनने की कितनी अद्भुत प्रेरणा है।

कृतघ्न बनने से क्या हानि, कृतज्ञ बनने से क्या लाभ?

इन सब कारणकलापों को देखते हुए मनुष्य को कृतज्ञ बनने की प्रेरणा मिलती है, किन्तु सवाल यह उठता है कि मनुष्य अगर कृतघ्न बना रहे या कृतघ्नता ही प्रकट करता रहे तो क्या हानि है? बल्कि कृतज्ञता प्रकट करने के लिए जो समय, शक्ति और धन खर्च करना पड़ता है, वह बच ही जाता है।

परन्तु यह तर्क निष्प्राण है। कृतघ्न बने रहने से दिखता है कि समय की बचत हो जाएगी, धन बचेगा, शक्ति का व्यय नहीं करना होगा, किन्तु यह भ्रान्ति है। दीर्घकाल की जीवन-यात्रा में कई ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं, जबकि दूसरों से उपकार लेकर उपकृत होना अनिवार्य हो जाता है। यों तो जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त असंख्य प्राणियों का उपकार हम जाने-अनजाने ले रहे हैं, भले ही वे बिना किसी प्रत्युपकार की आशा से हमारे प्रति उपकार करते हों, चाहे वे हमें अपनी सेवाएँ फ्री देते हों, बदले में कुछ न लेते हों, परन्तु हमें तो उन प्राणियों या मानवों के उपकारों का बदला अवश्य चुकाना चाहिए, अन्यथा वह ऋण हम पर चढ़ा रहेगा, वह हमारी नमकहरामी होगी।

कृतघ्न बनने से सबसे पहली हानि यह है कि उस कृतघ्न के जीवन में तो परोपकार की वृत्ति रुक ही जाती है, उसके कृतघ्न बन जाने से जो लोग परोपकार करते हैं, वे भी यह सोचकर रुक जाते हैं कि पता नहीं, जिनका हम उपकार करते हैं, वे हमारे प्रति कृतज्ञता प्रगट करेंगे या नहीं? इस प्रकार परोपकार की परम्परा समाप्त हो जाती है। समाज में हर एक व्यक्ति जरूरतमंद कृतज्ञ सज्जन को भी दुःख

से पीड़ित देखकर शंका की दृष्टि से देखने लगता है। एक पाश्चात्य विचारक पब्लियस सीरस (Publius Syrus) भी इन्हीं विचारों का समर्थन करता है—

"One ungrateful man does an injury to all who stand in need of aid."

"एक कृतघ्न व्यक्ति उन सबको हानि पहुँचाता है, जो किसी सहायता की आशा से खड़े हैं।"

वास्तव में कृतघ्न को देखकर परोपकारी व्यक्ति का दूसरों के प्रति भी परोपकार करने का उत्साह नष्ट हो जाता है । वह सोचने लगता है कि इसका मैंने उपकार किया, लेकिन इसने मेरा अहसान मानने के बदले नीच बनकर कृतघ्नता धारण कर ली, सम्भव है, दूसरे भी ऐसे ही निकलें, क्यों व्यर्थ ही अपना समय, श्रम और शक्ति व्यय करूँ ! सचमुच ऐसे कृतघ्न परोपकार-पथ के डाकू हैं, जिनके कारण सब पर से विश्वास उठ जाता है।

कृतघ्न बन जाने से दूसरी हानि यह है कि उस कृतघ्न का चेप दूसरे को लगता है। उसकी उक्त कृतघ्नता देखकर वह अकसर यह सोचने लगता है कि जब यह कृतज्ञता नहीं दिखलाता तो मुझे उसका उपकार क्यों करना चाहिए ? मुझे उसे कुछ क्यों देना चाहिए ? वर्तमान युग में समाज में प्रायः इसी प्रकार की प्रणाली चल रही है, लोग दान या परोपकार के बदले में सर्वप्रथम धन्यवाद ही नहीं, सम्मान, अभिनन्दन, प्रतिष्ठा और यशःकीर्ति भी चाहते हैं।

वास्तव में ऐसा करना सौदेबाजी है और इससे व्यक्ति में दूसरों के प्रति मैत्री और बन्धुत्व की भावना का ह्रास होता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक सेनेका (Seneca) तो इस बारे में स्पष्ट कहता है—

"It is another's fault if he be ungrateful, but it is mine if I do not give. To find one thankful man I will oblige a great many that are not so."

'यह दूसरे की गलती है कि वह अकृतज्ञ (कृतघ्न) होता है, किन्तु यह तो मेरी गलती है कि मैं दूसरे को नहीं देता, इसका मतलब है, एक कृतज्ञ मनुष्य को पाने के लिए मैं उन बहुत-से लोगों को बाध्य कर दूंगा, जो वैसे नहीं है।'

कृतघ्न बन जाने पर मनुष्य सामाजिक या धार्मिक नहीं रहता, क्योंकि समाज और धर्म के प्रति उसके मन में घृणा पैदा हो जाती है। वह अपने समाज, धर्म और राष्ट्र के द्वारा किये गये उपकारों को भुला देता है और इनके प्रति द्रोह करने लगता है, इनके प्रति विद्रोही एवं प्रतिक्रियावादी बन जाता है। इससे उसकी व्यावहारिक क्षति तो है ही, आध्यात्मिक क्षति भी कम नहीं होती। उसकी आत्मा में उदारता, परमार्थ, मैत्री, विश्वबन्धुता, आत्मौपम्य, एवं आत्मा के अहिंसा, सत्य आदि सद्‌गुणों का विकास अवरुद्ध हो जाता है।

कृतघ्न बनने से तीसरी क्षति यह है कि वह अभिमान में आकर अपने आपको ही सब कुछ तथा सर्वज्ञानी समझ बैठता है। गोशालक में जब कृतघ्नता आ गई थी, तब वह भगवान महावीर जैसे परमोपकारी द्वारा किये गये उपकारों को भूल गया, उलटे उन पर ही तेजोलेश्या छोड़कर उनका अपकार करने पर तुल गया, उनके दो शिष्यों को उसने तेजोलेश्या के प्रयोग से मार डाला था। इतना ही नहीं, अहंकार में आकर अपने आपको सर्वज्ञ और तीर्थंकर कहना और श्रमण भगवान महावीर की जगह-जगह निन्दा करना शुरू कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि गोशालक भगवान महावीर से कुछ भी नवीन ज्ञान उपार्जित न कर सका, उसका विकास वहीं ठप्प हो गया। जिसका अन्तिम समय में उसे अवश्य पश्चात्ताप हुआ, उसने भगवान महावीर के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करके आत्मालोचन किया और अपना जीवन सुधार लिया।

निष्कर्ष यह है कि कृतघ्न व्यक्ति अहंकार से ग्रस्त होकर किसी भी योग्य, उपकारी व्यक्ति से कुछ भी नहीं सीख पाता, उसकी प्रगति वहीं ठप्प हो जाती है।

कृतघ्न बनने पर कोई भी व्यक्ति सहसा उसका उपकार करने को तैयार नहीं होता। एक पाश्चात्य विद्वान् टिमोथी डेक्सटर (Timothy Dexter) के शब्दों में कृतघ्न के प्रति जनता की भावना का चित्रण देखिये—

"An ungrateful man like a hog under a tree eating acorns, but never looking up to see where they come from."

"कृतघ्न मनुष्य एक सुअर के समान है, जो एक पेड़ के नीचे फल खाता रहता है, लेकिन कभी ऊपर मुँह उठाकर नहीं देखता कि ये फल कहाँ से आते हैं?"

कृतघ्न एक प्रकार से मुफ्तखोर है, जो बिना ही कुछ बदला चुकाये मुफ्त में दूसरों के उपकार पर गुलछर्रे उड़ाता है। इसीलिए वह दूसरों की सहानुभूति खो देता है।

अकृतज्ञ पुरुष के प्रति किसी के दिल में प्रेम नहीं उमड़ता। संकट अथवा आफत के समय वह जब दूसरों के सामने सहायता के लिए हाथ फैलाता है, तब उसे प्रायः कहीं से भी सहायता नहीं मिलती।

कृतघ्न की सबसे बड़ी हानि यह है कि वह अपनी संतान में भी कृतघ्नता के बीज बो देता है। उसकी संतान उसके खुद के प्रति भी कभी कृतज्ञता के दो शब्द, या धन्यवाद प्रगट नहीं करती। वह भी कृतघ्नता के सांचे में ढलकर तैयार होती है। कृतघ्न बहुत चाहता है कि मेरी संतान मेरे प्रति एहसानमंद हो, वफादार हो, नमकहलाल हो, तथा कृतज्ञता प्रगट करे, किन्तु उसे कभी कृतज्ञता के मधुर शब्द सुनने को नहीं मिलते। फिर कृतघ्नता के साँचे में ढली हुई वह संतति दूसरों के साथ भी कृतघ्नता का व्यवहार करती है, सबकी सहानुभूति खो बैठती है।

इसलिए कृतघ्न बनना घाटे का सौदा है, कृतज्ञ बनकर मनुष्य जितना कुछ

धन, समय, श्रम व्यय करता है, उससे कई गुना तो वह पहले ही पा लेता है, और बाद में भी पाने का सिलसिला जारी रहता है। कृतघ्न बनकर तो व्यक्ति अपने सिर पर ऋण चढ़ा लेता है, जबकि कृतज्ञ बनकर वह उस ऋण को सहर्ष चुका देता है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति की कृतघ्नता से सारे राष्ट्र को हानि पहुँचती है, अथवा एक व्यक्ति अगर अपने गाँव के द्वारा प्राप्त उपकारों का स्मरण करके संकट के समय गाँव को सहायता नहीं पहुँचाता है तो वह अपना जीवन तो खतरे में डालता ही है, सारे गाँव के जीवन को खतरे में डाल देता है, जिसे वह थोड़ा-सा स्वार्थ त्याग करके बचा सकता था और गाँव के ऋण से कुछ अंशों में मुक्त हो सकता था, साथ ही गाँव के लोगों की सद्भावना जीत सकता था।

भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ें ईस्ट इंडिया कम्पनी के स्थापित होने से ही जमने लगी थीं। किन्तु भारत के कुछ गद्दार और कृतघ्न ऐसे लोग निकले, जिन्होंने अपने लोभ और स्वार्थ में आकर अपने देशवासियों का गला कटाया, अपने राष्ट्र को पराधीनता की जंजीरों से जकड़ने में सहायता दी, अपने देश का अहित कराया। उनमें से बंगाल का सेठ अमीचंद भी एक था, जिसने ईस्ट इंडिया कम्पनी के जरिये अपना व्यापार चलाया और अंग्रेजों को सहायता देकर भारत का अनिष्ट कराया। अगर वह कृतघ्न न होता तो कदापि अपने राष्ट्र का भेद विदेशियों को नहीं बताता। दूसरा कृतघ्न हुआ राजा जयचंद, जिसने शहाबुद्दीन गौरी को आमंत्रित करके भारत में मुस्लिम राज्य की जड़ें जमाने में मदद की।

परन्तु गाँव के एक व्यापारी ने गाँव पर आए हुए संकट के समय अपने उपकारी गाँव के प्रति कृतघ्न न बनकर कृतज्ञता का परिचय दिया।

कुछ वर्षों पहले की घटना है। उस वर्ष भीषण दुष्काल था। वर्षा न होने से सर्वत्र अन्न का अभाव हो रहा था। गर्मी का मौसम आते ही देहातों में चोरी और लूटपाट के उपद्रव होने लगे। आसपास के गाँवों के भूखे लोग जो भी हाथ में आता उठा ले जाते थे। देहातों में सभी लोग भयत्रस्त थे। एक छोटे-से गाँव में एक वृद्ध व्यापारी था, बड़ा दूरदर्शी, बुद्धिमान, समयपारखी और प्रतिष्ठित। गाँव में व्यापार से उसने अच्छा पैसा भी कमाया था और सम्मान भी। उसने दुष्काल में उपभोग के लिए कुछ अन्न भी संग्रह कर रखा था। उसने चारों ओर की परिस्थिति को देखकर समझ लिया कि ऐसी भुखमरी के समय अपनी इज्जत बचाना आसान नहीं है। अतः उसने अपने परिवार के सदस्यों को एकत्र करके स्पष्ट कह दिया—"देखो, हमने इस गाँव का अन्नपानी खाया है, यहाँ की भूमि का हम पर महान् उपकार है। इस समय इस गाँव तथा आसपास के गाँवों पर भीषण दुष्काल संकट है। अगर ऐसे समय में हम अपना एकान्त स्वार्थ सोचकर अपनी सम्पत्ति एवं साधन बचाने में लगे रहेंगे तो हमारा जीवन खतरे में पड़ जाएगा। इसलिए इस समय अपने स्वार्थ को गौण करके

हमे अपनी सम्पत्ति एवं साधनों को मुक्तभाव से गाँव के दुष्काल-पीड़ितों को देकर गाँव के ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करना चाहिए।"

एक सदस्य ने प्रश्न किया—"सभी साधन दे देंगे तो हमारा परिवार कैसे जिंदा रहेगा ?"

वृद्ध पिता ने कहा—"अगर हम गाँव के लोगों को जिंदा रखेंगे तो हम भी जिंदा रह सकेंगे, अन्यथा सब कुछ गँवाने की नौबत आजाएगी।" परिवार के सभी लोगों को यह निश्चय ठीक लगा। उसी शाम को वृद्ध व्यापारी ने ग्रामवासियों को एकत्रित किया और कहा—"इस समय गाँव-गाँव में भुखमरी, चोरी और लूटपाट हो रही है। हमारा गाँव भी उन अनर्थों से बच नहीं सकता। अभी हमें चार मास निकालने हैं। अगर अगले वर्ष अच्छी वर्षा हुई तो हम सब बच जाएँगे। मैं गाँव का अन्नपानी खाकर ही बड़ा हुआ हूँ। इसलिए कृतज्ञता के नाते मैं इन चार महीनों को सुख से व्यतीत करने हेतु आप सब सहमत हों तो एक उपाय बताऊँ।"

सबने एक स्वर से कहा—"सेठ साहब ! आप जो कुछ कहेंगे, हमें मंजूर होगा। हम लोग दुष्काल से तंग आगए हैं। आप तो हमारे माता-पिता हैं। गाँव के प्रति आपकी हितबुद्धि और शुभाकांक्षा है।"

व्यापारी ने कहा—"तो सुनो, मेरे पास एक हजार मन अनाज भरा हुआ है। अपने परिवार के निर्वाह के लिए मुझे सिर्फ ६० मन अनाज चाहिए। अगले वर्ष सारे गाँव के किसानों की बुवाई के लिए २०० मन अनाज बीज के रूप में सुरक्षित रख लेते हैं। बाकी का सारा अनाज आप सब लोग आपस में बाँट लीजिए। ध्यान रहे, आपको चार महीने इसी अनाज से चलाने हैं। चार महीने सब जी जाएँगे। बाद में वर्षा हुई तो आनन्द हो जाएगा।"

गाँव के सब लोगों ने बड़ी प्रसन्नता से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस प्रकार गाँव के लोगों में अन्न-वितरण से गाँव में शान्ति स्थापित होगई, वृद्ध व्यापारी का गाँव के प्रति जो ऋण था, वह भी कुछ अंशों में उतरा। दु:ख के चार मास आनन्द से कट गए। बाहर और अन्दर का खतरा भी न रहा। सबको खाने के लिए अनाज मिल गया।

बन्धुओ ! यह है, गाँव के प्रति एक व्यापारी की कृतज्ञता का ज्वलन्त उदाहरण ! अगर वह व्यापारी गाँव के प्रति कृतघ्नता का परिचय देता तो उसके परिवार की तथा गाँव की क्या हालत होती ? यह आप स्वयं समझ सकते हैं।

कई बार किसी कारखाने या मिल के मजदूरों में अपने कारखाने या मिल के प्रति कृतज्ञता की भावना नहीं होती, तब क्या नतीजा होता है ? उस मिल में हड़ताल, बंद या तोड़फोड़ के कारण उत्पादन ठप्प हो जाता है, आय नहीं होती तो आखिर उसे बंद करना पड़ता है। बताइए मिल या कारखाने के बंद हो जाने पर उससे मजदूरों की जो रोजी चलती थी, वह तो बन्द हो ही जाती है न ? आजकल राज-

नीतिक लोगों के चक्कर में आकर मजदूर लोग भी अपने कारखाने या मिल के प्रति नमकहराम, गैरवफादार एवं कृतघ्न होकर उसका कार्य ठप्प करा देते हैं; जिसका भयंकर परिणाम भी उन मजदूरों को भोगना पड़ता है। परन्तु जो कृतज्ञ मजदूर होते हैं, वे ऐसा नहीं करते, बल्कि किसी कारणवश मिल बंद होने जारही हो तो वे स्वयं अपना आत्मभोग देकर उसे बन्द होने से रोक देते हैं।

सन् १९३० की मंदी में इंग्लैण्ड की एक पुरानी मिल घाटे में चली गई। स्टॉक का मूल्य कम रह गया और बिक्री घट गई। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि मिल को बन्द करने के सिवाय कोई चारा न रहा। वहाँ के मालिक-मजदूरों में मुद्दतों से स्नेह सम्बन्ध चला आ रहा था। वस्तुस्थिति की सूचना देने के लिए एक दिन मालिक ने मजदूरों को बुलाकर प्रेम से कहा—"बन्धुओ ! घाटा अब इतना अधिक बढ़ गया है कि मिल अब दिवालिया घोषित होने जारही है। हमारी और आपकी लम्बी मित्रता का अन्त होने में अब एक सप्ताह से अधिक समय नहीं रह गया है।" मजदूर भारी मन से यह सुनकर यह कहते हुए चले गए—"हमने मिल का नमक खाया है, हम अपना सर्वस्व देकर भी मिल को बन्द होने से बचाएँगे।" दूसरे दिन जब मजदूर आए तो अपने-अपने काम पर जाने की अपेक्षा वे मालिक के दफ्तर पर लाइन से खड़े होगए। उनमें से प्रत्येक एक-एक करके दफ्तर में घुसा और अपनी-अपनी पासबुक के साथ चुकती पावती की रसीद मालिक की मेज पर रखता चला गया। प्रत्येक ने कहा—"हमारे पास जो भी जमा पूंजी है, उसे आप निकाल लें और घाटे की पूर्ति में लगा दें; और मिल को चालू रखने का अयत्न करें। यदि मिल और आप डूबने जारहे हैं तो हम कम से कम अपनी जमापूंजी तो साथ में डुबा ही सकते हैं।" उन हजारों पासबुकों को लेकर मालिक बैंक में गया। यद्यपि बैंक आगे से नया उधार देने से स्पष्ट इन्कार कर चुका था; तथापि इतनी सारी पासबुकों को देखकर बैंक मैनेजर अचकचाए और कुछ सोचने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'जिस मिल के कर्मचारियों और मालिक में इनकी घनिष्ठ आत्मीयता और परस्पर कृतज्ञता का भाव है, उसका भविष्य उज्ज्वल है। ये लोग बुरे दिनों में भी इसी प्रकार मिलजुलकर निपट लेंगे।' अतः उन्होंने मिल को फिर से उधार देने का फैसला कर लिया। फलतः मिल चालू रही और संकट के दिन मजदूरों की कृतज्ञता के कारण टल गए।

इसलिए जो बाजी कृतघ्नता से बिगड़ सकती थी, वह मजदूरों की कृतज्ञता के कारण एक दफे सुधर गई।

कहाँ कृतज्ञता दिखाई जाए ? कहाँ कृतघ्नता से बचा जाए ?

अब प्रश्न होता है कि कृतज्ञता कहाँ-कहाँ दिखलाई जाए और कहाँ-कहाँ कृतघ्नता न दिखाई जाए ? यानी कृतज्ञता के कौन-कौन से क्षेत्र हैं और कृतघ्नता से बचने के कौन-कौन से ? सच बात यह है कि जितने क्षेत्र कृतज्ञता के हैं, उतने ही

क्षेत्र कृतघ्नता के हो सकते हैं, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधीभाव हैं। इसलिए जिन क्षेत्रों में कृतज्ञता प्रकट करनी है, उन्हीं क्षेत्रों में कृतघ्नता से बचना है। यों तो मनुष्य को जन्म से लेकर मृत्यु तक जितने और जिन-जिन प्राणियों से वास्ता पड़ता है, जिन-जिन प्राणियों से सहयोग लेना पड़ता है, या जिन-जिनके उपकार से से वह उपकृत होता है, उन सबके प्रति कृतज्ञ होना, कृतज्ञता प्रगट करना अत्यावश्यक है।

मैंने एक दिन कहा था कि धर्माचरण करने वाले साधक के लिए ५ आलम्बन स्थान होते हैं—

षट्काय, गण (संघ), राजा (शासन), गृहपति और शरीर।[1]

इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक धर्मिष्ठ मानव को प्राणिमात्र से वास्ता पड़ता है और जन्म से लेकर मृत्यु तक अगणित उपकारों से उपकृत होता रहता है। इसलिए संसार के समस्त प्राणी कृतज्ञता के पात्र हैं, न जाने कब किस प्राणी से और कब किस व्यक्ति से मानव को सहायता लेनी पड़ जाए। बहुत-सी बार एक तुच्छ समझा जाने वाला प्राणी भी मनुष्य पर महान् उपकार कर बैठता है, उसके उपकार का बदला चुकाना आवश्यक है। बर्ट्रेण्ड रसैल ने एक पुस्तक लिखी है—'**द वर्ल्ड, एज आई सी इट**' उसमें उसने बताया है कि "संसार के प्राणियों पर जब मैं दृष्टिपात करता हूँ, तब ऐसा मालूम होता है, मेरे इस शरीर और जीवन के निर्माण में अगणित प्राणियों का उपकार है।" जैनशास्त्र भी यही बात कहते हैं, यहाँ तक कि वे इस जड़ शरीर (जिसमें इन्द्रियाँ, शरीर के अवयव एवं मन आदि भी आजाते हैं) का भी उपकार बताते हैं, जिसके सहारे के बिना धर्माचरण नहीं किया जा सकता। इन उपकारों का बदला चुकाना और इनके प्रति कृतघ्नता से बचना अत्यावश्यक है। इसी प्रकार ग्राम, नगर, राष्ट्र, संघ (धर्मसंघ), शासन, परिवार आदि का भी बहुत उपकार है, जिनके कारण मनुष्य की सुरक्षा, जीविका, जीवन-निर्माण और जीवन का विकास हुआ है।

वर्तमानकाल का मानव इनके उपकारों को भूलकर अपने अभिमान में छका रहता है। मानव के पालन-पोषण में माता-पिता तथा परिवार का, सुरक्षा में शासन का, आध्यात्मिक विकास में धर्मसंघ, धर्मगुरु आदि का तथा ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल आदि एवं जीविका के क्षेत्र में प्रगति के लिए ग्राम, नगर या राष्ट्र का उपकार है, उसका भी उसे भान रहना चाहिए, और इनके प्रति कृतघ्नता से बचना चाहिए। इन उपकारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए।

कृतज्ञता भारतवासियों की विभूति है। वेदों में बड़ी-बड़ी लोकोपकारी शक्तियों

---

१ **"धम्मं चरमाणस्स पंच निस्साठाणा पण्णत्ता, तं जहा—छक्काए, गणे, राया, गिहवई, सरीरं।"** —स्थानांगसूत्र, स्थान ५ सू०, ४४७

(अग्नि, इन्द्र, वरुण, यम, भूमि, गो आदि) के साथ-साथ मेंढक तक की स्तुति मिलती है, जो बोलकर वर्षा के आगमन की सूचना देता है, जो कृषकों के लिए कृषि-सहायक है। इसी प्रकार छोटे-छोटे जंगलों (अरण्यानी) की भी स्तुति (प्रशंसा) की गई है, जिनके कारण जनता को खाने के लिए फल एवं अन्न मिलता है, वनस्पति, सुगन्धि और ईंधन आदि भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार कृतज्ञता की भावनाओं से परस्पर आत्मीयता बढ़ती है, स्वभाव में कोमलता आती है, नम्रता की भावना भी रहती है। एक-दूसरे के गुणों का स्मरण करके कृतज्ञ लोग उन गुणों को स्वयं धारण करते हैं, जबकि कृतघ्नता की प्रतिमूर्ति इन सब गुणों से वंचित रहता है। वाल्मीकि रामायण में श्रीराम की कृतज्ञता की भावनाओं का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि राम मन पर नियन्त्रण रखने के कारण दूसरों द्वारा सैकड़ों अपराधों को भुला देते हैं लेकिन यदि कोई उनके साथ एक बार भी किसी प्रकार का उपकार कर दे तो उसी से सदा सन्तुष्ट रहते हैं, वे उसे नित्य स्मरण रखते हैं।[1]

वास्तव में जो दूसरों के प्रति कृतज्ञ रहता है, वह सदा प्रसन्न रहता है। पाश्चात्य विचारक सेक्कर (Secker) भी इन्हीं विचारों का समर्थन करता है—

"He enjoys much, who is thankful for little; a grateful mind is both a great and a happy mind."

'जो जरा-से उपकार के लिए कृतज्ञ रहता है, वह महान् प्रसन्नता का अनुभव करता है, क्योंकि कृतज्ञतापूर्ण मानस महान् और प्रसन्न मानस होता है।'

मानव पर तीन के ऋण दुष्प्रतीकार्य

जैसा कि मैंने पहले कहा था, यों तो प्राणिमात्र के उपकारों से मनुष्य उपकृत होता है और उसे उन उपकारों का बदला चुकाना चाहिए; लेकिन जैनशास्त्र स्थानांग सूत्र में तीन विशेष उपकारियों के मानव पर बहुत बड़े और दुष्प्रतीकार्य (बड़ी कठिनता से उऋण हो सकें ऐसे) ऋण बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

"तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो! तं जहा—अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स।"

भगवान् ने कहा—आयुष्मान् श्रमणो! तीन का ऋण दुष्प्रतीकार्य है, यानी उनसे उऋण होना दुःशक्य है—(१) माता-पिता का (२) भर्ता—पालन-पोषण करने या आजीविका देने वाले का एवं (३) धर्माचार्य का।

पहला ऋण सन्तान पर माता-पिता का है, जो उसका बड़े कष्ट से पालन-

---

१ देखिए वाल्मीकि रामायण में—

न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।
कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति॥

पोषण करके उस पर महान् उपकार करते हैं। श्रवणकुमार की तरह माता-पिता की आजीवन सेवा करने पर भी उनके ऋण से उऋण होना दुष्कर होता है। दूसरा ऋण उस स्वामी या सेठ का है, जिसने अपने मुनीम-गुमाश्ते या कर्मचारी को आजीविका देकर पाल-पोसकर बड़ा किया, योग्य, सम्पन्न और कार्यदक्ष बनाया। और तीसरा दुष्प्रतीकार्य ऋण है—धर्माचार्य या गुरुजन का, जो व्यक्ति को ज्ञान, दर्शन, और चारित्र से सम्पन्न करके उसका जीवन-निर्माण करते हैं। अधर्म से बचाकर धार्मिक पथ पर प्रेरित करते हैं। वह साधक उनकी श्रद्धाभक्ति एवं आदरपूर्वक सेवा करता हुआ भी सहसा उनके ऋण से उऋण नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह है कि इन तीनों के असंख्य उपकार मनुष्य पर हैं। उन उपकारों का बदला चुकाना बड़ा ही कठिन होता है।

राजस्थान का प्रसिद्ध सटोरिया श्री गोविन्दराम सेक्सरिया जब पहले पहल वम्बई गया तो उसे एक धर्मशाला के ट्रस्टी ने आठ आने रोज पर रख लिया, किन्तु लिखना-पढ़ना न आने के कारण आठ आने देकर विदा किया, किन्तु उसकी दयनीय दशा पर ध्यान देकर सेठ ने उसे एक रुपया दिया। इस रुपये से उसने दस दिन काम चलाया। ग्यारहवें दिन सट्टा बाजार में एक सेठ के यहाँ कागज-पत्र पहुँचाने के काम पर रह गया। कुछ ही वर्षों में वह वहुत बड़ा सटोरिया बन गया और सफल व्यापारी भी। एक बार किसी सार्वजनिक संस्था के लिए सहायता लेने एक युवक आया, संस्था का नाम बताया तो तुरन्त एक लाख रुपये दे दिये। उस युवक ने अपने पिता से कहा तो दूसरे दिन पिता-पुत्र दोनों उसकी दूकान पर आए तो उन्हें एक लाख रुपये और दे दिये। जव उक्त सेठ ने उस व्यापारी को मानपत्र देने, उसका भाषण कराने का कहा तो उसने निःस्पृहता से इन्कार करते हुए कहा—"सेठ साहब ! यह सब करने की जरूरत नहीं है। मैंने तो कुछ किया नहीं है, सिर्फ आपके महान् उपकार का बदला चुकाया है।" यों कहकर उस व्यापारी ने अपनी पहले की रामकहानी सुनाई, जिसमें उनके द्वारा अत्यन्त विपन्न एवं असहाय अवस्था में की गई डेढ़ रुपये की सहायता का वर्णन था। इतना ही नहीं, उसने अपने नाम की तख्ती लगवाने से भी इन्कार कर दिया।

यह तो हुआ सेठ के सामान्य उपकार का वदला चुकाने का उदाहरण ! कई लोग किसी व्यक्ति को अत्यन्त गरीवी अवस्था में अपने पुत्र की तरह पाल-पोसकर बड़ा करते हैं। उनके उन महान् उपकारों का वदला भी कई भाग्यशाली कृतज्ञतावश चुकाते हैं।

एक गाँव में एक वार भयंकर दुष्काल पड़ा। गाँव के महाजन गाँव छोड़कर परदेश जाने को तैयार हुए। वणिक का छह-सात वर्ष का एक छोटा-सा अनाथ वच्चा था, जिसके माता-पिता मर चुके थे, उसे भी उन्होंने साथ ले लिया। लेकिन वच्चा खाने को पूरा न मिलने से रोता चिल्लाता और मचल जाता। अतः तंग आकर उन महाजनों ने इस लड़के को एक शहर में वहाँ के प्रमुख परोपकारी व्यापारी को सौंप

गई। कुछ ही दिनों बाद अहमद ने अपनी परमोपकारिणी माता के लिए ५०० रुपये भेजे। एक पत्र में अपना परिचय तथा यह धनराशि स्वीकार करने का आग्रहपूर्वक लिखा। अहमद के अनुरोध को ग्वालिन माता टाल न सकी। इस प्रकार दूध का बदला चुकाया।

हाँ, तो कृतज्ञता से इन दुष्प्रतीकार्य ऋणों को उतारने का प्रयत्न करना चाहिए, कम से कम इन दुष्प्रतीकार्य ऋण वालों के प्रति कृतघ्नता से बचना चाहिए।

मित्र कौन ? वे कृतघ्न को क्यों छोड़ देते हैं ?

महर्षि गौतम ने कृतघ्नजीवन को इसलिए निकृष्ट बताया है कि कृतघ्न को उसके मित्र छोड़ देते हैं। मित्र का मतलब यहाँ केवल दोस्त ही नहीं है; अपितु माता-पिता, हितैषीजन, उपकारी पुरुष, गुरुजन एवं विश्वस्त जन सभी उसके मित्र हैं। वे कृतघ्न व्यक्ति की कृतघ्नता देखकर उसे छोड़ देते हैं, उसका साथ नहीं देते, उसके ऊपर संकट आया जानकर किनाराकसी कर जाते हैं। कृतघ्न आदमी के साथ हितैषी और उपकारी सज्जनों की मैत्री टिक नहीं सकती। क्योंकि मैत्री का तकाजा है कि अपने पर किसी ने जरा भी उपकार किया हो तो तुरंत उसका प्रत्युपकार करके उस उपकार का बदला चुका दो। अपने पर संकट के समय तो व्यक्ति दूसरों को अपना मित्र बनाकर उनसे चिकनी-चुपड़ी बातें करके कोई सहायता ले ले और जब उन पर कोई संकट आ पड़े तब दूर से ही किनाराकसी कर ले, वे आशा लगाकर प्रतीक्षा में बैठे ही रहें, लेकिन कृतघ्न व्यक्ति उसके उपकारों को भूलकर या याद होते हुए भी जानबूझकर आँख मिचौनी कर ले, तब भला मैत्री कैसे रह सकती है ? एक कवि ने दाँत और जिह्वा की मैत्री टूटने का कारण बताते हुए कहा है—

> **दन्तान्तःपरिलग्नदुःखदकणा निःसार्यते जिह्वया,**
> **तां हन्तुं सरलां सदोद्यमयुता दन्तास्तु हन्तानुजाः।**
> **आमूला निपतन्ति दुष्टदशना जिह्वा चिरस्थायिनी,**
> **मित्रद्रोहदुरन्तदुष्कृतफलैर्नो मुच्यते कश्चन ॥**

'जब दाँतों के अंदर छोटे-छोटे कण चिपक जाते हैं या फाँस लग जाती है, तब वे बहुत ही खटकते हैं, बेचारी जिह्वा उसे निकाल देती है। किन्तु अनुज (बाद में पैदा हुए) दांत उस सरल जिह्वा को कुचलने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। यही कारण है कि दुष्ट दाँत अपनी कृतघ्नता के कारण जड़ सहित गिर जाते हैं और जीभ चिरस्थायी रहती है। सच है, मित्र के प्रति द्रोह करने के भयंकर पाप के फलों से कोई बच नहीं सकता।'

वास्तव में सच्चा मित्र मित्र के द्वारा किये गए उपकार या दिये गए ऋण को कभी भूलता नहीं है। इसलिए ऐसे सच्चे मित्र एक दूसरे को छोड़ते नहीं, परन्तु जो बनावटी मित्र होते हैं, उन्हें सच्चे मित्र छोड़ देते हैं। एक प्राचीन उदाहरण ले लीजिए—

ब्रह्म काम्पिल्लपुर नगर का राजा था। उसके एक पुत्र था। नाम था—ब्रह्मदत्त, जो आगे चलकर भारत का बारहवाँ चक्रवर्ती सम्राट बना था। जब ब्रह्मदत्त छोटा-सा बालक था, तभी उसके पिता चल बसे थे। ब्रह्मदत्त की माता का नाम चुल्लणी रानी था। ब्रह्मदत्त के पिता ब्रह्मराजा का देहान्त होने पर राज्य संभालने वाला कोई न रहा। ब्रह्मदत्त अभी छोटा ही था। अतः रानी ने ब्रह्मराजा के ४ मित्रों को राज्य संभालने के लिए बुलाया। वे चारों बारी-बारी से आकर राज्य संभाल जाते और मित्र के प्रति अपना कर्तव्य अदा करके चल देते। उन चारों में एक मित्र था दीर्घराज। वह अपने मित्रों के प्रति द्रोह करने लगा, अपने मित्र राजा ब्रह्म की रानी चुल्लणी के साथ दुराचार सेवन करने लगा। दूसरे तीन मित्रराजाओं को इस बात का पता चला कि कृतघ्न दीर्घराज के चुल्लणी रानी के साथ अनुचित सम्बन्ध हैं। अतः उन्होंने दोनों गैर-वफादारों को समझाया, फिर भी उन्होंने अपनी बेवफाई न छोड़ी तो तीनों मित्रराजाओं ने दीर्घराजा की उपेक्षा करके उसे छोड़ दिया। आगे की कहानी लम्बी है। उससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं।

कृतज्ञ मित्रों की मैत्री बढ़ती जाती है, घटती नहीं, क्योंकि वे कभी परस्पर द्रोह या कृतघ्नता नहीं करते।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बड़े उदार और दानी थे। उनकी असीम दानशीलता के कारण वे निर्धन हो गए। इसी निर्धनता के कारण वे पत्रों का जवाब नहीं दे पाते थे, क्योंकि उन पत्रों को बन्द करके भेजने के लिए लिफाफे चाहिए थे, वे उनके पास पैसे के अभाव में नहीं थे। अतः पत्र लिख-लिखकर वे मेज पर रख देते। एक दिन उनके एक मित्र ने मेज पर पत्रों का ढेर देखकर पाँच रुपये के टिकट मंगवाकर वे पत्र पोस्ट करवाए।

कुछ समय बाद भारतेन्दुजी की स्थिति सुधरी। अतः जब उनके मित्र आते, तो वे चुपके से उनकी जेब में ५ रु० का नोट रख देते। पूछने पर कहते—आपने मुझे पांच रुपये ऋण दिये थे, वे हैं। कई दिनों तक यही क्रम चलता रहा। एक दिन उस मित्र ने कहा—"अब मुझे आपके यहां आना बंद करना पड़ेगा।" अश्रुपूर्ण नेत्रों से भारतेन्दुजी बोले—"मित्र ! आपने मुझे ऐसे गाढ़े समय में सहायता दी थी, जिसे मैं जीवनभर नहीं भूल सकता। यदि मैं प्रतिदिन एक पाँच रुपये का नोट देता रहूँ, तो भी आपके ऋण से उऋण नहीं हो सकता।"

बन्धुओ ! ऐसा कृतज्ञ जीवन बनाओ, जिससे आपको संकट के समय अपने हितैषी (मित्र) जनों का सहयोग मिल सके, अगर आपने कृतघ्नता दिखाई तो सभी हितैषी जन आपका साथ छोड़ देंगे, आपका जीवन दुःखी हो जाएगा। इसीलिए गौतम ऋषि का संकेत है—

'चयंति मित्ताणि नरं कयग्घं' ☆

३२
यत्नवान मुनि को तजते पाप : १

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं मुनिजीवन के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर चर्चा करना चाहता हूँ, जिस तत्त्व के अपनाने से, जिसे जीवन में श्वासोच्छ्वास के साथ रमा लेने से मुनिजीवन चमक उठता है, मुनिजीवन में लगे हुए पुराने पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं और नये पाप उसके पास नहीं फटकते, उसके जीवन को देखते ही पाप पलायित हो जाते हैं। वह तत्त्व है—यत्न या यतना। गौतमकुलक का यह अट्ठाइसवाँ जीवनसूत्र है, जिसमें महर्षि गौतम ने बताया है—

"**चयंति पावाइ मुणि जयंतं**"

"यत्नवान मुनि को पाप छोड़ देते हैं।"

यत्नवान के विभिन्न अर्थ

आपके दिमाग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यत्नवान किसे कहते हैं ? जैनशास्त्रों के सिवाय अन्य धर्मग्रन्थों या साहित्य में यत्नवान शब्द का सामान्यतया यही अर्थ समझा जाता है—"जो प्रयत्न करता हो, मेहनत करता हो।"

श्रम, मेहनत या प्रयत्न करने वाले लोग तो दुनिया में पापी, चोर, लुटेरे, हत्यारे, वेश्या, जुआरी, व्यभिचारी आदि बहुत-से हैं ऐसे लोगों का प्रयत्न उन्हें पाप से कभी मुक्त नहीं कर सकता। जब तक वे पापकर्मों को छोड़कर अभीष्ट धर्म की दिशा में प्रयत्न नहीं करते, तब तक उन्हें पाप छोड़ दें, यह तो दरकिनार रहा, उलटे उनके पाप बढ़ते जाते हैं। इसलिए यत्नवान शब्द जैनधर्म का खास पारिभाषिक शब्द है, वह कुछ विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ भी 'जयंतं' शब्द मुनि का विशेषण है, अनुशीलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर इसके ६ अर्थ फलित होते हैं—

(१) यतनाशील—जयणा करने वाला
(२) विवेकशील
(३) सावधानी रखने वाला, अप्रमत्त
(४) जतन (रक्षण) करने वाला
(५) लक्ष्य की दिशा में प्रयत्नशील, पुरुषार्थी
(६) जय पाने वाला

ऐसे यत्नवान मुनि को वास्तव में पाप छोड़ देते हैं, पाप उससे किनाराकसी कर जाते हैं। कैसे छोड़ देते हैं ? और क्यों ? इसी रहस्य को खोलने के लिए मैं आपके समक्ष क्रमशः इन अर्थों पर विवेचन करने का प्रयत्न करूँगा।

गतिशील होना जीवनयात्री के लिए आवश्यक

मनुष्य एक यात्री है। यात्री लोकमार्ग में स्वेच्छा से खड़ा नहीं रह सकता; या तो उसे आगे बढ़ना चाहिए, अन्यथा उसे पीछे हटना होगा। संसार में उसे स्थायी रूप से ठहरने का स्थान कहीं नहीं है। संसार एक सराय है। इस परिवर्तनशील संसार में मनुष्य एक निश्चित समय के लिए आता है और कुछ न कुछ करके चला जाता है। संसार में वह टिकने के लिए नहीं आता। एक उर्दू कवि के शब्दों में कहूँ तो—

'समझे अगर इंसान तो दिनरात सफर है'

विश्वविख्यात उद्योगपति हेनरी फोर्ड ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"जहाँ तक मैं समझता हूँ, जीवन कोई पड़ाव नहीं, बल्कि एक यात्रा है। जो व्यक्ति इस प्रकार का विश्वास करके सन्तोष कर लेता है कि अब मैं ठीक-ठिकाने से जम गया हूँ, उसे किसी अच्छी स्थिति में नहीं मानना चाहिए। ऐसा व्यक्ति सम्भवतः अवगति की ओर जा रहा है।··· गतिशील होना ही जीवन का लक्षण है।" संयमी मुनि के लिए भी यही बात है, उसे भी अपनी जीवनयात्रा अविरल करनी पड़ती है। किसी मार्गदर्शक या सुयोग की प्रतीक्षा में उसे अपनी जीवनयात्रा को स्थगित करने का अधिकार नहीं है। यदि वह आत्मोन्नति करना चाहता है, अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है तो उसे विघ्न-बाधाओं में भी चलना पड़ेगा। चलते रहना ही संयम पथिक के जीवन का मुख्य उद्देश्य है। **'ऐतरेय ब्राह्मण'** में स्पष्ट बताया है—

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे, भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः, श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति चरैवेति॥

"जो चलता है, उसकी जाँघें परिपुष्ट होती है, फल प्राप्ति तक उद्योग करने वाला आत्मा पुरुषार्थी होता है। प्रयत्नशील व्यक्ति के पाप उसके श्रम से भव—मार्ग में ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।"

यह देखा गया है कि अभीष्ट दिशा की ओर चलते रहने से जीवनयात्रा सुगम हो जाती है। उसमें आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियाँ और विघ्न-बाधाएँ अनुकूल होती जाती हैं, और मनुष्य अभ्यास करते-करते कहीं से कहीं पहुँच जाता है अपने लक्ष्य की ओर चलने वाला यात्री स्वस्थ, स्वतन्त्र, स्वावलम्वी एवं शक्तिशाली होता है। सुदूर भविष्य उसकी आँखों में झलकने लगता है, आगे बढ़ने वाले को स्वतः ही महापुरुषों से सहायता मिलती रहती है। ऐसे गतिशील साधक के जीवन से आशा, उमंग और सफलता की धारा प्रवाहित होती रहती है। वह आगे बढ़ता हुआ उन्नति करता दिखाई देता है।

इसके विपरीत जो साधक आलसी और अकर्मण्य बनकर, बैठा रहता है, अथवा जो खा-पीकर निरर्थक सोया रहता है, अजगर की तरह पड़ा रहता है, उसे

शास्त्रकार पापीश्रमण कहते हैं ।[1] उसकी निवृत्ति आलस्यपोषक और पापवर्द्धक होती है, उसकी अपने खाने-पीने या सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने की प्रवृत्ति भी पापपोषक होती है।

जो अभीष्ट लक्ष्य की ओर गतिहीन हो जाता है, वह प्रायः मतिहीन, संकुचित एवं किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाता है। उसके सामने सारा जगत् अन्धकारमय व शून्य प्रतिभासित होता है। उसके अपने ही हाथ-पैर तथा अन्य अवयव अपने ही काम में नहीं आते, दूसरे के क्या काम आयेंगे ? उसकी प्राकृतिक विभूतियाँ, नैसर्गिक शक्तियाँ उसके मिट्टी के शरीर में कंजूस के धन की तरह व्यर्थ गड़ी रहती हैं। उसका विकारग्रस्त एवं भारस्वरूप जीवन शीघ्रता के साथ अशक्त, अक्षम और असमर्थ हो जाता है, उसका विकास कुण्ठित हो जाता है। इसीलिए अथर्ववेद में आगे बढ़ने को जीवन के लिए आवश्यक माना है—

'आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्'

'उन्नत होना और आगे बढ़ना, प्रत्येक जीव का लक्षण है। उसे रुकना नहीं चाहिए। अभीष्ट लक्ष्य की ओर चलते रहना ही जीवन की प्रकृति या सदगति है, रुक जाना ही उसकी विकृति या दुर्गति है।'

साधक का लक्ष्य एकान्त निवृत्ति या प्रवृत्ति नहीं

कुछ लोग कहा करते हैं कि साधकजीवन का लक्ष्य एकान्त निवृत्ति है, इसलिए प्रवृत्ति या कार्य करते रहना या गति करते रहना ठीक नहीं है। लोकव्यवहार में यह माना जाता है कि काम के बाद आराम और आराम के बाद फिर काम जो करता है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक काम कर सकता है, जो निरन्तर काम ही काम करता है, विश्राम बिलकुल नहीं करता। वास्तव में यही प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन है। निवृत्ति भी एक अर्थ में देखा जाए तो प्रवृत्ति ही है। लट्टू जब तेजी से घूमता है, तब ऐसा मालूम होता है, मानो वह स्थिर हो गया हो, वैसे ही निवृत्ति भी अन्दर में अनेक प्रवृत्तियों को जोरशोर से चलाती रहती है। यानी निवृत्ति भी गहरी प्रवृत्ति है। एकान्त निवृत्ति तो कभी होती ही नहीं। प्रत्येक वस्तु कोई न कोई क्रिया करती रहती है चाहे वह मानसिक हो, वाचिक हो या कायिक। क्योंकि वस्तु का लक्षण ही अर्थक्रियाकारित्व है। वस्तु वह है, जो अपनी कुछ न कुछ क्रिया करती रहती है। जो कुछ नहीं करता, वह सत् या पदार्थ नहीं होता। जिसका अस्तित्व है, उसमें प्रवृत्ति है, सक्रियता है। योगवाशिष्ठ में जीवन में क्रिया का महत्व बताते हुए कहा है—

न च निस्पन्दता लोके दृष्टेह शवतां विना।
स्पन्दाच्च फलसम्प्राप्तिस्तस्माद् दैवं निरर्थकम् ॥

---

१. देखिये उत्तराध्ययन सूत्र (१७ अ० ३ गा०) में—
"जे केई उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो।
भोच्चा पिच्चा सुहं सुवइ, पावसमणित्ति वुच्चइ ॥"

'संसार में मृत शरीर (शव) के सिवाय कहीं निस्पन्दता क्रियारहितता नहीं है। उचित क्रिया के द्वारा ही फलप्राप्ति होती है। इसलिए दैव की कल्पना व्यर्थ है।'

इस कर्ममय (प्रवृत्तिमय) संसार में क्रिया से अधिक वलवती वस्तु और कुछ नहीं है। कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।

"यदि तू कर्म करना छोड़ दे तो तेरी शरीरयात्रा भी नहीं चल सकती। कर्म (प्रवृत्ति) जीवन में अनिवार्य है।"

अतः निवृत्ति का अर्थ भी प्रवृत्ति का रूपान्तर है। जैसे एक किसान खेती का काम निपटाकर आया और भोजन की प्रवृत्ति में लगा। एक भोगी आत्मसाधना से निवृत्त हुआ और विषयभोगों में प्रवृत्त हुआ। साधु के लिए कहा गया है—

एगया विरओ होई, अविरओ होइ एगया ।
असंजमे नियत्ति च, संजमे य पवत्तणं ॥

संयमी साधु एक ओर से विरत होता है तो दूसरी ओर प्रवृत्त भी होता है। असंयम से उसकी निवृत्ति होती है तो संयम में उसकी प्रवृत्ति होती है। निष्कर्ष यह है कि साधक में एक क्रिया से निवृत्ति होती है तो दूसरी में प्रवृत्ति। जीवन में मुख्यता प्रवृत्ति (क्रिया) की ही रहती है। निवृत्ति का अर्थ सर्वथा निश्चेष्ट हो जाना नहीं है, अपितु एक क्रिया—जो अभीष्ट नहीं है, या संयम के परिपोषण में इतनी सहायक नहीं है, वल्कि संयम को दूषित करने वाली है, उससे निवृत्त होना निवृत्ति है, परन्तु साथ ही उस साधक का मन दूसरी अच्छी प्रवृत्ति में संलग्न होना चाहिए। शास्त्रीय परिभाषा में व्यवहार चारित्र का लक्षण यही किया गया है—

"असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं ।"

'अशुभ से निवृत्तिऔर शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र समझो।'

जो व्यक्ति वाहर से अपने शरीर और इन्द्रियों को निश्चेष्ट करके मन ही मन विषयों के चिन्तनरूप प्रवृत्ति करता रहता है, वह ढोंगी और दम्भी कहलाता है। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

जो व्यक्ति लोगों पर प्रभाव डालने के लिए वाहर से कर्मेन्द्रियों को रोककर निश्चेष्ट कर लेता है, लेकिन साथ ही मन में इन्द्रियविषयों का स्मरण करता रहता है, वह मूढात्मा मिथ्याचारी है, वह चारित्रवान नहीं, दम्भी है, प्रदर्शनकर्ता है।

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, और वह प्रायः सभी भारतीय धर्मों में उठाया गया है, वह यह है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ कई दोष लगे हुए हैं। ऐसी

कोई भी प्रवृत्ति नहीं है, जिसके साथ कोई दोष न हो। इसीलिए भगवद्गीता में कहा गया है—

"सर्वारम्भा हि दोषेण, धूमेनाग्निरिवावृता।"

आरम्भ (प्रवृत्ति) मात्र दोष से आवृत है, जैसे अग्नि धुँए से। तात्पर्य यह है जैसे ईन्धन से जलने वाली आग के साथ धुँआ अनिवार्य है, वैसे ही प्रवृत्ति के साथ दोष अनिवार्य है।

इसी प्रकार कुछ लोगों के मन में यह विकल्प उठता है, कि हम चाहे जनसेवा जैसी सार्वजनिक प्रवृत्ति करते हैं, इसमें हमारा कोई गूढ स्वार्थ नहीं है फिर भी हमारे जीवन पर भी लोग छींटाकशी, दोषारोपण या नुक्ताचीनी करते हैं, लोग हमें भी स्वार्थी और चालाक कहते हैं, कभी कहते हैं—संस्था का पैसा खा गया, धूर्त है, आदि। इसलिए इससे बेहतर है कि हम यह कर्म (प्रवृत्ति) बिलकुल न करें। जब जनता ही कद्र नहीं करती, तब हम क्यों इस प्रवृत्ति में रचेपचे रहें, और अपना समय, शक्ति और साधन खोएँ? परन्तु भगवद्गीता में और जैनशास्त्रों में इस विचार का खण्डन किया गया है। इसे वहाँ अकर्म में आसक्ति कहकर इससे बचने का आदेश दिया गया है। जैनशास्त्र में उसे कांक्षामोहनीय कर्म बताकर साधना में उस दोष से बचने की हिदायत दी है। गीता में कहा गया है—

"मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।"

अथवा कोई व्यक्ति किसी अच्छी प्रवृत्ति (कार्य=कर्म) को करता है, वह उसे वर्षों से करता आ रहा है, परन्तु अभी तक उसका कोई फल उसे नजर नहीं आया। वह बार-बार फल के बारे में संदिग्ध होता रहता है, जब काफी लम्बी अवधि तक उसे उस प्रवृत्ति का फल नहीं मिलता तो वह ऊबकर उसे सर्वथा छोड़ बैठता है अथवा जरा-सा कुछ फल मिला कि फिर उस श्रेष्ठ प्रवृत्ति को फलप्राप्ति की आशा से करता रहता है। अगर उसे यह मालूम हो जाए कि इस प्रवृत्ति का फल उसे अभी कुछ मिलने वाला नहीं है, कोई उसकी प्रवृत्ति या कर्म की प्रशंसा नहीं करता, उस प्रवृत्ति के कारण उसे कहीं आदर नहीं मिलता, न उसकी कोई खास प्रतिष्ठा की जाती है, तब वह उस प्रवृत्ति के विषय में संशयशील होकर छोड़ बैठता है, या बेगार समझकर बिना मन से करता रहता है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति की स्वयं प्रशंसा करता रहता है, जब भी कोई कार्य सफल हो जाता है, या किसी प्रवृत्ति का प्रचार धड़ल्ले से होने लगता है, आम जनता हजारों, लाखों की संख्या में उस प्रवृत्ति की प्रशंसा करने लगती है; तब उसके मन-वाणी से ये विचार प्रादुर्भूत होने लगते हैं—"यह सब प्रवृत्ति मेरे द्वारा ही हुई है, मैंने ही यह सब कार्य अपने हाथों से किये हैं। इस कार्य का श्रेय मुझे मिलना चाहिए, अरे! अमुक ने मुझे इस अच्छे कार्य के लिए धन्यवाद तक न कहा। मुझे इस कार्य के लिए अभिनन्दन पत्र मिलना चाहिए था।" इस प्रकार प्रवृत्ति को

आसक्ति (कांक्षा) दोष से दूषित करके साधक अपनी साधना को चौपट कर देता है। अपने में आसुरी शक्ति को जगा देता है, जिसके फलस्वरूप प्रवृत्ति (कर्म) के साथ दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता आदि दोष आने स्वाभाविक हैं।

इन सब बातों को देखते हुए ही कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से सारे साधकों को प्रेरणा दी है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः, मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

'तेरा कर्म करने में अधिकार है, फल की ओर आँखें उठाने की ओर तेरा अधिकार नहीं है। तू कर्मफल का कारण (कर्म के पीछे अहंकार-ममत्व जोड़कर) मत बन और न ही तेरी आसक्ति अकर्म (कर्म न करने) में होनी चाहिए।'

निष्कर्ष यह है कि कर्म या प्रवृत्ति बन्द नहीं करनी है, और न ही उसे छोड़ना है, क्योंकि मनुष्य चाहे कितना ही उच्च साधक क्यों न बन जाए, उसे अपनी शरीर-यात्रा के लिए भी कुछ न कुछ प्रवृत्ति करनी ही पड़ेगी। वह प्रवृत्ति के बिना रह न सकेगा। निवृत्ति में भी वह निश्चेष्ट होकर नहीं पड़ा रहेगा, उसका मन कुछ न कुछ मनन-चिन्तन की प्रवृत्ति करता रहेगा। तब सवाल यह उठता है कि जब प्रवृत्ति आवश्यक है और उसके बिना मनुष्य जिन्दा रह नहीं सकता, तब वह उस प्रवृत्ति को कैसे करे ? जिससे प्रवृत्ति के साथ चिपक जाने वाले दोषों से वह बच सके, उन पापों से वह अपने आपको कैसे बचा सकता है, जो प्रवृत्ति करने से हो जाते हैं ? यह तो सिद्ध हो गया कि जीवनयात्रा पूर्ण करने के लिए चलना अवश्य है, उपयोगी है, परन्तु चलें कैसे ? यहीं आकर गाड़ी अटक जाती है। चलना तो तेली के बैल का भी बहुत है। जैसे कबीरजी ने कहा है—

"ज्यों तेली के बैल को घर ही कोस पचास।"

परन्तु उस चलने से कोई अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कोई व्यक्ति व्यर्थ की दौड़ लगाए, आँखें मूंदकर दौड़े तो उसे हम चलना या गति करना नहीं कह सकते। इसीलिए साधना की भाषा में चलने को चारित्र या आचरण कहते हैं। यह सामान्य चलना नहीं, अपितु लक्ष्य की दिशा में, ध्येयानुकूल गति करना है। साधना-जगत् में इस प्रकार के चलने को प्रवृत्ति, गति, चारित्रपालन या क्रिया कहते हैं। साधना-जगत् के पथिकों को लक्ष्य में रखकर ही कबीरजी ने कहा है—

"चलो चलो सब कोई कहे, पहुँचे विरला कोय।"

सचमुच, विरले ही साधक ऐसे होते हैं, जो निर्दोष-निष्पाप आचरण—प्रवृत्ति करके लक्ष्य तक पहुँचते हैं। अधिकांश साधक इधर-उधर की संसार की भूल-भुलैया में ही फँस जाते हैं।

प्रत्येक प्रवृत्ति के लिए मनुष्य के पास तीन बड़े-बड़े सशक्त साधन हैं—मन,

वाणी और शरीर। दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य का मन बहुत ही उन्नत, वचन बहुत ही सामर्थ्यशील और शरीर बहुत ही उपयोगी होता है। परन्तु इन्हीं तीनों से मनुष्य शुभाशुभ प्रवृत्ति करके, पुण्य और पाप का उपार्जन करता है। गोस्वामी तुलसी दासजी ने ठीक ही कहा है—

तुलसी यह तनु खेत है, मन-वच-कर्म किसान।
पाप-पुण्य दो बीज हैं, बुवै सो लुणै निदान॥

इसका भावार्थ स्पष्ट है। मनुष्य मन, वचन और शरीर इन तीनों साधनों से पाप की खेती भी कर सकता है और पुण्य की भी। यह तो उसी पर निर्भर है। कोई भी दूसरी शक्ति, भगवान या देवता आकर उसकी प्रवृत्तियों को सुधार या बिगाड़ नहीं सकता। अपनी प्रवृत्तियों को ठीक रूप में करना या गलत रूप में करना उसी के हाथ में है।

स्वयं यतनायुक्त प्रवृत्ति ही बेड़ा पार करती है

बाहरी सहायता की अपेक्षा करने के बजाय यह अच्छा है कि मनुष्य अपने भीतर छिपी हुई शक्तियों एवं सत्प्रवृत्तियों को ढूंढ़े और उभारे। प्रगति का सारा आधार व्यक्ति की अन्तश्चेतना और भावात्मक स्फुरणा पर निर्भर है। समस्त शक्तियों का स्रोत मनुष्य की अन्तश्चेतना में है। जब तक वह स्रोत बंद पड़ा रहता है, तब तक वह जो भी प्रवृत्ति करता है, वह पापकर्मबन्धजनक होती है, और जब वह उस प्रसुप्त शक्तिस्रोत को प्रवाहित कर देता है, तब वही प्रवृत्ति पुण्य या धर्म का कारण बनती है।

दो प्रकार के यात्री हैं। उनमें से एक यात्री दूर देश की यात्रा पर निकला। वह चार कोस चला कि एक नदी आ गई। किनारे पर नाव लगी थी। उसने सोचा "यह नदी मेरा क्या करेगी ?" पाल उसने बाँधा नहीं, डांड उसने चलाए नहीं, बहुत जल्दी में था वह आगे जाने की। बादल गरज रहे थे, लहरें तूफान उठा रही थीं। फिर भी वह माना नहीं। नाव चलाना उसे आता नहीं था, किन्तु आवेश में आकर वह नाव पर सवार हो गया, लंगर खोल दी। नौका चल पड़ी। किनारा जैसे-तैसे निकल गया, लेकिन ज्यों ही नाव मझधार में आई, वैसे ही भँवरों और उत्तालतरंगों ने आ घेरा। नाव एक बार ऊपर उछली और दूसरे ही क्षण यात्री को समेटे जल में समा गई।

एक दूसरा यात्री भी आया वहाँ पर। वह कुशल नाविक था। यद्यपि नाव टूटी-फूटी थी, डाँड कमजोर थी, फिर भी उसने युक्ति से काम लिया। वह नौका लेकर चल पड़ा। लहरों ने संघर्ष किया, तूफान टकराए, हवा ने पूरी ताकत लगाकर नौका को उलटने का पूरा प्रयत्न किया, लेकिन वह यात्री होशियार नाविक था, इन कठिनाइयों से वह पूरा परिचित था। वह नाव को संभालता हुआ सकुशल दूसरे पार पहुँच गया।

मनुष्य-जीवन भी एक यात्रा है। जिसमें कदम-कदम पर उलझनें, भय, विपत्तियाँ, विघ्न-बाधाएँ, संघर्ष आदि तूफान हैं, जिनसे मन-वचन-शरीररूपी नौका को बचाना आवश्यक है। जो नाव चलाना नहीं जानता है, किन्तु आवेश में आकर अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति कर डालता है, वह नौका को तूफानों में छोड़ देता है, जिससे वह मझधार में नष्टभ्रष्ट हो जाती है। परन्तु जो जीवनयात्री नाविक कुशल है, कार्यक्षम है, जीवनपथ की सभी कठिनाइयों को जानता है, प्रवृत्ति में आने वाली विघ्नबाधाओं और संकटों से वह नौका को बचाता हुआ, उस पार तक सकुशल ले जाता है। वह लक्ष्य तक पहुँच जाता है।

प्रत्येक प्रवृत्ति कैसे करें ?

बन्धुओ ! श्रमण भगवान महावीर के पास भी कुछ नौसिखिए साधक ऐसे आए, जिनके मन में प्रवृत्ति के बारे में पहले कही गई शंकाएँ चल रही थीं। ऐसा तो असम्भव था कि वे कुछ भी प्रवृत्ति न करते। खाने-पीने, उठने-बैठने, चलने-फिरने सोने-जागने और बोलने-मौन रखने की सभी प्रवृत्तियाँ करनी अनिवार्य थीं, परन्तु समस्या थी उनके सामने कि इन प्रवृत्तियों के साथ लगने वाले पाप-दोषों से कैसे बचा जाय ? उन्होंने भगवान महावीर के समक्ष सविनय अपनी जिज्ञासा प्रकट की—

> कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
> कहं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधई ?

हे भगवन् ! साधक कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे और कैसे सोये ? तथा किस प्रकार भोजन एवं भाषण करे, जिससे कि पापकर्म का बन्ध न हो।

साधक का प्रश्न कुछेक प्रवृत्तियों को गिनाकर मन-वचन-काया से होने वाली समस्त प्रवृत्तियों के बारे में है।

श्रमण भगवान महावीर ने उन नवदीक्षित साधकों का मनःसमाधान करते हुए कहा—

> जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
> जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधई॥

साधक यतना से चले, यतना से खड़ा हो, यतना से बैठे और यतना से सोए। इस प्रकार यतना से भोजन एवं भाषण करने से साधक के पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

प्रश्न का समाधान तो कर दिया गया, लेकिन फिर भी दिमाग में दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यह यतना क्या है ? श्री गौतम ऋषि ने भी तो यही कहा है कि "जो मुनि यतना करता है, उसे पाप छोड़ देते हैं।"

यत्ना का प्रथम अर्थ : यतना, जयणा

अगर यत्ना को आप समझ लेंगे तो यतनावान को बहुत आसानी से समझ जाएँगे।

यत्न का सर्वप्रथम अर्थ है—यतना या जयणा। यतना शब्द, यमु उपरमे धातु से बना है। यतना का अर्थ होता है—संयमपूर्वक प्रवृत्ति करना। एक घोड़ा बहुत तेजी से दौड़ रहा है। अगर उस घोड़े के लगाम न लगाई गई हो तो क्या नतीजा होगा ? वह सवार को नीचे गिरा देगा और स्वयं भी ऊजड़ रास्ते पर चल पड़ेगा। ठीक यही हालत अयत्नवान की होती है। अपने जीवन की क्रियाओं और प्रवृत्तियों पर अंकुश न लगाने पर जीवन की क्रियाएँ या प्रवृत्तियाँ उस मनुष्य को पतन के गड्ढे में गिरा देंगी। अगर घोड़े के लगाम लगी हो और वह सवार के हाथ में हो तो वह घोड़े को जिधर ले जाना चाहेगा, ले जा सकेगा। इसी प्रकार जीवन की प्रवृत्तियों या क्रियाओं पर नियंत्रण हो, तो व्यक्ति उसे अभीष्ट दिशा में ले जा सकता है।

किसी को किसी दीवार की चूने से पुताई करनी हो तो वह क्या करता है ? वह एक हाथ से चूने की बाल्टी पकड़ता है, पैरों से सीढ़ी पर खड़ा होकर दूसरे हाथ से पुताई करता है। भिन्न-भिन्न कार्य होते हुए भी हाथ, पाँव, अंगुलियाँ आदि अंगों का लक्ष्य एक ही था—पुताई करना। आँखें यह बताती जाती थीं कि अभी यह जगह छूट गई है, इतनी जगह बाकी है। यहाँ बाल्टी है, यहाँ चूना है। चित्त की स्थिति भी उसी में थी कि चूना गाढ़ा है, ठीक है, पानी कम तो नहीं, पुताई कितनी सुन्दर है, इस तरह चित्तवृत्तियाँ उसकी सजग थीं। मतलब यह है कि कार्य करते समय व्यक्ति की इन्द्रियाँ, मन या चित्त, सब एक ही दिशा में क्रियाशील होते हैं। अतः (१) विश्लेषणात्मक, (२) क्रियात्मक और (३) निरीक्षणात्मक तीनों प्रक्रियाओं के एक साथ चलते रहने से वह व्यक्ति दीवार पर चूने की पुताई सुन्दर कर सका। यदि इनमें से एक भी विभाग कार्य करने से इन्कार कर देता तो गड़बड़ फैलती और कार्य सुन्दर ढंग से पूरा किया जाना सम्भव न होता।

जीवन की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी यही बात सोचिए। मन, इन्द्रियाँ और बुद्धि आदि पूरी तन्मयता के साथ किसी शुभ कार्य को करते हैं तो उस कार्य में सुन्दरता और व्यवस्थितता आ जाती है। कार्य में मन, इन्द्रियों आदि की तन्मयता भी यतना का एक अंग है।

यतना : प्रत्येक प्रवृत्ति में मन की तन्मयता

वास्तव में देखा जाए तो इन्द्रियाँ स्वयं किसी क्रिया को पूर्ण करने में समर्थ एवं स्वतंत्र नहीं होती। मन उनका संचालन और नियंत्रण करता है, इसलिए सफलता या असफलता का मुख्य कारण मन को ही माना जाता है। गाड़ीवान बैलगाड़ी को ले जाकर किसी खड्डे में डाल दे तो दोष गाड़ी का नहीं, क्योंकि उसे तो कोई ज्ञान नहीं होता, वह स्वतःचालित नहीं होती। बैलों को भी दोष नहीं दिया जा सकता, उन बेचारों का भी क्या कसूर था, जिधर नकेल घुमा दी उधर चल पड़े। उनके नथुनों में नाथ पड़ी थी, जिधर का इशारा मिलता था, उधर ही चलते थे।

दोष यदि हो सकता है तो गाड़ीवान का है, क्योंकि बैलगाड़ी चलाने और उसे नियन्त्रण में रखने की सारी जिम्मेदारी उसी की थी। शरीर द्वारा किसी कार्य को सफल बनाने में मन का अधिक उत्तरदायित्व माना जाता है, क्योंकि वही उसका संचालक या नियामक है। उसी के आदेश से शरीर के अन्य अवयव काम पर जुटते हैं। इसलिए यतना का अर्थ हुआ—जो भी करो तन्मय होकर करो, उस क्रिया में उपयुक्त होकर करो।

क्रिया में उपयोगशून्यता ही अयतना है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रवृत्ति में वाणी और शरीर (शरीर के अंगोपांग, इन्द्रियाँ आदि) के साथ मन का रहना आवश्यक है। मन के आश्रित होकर, मन के आदेशानुसार जब वाणी और शरीर चलेंगे तो वह प्रवृत्ति सजीव बन जाएगी और यदि मन इन दोनों के साथ नहीं रहेगा तो वह निर्जीव-सी हो जाएगी। जब किसी प्रवृत्ति के साथ मन प्रधानरूपेण होगा तो वह सर्वप्रथम उस प्रवृत्ति की छान-बीन करेगा, तदनन्तर शरीर, इन्द्रियों, अवयवों एवं वाणी को आदेश देगा कि यह प्रवृत्ति करनी चाहिए या नहीं?

समझ लो, किसी व्यक्ति को कहीं आने का निमन्त्रण मिला। ऐसी दशा में मन यह विचार करेगा कि वहाँ जाना या नहीं? वहाँ जाने से कोई व्यावहारिक, आत्मिक या नैतिक लाभ है या नहीं? वहाँ जाने से नीति और धर्म को खतरा है या प्राणों का संकट है, अथवा वहाँ जाने से कलह होने या बढ़ने का अंदेशा है तो मन तुरन्त इन्द्रियों और अवयवों को आदेश देगा कि यद्यपि वहाँ जाने से अच्छा स्वादिष्ट आहार मिल सकता है, रमणीक सौन्दर्य का पान हो सकता है, वहाँ स्वागत हो सकता है, तुम्हारे रूप पर महिला आकर्षित हो सकती है, परन्तु ये लाभ खतरे की निशानी हैं। इसीलिए साधक को अमुक-अमुक स्थानों पर जाने का निषेध शास्त्रकारों ने किया है—

"न चरेज्ज वेससामंते बंभचेर वसाणुए।"

"संडिमं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए।"

'ब्रह्मचर्य के पथ पर चलने वाला साधक वेश्याओं के मोहल्ले या घरों में न जाए। तकरार, विवाद, कलह या युद्ध हो, उसको दूर से ही छोड़ दे, वहाँ न जाए।

भिक्षा के लिए साधु निन्दित और गर्हित—जुगुप्सित कुलों में न जाए। क्योंकि वहाँ जाने से साधु के प्रति लोकश्रद्धा समाप्त हो सकती है, साधु स्वच्छन्द बन सकता है। शराब बेचने वाले कलाल के घर या दूकान पर यदि कोई साधु चला जाए या वहाँ जाकर बैठे, गप-शप करे तो लोगों को उस साधु के विषय में मद्य-पायी होने का सन्देह हो सकता है। साधु को कहीं नट-नटनियों का खेल-तमाशा या नाटक देखने के लिए आमन्त्रित किया जाए तो क्या वह वहाँ जाएगा? क्या उसका मन उस गमन-प्रवृत्ति में मोहवृद्धि का खतरा नहीं देखेगा।

हाँ तो, यतना यानी क्रिया में मन[1] की उपयुक्तता। किसी भी प्रवृत्ति के विषय में मन आत्मा के प्रति वफादारीपूर्वक इस प्रकार विश्लेषण करने के बाद ही उस प्रवृत्ति को करने का आदेश देगा। मानलो कि साधु के जाने के रास्ते में हरी वनस्पति उगी हुई है, या सचित्त जल चारों ओर फैला हुआ है, अग्नि जल रही है या मूसलाधार वर्षा हो रही है; ऐसी स्थिति में साधु अगर अभीष्ट कार्य के लिए कहीं जाएगा तो उसके अहिंसा महाव्रत में आँच आएगी, परन्तु उस रास्ते के सिवाय और कोई रास्ता वहाँ जाने का नहीं है, या और कोई चारा नहीं है, उसे बड़ी नीति की हाजत हो गई है कि वर्षा में जाने के सिवाय और कोई चारा नहीं है, तब शास्त्रकार वहाँ यत्नाचार की बात कहते हैं। अर्थात् साधु वहाँ जाएगा अवश्य, लेकिन जाएगा यत्नाचारपूर्वक ईर्यासमितिपूर्वक देखते हुए जाएगा। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

"सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे।"
"पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महिं चरे।"
"चरे मंदमणुव्विग्गो अवक्खित्तेण चेयसा।"

और कोई मार्ग न हो तो उसी मार्ग से यतनापूर्वक जाए। सामने युगमात्र (चार हाथ प्रमाण) भूमि को देखता हुआ चले। साधु भिक्षा का समय होने पर हड़बड़ी किये बिना, अनुद्विग्न होकर अव्यग्रचित्त से धीरे-धीरे चले।

इस प्रकार एक गमनक्रिया के पीछे जहाँ सैकड़ों 'ना' हैं, वहाँ अमुक 'हाँ' भी हैं। गमनक्रिया के विषय में कहा गया है, वैसे ही खड़ा रहने, बोलने, बैठने, सोने, जागने, भोजन करने, भिक्षा करने, व्याख्यान देने, विहार करने, नीहार करने आदि प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति के विषय में साधु यतना को टार्च की तरह साथ रखेगा। यतना साधु के लिए प्रकाश है, मार्गदर्शक है, वह उसको कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर ले जाने वाली है। इसीलिए प्रतिमाशतक में यतना के विषय में कहा है—

जयणेह धम्मस्स जणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव।
तववुड्ढिकरी जयणा, एगंत सुहावहा जयणा ॥५०॥
जयणाए वट्टमाणो जीवो सम्मत्त-नाण-चरणाणं।
सद्धाबोहासेवणभावेणाऽऽराहगो भणिओ ॥५१॥

साधक जीवन की प्रत्येक क्रिया—प्रवृत्ति में यतना धर्म की जननी है, यतना ही धर्म की रक्षिका है, यतना अनायास ही तप की वृद्धि कर देती है, और यतना ही संयमी जीवन के लिए एकान्त सुख देने वाली है।

---

१ "यमनं यतः, तद्विद्यते यस्य स यतः।" 'यतमाने'—उत्तराध्ययन। "उपयुक्ते"—आवश्यक। "यतं चरेत्—सूत्रोपदेशेन ईर्यासमितः।" "उपयुक्तस्ययुगमात्र दृष्टत्वे च"
—आचारांग श्रु० २, अ० ३, उ० १

जो साधक यतनापूर्वक प्रवृत्ति करता है, वह श्रद्धा, बोध और चारित्र पालन की भावना के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आराधक कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि साधु को प्रत्येक प्रवृत्ति में, चाहे वह छोटी प्रवृत्ति हो या बड़ी, चाहे वह मानसिक हो, वाचिक हो अथवा कायिक हो, स्वसम्बन्धित हो या दूसरों की सेवा से सम्बन्धित हो, यतना को श्वासोच्छ्वास की तरह साथ लेकर चलना चाहिए।

महानिशीथ में तो यहाँ तक बताया गया है कि साधु को श्वास लेने और छोड़ने की क्रिया भी यतनापूर्वक करनी चाहिए, लापरवाही से अयतनापूर्वक नहीं। जो साधु अयतनापूर्वक श्वासोच्छ्वास क्रिया करता है, उसको धर्म कहाँ से होगा, तप भी कहाँ से होगा ?"[1]

यतना : किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाते हुए क्रिया

तात्पर्य यह है कि यतना किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाते हुए, अपनी आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र की पगडंडी पर चलाते हुए सुख-शान्तिपूर्वक जीने की कला है। यतना में यद्यपि प्रवृत्ति मुख्य प्रतीत होती है, परन्तु प्रवृत्ति एकान्तरूप से मुख्य नहीं है, कई जगह अमुक क्रिया अच्छी और धार्मिक होते हुए भी उससे निवृत्ति लेनी पड़ती है, क्योंकि उसमें प्रवृत्त होने से पृथ्वीकायिक आदि जीवों की विराधना होने की आशंका रहती है। इसलिए यतना का एक अर्थ[2] पृथ्वी आदि जीवों के आरम्भ का त्याग करने रूप यत्न भी किया गया है।

अयतना से हानि, यतना से लाभ

साथ ही वहाँ यह भी बताया गया है कि "अयतनापूर्वक जो साधु चलता है, बोलता है, बैठता, उठता है, सोता-जागता है, भोजन करता है—यानी सभी क्रियाएँ करता है, वह प्राणियों की हिंसा करता है। वह पाप कर्म का बन्ध करता है, जिसका फल अत्यन्त कटु होता है।"[3]

प्रवचनसार में भी यह बताया गया है—

> मरदुव जियदुव जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
> पयादस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

---

१ "जेसिं मोत्तूण ऊसासं नीसासं वाणुजाणिणं तमपि जयणाए।
न मव्वहा अजयणाए, ऊससंतस्स कओ धम्मो, कओ तवो ?"—महा० ६ अध्य०

२ "पृथिव्यादिस्वारम्भ परिहाररूपे यत्ने" —दशवैकालिक अ० ४

३ "अजयं चरमाणो (चिट्ठमाणो, आसमाणो, सयमाणो, भुंजमाणो, भासमाणो) य पाणभूयाइं हिंसइ। बंधइ पावयं कम्मं त से होइ कडुयफलं।'
—दशवैकालिक सूत्र, अ० ४

"बाहर से प्राणी मरे या न मरे—जीता रहे, लेकिन जो अयत्नापूर्वक आचरण करता है, उसे (भाव) हिंसा निश्चित (अवश्य) ही लगती है। इसके विपरीत जो यतनाशील है, ईर्यासमिति आदि पूर्वक प्रवृत्ति करता है, उसे बाह्य (द्रव्य) हिंसा होने मात्र से कर्मबन्धन नहीं होता।" इसका कारण यह है कि जो यत्नापूर्वक क्रिया करता है, उसकी भावना हिंसा करने की कतई नहीं है, लाचारीवश हिंसा हो जाती है, पर वह द्रव्यहिंसा, उसके लिए पापकर्मबन्धक नहीं होती। यही बात कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भगवद्‌गीता में कही है।

प्रवचनसार में यत्नाचारी को पापकर्मबन्ध न होने का कारण बताया है—

चरदिजदं जदिणिच्चं, कमलं व जले णिरुवलेवो।

जो साधक हमेशा प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक करता है, वह जल में कमल की भाँति निर्लेप रहता है। पापकर्म से वह लिप्त नहीं होता। इसी कारण जैनसाधुओं को निष्पाप जीवन जीने के लिए यतना अनिवार्य बताई है।

यतना की चतुर्विध विधि

प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ यतना की विधि बताते हुए उत्तराध्ययन[1] में उसके ४ प्रकार बताये गये हैं—

(१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से
(३) काल से और (४) भाव से

द्रव्य से यतना है—आँखों (हृदय की आँखों) से भूमि या परिस्थिति देखना, क्षेत्र से—युगमात्र (चार हाथ प्रमाण) भूमि देखना (गमन के सिवाय अन्य क्रियाओं के विषय में कौन-सा क्षेत्र है? यह विवेक करना), काल से—जब तक भ्रमणादि क्रिया करणीय हो तब तक ही वह क्रिया करना, समय का विवेक करना। भाव से—उस क्रिया में उपयुक्त दत्तचित्त होकर करना। प्रत्येक क्रिया को यतना की इस चतुर्विध कसौटी पर कसकर करना चाहिए।

जयणा का अर्थ संक्षेप में इतना ही समझना चाहिए कि साधक के जीवन की प्रत्येक छोटी-बड़ी प्रवृत्ति भावक्रियात्मक होनी चाहिए। जो भी क्रिया वह करे, उसमें उसका मन उपयुक्त—जुड़ा हुआ होना चाहिए। साधक चले तो उसका मन चलने में संलग्न रहे, साधक बैठे तो उसका मन बैठने में रहे, साधक बोले, सोए, जागे, खाए-पीए या स्वाध्याय करे, उपदेश दे, अथवा भिक्षाचारी करे या कोई भी

---

१ दव्वओ, खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥७॥
दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥८॥—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २४

क्रिया करे, उसका मन श्वासोच्छ्वास की तरह बराबर उसके साथ रहे। उत्तराध्ययन सूत्र में साधक के चलने की क्रिया की यतना विधि बताई गई है—

इंदियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते इरियं रए॥-२४/८

"साधक जब गमनादि चर्या करे तब मन को इन्द्रियों के विषयों से बिलकुल हटा ले, वाचना-पृच्छना आदि ५ प्रकार के स्वाध्याय से भी मन को दूर कर ले, एकमात्र उसी चर्या में मन को केन्द्रित कर ले, उसी चर्या को सामने रखे, इस प्रकार उपयुक्त होकर ईर्या में रत रहे।"

यतनापूर्वक चलने और अयतनापूर्वक चलने की क्या पहिचान है तथा इनसे क्या लाभ-हानि है ? इसे मैं एक दृष्टान्त द्वारा समझाता हूँ—

दो मुनि चल रहे हैं। उनमें से एक मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यतना से चल रहे हैं, उनकी गमनक्रिया के साथ मन संलग्न है। जीवरक्षा का लक्ष्य है। जबकि दूसरे मुनि इधर-उधर ताकते हुए धड़ाधड़ चले जा रहे हैं, उनका ध्यान ईर्याशोधन की ओर नहीं है, उनका मन गमनक्रिया के साथ उपयुक्त नहीं है।

प्रथम मुनि के द्वारा बचाने का यत्न किये जाने पर भी अकस्मात कोई त्रस जीव पैर के नीचे दबकर कुचल गया या मर गया। दूसरे मुनि के द्वारा अयतनापूर्वक चलने पर भी एक भी त्रस जीव न मरा। आपकी दृष्टि में शायद पहला यत्नवान मुनि सदोष और दूसरा अयत्नवान मुनि निर्दोष प्रतीत होगा, पर वीतराग प्रभु की दृष्टि में प्रथम मुनि द्रव्यहिंसा के भागी जरूर हैं, पर भावहिंसा के नहीं, जबकि दूसरा मुनि भावहिंसक है, षट्काय के जीवों का विराधक है।

द्रव्यहिंसा से भावहिंसा अति भयंकर और पापकर्मबन्धक है।

प्रथम मुनि यत्नवान होने से आराधक है। उसकी इन्द्रियाँ जीवमात्र के प्राणों को बचाने में यत्नवान थीं, तथापि लाचारीवश जो द्रव्यहिंसा होगई, उसका उसे पश्चात्ताप होता है, प्रायश्चित भी वह करता है, लेकिन दूसरा मुनि तो अयत्नशील होने से विराधक होता है। उसमें जीवों की प्राणरक्षा करने का यत्न ही नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि जिस समय जो प्रवृत्ति, चर्या या क्रिया की जाए उसी में मन को पूरी शक्ति से सर्वतोभावेन लगाना ही यतना है, जयणा है, यत्नाचार है। इस प्रकार एक ही अभीष्ट क्रिया में शक्ति लगाने से वह क्रिया निखर जाती है, वह क्रिया दोषमुक्त और शुद्ध हो जाती है। उस पवित्र क्रिया से अपना भी कल्याण होता है, दूसरों का भी। ऐसा न करने पर साधक का मन कहीं और होगा और क्रिया कुछ और होगी। सामायिक जैसी क्रिया भी केवल द्रव्यक्रिया और निष्फल क्रिया होकर रह जाएगी। एक जैनाचार्य ने इस सम्बन्ध में बहुत ही गम्भीरतापूर्वक प्रतिपादन किया है—

यत्नं विना धर्मविधावपीह, प्रवर्तमानोऽसुमतां विघातम् ।
करोति यस्माच्च ततो विधेयो धर्मात्मना सर्वपदेषु यत्नः ॥[1]

इस साधना-जगत् में धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त साधक यत्ना के बिना प्राणियों का विघात करता है। इसलिए धर्मात्मा पुरुष को समस्त प्रवृत्तियों में यत्ना करनी चाहिए।

गृहस्थवर्ग के लिए भी यतना का विधान

शास्त्र में गृहस्थश्रावक के लिए भी यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने का विधान है। उपाश्रयादि धर्मस्थान बंधवाने में आरम्भ (हिंसा) तो होता है, लेकिन यदि श्रावक यतनापूर्वक यथाशक्ति कार्य करता-करवाता है तो प्राणिहिंसा से बहुत कुछ बचाव हो सकता है। इसी प्रकार बहनें भी रसोई बनाने, मकान की सफाई करने, लीपने-पोतने तथा अन्य कार्यों को करने में यतना रखें तो हिंसा से बहुत ही बचाव हो सकता है। कई बहनें अविवेक के कारण पानी, घी, तेल आदि तरल पदार्थों के बर्तन खुले छोड़ देती हैं, उनमें कई जीव पड़ जाते हैं, कई बार चीजों को न संभालने के कारण उनमें लीलन-फूलन पड़ जाती है।

एक बार उदयपुर के श्रावकों की यतना का हमें प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। पंचायती नौहरे में जहाँ साधुओं का चातुर्मास होता था, वहाँ वे बरसात आने से पहले ही छत पर तेल और पानी को मिलाकर उसका पोता लगा देते थे, जिससे चौमासे में वहाँ लीलन-फूलन पैदा न हो, यह यतना का नमूना है। इसी प्रकार कई लोग अविवेक के कारण कपड़े मैले-कुचैले होने देते हैं, शरीर में पसीना होने से वह उन्हीं मैले कपड़ों के साथ लग जाता है, और उनमें जूँ पैदा हो जाती हैं। ऐसे अविवेकी लोग फिर उन जूँओं को मारते रहते हैं। परन्तु विवेकी श्रावक पहले से ही कपड़ों को यतनापूर्वक धो लेता है, शरीर भी भीगे कपड़े से यतनापूर्वक पोंछ लेता है और इस यतना के कारण मैल से होने वाली हिंसा से बच जाता है।

यतना के विना प्रवृत्ति करने वाले श्रावक को अनर्थदण्ड (निरर्थक हिंसा) का पाप लगता है।

ज्ञातासूत्र में जहाँ धारणी रानी की गर्भावस्था का वर्णन किया है, वहाँ शास्त्रकार रानी के द्वारा की जाने वाली यतना का वर्णन भी करते हैं—

"तस्स गब्भस्स अणुकंपट्ठयाए जयं चिट्ठति, जयं आसयति, जयं सुविति··· ।"
—श्रुतस्कंध १, अध्ययन १

"उस गर्भ की अनुकम्पा के लिए रानी, जिससे गर्भ को किसी प्रकार की

---

१. दर्शन० १ तत्त्व

बाधा-पीड़ा न हो, इस दृष्टि से यतना से ऊँचे स्थान पर बैठती है, यतनापूर्वक उठती है, यतनापूर्वक सोती है।"

प्रत्येक क्रिया के साथ मन रहे यही यतना

कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ प्रवृत्ति मन से निकलकर इन्द्रियों में या शारीरिक अवयवों में रह जाती है वहाँ यतना नहीं रहती, भले ही वह धार्मिक क्रिया ही क्यों न हो।

मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है एक बुढ़िया सामायिक करने के लिए घर के दरवाजे के बीच में ही बैठ गई, इसलिए कि कोई घर में न घुस सके और घर की रखवाली भी हो जाएगी तथा सामायिक भी। पर सामायिक क्रिया ऐसी नहीं होती कि उसके साथ ही अनेक सांसारिक क्रियाएँ भी कर ली जाएँ। पर हुआ ऐसा ही। बुढ़िया की छोटी पुत्रवधू रसोईघर में काम करती-करती उसे खुला छोड़कर ऊपर चली गई। बुढ़िया यह सब देख रही थी, पर बोली कुछ नहीं। बुढ़िया को हलका-सा नींद का झौंका आया कि इतने में एक कुत्ता बाहर से आया और सीधा रसोईघर में घुस गया। जब वह दूध-दही के बर्तन साफ करने लगा, तब बुढ़िया से न रहा गया। मुँह पर पट्टी बँधी हुई थी, फिर भी उसने नमस्कारमंत्र की माला फेरने का नाटक करके गाते-गाते वहू को कहा—

'लंबड़पूँछो लंकापेटो, घर में धसियो आन जी, णमो अरिहंताणं।'

"लम्बी पूँछ और छोटे पेट वाला कुत्ता घर में घुस गया है, णमो अरिहंताणं" परन्तु जब वहू ने नहीं सुना तो बुढ़िया फिर बोली—

'दूध दही ना चाडा फोड़्या, ओरा मांही धसियो जो, णमो सिद्धाणं'

फिर भी वहू ने नहीं सुना तो उसने तीसरा पद ललकारा—

'उज्ज्वलदंता घी-गुड खंता, बहुवर नीचे आओ जो, णमो आयरियाणं।'

इस बार बुढ़िया का तीर निशाने पर लग गया। वहू ने नीचे आकर पूछा—'आप क्या फरमा रही हैं ?' तब वह बोली—मेरे तो सामायिक है, वह कुत्ता अन्दर घुस गया है, देखती क्या हो—

'ऊखल लारे, मूसल पड़ियो, ले इणने धमकावोजी, णमो उवज्झायाणं।'

वहू ने कुत्ते को तो बाहर निकाला, लेकिन सासूजी की अजीब सामायिक देख उसे हँसी आ गई। वह पाँचवाँ पद पूरा करती हुई बोली—

'समाई तो म्हारे पीरे ही करता, आ किरिया नहीं देखी जो नमो लोए सव्वसाहूणं।'

बन्धुओ ! धार्मिक क्रिया में भी मन साथ में नहीं रहता है, तब वह कोरी द्रव्यक्रिया रह जाती है, भावक्रिया नहीं बनती। इस सम्बन्ध में अनुयोगद्वार सूत्र में बहुत ही स्पष्टता के साथ कहा है—

तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए।

जो भी क्रिया करो, उसमें चित्त को पिरो दो, उसी में तन्मय हो जाओ, लेश्या को भी वहाँ नियोजित कर दो, उसके लिए अध्यवसाय भी वैसा ही बनाओ, उसी को सफल करने की मन में तीव्र तड़फन हो, उसके लिए अपने आपको समर्पित कर दो। उसी के अर्थ में अपना उपयोग लगाओ (उपयुक्त बन जाओ) उसी की भावना से अपना अन्तःकरण वासित कर दो, तुम्हारी वह क्रिया भावक्रिया होगी।

यह है यतना का चमत्कार और यतना का विराट् रूप !

निष्कर्ष यह है कि यतना में क्रिया के साथ मन का तादाम्य होने से वह क्रिया भावक्रिया बन जाती है, वही फलदायिनी होती है।

भावात्मक प्रमार्जन क्रिया ही यतनायुक्त

साधक के जीवन में छोटी या बड़ी प्रत्येक क्रिया महत्वपूर्ण है। जैसे प्रमार्जन-क्रिया है—साधक जिस उपाश्रय में रहता है, या जिस कमरे में उसका निवास है, वहाँ की सफाई करना है। सफाई करने की क्रिया को साधारण बुद्धि वाले सांसारिक लोग बहुत तुच्छ कह देते हैं। कई धनाभिमानी, पदाभिमानी या सत्ताभिमानी लोग तो तुरन्त कह देते हैं—"सफाई करना तो नौकरों का काम है।" इसी प्रकार टट्टी की सफाई करना तो मेहतरों या हरिजनों का काम कहकर उसे तुच्छ समझते हैं, पर क्या बालक की टट्टी साफ करने वाली माता बालक के लिए तुच्छ या ओछी होती है, वह तो पूजनीय होती है। माता का दर्जा बहुत ही ऊँचा है। बालक की सेवा करने में माता एकदम तन्मय हो जाती है, उसे उस सेवा में आनन्द आता है। इसी प्रकार रुग्ण साधु की सेवा करना साधु के लिए तुच्छ क्रिया नहीं है, वह उस किया को तन्मयता एवं मन लगाकर करता है तो महानिर्जरा कर लेता है। इसी प्रकार सफाई (प्रमार्जन) क्रिया भी साधु के लिए तुच्छ नहीं। वह उसे तुच्छ नहीं समझता, वरन् एकाग्रता एवं यतनापूर्वक करता है तो उस क्रिया से भी महान् निर्जरा कर सकता है। बुजुर्ग साधुओं के मुँह से सुना है कि रजोहरण से यतनापूर्वक प्रमार्जन क्रिया करने से एक तेले (तीन उपवास) का लाभ मिलता है।

मान लीजिए दो साधु हैं। दोनों के संघाड़े एक ही उपाश्रय में ठहरे हुए हैं। उनमें से एक संघाड़ा जिस कमरे में ठहरा हुआ है, उस संघाड़े का एक मुनि उस कमरे की सफाई बहुत ही ध्यानपूर्वक रजोहरण से करता है। वह प्रमार्जनक्रिया को बेगार नहीं, किन्तु निर्जरा का कारण समझकर सेवाभाव से करता है। उसे इस प्रकार तन्मयतापूर्वक प्रमार्जनक्रिया से किसी से प्रशंसा पाने, अभिनन्दन प्राप्त करने या नामबरी पाने की कोई इच्छा नहीं है। वह चुपचाप इस कार्य को करता है।

दूसरा संघाड़ा उस कमरे के ठीक सामने दूसरे कमरे में ठहरा हुआ है। उस संघाड़े का एक साधु बार-बार कहने पर बिना मन से, वृद्ध साधुओं के लिहाज से उस

कमरे की सफाई करता है। उस कार्य को वह वेगार समझता है, और जैसे-तैसे विना किसी उपयोग से रजोहरण से वह कचरे को घसीट देता है। न तो वह इस प्रमार्जन-क्रिया में जीव-जन्तुओं का ध्यान रखता है और न ही मन को इस क्रिया में एकाग्र करके सेवाभाव से करता है। वल्कि इस वेगार-सी अधूरी प्रमार्जनक्रिया को करके भी वह अपने भक्तों, अनुयायियों आदि से प्रशंसा पाने, या सेवाभावी पद प्राप्त करने की धुन में रहता है। वह प्रमार्जनक्रिया चुपचाप नहीं करता, किन्तु वार-वार अपने संघाड़े के वृद्ध साधुओं को गिना-गिनाकर गर्जन-तर्जन करके करता है।

मैं आपसे पूछता हूँ कि प्रमार्जनक्रिया तो दोनों जगह एक-सी है, दोनों कमरे एक ही साइज के हैं, उतनी ही सफाई दोनों करते हैं, लेकिन क्या दोनों की प्रमार्जन-क्रिया में भावों और परिणामों की दृष्टि से अन्तर नहीं है? अवश्य ही अन्तर है, लाख गुना अन्तर है। पहले साधु की प्रमार्जनक्रिया केवल द्रव्यक्रिया नहीं, भाव-क्रिया भी है, जबकि दूसरे की प्रमार्जनक्रिया केवल द्रव्यक्रिया है—निर्जीव-सी क्रिया है।

सफाई की क्रिया तो हमारी ये वहनें भी करती हैं और मर्यादा पुरुषोत्तम राम की भक्ता शवरी भी करती थी। वह जंगल में ऋषियों के आश्रम से पम्पा सरोवर तक का मार्ग जो कि कंकरीला व कटीला था, प्रतिदिन सवेरे पौ फटते समय साफ करती थी। वह भजन गाती, भक्ति की मस्ती में बहुत ही उमंग से समग्र मन को सफाई की क्रिया में तन्मय करके सफाई करती थी। वह इस भावना से सफाई करती थी कि इस रास्ते से पवित्र ऋषियों का आवागमन होता है, उनके चरणों में काँटे-कंकड़ न चुभें, वे शान्ति से इस पथ को पार करें और मुझे उनकी चरणरज मिले। कितनी उच्च भावना और भक्ति थी सफाई की क्रिया के पीछे! शवरी का इस सफाई क्रिया के पीछे अपना निजी स्वार्थ, पद या नामवरी की लिप्सा नहीं थी, न ही ऋषियों से कोई प्रशंसा या अभिनन्दन पाने की धुन थी, उलटे शवरी को इस सफाई क्रिया से उस समय गालियाँ और भर्त्सना की बौछार ही पल्ले पड़ी, जबकि ऋषियों ने एक दिन प्रतिदिन से कुछ जल्दी आकर उस मार्ग की सफाई करते हुए शवरी को देख लिया। वे कहने लगे—"अरी दुष्टे! तूने हमारे मार्ग को अपवित्र कर दिया, हम तो इतने दिन जानते ही नहीं थे कि तू इस मार्ग को साफ करती है, नहीं तो हम तुझे कभी के यहाँ से धक्का देकर निकाल देते। आज तुझ काली-कलूटा शूद्रा का मुख देखने को मिला है, पता नहीं, दिन कैसा निकलेगा?" परन्तु वह शवरी थी, जिसने गालियों का पुरस्कार पाकर भी सफाई का कार्य नहीं छोड़ा। वह सफाई को भगवान का कार्य समझती थी। 'Work is worship' कार्य ही भगवत्पूजा है, यह मन्त्र जैसे उसके रोम-रोम में बस गया था।

वन्धुओ! क्या आप इस प्रमार्जनक्रिया को यतनायुक्त नहीं कहेंगे? मैं तो यही कहूँगा कि साधु भी प्रत्येक क्रिया को, इसी प्रकार समर्पणभाव से, उसी में तन-

चित्त होकर प्रभुभक्ति समझकर करे तो एक ही क्रिया से उसका बेड़ा पार हो जाएगा।

नंदीषेण मुनि ने अप्रमत्त और यतनाशील होकर साधुओं की वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) का कार्य तन्मयतापूर्वक किया, जिससे उनका बेड़ा पार हो गया।

मासतुष मुनि को 'मा रुष मा तुष' इन पदों की रटनक्रिया एकाग्रचित्त एवं गुरुभक्ति समझकर करते-करते केवलज्ञान प्राप्त हो गया। एक जैनाचार्य ने इसी बात का समर्थन करते हुए कहा था—

एक्को वि नमुक्कारो जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
तारेइ नरं वा नारीं वा..........................॥

जिनवरों में श्रेष्ठ श्रीवर्द्धमान जिनेश्वर के प्रति की गई एक ही नमस्कार-क्रिया नर या नारी को तार देती है—भवसागर से पार लगा देती है।

क्या आपने मगध सम्राट् श्रेणिक राजा की वह कथा नहीं सुनी कि एक बार सहसा उनके मन में तीव्र भावना जगी की मैं हमेशा भगवान महावीर स्वामी तथा कुछ खास-खास साधुओं को ही वन्दन करके बैठ जाता हूँ, आज इच्छा होती है, क्रमशः सभी साधुओं को विधिपूर्वक वन्दना करूँ। बस, श्रेणिक राजा क्रमशः वन्दन करते गये। अभ्यास न होने से वे सभी साधुओं को वन्दन न कर पाये, हाँफ गये थे। इसलिए बीच में ही थककर बैठ गये। गणधर गौतम स्वामी की अद्भुत जिज्ञासा स्फुरित हुई, उन्होंने भगवान महावीर से श्रेणिक की आज की वन्दनक्रिया का फल पूछा। प्रभु महावीर ने फरमाया—"गौतम! इस उत्साह एवं भावपूर्वक वन्दन से श्रेणिक के नरकगति के बहुत-से बन्धन कट गये हैं। अब थोड़े-से बन्धन और रहे हैं।" श्रेणिक ने सुना तो अवशिष्ट साधुओं को वन्दन करने का उत्साह जगा और वह वन्दन करने के लिए उद्यत हुए। लेकिन भगवान महावीर ने कहा—"अब इस वन्दन के साथ कांक्षा का भाव उदित हो गया है, इसलिए इसमें अब नरकबन्धन काटने की शक्ति नहीं है।"

बन्धुओ! वन्दनक्रिया तो वैसी की वैसी ही थी। किन्तु पहले की क्रिया और वाद की क्रिया में अन्तर क्यों पड़ा? उसका कारण था कि पहले की वन्दन क्रिया निष्काम, निष्कांक्ष थी, वाद की थी सकांक्ष। अतः पहले की वन्दनक्रिया भाव-युक्त द्रव्यक्रिया थी जब कि वाद की थी केवल द्रव्यक्रिया।

संत कबीर इसी रहस्य को एक दोहे द्वारा खोल रहे हैं—

नमन नमन बहु आँतरा, नमन-नमन बहु वान।
ये तीनों बहुतें नमें, चीता, चोर, कमान॥

आचार्य सिद्धसेन इसी बात को प्रगट कर रहे हैं—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः

'भावशून्य क्रियाएँ वास्तविक प्रतिफल नहीं देतीं।'

क्रिया एक : दृष्टिबिन्दु तीन

मैं आपको एक व्यावहारिक उदाहरण देकर इसे समझाता हूँ—

एक जगह देवालय बन रहा था। तीन मजदूर धूप में बैठे उसके लिए पत्थर तोड़ रहे थे। एक पथिक वहाँ से गुजरा। उसने उन तीनों में से एक से पूछा—"तुम क्या कर रहे हो?" उसने दुःखित और बोझिल मन से कहा—'पत्थर तोड़ रहा हूँ।' वास्तव में पत्थर तोड़ना उसके लिए आनन्द की बात कैसे हो सकती थी, जिसका मन हारा, थका और उदास हो। अतः वह उत्तर देकर फिर उदास मन से पत्थर तोड़ने लगा।

पथिक ने दूसरे से यही सवाल पूछा तो उसने कहा—'मैं अपनी रोजी कमा रहा हूँ।' उसने जो कुछ कहा वह उसकी दृष्टि से ठीक ही था। वह दुःखी तो नहीं मालूम हो रहा था, लेकिन उसके चेहरे पर आनन्द का भाव भी नहीं झलक रहा था। निःसन्देह, आजीविका कमाना भी एक काम ही है, पर वह मजदूर की वृत्ति में आनन्ददायक कैसे हो सकता था?

तीसरा व्यक्ति गाना गाते हुए मस्ती से पत्थर तोड़ रहा था। उससे भी पथिक ने वही प्रश्न किया तो वह बोला—'अजी! मैं अपने भगवान का मन्दिर बना रहा हूँ।' उसकी आँखों में चमक और चेहरे पर दमक थी, हृदय में भव्यभावपूर्ण गीत था। उसकी दृष्टि में पत्थर तोड़ना, मन्दिर-निर्माण जितना ही गौरवपूर्ण कार्य था। उसे अपनी क्रिया में अपूर्व आनन्द आ रहा था।

मैं आपसे पूछता हूँ कि इन तीनों की पत्थर तोड़ने की क्रिया एक होते हुए भी उत्तर तीन तरह के क्यों थे? इसलिए थे कि क्रिया के प्रति एक की दृष्टि बेगार की-सी थी, दूसरे की थी मजदूरी की और तीसरे की थी समर्पणवृत्ति या भक्तिभाव की। इन तीनों में से तीसरे श्रमिक की दृष्टि अपनी क्रिया के पीछे यथार्थ थी।

तात्पर्य यह है कि क्रिया तो वही है, लेकिन दृष्टिबिन्दु भिन्न होने से सब कुछ बदल जाता है। दृष्टिबिन्दु भिन्न होने से फूल ही शूल बन जाते हैं और शूल भी फूल।

यतना : विसर्जित एवं समर्पित क्रिया

साधक भी किसी प्रवृत्ति या क्रिया में प्रवृत्त होते हुए अपने आपको उसी क्रिया में तल्लीन कर दे, समर्पित कर दे, और वीतराग प्रभु की आज्ञा समझकर भक्तिभाव से उस क्रिया को मस्ती और सावधानी के साथ करे तो उस यत्नवान साधक के पास पाप कहाँ फटक सकते हैं? पाप वहीं आते हैं, जिस क्रिया के साथ क्रोध, अभिमान, स्वार्थ, लोभ, माया, मोह आदि दूषित भाव हों, वहाँ क्रिया चाहे फूंक-फूंककर की जाए, फिर भी उपर्युक्त विकारों के कारण वह क्रिया यतनापूर्ण नहीं बनती, वह धर्म या पुण्य के बजाय पाप ही प्रतिफल के रूप में लाती है।

इसलिए यतनापूर्ण क्रिया का रहस्य यही है कि साधक अपने 'मैं' को विसर्जित कर दे, 'अप्पाणं वोसिरामि' कर दे, और चित्त को उस क्रिया में तन्मय कर दे।

च्वांगत्सु ने एक बढ़ई के बारे में कहा था कि वह कोई चीज बनाता तो इतनी सुन्दर और आकर्षक होती कि लोग कहते थे—यह किसी मनुष्य की कृति नहीं, देवता की है। एक राजा ने उस बढ़ई से पूछा—"तुम्हारी कलापूर्ण क्रिया में क्या जादू है ?" वह बोला—"जादू कुछ नहीं, राजन् ! थोड़ी सी सावधानी की बात है। मैं किसी चीज को बनाने की क्रिया प्रारम्भ करने से पहले अपने आपको मिटा देता हूँ। सबसे पहले मैं अपनी प्राणशक्ति के अपव्यय को रोकता हूँ, साथ ही चित्त को पूर्णतः शान्त बनाता हूँ। तीन दिन इसी स्थिति में रहने पर मैं उस वस्तुनिर्माण क्रिया से होने वाले मुनाफे, लाभ आदि की बात से विस्मृत हो जाता हूँ। पाँच दिनों के बाद तो मैं उससे मिलने वाले यश, श्रेय, प्रतिष्ठा आदि को भी भूल जाता हूँ। सात दिन के पश्चात् मुझे अपनी काया भी विस्मृत हो जाती है। इस भाँति मेरा सारा कौशल एकाग्र हो जाता है। समस्त बाह्य और आभ्यन्तर विघ्न एवं विकल्प लुप्त हो जाते हैं। फिर तो 'मैं' भी व्युत्सर्जित हो जाता हूँ। इसलिए मेरी क्रिया या कृति दिव्य प्रतीत होती है।"

उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में भी साधु की चर्या के प्रसंग में बताया गया है कि साधु अपने गुरुदेव से पूछता है कि अब मैं तप करूँ, वैयावृत्य करूँ, स्वाध्याय करूँ या ध्यान ? इस प्रकार अपने अहं को विसर्जित करके वह गुरु-आज्ञा से किसी क्रिया में लगता है, उसमें अपने आपको विस्मृत, विसर्जित एवं समर्पित कर भगवदाज्ञा समझकर भक्तिभाव से तन्मयतापूर्वक करता है। यही यतनापूर्ण क्रिया है।

यतना की इन विशेषताओं को देखते हुए ही महर्षि गौतम के हृदय में यह जीवनसूत्र स्फुरित हुआ—

'चयंति पावाइं मुणिं जयंतं।'

मैं यहाँ यतना के एक अर्थ पर ही विश्लेषण कर सका हूँ। यतना के अन्य अर्थों पर अगले प्रवचन में प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा। ☆

३३

यत्नवान मुनि को तजते पाप : २

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

कल मैंने आपके समक्ष गौतम कुलक के अट्ठाइसवें जीवनसूत्र पर प्रकाश डाला था। परन्तु इसी विषय से सम्बन्धित अन्य पहलुओं तथा यतना के अन्य अर्थो पर प्रकाश डालना जरूरी था, इसलिए आज मैं उसी जीवनसूत्र पर अपना चिन्तन प्रस्तुत करूँगा।

यतना का दूसरा अर्थ : विवेक

मैं पिछले प्रवचन में बता चुका हूँ कि यतना केवल प्रवृत्ति ही नहीं है, और न ही केवल निवृत्ति है। यतना प्रवृत्ति-निवृत्ति का विवेक करना है। जहाँ जिस प्रवृत्ति में दोष आने की आशंका हो, वहाँ उससे निवृत्ति करना आवश्यक है। जहाँ निवृत्ति में दोष आने की आशंका हो, वहाँ प्रवृत्ति करना आवश्यक है।

कई लोग प्रवृत्ति करते-करते ऊब जाते हैं या जब उन्हें वृद्धावस्था आ जाती है, तब वे निवृत्ति धारण करना चाहते हैं। परन्तु साधु-जीवन में ऐसी बात नहीं है और न ही होनी चाहिए। अगर साधु किसी अच्छी प्रवृत्ति से घबराता है, ऊबता है या उससे किनाराकशी करना चाहता है, वह भी निवृत्ति के नाम से, तो समझिए कि उसकी वह निवृत्ति यतनायुक्त नहीं है, और वह जिस निवृत्ति की बात कह रहा है, वह भी यतनायुक्त नहीं होगी। किसी भी शुभ या शुद्ध प्रवृत्ति से भागना यतना नहीं है। न ही निवृत्ति के नाम पर आलस्य-पोषण करना, आरामतलबी चाहना यतना है। जो स्वाभाविक एवं दैनिक प्रवृत्ति है, जिससे संयमी जीवन को पोषण मिलता है, उस प्रवृत्ति को विवेकपूर्वक करना ही यतना है।

साधु जीवन में तीन प्रवृत्तियाँ अनिवार्य हैं—(१) आहार, (२) विहार और (३) नीहार।

जब बाह्य तपस्या न हो तब आहार करना आवश्यक है। परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र (अ० २६) में बताया है कि साधु को ६ कारणों से आहार करना चाहिए—

> वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
> तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

साधु-साध्वी इन ६ कारणों में से कोई एक कारण उपस्थित हो, तभी आहार-पानी ग्रहण करें—

(१) क्षुधावेदना—भूख से पीड़ित होने पर,
(२) रुग्ण-ग्लान या बड़ों की सेवा के लिए,
(३) ईर्यासमिति के पालन के लिए,
(४) संयम को टिकाने या निभाने के लिए,
(५) अपने प्राणों को टिकाने के लिए, एवं
(६) धर्मचिन्तन और धर्मपालन के लिए।

आहार-पानी में प्रवृत्ति के लिए यतना (विवेक) की कितनी सुन्दर बात भगवान् महावीर ने कही है। **प्रथम कारण** पर ही विचार कर लें—**साधक सच्ची भूख लगने पर ही भोजन करे**, यह प्रथम कारण का तात्पर्य है। जब साधक अत्यधिक मात्रा में भोजन करता है, या अनियमित रूप से भोजन करता है, तब भूख मर जाती है। वह सच्ची भूख नहीं होती। अतः इस विषय में यतना करना आवश्यक है। भगवद्गीता में योगी के आहार के सम्बन्ध में बताया गया है—

'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतः।'

—"अति भोजन से भी योग-साधना नहीं होती, और न एकान्ततः कम खाने या बिलकुल न खाने से।"

कड़ाके की भूख लगी हो, और आहार छोड़ने का कोई भी कारण न हो, आहार-पानी भी प्रासुक एवं एषणीय उपलब्ध हो, उस मौके पर हठपूर्वक आहार न करना, या किसी के साथ तकरार, कलह, रोष या संघर्ष होगया हो, और आवेश में आकर आहार न करना—यतना नहीं है, बल्कि अयतना है।

अधिक मात्रा में आहार करने से भोजन का पाचन ठीक रूप से नहीं हो पाता। उसके कारण उदर-शूल, गैस, अतिसार, अजीर्ण या सिरदर्द आदि कई बीमारियाँ हो जाती हैं। पहले का खाया हुआ पचा नहीं, उसी बीच और खाना अतिभोजन है। पचने से पूर्व खाने से पहले का भोजन कच्चा रह जाता है। फिर अतिमात्रा में आहार करने पर आलस्यवृद्धि, सुस्ती, शरीर में उष्णतावृद्धि, स्वप्नदोष, वीर्यपात आदि दोष होंगे, साधक का मन स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन-मनन आदि में नहीं लगेगा। इसलिए अतिमात्रा में आहार करना प्रत्येक दृष्टि से दोषयुक्त है।

इसी प्रकार असंतुलित एवं अनियमित आहार करना भी शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। अत्यन्त कम खाना या बिना ही कारण के आवेशवश या सनक में आकर भोजन बिल्कुल न करना भी संयमसाधना की दृष्टि से गलत है।

कई लोग एक ही बार में दोनों टाइम का आहार ठूंस लेते हैं, वह भी स्वास्थ्य,

ब्रह्मचर्य आदि की दृष्टि से हानिकारक है। कई डाक्टर रोगियों को सलाह देते हैं कि थोड़ा-थोड़ा कई बार खाओ। इसके पीछे उनका आशय हल्के और सुपाच्य आहार से ही है। सुना है अलसर एवं भस्मक रोगों में कई बार खाया जाता है। ठूँस-कर खाने से रक्त का संचार उदर की ओर होता है, मस्तिष्क को वह कम मात्रा में मिल पाता है। इस कारण दिमाग को शक्ति न मिलने से कुण्ठा उत्पन्न हो जाती है, और ऐसा व्यक्ति बौद्धिक श्रम नहीं कर पाता।

इसी कारण भूख की पीड़ा सहन न होने पर आहार करने का विधान किया गया है।

दूसरा कारण है—**वैयावृत्य**। किसी रुग्ण, वृद्ध, ग्लान या अशक्त साधु की सेवा में स्वस्थ एवं सशक्त साधु की जरूरत है। परन्तु वह तपस्या करने के नाम पर हठपूर्वक भोजन छोड़ देता है, जिससे उसका शरीर दुर्बल और अक्षम हो जाता है, वह रुग्ण आदि साधु की सेवा करने योग्य नहीं रहता। अत्यन्त दुर्बल और कृश शरीर से भला वह कैसे सेवा कर सकता है? यह यतना नहीं है कि सेवा का कर्तव्य सिर पर आ पड़ा हो, और साधु अविवेकयुक्त होकर उपवास लेकर बैठ जाए। इसलिए वैया-वृत्य (सेवा) करने हेतु साधक को आहार करना आवश्यक बताया है।

तीसरा कारण है—**ईर्यासमितिपूर्वक चर्या करने के लिए**। साधु हठपूर्वक यदि लम्बे उपवास कर बैठता है, उधर शरीर बिलकुल निढाल और अशक्त होने से लड़खड़ाने लगता है, तब वह यतनापूर्वक अपनी गमनागमन क्रिया नहीं कर सकता। करता है तो अयतना होती है, प्राणियों का उपमर्दन भी होना सम्भव है। इसलिए बताया गया कि ईर्यासमितिपूर्वक चर्या करने के लिए साधु आहार करे।

चौथा कारण है—**संयम के लिए**। आहार न करने से अगर संयमपालन में बाधा पहुँचती है, पराधीन होकर असंयम में पड़ना पड़ता है, इन्द्रियों और मन पर संयम रखने में रुकावट आती है तो संयम के पालन या निर्वाह के हेतु भगवान ने आहार ग्रहण करने की आज्ञा दी है।

पाँचवाँ कारण है—**प्राणों को टिकाने हेतु**। मनुष्य प्राण रहते ही धर्मपालन कर सकता है। प्राणों के खत्म होने पर शरीर भी खत्म हो जाता है। फिर साधक धर्माचरण किससे करेगा? अधूरी साधना रहने पर साधक का प्राणत्याग अगले जन्म में सुन्दर प्रतिफल नहीं देता। इसलिए प्राणों को टिकाने के लिए आहार करना आवश्यक बताया है।

छठा कारण है—**धर्म चिन्ता—अर्थात्—धर्मपालन के लिए**। अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का पालन हो सकता है तो सशक्त एवं स्वस्थ शरीर से ही। कोई साधक इतना विवेक न करके आवेशवश आहार-त्याग देता है तो उसका नतीजा यह होता है कि न तो अशक्त शरीर से वह धर्मपालन कर सकता है, और न ही भूखे रहकर वह धर्मक्रिया ठीक से कर सकता है। वह धर्म के विषय में चिन्तन-मनन या इस

समय मेरा क्या धर्म है ? किसको मुझे किस धर्म का उपदेश देना चाहिए, आदि धर्म-चिन्तन नहीं हो सकता। इसलिए शास्त्रकार ने धर्मचिन्तन हेतु साधु को आहार करने की छूट दी है।

जिस प्रकार आहारक्रिया में प्रवृत्ति करने के लिए यत्नाचार (विवेक) बताया है, वैसे आहारक्रिया से निवृत्ति के लिए भी ६ कारण बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं—

आयंके उवसग्गे तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं सरीरवुच्छेयणट्ठाए॥

(१) आतंक उपस्थित होने पर, (२) उपसर्ग आ पड़ने पर, (३) तितिक्षा—कष्टसहिष्णुता के लिए, (४) ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, (५) प्राणियों की दया के लिए, (६) तपस्या के कारण, तथा शरीर का व्युत्सर्ग (आमरण अनशन—संथारा) करने की स्थिति में, इन ६ कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर साधु आहार-त्याग करे।

किसी गाँव, नगर या देश में आतंक छाया हुआ हो, दंगाफसाद हो, कोई हत्याकाण्ड हो रहा हो, उस समय मुनि को आहार न मिलने पर मन में आर्त्त-ध्यान न करके स्वयमेव प्रसन्नता से आहार-पानी का त्याग आतंक के दूर न होने तक या कर्फ्यू आदि प्रतिबन्ध न हटने तक कर देना चाहिए। इसी प्रकार भूकम्प, बाढ़, महामारी आदि किसी प्राकृतिक प्रकोप या दैवी या मानुषी किसी उपसर्ग के आ पड़ने पर भी मन में आर्त्तध्यान न करके समभावपूर्वक आहार-पानी का त्याग करें।

इसी प्रकार किसी समय प्रासुक, एषणीय या कल्पनीय आहार-पानी का योग न मिलने पर अथवा बीमारी, अशक्ति या गुरु आदि प्रिय जनों का वियोग होने के प्रसंग में समभाव से सहिष्णुता की दृष्टि से आहार-पानी का त्याग करे। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए भी आहार-पानी का त्याग करना पड़े, तो सहर्ष त्याग करे, इसी प्रकार धर्मरुचि अनगार की तरह जीवदया के लिए भी आहार-पानी का त्याग करना पड़े तो प्रसन्नतापूर्वक करे। कोई विशिष्ट तप किया हो, तब तो आहार या आहार-पानी का त्याग होता ही है। किन्तु तपस्या के दौरान वह मन ही मन आहार-संज्ञावश अमुक आहार आदि की कल्पनाएँ या योजनाएँ न बनाए, पारणे में अमुक आहार के सपने न सँजोए। इसी प्रकार आमरण अनशन (संलेखनापूर्वक संथारा) किया हो तब भी आहारादि की मन में भी कल्पना न करे। कदाचित् रोग मिट जाने या शरीर स्वस्थ हो जाने पर भूख लगी तो भी प्रतिज्ञाबद्ध होने के बाद आहारादि त्याग निर्जरा का कारण समझकर उसके लिए मन को विचलित न करे। आहारक्रिया से निवृत्ति के ये ६ कारण यतना (विवेक) के ही प्रकार हैं।

इसके अतिरिक्त ग्रहणैषणा, गवेषणा और परिभोगैषणा का विवेक आहारादि के विषय में करना भी यतना है। उद्गम, उत्पादन और एषणा के आहारादि

सम्बन्धी ४२ दोषों को वर्जित करके लेना और उपभोग करना भी विवेकपूत होने के कारण यतना है। मतलब यह है कि आहारादि के विषय में क्या खाना—इतना ही विवेक पर्याप्त नहीं है, अपितु कैसे खाना, कितना खाना, कब खाना, किस दृष्टि से खाना, किन नियमों से मिले तो खाना ? इत्यादि विवेक भी आवश्यक है।

अब आइए नीहार के सम्बन्ध में विवेक पर। जैसे आहार के विवेक के सम्बन्ध में साधक को सैकड़ों हिदायतें दी गई हैं, वैसे ही नीहार के विषय में भी। मलोत्सर्गक्रिया ठीक न होने से या कोष्ठबद्धता होने से अथवा नियमित समय पर मलविसर्जन न करने से अपानवायु दूषित होती है, उससे बवासीर, भगंदर, चर्मरोग आदि अनेक व्याधियाँ हो जाती हैं। मलोत्सर्गक्रिया ठीक न होने से पेट भारी-भारी रहता है, मानसिक प्रसन्नता नहीं रहती और न ही बौद्धिक श्रम ठीक होता है। उससे आलस्य, जड़ता और बुद्धिमन्दता होती है। शास्त्र में महाव्याधियों के कारणों में इन कुदरती हाजतों का रोकना भी एक कारण बताया गया है। शास्त्र में तो इन प्राकृतिक आवेगों को रोकने का जगह-जगह निषेध किया है। दशवैकालिक सूत्र में साधक को गोचरी जाते समय आवेगों को रोकने का स्पष्ट निषेध किया है—

"गोयरग्गपविट्ठोउ वच्चमुत्तं न धारए"

इसलिए आहार की तरह नीहार सम्बन्धी विवेक भी यतना से सम्बन्धित है। वेगनिरोध महारोग का कारण होने से उसका विवेक न करने पर दूसरों से सेवा लेने, पराधीन बन जाने तथा चिकित्सा में आरम्भ-समारम्भवृद्धि का पाप बढ़ जाने की संभावना है।

विहार को भी शास्त्रकारों ने यतना (विवेक) की कसौटी पर कसा है। विहार का अर्थ है—नियमित उठने-बैठने, सोने-जागने की चर्या। जिस प्रकार एक साथ अत्यधिक खा लेना सब प्रकार से हानिकर है वैसे ही एक साथ अत्यधिक बैठे रहना, खड़े रहना, सोते रहना या जागते रहना, अत्यधिक घूमते रहना या बहुत ज्यादा भ्रमण करना भी स्वास्थ्य, शान्ति और संयम की दृष्टि से हानिकर है, यह अयतना है। इन सब क्रियाओं को अत्यधिक करने से या तो अग्निमन्दता आ जाती है, या जीवनीशक्ति क्षीण होती है। वास्तव में प्रत्येक क्रिया के साथ विवेक और संतुलन होना आवश्यक है। शास्त्रकारों ने जगह-जगह इन क्रियाओं में संतुलन और विवेक रखने का संकेत किया है। इन सब क्रियाओं को यतनापूर्वक (विवेक और संतुलनपूर्वक) न करने से रोगोत्पत्ति, परवशता, स्वास्थ्य और शक्ति का नाश आदि होते ही हैं, फिर आरम्भ-समारम्भ आदि पापों में वृद्धि होनी भी स्वाभाविक है।

विहारचर्या में दैनिकचर्या से सम्बन्धित सभी बातें आ जाती हैं। जैसे अत्यधिक मात्रा में उठने-बैठने, सोने-जागने आदि का निषेध किया गया है, वैसे ही अविवेकपूर्वक उठने-बैठने, सोने-जागने आदि का भी निषेध है। आरोग्यशास्त्र की दृष्टि से साधक के लिए निश्चिन्त न बैठना, झुककर या अकड़कर बैठना अथवा लेट

की हड्डी को सीधा रखकर न बैठना हानिकारक है, वह जैनशास्त्र की दृष्टि से भी अयतनाकारक है। बाईं करवट सोना स्वास्थ्य के लिए ठीक बताया गया है, इसी प्रकार लेटे-लेटे पढ़ना या अत्यधिक मोटी कोमल गुदगदी शैय्या पर सोना भी वर्जित किया है। आलस्यवश बिना प्रयोजन, नींद न आती हो तो भी पड़े रहना, तथा अनेक चिन्ताएँ लेकर या कामोत्तेजक अश्लील साहित्य या दृश्य को पढ़-सुन या देखकर सोना भी यतना में बाधक है। जागकर भी रात को जोर-जोर से चिल्लाना, बोलना अथवा दूसरे साधुओं या लोगों की नींद हराम करना भी यतना के खिलाफ है।

इसी प्रकार विहारचर्या के अन्तर्गत श्वासक्रिया भी आती है। श्वासक्रिया में भी विवेक (यतना) रखना परमावश्यक है। श्वास-क्रिया नाक के बजाय मुँह से लेना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। इसीप्रकार गंदी, विकृत, घिनौनी, दुर्गन्धयुक्त या नमी वाली जगह में रहकर श्वास लेना भी रोगवर्द्धक है, रात को वृक्ष के नीचे सोने से वृक्ष की कार्बनगैस श्वास के साथ प्रविष्ट होती है और वह मनुष्य की आक्सिजन (प्राणवायु) को खींच लेती है।

इसी प्रकार साधु को बोलने की क्रिया में यतना (विवेक) रखना अत्यावश्यक है। क्या बोलना, कैसे बोलना, कब बोलना, कितना बोलना? आदि विवेक वाणी की क्रिया के विषय में रखना चाहिए। कई लोग कहते हैं कि बोलने से दोष आता है, विवाद बढ़ जाता है, संघर्ष हो जाता है, इसलिए साधु को सर्वथा मौन हो जाना चाहिए, बोलने की क्रिया से निवृत्त हो जाना चाहिए। परन्तु एकान्तरूप से यह बात ठीक नहीं। जहाँ साधु को यह लगे कि बोलने से व्यर्थ का विवाद बढ़ने की, कलह होने की, द्वेष और वैर बढ़ने की आशंका है, वहाँ उसे अवश्य ही बोलने की क्रिया से निवृत्ति लेना है, परन्तु जहाँ बोलना आवश्यक है, किसी को अपनी बात समझाना या सन्मार्ग बताना आवश्यक है, वहाँ उसे बोलने की प्रवृत्ति से दोष आने की शंकामात्र से निवृत्त नहीं होना चाहिए। वहाँ संयमपूर्वक, यतनापूर्वक वचनशुद्धि का विवेक रखते हुए बोलना शास्त्र (उत्तराध्ययन अ० २४) में निर्दिष्ट है—

कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया।
हासं भए मोहरिए विकहासु तहेव य ॥९॥
एयाइं अट्ठठाणाइं परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियंकाले भासं भासिज्ज पन्नवं ॥१०॥

"क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य (व्यर्थ बकवास) एवं विकथाएँ, इन आठ स्थानों से युक्त वाचिक क्रिया को छोड़कर प्रज्ञावान (विवेकी) एवं संयमी साधु अवसर आने पर, असावद्य (निरवद्य) एवं परिमित वचन बोले।"

दशवैकालिक सूत्र का सातवाँ अध्ययन तो सारा का सारा संयमी साधु की वाक्यशुद्धि के निर्देशों से भरा है। अतः वाणी की क्रिया से केवल निवृत्ति करना ही

साधुजीवन का लक्ष्य नहीं, अपितु निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का विवेक करके चलना ही उसके लिए अभीष्ट है।

वाणी पुण्य का भी कारण है और पाप का भी। इसलिए वाणी का प्रयोग और उपराम बहुत ही सावधानी से करना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदासजी ने एक दोहे में बहुत ही सुन्दर कह दिया है, इस सम्बन्ध में—

> प्रेम-वैर अरु पुण्य-अघ, यश-अपयश, जय-हान।
> बात बीज इन सबन को, 'तुलसी' कहहिं सुजान॥

ऐसे ही बिना किसी प्रयोजन के आवेश में आकर मौन कर लेने और अंदर ही अंदर किसी के प्रति द्वेष, रोषवश घुटते रहने, कुढ़ते रहने से वह वाणी की निवृत्ति पुण्यजनक नहीं, पापजनक ही बनेगी। मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है, इस प्रसंग पर—

किन्हीं जाट-जाटनी में एक बार आपस में झगड़ा हो गया। इससे परस्पर बोलचाल बंद हो गई। दोनों के रहने का झोंपड़ा तो एक ही था। फलतः रात को दोनों एक दूसरे से विपरीत दिशा में मुंह करके सो गये। मन ही मन दोनों घुटते रहे, एक दूसरे के विरुद्ध चिन्तन करते रहे, पर बातचीत बिलकुल नहीं की। खैर, रात तो किसी तरह बीत गई। सूरज उगते ही किसान लोग खेतों पर जाने लगे। पर जाट कैसे जाता? वह तो भूखा था। इधर जाटनी ने सोचा—ये कैसे आदमी हैं, सब लोग खेतों में जा रहे हैं, ये निश्चिन्त बैठे हैं यहाँ। खेत में नुकसान हो रहा है काम के बिना। आखिर जाटनी ने जाट के साथ न बोलने की अपनी टेक रखते हुए एक तरकीब निकाली। उसने जाट के सामने न देखकर दूसरी ओर मुंह करके कहा—

"लोग चाल्या लावणी, लांग क्यूं नी जाय जी?"

अर्थात्—'गाँव के किसान फसल काटने जा रहे हैं, ये क्यों नहीं जाते?'

जाट भी इसी तरकीब को अजमाते हुए मुंह फेरकर बोला—

"लोग चाल्या खाय-पीय, लोग कांई खाय जी?"

इस पर जाटनी ने भी उसी तरह मुंह फेरकर उत्तर की पूर्ति की—

"छींके पड़ी राबड़ी, उतार क्यूं नी लेय जी?"

तब जाट ने मामला समेटते हुए कहा—

"अब तो आपां बोल्या चाल्या थाल क्यूं नी देय जी।"

बस झगड़ा समाप्त। जाटनी ने छींके पर से रोटी-राबड़ी उतारकर भोजन परोस दिया। जाट खा-पीकर खेत पर काम करने के लिए चल पड़ा।

हाँ, तो जाट-जाटनी की तरह रोष या द्वेषवश वाणी की क्रिया से निवृत्त होना कोई सफलता नहीं है, बल्कि असफलता है।

इसी प्रकार कई साधक दूसरों को धोखा देने या ठगने अथवा अपने जाल में फँसाने के लिए वचनक्रिया से निवृत्त होकर मौनी बनकर रहने का ढौंग करते हैं, परन्तु एक न एक दिन उनकी पोल खुल जाती है। लोकश्रद्धा उनके प्रति समाप्त हो जाती है।

आपने एक वंचक भक्त की कहानी सुनी होगी, जिसने मौन धारण करके भक्तजी के पड़ौस में रहने वाले एक ग्वाले की गाय के खरीदार को ठग लिया। जब उसने भक्तजी पर विश्वास करके गाय के सम्बन्ध में पूछा तो उसने मौन ही मौन में सामने पड़े हुए एक पत्थर की ओर इशारा कर दिया। खरीदार समझा कि गाय ४-५ सेर दूध देती होगी, पर घर ले जाने के बाद अनेक कोशिशों के बाद भी जब गाय ने जरा भी दूध न दिया, तब उस खरीदार के मन में भक्तजी के प्रति संदेह और अविश्वास पैदा हुआ। वह उनसे समाधान करने के लिए आया तो आशय बदलते हुए भक्तजी बोले—"मैंने कब कहा था कि यह गाय ५ सेर दूध देती है। मैंने पत्थर की ओर इशारा इसलिए किया था कि तू समझ जाए कि यह पत्थर दूध देता हो तो यह गाय दूध दे। पर तू न समझा, इसका मैं क्या करूँ?"

इस प्रकार जो लोग वाणीक्रिया से दूसरों को ठगने के लिए निवृत्ति धारण करते हैं, वे यतना तो क्या करते हैं, अनेक पापकर्मों का उपार्जन करके संसार में बार-बार जन्ममरण करते रहते हैं।

इसी प्रकार कई साधक स्वाध्याय करके बोलने की प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु अगर वे अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करते हों, स्वाध्यायकाल में स्वाध्याय न करते हों तो उनकी यह प्रवृत्ति यतना (विवेक) युक्त नहीं कही सकती।

कई लोग तो भगवान का भजन करने का बहाना करके सारी-सारी रातभर भजन करते हैं, कीर्तन करते हैं, जोर-जोर से चिल्ला-चिल्लाकर करते हैं या लाउडस्पीकर लगाकर उस पर 'हरे राम हरे कृष्ण' की रट लगाते हैं। इससे दूसरों की नींद में खलल पहुँचती है। भजन करना अच्छा है, पर इसमें भी विवेक की आवश्यकता है। रात को जब कि सब लोग सोये हों, तब जोर-जोर से बोलकर भजन करने में क्या तुक है? क्या भगवान को सुनाने के लिए आपको भजन करना है? भगवान को तो आपके भजन सुनने की या अपने गुणगान सुनने की कोई अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वे तो कृत-कृत्य हो चुके हैं, उन्हें अपने गुणगान से कोई मतलब नहीं है।

यदि कहें कि भगवान को तो अपनी भक्ति या पूजा-सेवा से कोई मतलब नहीं, कोई करे चाहे न करे, परन्तु भक्त को तो भगवान की स्तुति गुण-कीर्तन, गुणगान या भक्ति जोर-जोर से बोलकर करनी चाहिए, ताकि भगवान के ध्यान में भक्त या भक्त की भक्ति आ जाए और भक्त पर संकट में समय वे तुरन्त दौड़े आएँ मगर आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि भक्त यदि जोर-जोर से न बोलकर मन ही मन मन्द स्वर में धीरे-धीरे बोलता है, तब भी भगवान को उसकी भक्ति का पता लग जाता है। भगवान कोई बहरे नहीं हैं या अल्पज्ञ नहीं हैं कि उन्हें भक्त के हृदय से उठने वाली भक्ति की

बहरा या पता न चले। वे तो अन्तर्यामी हैं, वे भक्त की जोर-जोर से की हुई आवाज को नहीं, किन्तु भक्त के हृदय के भावों को देखते हैं, भगवान के यहाँ भावों की कीमत है, जोर-जोर से बोलकर प्रदर्शन करने की नहीं। यही कारण है, जैन साधु के लिए पहर रात बीतने पर जोर जोर से चिल्लाकर स्वाध्याय, भजन या स्तुति, गुणोत्कीर्तन करने का निषेध है। अगर रात्रि में स्वाध्याय करना हो तो वह स्वाध्यायकाल में ही करेगा. इसी तरह भजन, स्तुति या गुणोत्कीर्तन करना होगा तो वह मन ही मन या अतीव मन्द स्वर में करेगा। वह भक्ति का प्रदर्शन नहीं करेगा। किस समय स्वाध्याय या भजन-कीर्तन आदि के रूप में वाणी की प्रवृत्ति करनी है और किस समय वाचिक क्रिया के रूप में इनसे निवृत्ति करनी है, यह विवेक यतनाशील साधक अवश्य करेगा।

इसी प्रकार साधक को यथासमय भजन या नामजप की प्रवृत्ति अच्छी होते हुए भी इतना विवेक तो अवश्य करना पड़ेगा कि यह भजन या नामजप की प्रवृत्ति कहीं प्रदर्शन या आडम्बर तो नहीं है? केवल प्रतिष्ठा का साधन तो नहीं बन रही है? अथवा यह प्रवृत्ति दूसरों को ठगने और अपने चंगुल में फँसाने का साधन तो नहीं हो रही है? अगर ऐसा हो रहा है तो उससे यतना के बदले अयतना और पाप से मुक्ति के बदले मायारूप पाप की वृद्धि होने की संभावना है।

मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है, इस विषय को स्पष्ट करने के लिए—

एक बार कहीं भयंकर दुष्काल पड़ गया। इस कारण भूखे मरते हुए कुछ लोग भगवा वस्त्रधारी बाबा—संत बन गए। परन्तु साधु का वेष धारण करने से साधुता नहीं आ जाती, वह तो अन्तर् की चीज है। अन्दर में त्याग, वैराग्य न हो तो बाह्य वेष कभी-कभी धूर्तता का कारण बन जाया करता है। ऐसे ही दो धूर्तों ने भी साधु-वेष धारण कर लिया और वहीं जंगल में आसपास दो पहाड़ियाँ थीं, उन पर अलग-अलग अपनी धूनी रमा ली। चरस और गांजे की मस्ती में वे जोर-जोर से राम-राम की धुन लगाते थे, परन्तु उनका मन कहीं और ही माया में था। उनका लक्ष्य था—अपने रामनाम के भजन एवं कीर्तन से उन पहाड़ियों से गुजरते हुए पथिकों को अपनी ओर आकृष्ट करके लूटना और जान से मार डालना।

एक दिन एक गाँव के ठाकुर कुछ ऊँट, घोड़े आदि वाहनों के साथ वहीं जा रहे थे। वे उस रास्ते से गुजरे कि ऊपर से 'राम-राम' की धुन सुनाई दी। सोचा—'यहाँ कोई साधु-संन्यासी रहते हैं, चलें उनके दर्शन करके उपदेश के दो शब्द भी सुन लें।' अतः ठाकुर साहब पहाड़ी पर आए और बाबाजी को दण्डवत् प्रणाम किया। पर वे तो रामनाम ही धुनाते जा रहे थे।

इसी बीच बाबा ने एक दूसरे वस्त्रधारी पथिक को उन दोनों पहाड़ियों के बीच से गुजरता हुआ देखा। बाबा ने सोचा—'यहाँ ठाकुर छाती पर बैठे हुए हैं, यह सिर

खाली जा रही है। इस पथिक को कैसे लूटा जाए ?' अपना जाना अशक्य जानकर उस बाबा ने दूसरी पहाड़ी वाले बाबा को संकेत करने के लिए राम राम का जप छोड़कर **'राधा-कृष्ण'** का जोर-जोर से रटन करना शुरू किया। ठाकुर पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा कि "बाबाजी तो समदर्शी हैं, वे राम का ही नहीं, कृष्ण का भी जप करते हैं।" परन्तु बाबाजी का आशय दूसरी पहाड़ी वाले बाबा जिसका नाम कृष्ण (किशन) था, को इस आशय का संकेत करना था कि "रा = राह में, धा = दौड़ यानी अरे कृष्ण ! मैं तो यहाँ रुका हुआ हूँ, राह में जो आदमी जा रहा है, उसे लूटने के लिए तू जल्दी दौड़कर पहुँच।"

अपने साथी का संकेत मिलते ही किशन बाबा पहाड़ी की ओट में जा पहुँचा। उसने वहाँ से गुजरते हुए आदमी को पकड़कर एक पेड़ से कसकर बाँध दिया। फिर पहाड़ी पर लौटकर जोर-जोर से बोलने लगा—"**हर हाजरा हजूर, हर हाजरा हजूर !**" किशन बाबा का यह संकेत था कि "यह आदमी हाजिर है, अब क्या करूँ ?" परन्तु ठाकुर साहब ने जब यह सुना तो सोचा—"अरे ! एक बाबाजी वहाँ भी भजन कर रहे हैं।"

अब पहले बाबा ने 'राधा-कृष्ण' का जाप छोड़कर **'दामोदर कुंज बिहारी'** का जाप चालू कर दिया। इन शब्दों से बाबाजी का किशन बाबा को संकेत था कि "दाम तो छीन लो और कूँजे की तरह उसका सिर तोड़ दो—यानी काटकर कहीं डाल दो और बिहार कर (भाग) जाओ।" ठाकुर साहब पर बाबाजी के द्वारा अनेक नामों से प्रभु को पुकारने का बहुत प्रभाव पड़ा।

उधर किशन बाबा फिर नीचे आया, राहगीर की जेबें टटोली तो उसके पास कुछ नहीं निकला, क्योंकि वह कोई धोबी था, उसने साहूकारों के स्वच्छ कपड़े जरूर पहन रखे थे, मगर पास में एक भी पैसा नहीं था। अतः किशन बाबा फिर ऊपर जाकर पुकारने लगा—"**निरंजन निराकार, निरंजन निराकार।**" इस संकेत का अर्थ था—वह तो निरंजन निराकार है, यानी उसके पास तो कुछ भी नगदनारायण नहीं है। ठाकुर साहब ने सोचा—"वाह उधर निरंजन निराकार का भी जाप चल रहा है।" तब यह बाबा 'दामोदर कुंज विहारी' का जाप छोड़कर कहने लगा—'**रणछोड़ राय, रणछोड़राय।**" इससे किशन बाबा के लिए संकेत था—"उसे अरण्य (जंगल) में छोड़ दो।" परन्तु ठाकुर साहब ने सोचा—"बाबाजी तो 'रणछोड़राय' का भी जाप करते हैं।" ऐसे ही साधुओं के लिए महात्मा सत्तारशाह ने कहा है—

> क्यूँ साधु को भेख लजावे, साधु-घर तो न्यारो है।
> जोग लियो, जुगती नव जाणी, झूठो ढोंग पसारो है॥

हाँ, तो मैं कह रहा था कि जो साधु भजन या नामजप में प्रवृत्ति-निवृत्ति का विवेक छोड़कर दूसरों को ठगने के लिए उन दो धूर्त बाबाओं की तरह भजन या नाम-

जप करते हैं, वे यतना से कोसों दूर हैं, पाप से छुटकारा पाने के बदले वे भी मन पाप का बोझ और बढ़ा लेते हैं। इसलिए वाणी की क्रिया में कहाँ निवृत्ति हो, कहाँ प्रवृत्ति ? इसका विवेक करना ही यतना है, जिसे यत्नवान साधु करता है।

इसी प्रकार चलने की क्रिया में भी यत्नवान साधु को प्रवृत्ति और निवृत्ति का विवेक करना आवश्यक है। साधु को इतना विवेक होना चाहिए कि कहाँ चलना है ? कहाँ नहीं जाना है ? व्यर्थ ही भटकने का कोई मतलब नहीं होता। गमनक्रिया कहाँ, कब, कितनी दूर और कैसे करनी है और कहाँ, कब, कितनी दूर और किस प्रकार नहीं करनी है ? यह विवेक करना ही गमनक्रिया की यतना है।

कई साधु जब कोई भक्त या श्रावक न देखता हो, तब तो बिना देखे, समय का ख्याल रखे बिना और बिना ही सोचे धड़ाधड़ चलते जाते हैं, और जब किसी श्रावक या भक्त को, या विपक्षी सम्प्रदाय के व्यक्ति को देखते हैं तो कदम फूंक-फूंक-कर रखने लगते हैं, यतनापूर्वक चलने का दिखावा करते हैं, यह गमनक्रिया में विवेक या यतना नहीं है, यह निरा दम्भ है, इससे कोई कल्याण नहीं होता। यतनापूर्वक गमन का प्रदर्शन माया से लिपटा हुआ होता है, उससे पाप आते हुए कैसे रुकेंगे ? फूंक-फूंककर चलने की क्रिया से कैसे परवंचना होती है ? इसके लिए एक रोचक उदाहरण लीजिए—

एक बार बूढ़े सिंह को अत्यन्त भूख लगी; परन्तु सिंह की वृत्ति के अनुसार वह दूसरे के द्वारा मारकर लाया हुआ मांस तो खा नहीं सकता था, स्वयं मारने जितनी ताकत शरीर में नहीं रह गई थी। अतः दूसरा प्राणी स्वयं मेरे निकट आजाए, इस दृष्टि से वह यतनापूर्वक फूंक-फूंककर चलने का अभिनय करने लगा। एक बंदर पेड़ की डाली पर बैठा-बैठा सिंह की इस यतनापूर्वक चलने की साधुवृत्ति देखकर बहुत प्रभावित हुआ। बंदर ने पेड़ की डाली पर बैठे-बैठे ही पूछा—"महाराज ! आप तो साधु की तरह बहुत ही फूंक-फूंककर कदम रखते हैं। आपमें यह जीवदया की वृत्ति कब से आ गई ?" सिंह बोला—"भाई ! मैंने अपनी जिन्दगी में बहुत-से जीवों को मारा, अब मैं बूढ़ा हो चला हूँ, अपनी अंतिम जिन्दगी में मैं जीवदया की वृत्ति धारण करके प्रत्येक कदम संभल-संभलकर रखता हूँ ताकि कोई भी जीव न मर जाए।"

सिंह की नकली यतना से प्रभावित होकर बन्दर उस साधुरूप सिंह के चरण छूने के लिए उसके निकट आया। परन्तु यह क्या ? बन्दर के निकट आते ही सिंह ने उसे दबोच लिया। मगर बन्दर भी चालाक था। वह सिंह की धूर्तता समझ गया और जोर से हँसने लगा। बन्दर को हँसते देख सिंह ने पूछा—"अरे मृत्यु के समय हँसते क्यों हो ?" बन्दर ने कहा—"आप मुझे थोड़ी देर के लिए छोड़कर [illegible] दीजिए।" सिंह ने विश्वास करके बन्दर को छोड़ दिया। छोड़ते ही बन्दर उछलकर कूदा, पेड़ की डाली पर जा पहुँचा और कहने लगा—"तुम जैसे कपटी शठ ?

दयालुओं को देखकर ही मुझे हँसी आ गई थी। दूसरों को फँसाने के लिए तुमने कपटक्रिया का अच्छा जाल बिछा रखा है।"

बन्धुओ ! साधुजीवन में इस प्रकार की कपटक्रिया नहीं होनी चाहिए, इस प्रकार यतना का नाटक करने से पापकर्म का बन्ध होता है, जिससे पुनः-पुनः जन्म-मरण करना पड़ता है।

कायिकक्रिया से निवृत्ति का मूल्य

आज सारे संसार में प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ गई है। क्या शरीर से, क्या वाणी से और क्या मन से, तीनों से बहुत अधिक प्रवृत्ति हो रही है। साधु वर्ग में भी देखा जाए तो कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रवृत्तियाँ बहुत ही अधिक बढ़ हैं। कई-कई साधुओं को व्यस्तता ही अधिक पसंद है। वे दिनभर भीड़ से घिरे रहने में ही अपना गौरव समझते हैं। ऐसे महानुभाव आवश्यक दैनिक प्रवृत्ति करना भी भूल जाते हैं और दिनभर कार्यक्रमों के चक्कर में पड़े रहते हैं। अभी एक जगह प्रवचन का कार्यक्रम है तो घन्टे बाद दूसरी जगह, फिर तीसरे या चौथे घन्टे में विद्यालय में कार्यक्रम है। वहाँ से फारिग हुए कि लोगों का जमघट आ घेरता है और इधर-उधर की, राजनीति की, समाज और परिवार की, न जाने कहाँ-कहाँ की बातें उनके सामने छेड़ते रहते हैं। ऐसे प्रसिद्ध और तेजस्वी साधु अपनी शक्ति, समय और बुद्धि प्रायः इन्हीं प्रवृत्तियों में लगाये रहते हैं। कई बार तो वे शारीरिक वेगों का भी निरोध कर लेते हैं। इस अत्यधिक प्रवृत्ति से जीवनीशक्ति नष्ट हो जाती है। अत्यधिक दौड़-धूप और सक्रियता से श्वास की गति तीव्र हो जाती है, वही शक्ति के अधिक व्यय का कारण बनती है। आज अधिकांश साधकों, खासकर प्रसिद्ध साधुओं में ब्लेडप्रेशर (रक्तचाप), मधुमेह, कायिक तनाव, मस्तिष्कीय तनाव एवं अन्य अनेक बीमारियाँ पाई जाती हैं। प्रवृत्ति-बहुलता या अतिव्यस्तता ही इन सबका मुख्य कारण है। इन मानसिक विकृतियों एवं शारीरिक व्याधियों से बचने का एकमात्र साधन है—काया की स्थिरता, अतिव्यस्तता या अतिप्रवृत्ति से निवृत्ति।

वास्तव में देखा जाए तो प्रवृत्ति करने के बाद उसमें आए हुए दोषों की शुद्धि के लिए निवृत्ति आवश्यक है। क्रिया-निवृत्ति का मूल्य क्रिया-प्रवृत्ति से कम नहीं है। न करने का मूल्य शान्तचित्त से सोचने पर करने से अधिक प्रतीत होगा। परन्तु आज के इस प्रवृत्तिबहुल युग में निवृत्ति का मूल्य बुद्धिवादियों की समझ में नहीं आता। प्राचीनकाल का साधक अतिप्रवृत्ति नहीं करता था, वह दिनभर में जो कुछ भी प्रवृत्ति करता, उसकी शुद्धि के लिए रात्रि को निवृत्ति अपनाता, और प्रतिक्रमण, ध्यान, स्वाध्याय, मौन आदि द्वारा शुद्धीकरण करके पुनः प्रवृत्ति करता।

आज के युग में सारा जोर प्रवृत्ति पर दिया जा रहा है। क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक और क्या धार्मिक सभी क्षेत्रों के अग्रगण्य लोग प्रवृत्ति करने वाले को कर्मठ और निवृत्ति करने वाले को अकर्मण्य मानते हैं। ये लोग कहने लगे हैं, खास-

और से अर्थशास्त्री भी कि जो निठल्ला है, उसके लिए दुनिया में कोई स्थान नहीं है, इसलिए कुछ न कुछ काम करते रहो, निकम्मे मत रहो। परन्तु जैनशास्त्र इस प्रकार से उथले विचार नहीं करता, वह न तो एकान्त प्रवृत्तिपोषक है, और न ही एकान्त निवृत्तिपोषक।

अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से कहें तो—वर्तमान के संघर्ष का सबसे बड़ा कारण है—प्रवृत्ति को एकाधिकार देना। संसार में वर्तमान में जो अशान्ति है, बेचैनी है, तनाव और द्वन्द्व है, उनका मूल कारण है क्रिया को ही महत्त्व देना, अक्रिया का मूल्यांकन न करना। न करने के वास्तविक मूल्य को अस्वीकार करना ही लोक-जीवन की अशुद्धि का मूल कारण है। यतना प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति का विवेक भी करती है। यह साधक को यह प्रेरणा देती है कि जहाँ तक हो सके क्रिया या प्रवृत्ति कम करो, अगर एक प्रवृत्ति से काम चल जाता हो तो दो मत करो। क्योंकि एक सिद्धान्तसूत्र है हमारे यहाँ—'क्रियाएकर्म, उपयोगेधर्म, परिणामेबन्ध' क्रिया से कर्म (आस्रव) आते हैं, उनमें उपयोग होने पर धर्म होगा, तथा जैसे परिणाम होंगे, तदनुसार शुभ या अशुभकर्मों का बन्ध होगा। इस अयतनापूर्वक क्रिया करने से अशुभ (पाप) कर्मों का बन्ध होना स्वाभाविक है। इसीलिए जब गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि कायगुप्ति (काया का कर्मबन्ध से रक्षा) से साधक को क्या लाभ होता है? तब इसके उत्तर में भगवान ने फरमाया कि कायगुप्ति से संवर (कर्मों का निरोध) होता है। संवर होने से काया के भीतर हमारी शुद्ध चेतना के सिवाय विजातीय तत्त्व अन्दर नहीं घुस सकते। क्योंकि बिना यतना के अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति करने पर विजातीय द्रव्य प्रविष्ट होकर जीवन को अशान्त और कलुषित कर देते हैं। कायगुप्ति भी यतना का ही अंग है, जिससे काया को उस प्रवृत्ति से बचाया जाता है, जिस प्रवृत्ति से आत्म-लाभ न हो। केवल प्रतिष्ठा, प्रशंसा या यश-कीर्ति मिल जाना, कोई आत्मिक लाभ नहीं है। जैसे मजदूर को श्रम करने पर उसका पारिश्रमिक मिल जाता है, परन्तु इससे अधिक उसे कोई आत्मिक आनन्द, आत्मिक लाभ या धर्मलाभ नहीं मिलता, वैसे ही निरुद्देश्य विविध कायिक क्रिया करने वाले को भी कुछ बाह्यलाभ मिल जाता है, आन्तरिक लाभ नहीं।

वाचिकक्रिया से निवृत्ति का मूल्य

ज्ञान की भूमिका में ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे बोलने की अपेक्षा कम हो जाती है। उन्हें बोलने की जरूरत ही नहीं होती।

प्रश्न होता है कि तीर्थंकर या केवलज्ञानी तो ज्ञान की सर्वोच्च भूमिका पर है, फिर वे क्यों बोलते हैं ? क्यों उपदेश देते हैं ? बातचीत क्यों करते हैं ? इसका समाधान प्राचीन आचार्य यों करते हैं कि यद्यपि तीर्थंकर या केवली कृतकृत्य हैं, उन्हें बोलने की अपेक्षा नहीं रहती, तथापि तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति या सुस्वर या आदेय आदि शुभनामकर्म की प्रकृति का उदय है, वहाँ तक उन्हें बोलना पड़ता है। दूसरा समाधान यह भी हो सकता है कि परमज्ञानी के हृदय में करुणा जागती है, कि मैंने जो जाना-देखा है अनुभव किया है, उसे दूसरों को भी बताऊँ। इस प्रकार उनकी करुणा का निझर फूटता है, उन अल्पज्ञ, किन्तु जिज्ञासु लोगों को ज्ञान प्रदान करने के लिए और वे उन अज्ञानी अल्पज्ञ मनुष्यों समझाने के लिए बोलते हैं। प्रश्न-व्याकरणसूत्र इस बात का साक्षी है। वहाँ भगवान के द्वारा प्रवचन करने का प्रयोजन स्पष्ट बताया गया है—

"सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।"

"समस्त जगत् के जीवों की रक्षारूप दया से प्रेरित होकर भगवान ने प्रवचन (सिद्धान्त-वचन) कहा है।"

अगर एक ज्ञानी और एक अज्ञानी होता है तो बोलने की जरूरत पड़ती है। किन्तु यदि दोनों हो ज्ञानी मिलते हैं तो उन्हें परस्पर बोलने की जरूरत नहीं पड़ती। वहाँ आत्मा से आत्मा की बात होती है, भाषा के प्रयोग की वहाँ आवश्यकता नहीं रहती।

एक बार यात्रा करता-करता फरीद काशी पहुँचा। वहाँ कबीर से मिलने के शिष्यों के अनुरोध से फरीद कबीर के आश्रम की ओर चल पड़े। उधर कबीर के शिष्यों को पता चला तो उन्होंने भी फरीद को अपने आश्रम में ठहराने के लिए अनुरोध किया। कबीर अपने शिष्यों को साथ ले फरीद से मिलने चल पड़े। कबीर और फरीद दोनों प्रेम से मिले। कबीर ने फरीद को अपने आश्रम में ठहरने को कहा तो फरीद ने स्वीकार कर लिया। फरीद और कबीर दोनों आश्रम में बैठे हैं, पास ही दोनों के शिष्य भी। लेकिन दोनों में से कोई भी नहीं बोलता। घंटा, दो घंटे ही नहीं करीब ४८ घंटे होगए, इस दौरान वे दोनों मिले तो अनेक बार, दोनों की आँखें भी मिलीं, लेकिन दोनों ही मौन रहे। शिष्यों ने अपने-अपने गुरु से पूछा— "हम तो आप दोनों के बोलने की प्रतीक्षा करते-करते थक गए लेकिन आप बोले क्यों नहीं।" दोनों ने अपने शिष्यों का समाधान किया। फरीद बोला—"कबीर जैसे महाज्ञानी से मैं क्या बात करता ? वह तो मेरे मन की बात जानता है।" कबीर ने कहा—"फरीद जैसा ज्ञानी मेरे सामने था, फिर मैं किससे बात करता ? वह तो मेरे मन की सारी बातें जानता है।"

बन्धुओ ! ज्ञानी ज्ञानी से मिलता है तो बोलने की अपेक्षा नहीं रहती, बोलने की अपेक्षा रहती है—अज्ञानी-अल्पज्ञ के सामने। किन्तु भगवान महावीर ने वचनक्रिया की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में एक और यतना (विवेक) बताई है कि अगर कोई झगड़ालू-कलहकारी मिल जाए तो पहले उसे बार-बार समझाओ, उसे सोचने का अवकाश दो, फिर भी वह अपनी जिद पर अड़ा रहे तो वहाँ वाग्गुप्ति कर लो, अर्थात् मौन कर लो, स्वयं वादविवाद करके द्वेष, रोष और कलह मत बढ़ाओ।

एक बार बादशाह ने बीरबल से पूछा था—"मूर्ख से वास्ता पड़े तो क्या करना चाहिए ?" बीरबल ने तपाक से कहा—"हजूर ! मौन हो जाना चाहिए।"

विवाद को वहीं समाप्त करने सबसे सुन्दर उपाय है—वचन की क्रिया से निवृत्ति।

मौन या वाणी की क्रिया से निवृत्ति का **सर्वोत्तम लाभ यह है कि उससे सद्ज्ञान बढ़ेगा।** भाषा का प्रयोग जितना अधिक होता है, उतनी ही अन्तर्ज्ञान में रुकावट आती है। आपने अनुभव किया होगा कि बोलने से पहले मन चंचल होता है, उसके बाद भी चंचलता होती है, और बोलते समय भी चंचलता। यह सारी चंचलता मनुष्य के अन्तर्ज्ञान में बाधा उत्पन्न करती है। यही कारण है कि जिन्होंने अन्तर्ज्ञान की साधना की, वे सब साधक अधिक समय तक मौन रहे, कम से कम बोले। भगवान महावीर से जब वचनगुप्ति के परिणाम के बारे में पूछा गया तो उन्होंने फरमाया कि वचनगुप्ति से निर्विचारिता या निर्विकारता प्राप्त होती है। निर्विचारता का अर्थ है—विचार की स्थिति का समाप्त होना और निर्विकारता का अर्थ है—भाषा से होने वाली विकृति—परिणति का समाप्त हो जाना।

वाणी की क्रिया से निवृत्ति (मौन) का **दूसरा लाभ है—विवादमुक्ति।** बोलने के कारण ही व्यक्तियों में, समाज या राष्ट्र में विवाद उत्पन्न होता है। दो व्यक्ति झगड़ते हैं तब वे दोनों ही बोलते जाते हैं, इससे लड़ाई की आग बुझती नहीं, बल्कि अधिक भड़कती है। दोनों में से एक नहीं बोलता—मौन हो जाता है, तो कलह तत्काल शान्त हो जाती है।

वाणी की क्रिया से निवृत्ति से **तीसरा लाभ है—अहंत्वमुक्ति।** बोलने से, सुन्दर भाषण करने से मनुष्य में गर्व आता है, अहंकार जागता है कि मैं सुन्दर बोलता हूँ, मेरी भाषण शक्ति अच्छी है। विविध भाषाओं का ज्ञान भी [illegible] हो तो अहंकार बढ़ता है—यह तो आपका अपना दिन का अनुभव होगा।

स्वामी रामतीर्थ जब अमेरिका से अपने मिशन में सफल होकर भारत लौटे तो [illegible] पहुँचे। वहाँ स्वामी के दिव्य चरित्र की उनके अनुभव और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

यह कितनी विडम्बना है, भाषाज्ञान के साथ ब्रह्मज्ञान का गठजोड़ करने की। अतः न बोलने से भाषाज्ञान सम्बन्धी अहं से मुक्ति मिल जाएगी।

यद्यपि सामान्य आदमी का काम बोले बिना नहीं चलता, बोले बिना उसका जीवन-व्यवहार ठप्प हो जाता है, अतः बोलना पड़ता है। लेकिन बोलने की क्रिया को जब आप प्राथमिकता दे देते हैं, तब वहाँ यतना नहीं रहती। बोलने को अनिवार्य मान लेने से मानसिक क्षमता कम हो जाती है। मन के द्वारा जो बात कही जा सकती थी, उसमें साधक असमर्थ हो गया। प्राचीनकाल के साधक पाँच हजार मील दूरी पर बैठे हुए अपने किसी भक्त या शिष्य को कोई बात कहना चाहते थे तो वाणी का प्रयोग नहीं करते थे, वे अपने मन से ही विचारों को प्रेषित कर देते थे। विचार-सम्प्रेषण की शक्ति से प्रायः वाणी की प्रवृत्ति कम से कम की जाती थी। मानसिक क्षमता बढ़ाकर ही विचार-सम्प्रेषण किया जा सकता था। आज वाणी का अत्यधिक प्रयोग करके मनुष्य ने अपनी इस मानसिक क्षमता को दुर्बल कर दिया है। प्राचीन-काल में आध्यात्मिक गुरु की आत्मशक्ति इतनी प्रबल होती थी कि उसके पास कोई शंका लेकर बैठता तभी उसका मन ही मन समाधान हो जाता, गुरु को बोलकर कहने की आवश्यकता नहीं होती थी। इसीलिए कहा गया है—

"गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं, शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।"

'गुरु के मौन व्याख्यान से शिष्यों के संशय मिट गये।'

श्वेताम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर एक भाषा में बोलते हैं, और उपस्थित प्राणि-समूह (मनुष्य और मनुष्येतर) उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। वहाँ कोई अनुवादक या अनुवादक मशीन नहीं थी, फिर भी तीर्थंकर की दिव्यध्वनि विभिन्न भाषाओं में स्वभावतः परिणत हो जाती है। न बोलने से यह शक्ति प्राप्त हो सकती है।

वचन की क्रिया से निवृत्ति का **एक महत्वपूर्ण लाभ है—अनिर्वचनीयता के सिद्धान्त की उपलब्धि**। अनिर्वचनीय वह है, जो कहा न जा सके। वेदान्त ने ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा, बौद्धदर्शन ने आत्मा, ईश्वर आदि १० बातों को अव्याकृत कहा इसी प्रकार जैनदर्शन ने कहा कि पूर्ण सत्य अवक्तव्य है—कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। वाणी के द्वारा एक क्षण में हम एक ही धर्म का प्रतिपादन कर सकते हैं, शेष अनन्तधर्म दब जाते हैं, गौण हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कह दिया—समग्र (पूर्ण) वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मा है, इसलिए अवक्तव्य है। फिर चाहे उसका कहने वाला सर्वज्ञ या परमात्मा ही क्यों न हो। इस प्रकार पूर्ण सत्य के विषय में न बोलना ही असत्य और विवाद से बचने का सर्वोत्तम उपाय है।

वचन-निवृत्ति से **सबसे बड़ा लाभ है—सत्य की सुरक्षा**। लोग अधिक बोल-कर बहुत-सी दफा असत्य का समर्थन कर देते हैं। लेकिन न बोलने वाला इस पाप से बच जाता है। गुजराती में कहावत है—**'न बोलवामां नवगुण'**। न बोलने, मौन

करने से आत्मिक शान्ति, आत्मिक ज्ञान एवं आत्मिक आनन्द की निधि को मनुष्य पा सकता है। इसलिए वाणी की क्रिया में प्रवृत्ति की तरह वाणी की क्रिया से निवृत्ति के विषय में विवेक करना यतनाशील साधक का कर्तव्य है।

मानसिक-क्रिया से निवृत्ति का महत्त्व

मन प्रवृत्ति का तीसरा साधन है। मन से साधक चिन्तन और विचार करता है। चिन्तन की प्रवृत्ति में जैसे विवेक की जरूरत है, वैसे चिन्तन से निवृत्ति में भी विवेक आवश्यक है। आज लोग अत्यधिक चिन्तन करते हैं, उसे हमें चिन्तन नहीं, चिन्ता कहना चाहिए। आज तो हम देखते हैं कि जैसे गृहस्थों को अपने परिवार की, स्त्री बच्चों की, व्यापार-धन्धे की एवं समाज या सरकार में सम्मान-प्रतिष्ठा की नाना चिन्ताएँ लगी हुई हैं, वैसे ही कई साधुओं को भी अपने सम्मान-प्रतिष्ठा की, अपनी सफलता की, अपने अनुयायी या शिष्य-शिष्या बढ़ाने की, दूसरे सम्प्रदाय या साधु से प्रतियोगिता में आगे बढ़ने की, ये और ऐसी अनेक चिन्ताएँ भूत की तरह लगी हुई हैं। अत्यधिक चिन्ता से उसके प्राणों की ऊर्जा क्षीण हो जाती है। यही हाल अत्यधिक चिन्तन का है। यद्यपि चिन्तन चिन्ता जैसा भयंकर एवं घातक नहीं है, फिर भी चिन्तन से ऊर्जा का धीरे-धीरे ह्रास होता है। एक दिन उसके लिए आवश्यक ईंधन समाप्त हो जाता है। वैसे तो प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति शक्ति का ह्रास करती है, किन्तु मन की प्रवृत्ति तो शरीर को अत्यन्त थका देती है। शरीर-शास्त्री कहते हैं—जो आदमी बहुत सोचता है, उसके शरीर में अनेक रोग पैदा हो जाते हैं, उसका पेट ठीक नहीं रहता। उसकी आंतें भी खराब हो जाती हैं। इसलिए चिन्तन से शक्ति का जहाँ व्यय होता है, वहाँ अचिन्तन से शक्ति में वृद्धि होती है। चिन्तन के द्वारा हम उतना नहीं जान सकते, जितना अचिन्तन के द्वारा जान सकते हैं, क्योंकि चिन्तन आत्मा का सहजधर्म नहीं, अचिन्तन आत्मा का सहजधर्म है। मगर अचिन्तन की स्थिति पाना कोई आसान काम नहीं है। विचारों का इतना तीव्र प्रवाह आता है, एक कल्पना के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी कल्पना आती है कि उसका तांता टूटता ही नहीं। ऐसी स्थिति में निर्विचारता या अचिन्तनता की बात सोचना भी कठिन होता है। फिर भी यह तो प्रत्येक साधक को मानना चाहिए कि चिन्तन की अपेक्षा अचिन्तन का महत्त्व बहुत अधिक है। यतना के द्वारा चिन्तन की शक्ति को कम किया जा सकता है, फिर क्रमशः अभ्यास के द्वारा थोड़े-थोड़े समय के लिए ध्यान के माध्यम से अचिन्तन की स्थिति में पहुँचा जा सकता है।

चिन्तन-क्रिया से निवृत्ति का सरल उपाय : यतना

चिन्तनक्रिया से निवृत्ति या अचिन्तन की स्थिति उत्पन्न करने का एक और सहज और सरल उपाय यह है कि इन्द्रियों के विषयों के साथ मन का [illegible] न होने दे, मन को इष्ट-अनिष्ट [illegible] से बिल्कुल अलिप्त और तटस्थ [illegible] रखे तो, और

के महान् दार्शनिक कन्फ्यूशियस से येन हुई ने पूछा—'मैं मन पर संयम कैसे कर सकता हूँ ?'

कन्फ्यूशियस बोला—'मैं तुम्हें एक सीधा-सा उपाय बता देता हूँ। अच्छा यह बताओ कि तुम कानों से सुनते हो ? आँखों से देखते हो ? जीभ से चखते हो ? नाक से सूंघते हो ?' येन ने कहा—'हाँ।' कन्फ्यूशियस बोला—"मैं नहीं मान सकता कि तुम कानों से सुनते, आँखों से देखते, जीभ से चखते या नाक से सूंघते हो। तुम मन से सुनते, देखते, चखते और सूंघते हो। आज से यह काम करो कि तुम मन से सुनना, देखना, चखना, सूंघना, छूना आदि बन्द कर दो केवल उसी इन्द्रिय से उसके योग्य विषय का ग्रहण करो, मन का स्पर्श उसे न होने दो।"

बहुधा लोग उस-उस इन्द्रिय से ही उस विषय को ग्रहण नहीं करते, किन्तु मन से ही सुनने, देखने, चखने, सूंघने और स्पर्श करने का काम करते हैं। मन में जो विविध संस्कार जम गये हैं, प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा विषय ग्रहण करते समय टाँग अड़ाने के, बीच में पंचायत करने के, मन के उन संस्कारों या आदतों को छुड़ाना है।

मैं एक उदाहरण द्वारा इसे समझाता हूँ। माँ ने बेटे से कहा—'समझता ही नहीं, निरा मूर्ख है।' इसे पुत्र ने सुना। इसी प्रकार उस लड़के के किसी विरोधी या शत्रु ने कहा—'समझते ही नहीं, बड़े मूर्ख आदमी हो।' इसे भी उसने सुना। शब्दावली और श्रवण में कोई अन्तर नहीं है, मगर मन जब दोनों से हुई बात के साथ घुस जाएगा, तब परिणाम दो तरह के आयेंगे। माँ के द्वारा कहे गये वे शब्द प्रिय लगेंगे, लेकिन वे ही शब्द शत्रु के द्वारा कहे जाने पर सुनते ही वह आग-बबूला हो उठेगा। शब्दों को केवल कानों से ही सुना जाता तो कोई अन्तर नहीं आता, मगर अन्तर इसलिए आ गया कि सुनने वाले ने मन से, पूर्वसंस्कारों से सुना।

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रियों से ग्रहण किया हुआ कोई भी विषय अपने आप में प्रिय या अप्रिय नहीं होता, किन्तु मन जब उसके साथ जुड़ जाता है तो प्रिय या अप्रिय की कल्पना करके एक पर राग और एक पर द्वेष करता है। चिन्तन से निवृत्ति का—प्रतिसंलीनता का यह महान् सूत्र है, इस यतना (विवेक) का अभ्यास करने पर मन पर संयम स्वाभाविक हो जाएगा, इन्द्रियों से विषयों को आवश्यकतानुसार ग्रहण करने पर भी उनके साथ मन के न जुड़ने से राग-द्वेष, और उसके फलस्वरूप कर्मबन्ध नहीं होगा। क्योंकि कर्मबन्ध के मूल कारण राग और द्वेष ही हैं।[1]

प्रवृत्ति चाहे थोड़ी हो पर हो उत्कृष्टरूप से

वस्तुतः वर्तमान युग का साधक न तो प्रवृत्ति से अत्यन्त निवृत्ति कर सकता

---

१ (क) **रागो य दोसो वि य कम्मबीयं** —उत्तराध्ययन ३२।७

(ख) **इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।**
तयोर्न वशमागच्छेतौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ —गीता

है, न छोड़ने की क्रिया से अन्धता निवृत्त हो सकता है, और न ही [illegible] की क्रिया से [illegible]! इसलिए सम्यक्ता (विवेक) का तकाजा यह है कि साधक खाए-पीए, सोए-जागे, उठे-बैठे, बोले, चिन्तन करे, या कोई भी क्रिया या प्रवृत्ति करे, उसमें 'अति' को छोड़ दे, न निवृत्ति की अति हो, न प्रवृत्ति की अति हो। परन्तु एक बात का पूरा ध्यान रखा जाये कि जैनधर्म में संख्या की अपेक्षा 'गुणवत्ता' का अधिक महत्त्व है, यहाँ 'क्वांटिटी' की अपेक्षा 'क्वालिटी' का मूल्य ज्यादा है। इसलिए प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति, फिर चाहे सामायिक, पौषध, तप[1] आदि उच्च क्रिया हो या प्रतिलेखन, प्रमार्जन, उच्चारादि, परिष्ठापन, सेवा आदि जैसी हलकी मानी जाने वाली क्रिया हो, वह भले ही थोड़ी मात्रा में हो, पर हो उत्कृष्ट ढंग से, सम्यक् रूप से। जैसे बौद्ध धर्मग्रन्थ संयुत्त निकाय में बताया है कि 'बुरी तरह करने की अपेक्षा न करना अच्छा है, क्योंकि बुरी तरह करने से पछताना पड़ता है। जो करणीय कार्य है, उसे अच्छी तरह करना ही अच्छा है क्योंकि अच्छी तरह करने पर बाद में पश्चात्ताप नहीं होता।'[2] वर्तमान भौतिकवादी युग में विस्तार को महत्त्व दिया जाता है, किन्तु अध्यात्मजगत् में उत्कृष्टता का महत्त्व है। कहाँ कितना काम किया? इसका महत्त्व नहीं, किन्तु जो करणीय कार्य है, उसे किस ढंग से किया? इसका बहुत महत्त्व है। यही यतना या विवेक का अर्थ है।

तात्पर्य यह है कि प्रवृत्ति बहुत नहीं, किन्तु उत्कृष्ट हो, सम्यक् हो। मोक्षमार्ग के ज्ञानदर्शनचारित्र तीनों साधनों के साथ हमारे यहाँ सम्यक् शब्द लगा है। बौद्ध धर्म में अष्टांग मार्ग में भी प्रत्येक के साथ सम्यक् शब्द लगा है। यों तो साधक-जीवन की सभी क्रियाएँ छोटी-सी लगती हैं, किन्तु जीवन की सफलता उन्हीं साधक की [illegible] तथा अपनी यतनायुक्त प्रवृत्ति पर निर्भर है। अतः छोटी-सी छोटी क्रिया करते समय अपनी क्रिया में समग्र प्राण उड़ेल दें तथा यतना की भावनापूर्वक करें तो वह [illegible] एवं उत्कृष्ट बन जायेगी। यही विवेकरूप यतना का [illegible] है।

बन्धुओ! मैं इस गाथासूत्र के विवेचन को यहीं समाप्त कर रहा था, [illegible] पर भी [illegible] विस्तार सकता है, इसलिए अगले प्रव-[illegible] करूँगा। आशा है, आप यतना के विविध [illegible] का पुरुषार्थ करेंगे।

---

1 [illegible]

2 अकतं दुक्कटं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कटं।
कतं च सुकतं सेय्यो यं कत्वा नानुतप्पति॥ —[illegible]

३४

यत्नवान मुनि को तजते पाप : ३

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष उसी अट्ठाईसवें जीवनसूत्र पर यतना के विविध रूपों का विश्लेषण करूँगा। यतना एक ऐसा शब्द है, जिस पर विविध पहलुओं से जितना विचार किया जाए, थोड़ा है। यह एक प्रकार की जैनयोग साधना है। साधुजीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इसकी साधना चलती है। साधु चाहे बालक हो, युवक, वृद्ध हो, बाह्य शिक्षण की दृष्टि से चाहे कम पढ़ा-लिखा हो या अधिक, शरीर से पुष्ट हो या दुर्बल सभी अवस्थाओं में सर्वत्र यतना की साधना तो उसे अवश्यमेव करनी पड़ती है। मुनिदीक्षा लेते समय प्रत्येक साधक के माता-पिता या अभिभावक उसे हार्दिक आशीर्वाद देते हुए उससे आजीवन यतना-युक्त जीवन-यापन करने की अपेक्षा रखते हैं। देखिए भगवती-सूत्र में जमालि की दीक्षा के समय उनकी माता के उद्‌गार—

"घडियव्वं जाया ! जइयव्वं जाया, परक्कमियव्वं जाया ! अस्सि च णं अट्ठे णो पमाए।"

'हे पुत्र ! तू संयमपालन की चेष्टा करना, तू यतनापूर्वक जीवनयापन करना, पुत्र ! तू संयम में पराक्रम करना। इस बात में जरा भी प्रमाद न करना।'

साधु के निष्पाप जीवन का मूल : यतना

साधु से यावज्जीवन यतनावान बनने की अपेक्षा इसलिए रखी जाती है कि उसका जीवन सदैव निष्पाप, निरवद्य, निरुपाधिक, निर्द्वन्द्व, निःसंग, निष्कषाय एवं निर्लेप होना चाहिए। और इस प्रकार का जीवन तभी बन सकता है, जब साधु के जीवन में प्रतिपद और प्रतिक्षण यतना श्वासोच्छ्‌वास की तरह व्याप्त हो। यतना साधु के जीवन में नहीं होगी तो उसका जीवन निष्पाप एवं निष्कलुष नहीं रह सकेगा। इसीलिए गौतम ऋषि को कहना पड़ा—

चयंति पावाइं मुणिं जयंतं

जो मुनि यतनावान है, उसे पाप छोड़ देते हैं, पाप उसके पास नहीं फटकते। प्रकारान्तर से कहें तो यतनावान मुनि का जीवन निष्पाप रह सकता है।

निष्पाप जीवन जीने के लिए साधक के समक्ष यतना के दो रूप हैं—एक है विधेयात्मक और दूसरा है—निषेधात्मक। एक है—संयमधर्म में यतनापूर्वक प्रवृत्ति

चलना, पुरुषार्थ करना और दूसरा है—असंयम, पाप से बचना। पाप से बचने के लिए प्रयत्न करने से पूर्व साधक को यह देखना पड़ेगा कि पाप कहाँ से आता है? इन्द्रियाँ मन, बुद्धि, वाणी आदि अपने-आप में पाप रूप नहीं हैं। ये स्वयं जड़ हैं, चेतन की शक्ति से प्रेरित होती हैं। जब मनुष्य इन्द्रियों, मन, बुद्धि, वाणी और काया को असावधानी से प्रेरित करता है, खुली छूट दे देता है, तब ये दूसरों को हानि पहुँचाती हैं, दुःखित करती हैं, पीड़ित करती हैं, दूसरे प्राणियों के प्राणहरण कर लेती हैं, तब झूठ, हिंसा, असत्य आदि के कारण वह पापकर्म को बाँध लेता है। किन्तु यदि मनुष्य यतनापूर्वक चलता है तो पापकर्म से अपनी आत्मा को बचा लेता है, यतनापूर्वक चलने वाला व्यक्ति निष्पाप रहने के लिए एक ओर यतना (सावधानी) से चलता असंयम रूप पाप से बच जाता है, दूसरी ओर वह पाप आने के कारणों को रोककर संवर-निर्जरारूप धर्म में—संयम में प्रवृत्त होता है।

सभी धर्मों एवं सामाजिक व्यवस्थाओं में निष्पाप या पापमुक्त होना जीवन की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम अनिवार्य माना गया है। उपनिषद्कार ने भी प्रभु से प्रार्थना की है—

विश्वानि दुरितानि परासुव'

"हे प्रभो! हमें समस्त पापों से दूर रखो।"

निष्पाप होकर ही साधक 'बुद्ध' अथवा 'सिद्ध' (मुक्त एवं पाप से रहित) परमात्मा या शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है।

पाप अनेकों प्रकार के द्रव्य-अनुष्ठान से [illegible] जीवन में प्रवेश हो जाता है, [illegible] प्रविष्ट हो जाता [illegible] [illegible] सकता है। [illegible] पाप [illegible] [illegible]

अयतना (बेहोशी—मूर्च्छा) में ही पाप सम्भव, यतना में नहीं

वस्तुतः देखा जाय तो पाप, फिर वह किसी भी प्रकार का हो, १८ पापस्थानकों में से किसी भी पापस्थानक से प्रादुर्भूत हुआ हो, होता है—बेहोशी, गफलत या असावधानी में ही। जिसे हम अयतना कहते हैं। यदि यतनापूर्वक या होश में मनुष्य रहे, सावधान रहे तो कोई कारण नहीं कि पाप हो जाए। होशपूर्वक तो कोई भी पाप करना प्रायः असम्भव है।

एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट कर दूँ—

एक बहुत बड़ा पापी एक अन्धकारपूर्ण रात्रि में किसी सन्त के झौंपड़े में प्रविष्ट हुआ। उसने प्रणाम कर सन्त से प्रार्थना की—"गुरुदेव ! मैं आपका शिष्य होना चाहता हूँ।"

सन्त ने शांत व प्रसन्न भाव से कहा—"स्वागत है, भैया ! परमात्मा के द्वार पर सब का स्वागत है।"

आगन्तुक कुछ आश्चर्यचकित होकर बोला, "लेकिन पूज्य ! मुझ में बहुत से दोष हैं, मैं बहुत बड़ा पापी हूँ।"

संत मुस्कराकर कहने लगा—"भला परमात्मा तुम्हें स्वीकार करता है तो मैं अस्वीकार करने वाला कौन होता हूँ। मैं भी तुम्हें सब पापों के साथ स्वीकार करता हूँ।"

आगन्तुक बोला—"लेकिन मैं व्यभिचारी हूँ, शराबी हूँ, जुआरी हूँ और चोर हूँ।"

सन्त ने गम्भीर मुद्रा में कहा—"इन सब से कोई फर्क नहीं पड़ता, लेकिन एक बात का ध्यान रखना, जैसे मैंने तुम्हें स्वीकार किया, वैसे ही क्या तुम भी मुझे स्वीकार करोगे ? तुम जिन्हें पाप कह रहे हो, उन्हें करते समय क्या इतना-सा ध्यान रखोगे कि मेरी उपस्थिति में उन्हें न करो ? मैं तुम से कम से कम इतनी तो आशा रख ही सकता हूँ।"

आगन्तुक ने सन्त की बात स्वीकार की। गुरु के वचन का इतना आदर करना तो स्वाभाविक था। वह गुरु का आशीर्वाद लेकर चल पड़ा। लेकिन जब वह कुछ दिनों के बाद गुरु के पास आया तो उन्होंने पूछा—"बताओ तुम्हारे उन पापों का क्या हाल है ? क्या अब भी तुम उन पापों को पहले की तरह करते हो ?"

वह खिलखिलाकर हँसा और कहने लगा—"जैसे ही मैं असावधान होकर किसी पाप में पड़ने लगता हूँ कि फौरन आपका चेहरा मेरे सामने आ जाता है, बस मैं तुरंत होश में आ जाता हूँ। आपकी उपस्थिति मुझे तुरन्त जगा देती है और जागते हुए तो पाप के गड्ढे में गिरना मेरे लिए असम्भव हो जाता है। अतः अब मैं कोई भी पाप नहीं कर सकता।"

सन्त ने उससे कहा—"मेरे देखते पाप नहीं होता, इसकी अपेक्षा तो तुम यह

साध कहावन कठिन है, लंबा पेड़ खजूर।
चढ़ै तो चाखै प्रेमरस, गिरे तो चकनाचूर ॥

वास्तव में साधु का जीवन खजूर के पेड़ की तरह बहुत ही ऊँचा है। परन्तु अगर साधु सावधानी (यतना) पूर्वक इतनी ऊँचाई पर चढ़ जाता है तो संयम और प्रेम के माधुर्य का आस्वादन कर लेता है; और अगर वह अयतनापूर्वक चढ़ता या चलता है, तो इतनी ऊँचाई पर चढ़कर भी शीघ्र ही गिर जाता है।

ऐसे साधक लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं, वे अपना लक्ष्य स्थायी और सुदृढ़ को न बनाकर अस्थायी और क्षणभंगुर को बना लेते हैं। मैं एक रूपक द्वारा इसे समझा दूँ—

एक चिड़िया नीले गगन में मँडरा रही थी। उसने उपर कुछ दूरी पर चमकता हुआ शुभ्र बादल देखा। देखते ही सोचा—'मैं चट से उड़कर उस बादल को छू लूँ।' यों वह चिड़या उस बादल को लक्ष्य बनाकर पूरी शक्ति से उड़ी, किन्तु वह बादल कभी तो पूर्व की ओर चला जाता, कभी पश्चिम की ओर। और कभी वह सहसा रुक जाता, फिर चक्कर लगाने लगता। यों वह फैलता गया, लेकिन चिड़या उस तक पहुँच भी नहीं पाई थी कि वह एकदम बिखर गया और आँखों से ओझल हो गया। उस चिड़या ने बहुत परिश्रम से वहाँ पहुँचकर भी जब कुछ भी न पाया तो मन ही मन सोचा—'मैं कितनी भ्रान्ति में थी! मैंने उन चिरस्थायी सुदृढ़ पर्वत शिखरों को लक्ष्य न बनाकर इन क्षणभंगुर बादलों को लक्ष्य बनाया।'

क्या यही हाल अयतनाशील साधुओं का नहीं है ? वे भी अपना लक्ष्य स्थायी शाश्वत शान्ति के धाम को न बनाकर, मोक्ष की प्राप्ति और उसके लिए राग-द्वेष-मोह, कषाय आदि से मुक्ति के यतनापूर्वक पुरुषार्थ का ध्यान न रखकर अस्थायी, शरीर की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाने वाली एवं क्षणभंगुर यश-कीर्ति, नामना, प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा आदि को अपना लक्ष्य बनाते हैं और उन्हीं की प्राप्ति के लिए साधन जुटाने और पुरुषार्थ करने का ध्यान रखते हैं। यतनाशील साधु को इन और ऐसी ही अस्थायी और क्षणभंगुर वस्तुओं को अपना लक्ष्य न बनाकर स्थायी और शाश्वत वस्तुओं को लक्ष्य बनाना उपयुक्त है। मगर असावधान साधक भ्रांतिवश ऐसी अस्थाई और क्षणभंगुर चीजों को पाने के लिए पूर्ण पुरुषार्थ करते हैं, जो अन्त में जाकर बादलों की तरह बिखर जाती हैं, अदृश्य हो जाती है। अयतनाशील साधक इस असावधानी के शिकार बनकर अस्थायी की प्राप्ति के लिए अनेकों हथकंडे अपनाते हैं। वे यह भूल जाते हैं, इन अस्थायी वस्तुओं, क्षणिक सांसारिक सुखसुविधाओं, नामना एवं प्रतिष्ठा के चक्कर में पड़कर कितना पाप उपार्जन कर लेते हैं—ईर्ष्या, द्वेष, मोह, आसक्ति, पर-निन्दा, स्वप्रशंसा आदि के माध्यम लेकर ? कबीरजी भी यथार्थरूप से ललकार रहे हैं—

प्रियतम से मिल सकता है। आचारांग सूत्र के शब्दों में यतनाशील साधक की पहिचान होगी—

"सुत्ताऽमुणिणो, मुणिणो सया जागरंति।"

अमुत्ति सदा सोये रहते हैं, किन्तु मुनि सदैव जागृत रहते हैं। वास्तव में, मुनि का मार्ग काँटों का मार्ग है, नहीं-नहीं, इससे भी बढ़कर तीक्ष्ण तलवार की धार वाला पथ है, इस पर चलना कितना कठिन है ? यह आप सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। इसीलिए उपनिषद् के एक ऋषि ने स्पष्ट कह दिया—

"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥"

कवि कहते हैं—'छुरे की तेज धार के समान वह दुर्लंघ्य एवं दुर्गम पथ है।' फिर भी जो यतनावान साधक हैं, उनके लिए यह मार्ग कठिन नहीं है, वे तो मौत को हथेली पर रखकर चलते हैं, प्रतिफल सावधान रहकर आगे बढ़ते हैं।

आपने सर्कस के हाथी, शेर, चीता आदि के कमाल देखे होंगे। सर्कस में एक पतली-सी डोरी पर सर्कस के खिलाड़ी किस प्रकार चल लेते हैं ? यह कल्पना की बात नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। क्या सावधान यतनाशील साधक सर्कस के उस खिलाड़ी से बढ़कर साबित नहीं हो सकता ? अवश्य हो सकता है, अगर वह यतना की साधना करे तो।

उपनिषद् में नचिकेता का एक आख्यान आता है कि वह यमाचार्य के पास आत्मविद्या—ब्रह्मज्ञान सीखने गया था। वहाँ यमाचार्य उसकी कठोर अग्नि-परीक्षा लेने लगे। एक दिन गुरुमाता ने यम से निवेदन किया—"नचिकेता कुमार है, उसके साथ इतनी कठोरता क्यों ? १० महीने बीत गये, इसने गाय के दही और जौ की सूखी रोटियों के सिवाय कुछ खाया नहीं, जबकि दूसरे बच्चे सरस, स्वादिष्ट भोजन करते रहे हैं, यह भेदभाव क्यों ?"

यमाचार्य ने मुस्कराते हुए कहा—"देवि ! तुम नहीं जानतीं, आत्मा–ब्रह्म को प्राप्त करने का उपाय भी यही है। साधना को 'समर' कहते हैं, युद्ध में तो अपने प्राण भी संकट में पड़ सकते हैं। कोई आवश्यक नहीं कि विजय ही उपलब्ध हो। अभी तो नचिकेता का अन्न-संस्कार ही कराया गया है। ब्रह्म विराट् है, अत्यन्त पवित्र है, अग्निरूप है, शरीर समर्थ न होगा तो नचिकेता इसे धारण कैसे करेगा ? छोटी-सी लकड़ी दस मन बोझ नहीं उठा सकती, टूट जाती है; पर तपाई, दबाई और पीटी हुई उतनी बड़ी लोहे की छड़ पचास मन बोझ उठा सकती है। नचिकेता का यह अन्न-संस्कार उसके अन्नमय कोष के दूषित मलावरण, रोग और विजातीय द्रव्य निकालकर उसे आत्मा के साक्षात्कार योग्य, शुद्ध और उपयुक्त बना देगा। यह साधना छुरे की धार पर चलने के समान कठिन है, परन्तु नचिकेता साहसी और प्रबल आत्मजिज्ञासु है। ऐसा व्यक्ति ही यह साधना कर सकता है।"

इस प्रकार गुरुमाता के विरोध के बावजूद भी नचिकेता का अन्न-संस्कार यमाचार्य ने एक वर्ष और चलाया।

बन्धुओ ! साधु की यतना की साधना भी एक प्रकार का संग्राम है। इसमें भी योद्धा को बहुत सावधानी से मजबूती से पैर जमाकर टिके रहना पड़ता है—

शूर संग्राम को देख भागे नहीं, देख भागे सोई शूर नाहीं।

वास्तव में, यतनाशील साधक यतना का कवच पहनकर जब जीवन-संग्राम के मैदान में उतरता है, तब तन के सारे बन्धन खोल देता है। कबीर ने एक दोहे में यही बात कह दी है—

शूरा सोई सराहिए, अंग न पहरे लोह।
जूझै सब बन्द खोलि के, छाँड़ै तन का मोह ॥

इसी सिद्धान्त पर नचिकेता को चलने का प्रशिक्षण यमाचार्य दे रहे थे। अन्नसंस्कार के बाद यमाचार्य ने नचिकेता को प्राणायाम के विविध प्रयोगों का अभ्यास कराया, जिसके फलस्वरूप उसका आहार निरन्तर घटता गया, किन्तु मुख-मण्डल की कान्ति में वृद्धि हुई। यह देख गुरुमाता ने पुनः दुःखी होकर यमाचार्य से कहा—"स्वामिन् ! नचिकेता अपना पुत्र नहीं है, उसके साथ कठोरता न बरतिये।"

यमाचार्य ने हँसते हुए कहा—"भद्रे ! शिष्य तो पुत्र से बढ़कर होता है। नचिकेता के हृदय में तीव्र आत्मजिज्ञासाएँ हैं। वह वीर और साहसी बालक आत्म-कल्याण-साधनाओं की प्रत्येक कठिनाई झेलने में समर्थ है। इसलिए नचिकेता को प्राणायाम की यह पंचाग्नि विद्या सिखाना आवश्यक हैं। इससे चाहे आहार कम हो गया हो, किन्तु प्राण स्वयं आहार की पूर्ति कर देते हैं। आत्मा अग्निरूप है, वह प्राणों से प्रकाशवान् है, प्राणायाम से पुष्ट होती है, इसी से उसे हर पौष्टिक आहार मिलते हैं।"

नचिकेता का एक वर्ष इस प्रकार की प्राणसाधना में बीता। प्राणमय कोष के नियन्त्रण के बाद यमाचार्य ने उसे मनोमय कोष पर नियन्त्रण करना सिखाया। यमाचार्य ने उसे मन के प्रत्येक संकल्प को पूर्ण करने का अभ्यास कराया। इससे नचिकेता जब सोता तो अचेतन मन की पूर्वजन्मों की स्मृतियाँ स्वप्न-पटल पर उमड़तीं, आत्मग्लानिजनक पापक्रियाएँ भी उसे यमाचार्य को बतलानी पड़तीं। किन्तु यमाचार्य ने मन की शुद्धि के लिए इस प्रक्रिया को आवश्यक बताया; अन्यथा पूर्वजन्मकृत पापों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त नहीं हो सकेगा। अतः मनोमय कोष की शुद्धि के लिए नचिकेता को कृच्छ, चान्द्रायण आदि व्रतों से लेकर पंचगव्यसेवन तक की सारी प्रायश्चित्त साधनाएँ करनी पड़ीं। तीन वर्ष बीत गए। उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही साधना की कठोरता एवं शरीर की कृशता देखकर गुरुमाता का हृदय करुणा से

सिसक उठता पर आत्मा की ग्रन्थियाँ तोड़कर उसे प्रकट करने के संग्राम के लिए यह साधना करनी आवश्यक समझकर यमाचार्य ने कराई। इससे शरीर शुद्ध हो गया, प्राणों पर नियन्त्रण की विद्या सीख ली, मन क्षीण हो गया, मनोमय कोष को उसने जीत लिया। फिर उसने मन को ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कराकर षट्चक्र-भेदन किया; और मूलाधार स्थित उसकी कुण्डलिनी जागृत हुई। नचिकेता की सभी भौतिक वासनाएँ जल गईं। वह शरीर, मन, प्राण आदि से उपर उठकर आत्मा हो गया। ब्रह्मप्राप्ति के निकट पहुँच गया, तब गुरु से विदा लेकर वह आर्यावर्त्त को लौट पड़ा।

सारांश यह है कि नचिकेता जिस प्रकार शरीर का ममत्व त्यागकर, भौतिक सुख-सुविधाओं को तिलांजलि देखकर एकमात्र सतत अपने लक्ष्य के प्रति आगे बढ़ता रहा, वैसे ही यतनाशील साधु को आत्मभाव में रमण करने के लिए शरीर, मन, इन्द्रियां, प्राण आदि का मोह छोड़कर इनसे सतत संघर्ष करना होगा, भौतिक सुखसुविधाओं से विरक्ति पानी होगी, तभी लक्ष्य के प्रति एकाग्र होकर वह आगे बढ़ सकेगा और पापों से मुक्ति पा सकेगा।

शास्त्र में बताया गया है—

'अप्पाणं वोसट्ठकाए, चइत्तदेहे'

—साधक की यतनासाधना इतनी तीव्र हो जाय कि वह अपनी काया तथा काया से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति ममत्व का उत्सर्ग करे, शरीर छोड़ने तक की तैयारी रखे। भगवान महावीर ने यतना की अप्रमत्तता (सावधानी) के रूप में साधना के लिए साधकों को प्रेरणा दी है—

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी
आयाणुरक्खी चर अप्पमत्ते॥

आत्म-विवेक (शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान) झटपट प्राप्त नहीं हो जाता। इसके लिए कठोर साधना आवश्यक है। महर्षि का कर्त्तव्य है कि वह बहुत पहले से ही संयम-पथ पर दृढ़ता से जमा रहकर कामभोगों का परित्याग करके संसार की वास्तविक स्थिति को समझे और समतापूर्वक कुसंस्कारों—पापकर्मों से अपनी आत्मा की रक्षा करते हुए सदा अप्रमत्त रूप (यतना) से विचरण करता रहे।

यतना कहाँ-कहाँ और किस प्रकार रखनी है?

अब सवाल यह उठता है कि सावधानी या अप्रमत्ततारूप यतना कहाँ-कहाँ और कैसे रखनी है? हमारी आत्मा अकेली नहीं है, उसके साथ छह सम्पर्कसूत्र हैं,

जो हमें बाह्यजगत् से जोड़े हुए हैं, एक है हमारा मन और पाँच इन्द्रियाँ हैं। यदि ये ६ सम्पर्क के माध्यम न होते तो हमारी दुनिया दूसरी ही होती। हमें कोई यतना या सावधानी की जरूरत न रहती। क्योंकि ये ६ सम्पर्क के माध्यम आत्मा के साथ—आत्मा के अनुकूल या आत्मा के आज्ञाधीन सेवक बनकर प्रायः नहीं रहते। साधक को सतत सावधान रहकर इन्हें अपनी आत्मा के सेवक बनाना है। परन्तु ये बाहर के दृश्यमान जगत् से सम्पर्क साधकर आत्मा के लिए अनेक खतरे पैदा कर देते हैं। जैसे कारखाने में काम करने वाले श्रमिक जब मालिक के अनुकूल नहीं होते, तब मालिक के साथ वे विद्रोह कर बैठते हैं। हड़ताल या तोड़फोड़ करके वे कारखाने को हानि पहुँचाते हैं। बाह्य राजनीतिक लोगों से सम्पर्क करके कारखाने के लिए खतरा पैदा कर देते हैं। वैसे ही आत्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले ये ६ सम्पर्क माध्यम इन्द्रियों के अनुकूल विषयों, सांसारिक पदार्थो, ममता, ईर्ष्या, लोभ, मोह आदि मनोज्ञ दुर्भावों से मिलकर उनके साथ साठ-गांठ कर लेते हैं। आत्मा के राज्य में इन सब विजातीय शत्रुओं को प्रवेश करा देते हैं, पहले तो आत्मा गाफिल रहकर इन्हें अपना हितैषी मानने लगता है, फिर जब ये आत्मा के विकास को रोक देते हैं, साधना को चौपट कर देते हैं, तब आत्मा को उनके विद्रोह का पता लगता है। परन्तु तब आत्मा इतना निर्बल हो चुका होता है कि इन विद्रोही विजातीय तत्त्वों का बलपूर्वक सामना करके इन्हें खदेड़ नहीं सकता। इसलिए आत्मा को पहले से सतर्क रहना आवश्यक है, ताकि ये सम्पर्क माध्यम गड़बड़ न कर सकें, गड़बड़ करने से पहले ही वह इन्हें अपने अनुकूल बना सके।

सेवक को अनुकूल बनाने और उसकी गुलामी करने में बहुत बड़ा अन्तर होता है। सेवक को अनुकूल बनाने के लिए उसकी योग्य आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है, परन्तु सेवक की जहाँ गुलामी की जाती है, और उसे भ्रान्ति से अनुकूल बनाना समझा जाता है, वहाँ तो उसकी उचित-अनुचित सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है। शरीर, मन और इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी यही समझिए। इन्हें अपने अनुकूल बनाए रखने के लिए इनकी जो आवश्यकताएँ हैं, साधक उनके सम्बन्ध में सतत सतर्क रहकर विचार करे और उचित आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न करे। परन्तु जो साधक यतनाशील (सतर्क) नहीं होता, वह शरीर, मन और इन्द्रियों की सभी आवश्यकताओं, फिर वे उचित हों या अनुचित, विकासवर्द्धक हों या विकासघातक, धर्मवर्द्धक तथा धर्मपोषक हों या अधर्मवर्द्धक तथा अधर्मपोषक, पुण्य-वर्द्धक हों या पापवर्द्धक सभी की पूर्ति करने लग जाता है, और येन-केन-प्रकारेण इन्हें अपने सेवक बनाने के बदले स्वयं इनका गुलाम बन जाता है। साधक के लिए यह स्थिति अत्यन्त खतरनाक है, पापवर्द्धक है। परन्तु शरीर, मन आदि सेवकों की गति-विधि के प्रति सतर्क और यतनाशील रहने से इनसे निष्पन्न होने वाले सभी पाप दूर से पलायित हो जाते हैं, उन पापों की दाल यहाँ गल नहीं सकती।

आवश्यकताओं का औचित्य : यतना का मूल स्वर

शरीर, मन और इन्द्रियों की आवश्यकताओं का औचित्य या आवश्यकताओ के विषय में सावधानी बरतना ही यतना का मूल स्वर है। सर्वप्रथम हम शरीर और इन्द्रियों को ही ले लें। ये हमारे सेवक हैं, इसलिए इनकी उचित आवश्यकताओं पर विचार करना ही होगा। परन्तु इनकी आवश्यकताओं के औचित्य-अनौचित्य का विवेक हम यतना के माध्यम से ही कर सकेंगे। आज तो आवश्यकताओं का बाजार गर्म है। परन्तु अगर हम जीवन-निर्वाह के लिए कायिक आवश्यकताओं पर भलीभाँति विचार करें तो हमें लगेगा कि बहुत ही अल्प वस्तुओं से हमारा जीवन-निर्वाह हो सकता है। मगर वर्तमान युग में यह बात तुच्छ-सी जान पड़ती है। आज तो जहाँ देखो वहाँ आवश्यकताओं की वृद्धि पर अधिक जोर दिया जाता है। आवश्यकताओं की वृद्धि से जीवन समृद्ध और उच्चस्तरीय तथा आवश्यकताओं की कमी से जीवन सिमटा हुआ, दरिद्र एवं निम्नस्तरीय माना जाता है। विद्यार्थी जीवन से ही यह पाठ पढ़ा जाता है—

"Necessity is the mother of invention."

"आवश्यकता आविष्कार की जननी है।" ऐसे लोग मानते हैं कि आवश्यकताओं की जितनी वृद्धि होगी, उतनी ही आर्थिक समृद्धि, सभ्यता की सृष्टि और संस्कृति की उन्नति होती है। भौतिक दृष्टि से इन बातों में कुछ तथ्य होगा, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से इस पर जब गहराई से विचार और अनुभव करते हैं तो एक तथ्य सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट सामने आ जाता है, कि आवश्यकताएँ जितनी ही बढ़ती हैं, मनुष्य भौतिकता का उतना ही अधिक गुलाम और परतंत्र होता जाता है। फिर वह उन आवश्यकताओं को उचित ठहराने लगता है और उनके बिना रह नहीं सकता। आवश्यकता की वृद्धि से समृद्धि के साथ-साथ जो अनिष्ट उत्पन्न होते हैं वे आज प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। आवश्यकताओं का विस्तार ऐसा दानव है, जो भौतिक समृद्धि के ठीकरे मानव को देकर उसकी नैतिकता, सुख-शान्ति, प्रेम, आदर्श और आत्मवैभव आदि को खा जाता है। विपुल आवश्यकताओं का धनी अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है, वह परतंत्र और दुःखी हो जाता है।

यों देखा जाए तो मनुष्य अपनी आवश्यकताएँ चाहे जितनी बढ़ा ले, प्रकृति की ओर से तो जितनी आवश्यकताएँ नियत हैं, प्रायः उतनी ही रहती हैं।

'आवश्यकता किसे कहते हैं?' यह बात अगर आप सर्वप्रथम समझ लें तो आपको अकृत्रिम और कृत्रिम आवश्यकताओं का शीघ्र ही पता लग जाएगा। 'जिसके अभाव में जीवन न चल सकता हो, वह आवश्यक पदार्थ है और उसका भाव आवश्यकता है।' इस कसौटी पर अगर हम पदार्थों को परखते जाएँ तो हमें पता चल जाएगा कि जिन्दगी टिकाने के लिए कौन-से पदार्थ आवश्यक हैं, कौन-से अनावश्यक! पहली आवश्यक वस्तु है—हवा, जिसके बिना प्राणी अधिक जी नहीं सकता। दूसरी

वस्तु है—पानी। पानी के बिना भी मनुष्य दीर्घकाल तक जीवित नहीं रह सकता। ये दोनों चीजें मनुष्य को खरीदनी नहीं पड़तीं, सर्वसुलभ हैं; प्रकृति इन दोनों वस्तुओं को बिना मूल्य देती है।

तीसरा आवश्यक पदार्थ है—अन्न या भोजन। हवा के बिना मानव कुछ क्षणों तक पानी के बिना कुछ दिनों तक और भोजन के बिना कुछ महीनों तक जीवित रह सकता है। इसीलिए प्रकृति ने हवा की अपेक्षा पानी को और पानी की अपेक्षा अन्न को कम सुलभ रखा है। भोजन बिना मूल्य के प्रायः प्राप्त नहीं होता, फिर वह मूल्य श्रम के रूप में हो या अन्य किसी भी रूप में। परन्तु आज स्वाद-लोलुप लोग आवश्यक-अनावश्यक की परवाह किये बिना शरीर को तगड़ा और मोटा बनाने के लिए बिना ही जरूरत के पेट में ठूँसे जाते हैं। वे बिना भोजन के एक दिन भी नहीं रह सकते, इसके अतिरिक्त स्वादलोलुप लोग आवश्यक भोजन के सिवाय कई तरह के व्यंजन, मिष्ठान, चटनी, अचार, मुरब्बे और न जाने क्या-क्या पेट में ठूंसते रहते हैं। ऐसे भोजनभट्ट लोग स्वास्थ्य की घोर उपेक्षा करके भी पेट भरने को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। उनका लक्ष्य जीने के लिए खाना नहीं, खाने के लिए जीना होता है। उनमें और भुखमरे में शायद ही कोई अन्तर होगा ?

एक चौबेजी के पुत्र ने अपने पिता से कहा—"पिताजी ! आज तो बड़ी दुविधा में फँस गया हूँ।" पिताजी ने पूछा— "ऐसी क्या बात है ? क्या आज कहीं से भोजन का न्यौता नहीं मिला ?" पुत्र ने खेदपूर्वक कहा—"भोजन का न्यौता तो मिला था और मैं अभी-अभी वहाँ से छककर भोजन करके आया हूँ। लेकिन फिर एक यजमान का निमंत्रण आया है, पेट में जगह नहीं है। पेट तो फटा जा रहा है।" पिता ने फटकारते हुए कहा—"मूर्ख ! प्राण तो दुबारा भी मिल जाएँगे, लेकिन भोजन का निमंत्रण दुबारा मिलना मुश्किल है।"

आप अपने दिल में सोचें कि हम भी क्या इसी तरह स्वादेन्द्रिय की तृप्ति के लिए भोजन तो नहीं करते ? यतनाशील साधक को तो अपने अन्तर् से पूरा विवेक करना होगा कि मुझे श्रावकगण तो भक्तिवश सरस स्वादिष्ट भोजन दे रहे हैं, किन्तु क्या मैं इस भोजन के बिना चला नहीं सकता ? यदि इस भोजन के सिवाय अन्यत्र कहीं सादा भोजन सुलभ नहीं है तो क्या श्रावक जितना आग्रह करे, उतना ही लेना आवश्यक है ? केवल पेट को भाड़ा देने और शरीर को टिकाने के लिए ही तो मुझे भोजन करना है ? क्या मैं इस स्थूल आहार को छोड़कर सूक्ष्म आहार से काम नहीं चला सकता ? इस प्रकार यतनाशील साधक सूक्ष्म प्रज्ञा से निर्णय करे।

चौथी आवश्यक वस्तु है—वस्त्र ! वस्त्र के बिना भी मनुष्य रह सकता है, किन्तु ऐसी शक्ति सभी मनुष्यों में नहीं होती। वस्त्रधारण का मुख्य प्रयोजन है—शीत-ताप से शरीर की सुरक्षा और लज्जानिवारण। किन्तु सभ्यता का ज्यों-ज्यों विकास होता गया, त्यों-त्यों अधिकाधिक वस्त्रों से और वह भी बारीक, बहुमूल्य एवं

अनुपयोगी वस्त्रों से सुसज्जित होना सभ्य व्यक्ति का लक्षण माना जाने लगा। जिस प्रान्त के लोग प्राचीनकाल में एक अधोवस्त्र और एक चादर वस्त्र के रूप में पहनते थे, आज वहाँ के लोग भी पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध में पड़कर पश्चिम का अन्धा अनुकरण करने लग गये हैं। इस गर्म देश में भी वे लोग कोट-पैंट के बिना रह नहीं सकते।

आज बहुत-से लोग तो प्रदर्शन के लिए वस्त्र पहनते हैं। उस पर भी वे आवश्यकता से कई गुना अधिक वस्त्रों का संग्रह रखते है। मगर यतनाशील साधक अत्यन्त अल्प वस्त्रों से ही अपना निर्वाह करता है।

जीवन निर्वाह के लिए **पाँचवीं आवश्यक वस्तु है—पात्र** और **छठी वस्तु—मकान** है। ये दोनों वस्तुएँ कृत्रिम उपायों से उपलब्ध होती हैं। पात्र (बर्तन) और मकान आवश्यक होते हुए भी साधक इन्हें फैशन और प्रदर्शन की दृष्टि से ग्रहण नहीं करेगा, न ही कृत्रिम आवश्यकता बढ़ाकर इनका संग्रह करेगा। वह शास्त्रोक्त मर्यादा अथवा अपने विवेक के अनुसार ही भोजन, वस्त्र, पात्र और मकान का ग्रहण आवश्यकता पड़ने पर करेगा। साधु मर्यादा के अनुसार किसी समय ये आवश्यक पदार्थ न मिलने पर भी साधु अपने मन में शोक या आर्त्तध्यान नहीं करेगा, और न ही मनोज्ञ सुन्दर वांछित पदार्थ मिलने पर मन में गर्व करेगा। वह अदीनवृत्ति से ही इन्हें ग्रहण करेगा।

खेद है कि आज साधुवर्ग के जीवन में भी गृहस्थ लोगों की देखा-देखी शान-शौकत बढ़ाने और प्रदर्शन की भावना प्रायः घर कर गई है। यतना को उन्होंने शास्त्र की वस्तु मानकर ताक में रख दिया है। मगर जब आवश्यकता वृद्धि के कारण परतन्त्रता बढ़ जाती है, संयम के तंग ढीले पड़ने लगते हैं, तब आवश्यकताएँ बढ़ाए हुए शुकराजर्षि की तरह मोहनिद्रा से वे जागते है। किन्तु एक बात निश्चित है कि ज्यों-ज्यों जीवन के लिए वस्तुएँ कम आवश्यक होती जाती हैं त्यों-त्यों वे अधिकाधिक कृत्रिम उपायों से उपलब्ध होती हैं। इस कारण उनका मूल्य भी बढ़ता जाता है। परन्तु सादगी और सर्वसुलभ आवश्यक पदार्थों से जीवन निर्वाह करने में जो सुख-शान्ति और स्वतन्त्रता है, वह तड़क-भड़क, फैशन और बहुमूल्य दुर्लभ पदार्थों से जीवन चलाने में कहाँ? पर इसे धन एवं सत्ता के मद में ग्रस्त लोग कहाँ समझते हैं? वे प्रतिष्ठा का भूत दिमाग में लिए फिरते हैं। कहते तो यों हैं कि पेट के लिए यह सब करना पड़ता है, परन्तु मन में पोजीशन की धुन सवार रहती है। क्या बड़े-बड़े आलीशान बंगले, कार, कोठी, रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेरेलिन, नाइलोन या टेरीकोट आदि पेट के लिए आवश्यक हैं? प्रतिष्ठा और शान-शौकत की होड़ में मनुष्य कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ाता है। अगर साधु भी इन अनावश्यक पदार्थों को ग्रहण करना चाहता है तो उसे भी धनिकों की गुलामी करनी पड़ेगी, या उनकी ठकुरसुहाती कहनी पड़ेगी। मगर यतनाशील साधक के जीवन की शोभा आवश्यताएँ बढ़ाने में नहीं,

घटाने में है। आवश्यकताएँ कम होने पर उसका जीवन तेजस्वी, मस्त और अलमस्त बनता है।

पाँचों इन्द्रियों की आवश्यकताएँ-अनावश्यकताएँ

इसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों की आवश्यकताएँ अपना-अपना विषय हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय श्रवण है, चक्षुरिन्द्रिय का प्रेक्षण, घ्राणेन्द्रिय का गन्धग्रहण, रसनेन्द्रिय का स्वादग्रहण एवं स्पर्शेन्द्रिय का विषय है—पदार्थों का कोमल-कठोर आदि स्पर्श। यतनाशील आवश्यकता होने पर इन पाँचों इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करता है, परन्तु इस बात की पूरी यतना (सावधानी) रखता है कि ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने से पहले मन ही मन तटस्थ दृष्टि से कठोरतापूर्वक विश्लेषण करे कि क्या इस विषय का ग्रहण करना मेरे लिए आवश्यक है ? यदि आवश्यक है तो कितनी मात्रा में और कब तक है ? यदि साधक को मालूम हो जाए और उसे मालूम करना ही चाहिए कि इन पाँचों में कोई भी इन्द्रिय अनावश्यक और विपरीत मार्ग में ले जाकर अपने अनिष्ट और अहितकर विषय में फँसाना चाहती है तो फौरन सावधान होकर वहाँ से अपनी उस इन्द्रिय को हटा ले, उसमें फिर एक क्षण के लिए भी विलम्ब न करे। अन्यथा, साधक उस विषयजाल में फँसकर शीघ्र ही पतित हो जाएगा। इन्द्रियविषय के साथ मन भी अपनी कृत्रिम खुराक ढूँढ़ता रहता है। लोभी मनोवृत्ति अगणित अनावश्यक विषयों या पदार्थों की ओर मन को विचलित करती रहती है। इसलिए यतनाशील साधक को इतना सावधान रहना है कि मन कहीं इन इन्द्रियविषयों के साथ मिलकर अपनी गलत मनोवृत्ति के कारण उनमें राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का रंग न भर दे।

मन की कृत्रिम आवश्यकताएँ और यतना

मन अकसर कृत्रिम रस ढूँढ़ा करता है, इन इन्द्रिय-विषयों में। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चबाते समय अपना जबड़ा छिल जाने पर भी उससे टपकने वाले खून को हड्डी का स्वाद मानता है, मगर स्वाद या रस हड्डी में नहीं होता, वैसे ही अशिक्षित मन संसार के विविध पदार्थों में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों का विभिन्न रंग देखकर उसमें सरसता या नीरसता की कल्पना किया करता है। संसार के विभिन्न पदार्थों में सरसता की मृगतृष्णा में मन फँसा रहता है। साधक को इन अनावश्यक कृत्रिम रसों में मन को नहीं फँसने देना चाहिए, फौरन उसे प्रभुभक्ति, ज्ञानपिपासा, आत्मस्वरूपरमणता, दर्शनविशुद्धि, संयम के अनुष्ठानों में लगा देना चाहिए। अन्यथा, वह एक के बाद दूसरे और दूसरे के पश्चात् तीसरे यों अगणित जड़-पदार्थों में रस ढूँढ़ता फिरता रहेगा, और एक दिन साधक की अध्यात्मसाधना को चौपट कर देगा।

जैसे भौंरा एक फूल से दूसरे और तीसरे पर रस की खोज में मँडराता रहता है, पुराना नीरस लगा, तो दूसरे में अधिक रस की आशा दिखाई दी, उड़कर जा

पहुँचता है, उस पर; इसी प्रकार अयतनाशील साधक का मन भी नये से नये पदार्थ में रस खोजने हेतु भटकता है। जैसे वैभवशाली गृहस्थ थाली की शोभा तभी मानता है, जब उसमें अनेकों प्रकार के चटपटे, सरस, स्वादिष्ट व्यंजन परोसे गये हों, जरा-जरा सा सबका स्वाद चखने को मिले, इसी प्रकार अयतनाशील साधक का भी रसलोलुप चंचल मन विविध खाद्य-पदार्थों में रस ढूंढ़ता फिरेगा, विविध रसों को अपनी दैनिक आवश्यकता मान बैठेगा।

जिन गृहस्थों के पास साधन-सुविधाएँ हैं, वे नई-नई डिजाइनों के वस्त्र जमा करते रहते हैं, और कभी किसी को एवं कभी किसी को पहनकर सुन्दर दिखलाने की अपनी लालसा पूरी करते हैं, वैसे ही अयतनाशील बनकर साधक भी करता रहे तो उसके संयम का थोड़े ही दिनों में दिवाला निकल जायगा। मन संसार के नये-नये मनमोहक चित्ताकर्षक पदार्थों को देखकर ललचाया करेगा, न तो वह उन सबको प्राप्त कर सकेगा और न ही उपभोग। केवल मन को झूठ-मूठ बहलाकर वह अपने त्याग और संयम पर काला धब्बा लगाता रहेगा।

यतना : मन की आवश्यकताओं पर चौकीदारी

जैसे शरीर और इन्द्रियों की आवश्यकताओं पर चौकीदारी रखना साधक के लिए आवश्यक है, वैसे ही मन की आवश्यकताओं पर भी चौकीदारी रखना अत्यावश्यक है।

मन की मुख्य खुराक या आवश्यकता है—मनन-चिन्तन। जब साधक जागृत नहीं रहता तो उसका मन विकृत मनन-चिन्तन में लग जाता है।

मन कभी खाली नहीं रहता। समुद्र की तरह हर समय तरंगायित रहता है। जैसे समुद्र की असंख्य लहरें होती है वैसे ही मन की ये विकृत लहरें भी अगणित प्रकार की हैं।

मन की ये विकृत लहरें 'आवेग' कहलाती है। मुख्यतया ये आवेग ४ प्रकार के होते हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, और (४) लोभ।

राग, द्वेष, मोह आदि का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। ये अपनी-अपनी मात्रा के अनुसार असावधान मानस को प्रभावित करते हैं। मात्राओं को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—मन्द, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (घृणा) और काम-विकार ये उप-आवेग हैं। आवेगों की अपेक्षा उप-आवेगों की शक्ति कम होती है। क्रोध आदि की शक्ति तीव्र होती है, ये व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक स्थिति को प्रभावित करने के उपरान्त उसके आत्मिक-गुणों—सम्यग्दर्शन और आत्मनियन्त्रण को भी प्रभावित करते हैं, जबकि भय आदि उप-आवेग व्यक्ति के आन्तरिक गुणों को इतना साक्षात प्रभावित नहीं करते, जितना शारीरिक और मानसिक स्थिति को करते हैं।

वस्तुतः तीव्रतम क्रोध, मान आदि व्यक्ति के सम्यग्दृष्टित्व का घात करते हैं, उसमें विकृति ला देते हैं। तीव्रतर क्रोध आदि मनुष्य की आत्मनियन्त्रणशक्ति को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, तीव्र क्रोधादि आत्मसंयम की शक्ति के उच्चतम विकास में बाधक होते हैं और मन्द क्रोधादि साधक को पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति नहीं होने देते।

अयतनाशील साधक का मन इन विकृत लहरों पर नाचने लगता है, आवेगों और उप-आवेगों का तूफान असावधान साधक को सहसा पछाड़ देता है। उसके आन्तरिक गुणों पर जो प्रभाव होता है, वह इतना सूक्ष्म होता है कि अनभ्यस्त एवं अजागृत साधक सहसा उसे पहचान नहीं पाता। परन्तु शरीर और मन पर उनका जो प्रभाव होता है, वह तो चिकित्साशास्त्र से हमें ज्ञात होता है।

चिकित्साशास्त्र में साफ-साफ बताया गया है कि मानसिक चिन्ता, निराशा, भय, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि मानसिक आवेगों से हृदयरोग उत्पन्न होता है। भय, चिन्ता, क्रोध, मोह, मद, मत्सर आदि मानसिक आवेगों से पुरुष का वीर्य पतला हो जाता है और स्त्री को रजोविकार का रोग पैदा हो जाता है। मानसिक चिन्ता, अशान्ति, उद्विग्नता और क्षोभ के कारण राजयक्ष्मा रोग हो जाता है। ईर्ष्या और द्वेष के कारण यकृत और तिल्ली बिगड़ जाती है। क्रोध और घृणा से गुर्दे विकृत हो जाते हैं। रक्त विषाक्त बन जाता है। चिन्ता और उदासी से फेफड़े कमजोर हो जाते है, मस्तिष्क विकृत और रक्त दूषित होता है। विषय-वासना की प्रबलता से वीर्य विकार, प्रमेह आदि रोग उत्पन्न हो जाते है। ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ, दैन्य, प्रद्वेष आदि मनोवेगों की दशा में खाया जाने वाला भोजन अच्छी तरह हजम नहीं होता। इसका कारण यह है कि ईर्ष्या, द्वेष, भय, शोक, क्लेश, निन्दा, घृणा आदि मानसिक आवेगों से प्रभावित दशा में पाचक-रस बहुत अल्पमात्रा में बनते हैं। इसलिए शरीर और मन दोनों दुर्बल हो जाते हैं। चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, लोभ आदि से अरुचि और अजीर्ण रोग होता है। चिन्ता आदि से आमाशयिक स्राव कम हो जाता है, भूख नष्ट हो जाती है।[1]

कहने का मतलब यह है कि साधक को मन की इन विकृतियों को आवश्यकता नहीं, बल्कि अनेक शारीरिक-मानसिक व्याधियों और आत्मिक हानियों की जड़ समझ कर इन्हें प्रारम्भ में ही प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि ये साधक की अयतना (असावधानी) से प्रविष्ट होती है। शारीरिक-मानसिक व्याधियों और आत्मिक हानियों की स्थिति में पापों का आना स्वाभाविक है। पापों का आगमन तो तभी रुक सकता है, जब मन की इन विकृतियों को आते ही खदेड़ दे, कदाचित् लाचारीवश या भ्रान्ति

१ देखिये—चरक चिकित्सा स्थान, शुद्धि स्थान, अष्टांगहृदय, सुश्रुत स्थान, आदि आयुर्वेदिक ग्रन्थों में।

से ये प्रविष्ट हो जाएँ तो मन को तुरन्त ही आत्मिक गुणों—क्षमा, दया, सरलता, सत्य, शान्ति आदि के चिन्तन-मनन में लगा देना चाहिए।

कई बार मन यशकीर्ति, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा आदि कृत्रिम आवश्यकताओं को सच्ची आवश्यकताएँ बताकर साधक को बहकाता है, उस समय साधक को तुरन्त फटकारकर मन को वहाँ से हटा देना चाहिए।

यतना : आत्मसाक्षात्कार का मार्ग

यह निश्चित है कि साधक जब यतना की साधना करता रहता है तो अपने में निहित दोषों को वह एक-एक करके दूर करता है। जब यतना के तीव्र अभ्यास से वह निर्दोष-निष्पाप बन जाता है, तब शुद्ध आत्मा का दर्शन होते उसे देर नहीं लगती।

अपने में निहित दोषों को निकालने का इच्छुक यतनाशील साधक प्रतिक्षण सावधान रहता है। वह अपने हितैषियों के द्वारा अपने में प्रविष्ट दोषों को सुझाने, अपनी यतनासाधना की परीक्षा लेने एवं अपने को शुद्ध मार्गदर्शन कराने वालों की बातें सुनकर चिढ़ता नहीं, रुष्ट नहीं होता, अपितु उनकी बातों पर ध्यान देकर तदनुसार अपनी त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करता है।

एक शिष्य ने अपने आचार्य से आत्म-साक्षात्कार का उपाय पूछा। पहले तो उन्होंने समझाया—"यह साधना अत्यन्त कठिन है। इसमें पद-पद पर सावधान रहना पड़ता है। जरा-सी चूक करने पर साधक पतन की खाई में जा गिरता है। क्या तू इतनी कष्टसाध्य क्रिया कर सकेगा ?" पर जब उन्होंने देखा कि शिष्य इस साधना के लिए तीव्र जिज्ञासु है, तब उन्होंने आदेश दिया—"वत्स ! एक वर्ष तक एकान्त में गायत्री मंत्र का निष्काम जाप करो। जाप पूर्ण होते ही मेरे पास आना। और देखना, जाप के दौरान कोई विघ्नबाधा, संकट या भीति उपस्थित हो तो बिलकुल विचलित न होना।"

शिष्य ने आचार्य के आदेशानुसार साधना प्रारम्भ की। वर्ष पूरा होने के दिन आचार्य ने झाड़ू देने वाली मेहतरानी से कहा कि अमुक शिष्य आए तो उस पर झाड़ू से धूल उड़ा देना। मेहतरानी ने वैसा ही किया। साधक उसे क्रुद्ध होकर मारने दौड़ा, पर वह भाग गई। वह पुनः स्नान करके आचार्य की सेवा में उपस्थित हुआ। आचार्य ने कहा—"अभी तो तुम सांप की तरह काटने दौड़ते हो। अतः एक वर्ष और साधना करो।" साधक को क्रोध तो आया, परन्तु उसके मन में आत्म-दर्शन की तीव्र लगन थी, इसलिए गुरु-आज्ञा शिरोधार्य करके चला गया।

दूसरा वर्ष पूरा करने पर आचार्य ने मेहतरानी से उस साधक के आने पर झाड़ू छुआ देने को कहा। जब वह आया तो मेहतरानी ने वैसे ही किया। परन्तु इस बार वह कुछ गालियाँ देकर ही स्नान करने चला गया और फिर आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित हुआ। आचार्य ने कहा—"अब तुम काटने तो नहीं दौड़ते, पर फुफकारते अवश्य हो अतः एक वर्ष और साधना करो।"

तीसरा वर्ष समाप्त होने के दिन आचार्य ने मेहतरानी को उस साधक पर कूड़े की टोकरी उड़ेल देने को कहा। मेहतरानी के वैसा करने पर शिष्य को क्रोध नहीं आया, बल्कि उसने हाथ जोड़कर कहा—"माता ! तुम धन्य हो। तीन वर्ष से तुम मेरे दोष निकालने के लिए प्रयत्नशील हो।" वह पुनः स्नान करके आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित हुआ। इस बार आचार्यश्री ने उस यतनावान साधक को दोषमुक्त और योग्य समझकर आत्मदर्शन की विद्या दी।

बन्धुओ ! इससे आप समझ सकते हैं कि साधकजीवन में यतना की कितनी आवश्यकता है।

यतना का चौथा अर्थ : जतन (रक्षण) करना

जो व्यक्ति यतनाशील होता है, वह पापों एवं दुर्गुणों से आत्मा की रक्षा करता है। लोकव्यवहार में भी जतन शब्द रक्षा के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्रश्न होता है, साधु को किस वस्तु का जतन करना चाहिए ? उसे अपनी काया का जतन करना चाहिए या आत्मा का ? यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि जब चारों ओर घर में आग लगी हो तो व्यक्ति सर्वप्रथम सारभूत वस्तुओं को निकाल कर उनकी रक्षा करता है, असार को जाने देता है। इसका मतलब हुआ, वह बहुमूल्य वस्तु का जतन करता है, अल्पमूल्य की उपेक्षा करता है। आज चारों ओर संसार का वातावरण खराब है, व्यक्ति असार वस्तु को सँभालने और उसकी रक्षा करने में लगा हुआ है। वह इस अज्ञानदशा में है कि पहले मुझे असार, नश्वर, क्षणभंगुर वस्तु को बचाना चाहिए कि सारभूत, अविनाशी, शाश्वत को ? यह तो वही बात हुई कि वह सामान को बचाने में लगा है, पर सामान के मालिक को नहीं।

एक जगह किसी धनिक के घर में आग लग गई। उसने अपने नौकरों से बड़ी सावधानी से घर का सब सामान निकलवाया। उसने कुर्सियाँ, मेजें, कपड़े की सन्दूकें, तिजोरियाँ, खाने-पीने का सामान, बहीखाते आदि सब कुछ निकलवा लिया, तब तक आग की लपटें चारों ओर फैल गई थीं। घर का मालिक बाहर आकर सब लोगों के साथ खड़ा हो गया। उसकी आँखों में आँसू थे, वह हक्का-बक्का-सा अपने प्यारे भवन को आग में भस्म होते देख रहा था। अन्ततः उसने लोगों से पूछा—"भीतर कुछ रहा तो नहीं, सब सामान ले आये न ?" वे बोले—"सामान तो हमारे खयाल से कुछ नहीं रहा, फिर भी हम एक बार और देख आते हैं।"

नौकरों ने अन्दर जाकर देखा तो मालिक का इकलौता पुत्र कोठरी में मरा पड़ा है। कोठरी प्रायः जल गई थी। वे घबराकर बाहर आए और छाती पीटकर रोने लगे—"हाय ! हम अभागे घर का सामान बचाने में लगे रहे, मगर सामान के मालिक को बचाने का खयाल तक न रहा।" धनिक को भी सामान बचाकर सामान के भावी मालिक को खोने का बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

आज के गृहस्थ और साधु भी काया और काया से सम्बन्धित सामान को बचाने में तो लगे हुए हैं, लेकिन काया के मालिक आत्मा के जतन के विषय में कोई विचार ही नहीं है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

अप्पा खलु सततं रक्खियव्वो,
सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं। —चूलिका २

शरीर का जतन कहाँ तक ?

प्रश्न होता है, आत्मा की रक्षा की तो कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि आत्मा तो स्वयं अजर, अमर, अविनाशी है, फिर आत्मा की रक्षा के लिए कहने का आशय क्या है ? बात यह है कि आत्मा अजर-अमर होते हुए भी जब वह आत्मा से भिन्न विजातीय द्रव्यों—क्रोधादि से लिप्त हो जाती है, पापकर्मों से लिप्त हो जाती है, तब वह अरक्षित हो जाती है। इसलिए उसकी सुरक्षा का अर्थ है—आत्मा को क्रोधादि विजातीय द्रव्यों—रागादि रिपुओं से विनष्ट होने से बचाना।

इस पर भी एक बात अवश्य समझ लेनी है कि आत्मा की रक्षा के लिए धर्म-पालनार्थ शरीर और मन को भी स्वस्थ और सशक्त रखना आवश्यक है परन्तु साथ ही साधक को यह भी देखना है कि जहाँ शरीर धर्म से विमुख हो रहा है, उत्पथ पर जा रहा है, इन्द्रियविषयासक्ति का बेसुरा राग छेड़ रहा है, अथवा धर्मपालन के लिए बिलकुल अशक्त और लाचार हो गया है, वहाँ साधक शरीर को या तो धर्म के पुनीत मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे या वह शरीर पर से ममत्व छोड़ दे, इसे सहर्ष विसर्जन कर दे, अर्थात् शरीर और आत्मा दोनों में से एक की सुरक्षा (जतन) करने का प्रश्न हो, वहाँ शरीर को छोड़कर आत्मा की सुरक्षा करे।

वास्तव में शरीर एक प्रकार का वाद्ययन्त्र है। इसे ठीक ढंग से वही बजा सकता है, जो यतनाशील साधक हो। अन्यथा अगर वह इस बाजे के तारों को अत्यन्त कस देगा तो तार टूट जाएँगे, सुरीला स्वर नहीं निकलेगा, और यदि वह इस बाजे के तारों को अत्यन्त ढीला छोड़ देगा, विषयभोगों में रमण करने की खुली छूट दे देगा तो भी इसमें से आध्यात्मिक सुखद संगीत नहीं निकलेगा। इसलिए साधक कठोर बनकर शरीर को अत्यन्त भूखा-प्यासा, या अतिकठोर चर्या में रखेगा तो भी धर्मपालन नहीं कर सकेगा और शरीर को इन्द्रियविषयभोगों में खुलकर खेलने की छूट दे देगा, तो भी धर्मपालन नहीं हो सकेगा। इसलिए साधक को इन दोनों अतियों से बचकर इसका सन्तुलन रखना होगा। अगर शरीररूपी वाद्य को अनाड़ी यतनाशील साधक बजाने जाएगा तो यह नहीं बजेगा। संत कबीर ने ठीक ही कहा है—

कबीरा यन्त्र न बाजइ, टूटि गए सब तार।
यन्त्र बिचारा क्या करे, चला बजावनहार॥

वास्तव में शरीररूपी वाद्ययंत्र, अपने-आप में जड़—अचेतन है, इसको बजाने

वाला आत्मा है। जब आत्मा अयतनाशील होकर ठीक से इस वाद्य का जतन नहीं करेगा तो यह वेचारा कैसे वज सकता है ?

दूसरी वात यह है कि आत्मा की सुरक्षा के लिए आत्मा के वास्तविक गुणों की रक्षा आवश्यक है। आत्मा के असली गुण हैं—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र। सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और साधु वर्ग के मौलिक नियम तप आदि आ जाते हैं। अतः रत्नत्रय की, बिशेषतया महाव्रतों (मूल गुणों) की रक्षा होना अनिवार्य है।

कुछ साधक कहते हैं कि जिस प्रकार गृहस्थ श्रावक के व्रतों में अनेक छूटें हैं। वह इच्छानुसार यथाशक्ति एक, दो या सभी व्रतों को ग्रहण कर सकता है तथा व्रतों में भी कुछ छूटें रख सकता है, वैसे महाव्रतों में इच्छानुसार एक दो तीन आदि महा-व्रत तथा स्वीकृत महाव्रतों में भी कुछ छूटें (रियायतें) क्यों नहीं ले सकता ? इस सम्बन्ध में पुराने सन्त सोना और मोती खरीदने का उदाहरण देते थे। जैसे सोना खरीदने का इच्छुक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार एक दो माशा, या तोला-दो तोला चाहे जितना परिमाण में खरीद सकता है, परन्तु मोती खरीदने के इच्छुक व्यक्ति को पूरा मोती ही खरीदना पड़ता है। मोती के टुकड़े नहीं किये जा सकते। यदि मोती के टुकड़े किये जाएँगे तो वह माला में पिरोने योग्य नहीं रहेगा। टूटे हुए मोती की कोई कीमत नहीं होती। अतः श्रावकव्रत सोने के समान और साधु के महाव्रत मोती के समान हैं। श्रावकव्रत में सिर्फ एक दिन के लिए भी आरंभजनित हिंसा या अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग हो सकता है, परन्तु साधुजीवन के महाव्रतों में एक दिन के लिए असत्य बोलने, हिंसा करने आदि की छूट नहीं दी जा सकती। वहाँ दीक्षा लेने से लेकर जीवनपर्यन्त महाव्रतपालन की शर्त है, उसमें एक दिन केलिए भी छूट नहीं दी जाती। एक दिन का महाव्रत भंग साधकजीवन का सर्वनाश कर देता है। इसलिए गृहस्थ-व्रतों की तरह साधु के महाव्रतों में स्वैच्छिक पथ-पालन की छूट या महाव्रत भंग की एक दिन के लिए भी छूट नहीं दी जा सकती।

निष्कर्ष यह है कि साधु को अपनी आत्मा की रक्षा के लिए आत्मगुणरूप महाव्रतों की रक्षा करनी आवश्यक है। इसी को आत्मा का जतन कहते हैं।

नियमों का भी जतन : यतना के द्वारा

महाव्रतों की रक्षा के लिए नियमों का पालन साधकजीवन में आवश्यक माना जाता है, किन्तु कई दफा साधक के जीवन पर कई प्रकार के आकस्मिक संकट आ पड़ते हैं और ऐसी स्थिति में या किसी दुर्घटना (एक्सीडेंट) की स्थिति में मृत्यु होने की सम्भावना है। साधक अगर अभी परिपक्व नहीं है और हो सकता है, वह आर्त्त-ध्यान करे तो उससे मृत्यु हो जाने पर भी और जीवित रहने पर भी वह पापकर्म का वन्ध करेगा। अतः उत्सर्ग की तरह नियमों में कुछ आपवादिक नियम भी साधक के लिए वताये गये हैं। साधक ऐसी संकटापन्न स्थिति में सोचता है कि अगर मेरा शरीर

टिक जाएगा तो मैं प्रयश्चित्त लेकर और धर्म का पालन कर सकूंगा, परन्तु आर्त्तध्यान करते हुए शरीर छूटा तो दुर्गति मिलेगी, धर्मपालन से वंचित रहूँगा, अतः ईमानदारीपूर्वक इस आपवादिक नियम का पालन करलूं। अपवाद में भी वह यथाशक्ति अकल्पनीय अनैषणीय वस्तु ग्रहण या सेवन नहीं करता, फिर भी अगर करता है तो यतनापूर्वक ही। यहाँ यतना अपनी शक्तिभर अकल्प्य अपवाद का त्याग करता हुआ, अकल्प्य का यतना से सेवन करने अर्थ में है।[1]

यतना का पाँचवाँ अर्थ : प्रयत्न या पुरुषार्थ

प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति में यति शब्द का अर्थ किया गया है—

"इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूप-प्रयत्नपरो यतिः"

(इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके जो शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रयत्नशील हो, उसे यति कहते हैं। यति और यतना दोनों यम धातु से बने हैं। इसलिए यतना का पाँचवाँ अर्थ है—प्रयत्नशीलता या पुरुषार्थ!) प्रयत्नशीलता साधक की किस दिशा में हो? यह प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि साधक सदैव सतत स्व-पर-कल्याण साधना में, आत्मस्वरूप में या लक्ष्य के प्रति अथवा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय में पुरुषार्थ करता ही है। मगर जो साधक अयतनाशील होकर अकर्मण्य, आलसी या अपराक्रमी हो जाते हैं, वे अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। लक्ष्य के प्रति जो पुरुषार्थ नहीं करता, आत्मस्वरूप में प्रयत्न नहीं करता, वह पाप प्रवृत्ति में पड़ेगा और उस पापकर्म के फलस्वरूप नाना दुःखपूर्ण गतियों और योनियों में जन्म-मरण करता रहता है। अतः पापकर्मों से विरत होने के लिए आवश्यक है कि साधक अपने आत्मस्वरूप, रत्नत्रय या ध्येय की दिशा में प्रयत्नशील हो। जब वह आत्मस्वरूप में या ध्येय की दिशा में सतत प्रयत्नशील रहेगा तो वह सारे संसार को आत्मौपम्य दृष्टि से देखेगा, प्राणिमात्र को मित्र समझेगा। ऐसी दशा में हिंसा, झूठ, चोरी आदि का व्यवहार किसके साथ करेगा? सब अपने ही तो हैं, उसके। इस प्रकार स्वतः ही वह पाप से विरत हो जाएगा। पर कब? जब इस प्रकार प्रयत्नशील होगा।

जैसे नदी सतत महासागर की ओर गति करती रहती है, और लगातार समुद्र में अपने आप को खाली किये जाती है, वैसे ही साधक को अपने ध्येय रूपी सागर की ओर सतत गति—प्रयत्न करते रहना चाहिए। जब भी साधक का यह प्रयत्न बन्द हो जाएगा, समझ लो, वहाँ आत्मा को कोई न कोई खतरा उपस्थित हो जाएगा। रास्ते में पापरूपी लुटेरे साधक की संयम सम्पत्ति को लूट लेंगे।

कुतुबनुमा की सुई की नोंक सदा आकाश में चमकने वाले किसी दूसरे तारे की ओर नहीं झुकती, सिवाय ध्रुवतारे के। वह केवल ध्रुवतारे के प्रकाश की ओर ताकती है। सूर्य उसे चकाचौंध करता है, पुच्छलतारे दूसरे मार्गों की ओर घूमने का

१ यतना—स्वशक्त्या अकल्प्य-परिहारे —नि० चू० १ उ० १

उसे संकेत करते हैं, उसे देखकर छोटे-छोटे तारे झिलमिलाते हैं, उसकी प्रीति को बाँटना चाहते हैं। परन्तु अपने ध्येय की ओर उन्मुख कुतुवनुमा की सुई भूलकर भी कभी दूसरी ओर नहीं देखती। उसी तरह साधक को भी अपने ध्येय मोक्ष के प्रति प्रयत्न के अतिरिक्त अन्य सांसारिक, भौतिक प्रलोभनों की ओर नहीं झुकना चाहिए। सच्ची दिशा में प्रयत्नशीलता ही यतना है।

यतना का छठा अर्थ : जय पाना

मूल में **'जयंतं'** शव्द है। संस्कृत में उसके दो रूप होते हैं—**यतन्तं** तथा **जयन्तं**। इसे जयणा—जयना भी कहा गया है, उसका अर्थ कल्पसूत्र टीका में किया गया है—**'जयना जयनशोलायां गत्यां'** अर्थात् जिसकी गति जयनशील हो, उसे जयना कहते हैं। जयशील गति उसी की हो सकती है, जो इन्द्रियों और मन का गुलाम न वनकर सदैव उन पर विजयी वनकर रहता हो।

विजयी की गति में और पराजित की गति में वहुत अन्तर होता है। निर्भयता और निश्चिन्तता के साथ वही साधक गति कर सकता है, जो विघ्न-बाधाओं से हार न खाता हो, संकटों से पराजित न होता हो, परिषह-सेना से सदा जूझता हो, आत्मा के कामक्रोधादि शत्रुओं से सदैव संघर्ष करता रहता हो, पापकर्मों को सदैव पछाड़ देता हो। जो दुर्वल मनोवृत्ति का साधक होता है, वह इन संकटों और वाधाओं को देखते ही हार खा जाता है, परिषहों के सामने हथियार डाल देता है, काम-क्रोधादि रिपुओं के साथ संघर्ष में हमेशा पराजित हो जाता है, पापकर्म उसके मनोवल को सदैव चुनौती देते रहते हैं। वह जीवन संग्राम में जयनशील नहीं रहता। जीवन संग्राम में सदैव विजयी वनकर आगे वढ़ने के लिए एक साधक प्रभु से प्रार्थना करता है—

वढ़ने का वल दे दो, चाहे पथ आसान न हो।
विघ्नों वाधाओं के सागर, उमड़ पड़ें चाहे मेरे पर।
सवको पल में करूँ पराजित, विजयी का बल दे दो।
चाहे जय पर अभिमान न हो॥ वढ़ने·······
नियमों पर होऊँ न्यौछावर, प्राणों का हो मोह न तिल भर।
वीरों का सा साहस रखकर, मरने का वल दे दो।
उसमें भय का अभिमान न हो॥ वढ़ने······
मानवता से ऊपर उठकर, वनूँ सभी का स्वार्थ छोड़कर।
परम अर्थ में लीन रहूँ मैं, परमार्थी वल दे दो।
चाहे तन का सम्मान न हो॥ वढ़ने·······

कवि ने जयनशील साधक की भावोर्मियों को यथार्थता के धरातल पर अंकित

कर दिया है। वास्तव में जयी साधक सदैव आध्यात्मिक विजय का संगीत गाता है, उसी धुन में गति-प्रगति करता है।

बन्धुओ ! मैं यतना के ६ अर्थों पर सांगोपांग प्रकाश डाल चुका हूँ। यतनावान या यत्नवान साधक में इन छहों रूपों में यतना अठखेलियाँ करती रहती है। ऐसे यत्नवान साधक के समीप पाप-ताप नहीं आते। इसीलिए महर्षि गौतम ने कहा—

"चयंति पावाइंमुणि जयंतं"

आप इन सभी अर्थों पर गहराई से विचार करके 'यतना' को जीवन में उतारने का प्रयत्न करें, तभी आपका मुख मोक्ष-ध्रुव की ओर स्थिर रह सकेगा।

☆

३५

हंस छोड़ चले शुष्क सरोवर

धर्मप्रेमी वन्धुओ !

गौतम कुलक पर प्रवचन शृंखला में आज मैं एक ऐसे जीवन की झांकी कराना चाहता हूँ, जो अत्यन्त निष्ठुर, निर्दयतापूर्ण, असहानुभूतियुक्त है, वह है स्वार्थीजीवन। गौतमकुलक का यह उन्तीसवाँ जीवनसूत्र है। वह इस प्रकार है—

"चयंति सुक्काणि सराणि हंसा"

'सूखे हुए सरोवरों को हंस छोड़ देते हैं।'

स्वार्थी मनोवृत्ति का रूपक

यह जीवनसूत्र स्वार्थी मनोवृत्ति का रूपक है। इस रूपक के द्वारा यह अभिव्यक्त किया गया है कि जिस सरोवर पर हंस रहता था, जिस सरोवर का उसने पानी पिया था, जिसके कमलों का आस्वादन किया था, उस उपकारी सरोवर के सूखते ही वह हंस वहाँ एक दिन भी नहीं रुकता, वह उसी दिन वहाँ से उड़कर अन्यत्र चला जाता है, जहाँ उसे ये चीजें सेवन करने को मिलती हैं। उस सरोवर के सूख जाने पर भी वह स्वार्थी हंस उस उपकारी सरोवर को छोड़कर तीसरे सरोवर के पास चला जाता है।

हंस के उदाहरण द्वारा वताया है कि इसी प्रकार स्वार्थी व्यक्ति भी जव तक अपने उपकारी मनुष्य से खाने-पीने आदि को मिलता रहता है, या जव तक वह धन-धान्य आदि से परिपूर्ण रहता है, तव तक उसके पास रहता है और लेता रहता है, परन्तु जव वह उपकारी व्यक्ति धन-धान्य से खाली हो जाता है, उसकी स्थिति निर्धन हो जाती है, वह दूसरे को कुछ दे नहीं सकता, स्वयं कंगाल हो जाता है, तव वह स्वार्थी मनुष्य भी उस उपकारी को कोई न कोई वहाना वनाकर छोड़कर चल देता है, वह उसे अव फूटी आँखों नहीं सुहाता, वह स्वार्थी अपने उस उपकारी की उपेक्षा कर देता है, और अन्यत्र चला जाता है। वहाँ भी उसकी मनोवृत्ति यही रहती है कि यह मुझे देता ही रहे, मैं इससे लेता ही रहूँ। जव उसकी आर्थिक स्थिति भी खराव हो जाती है तो वह किसी तीसरे व्यक्ति के पास जा पहुँचता है।

राजस्थान में एक कहावत है—**काम सर्यां दुःख वीसर्यां, वैरी हूग्या वैद।** इसका तात्पर्य यह है कि अपना काम निकलते ही रोगी अपने अतीत के दुःख और

उस दुःख में वैद्य द्वारा किये गये इलाज को भूल जाता है, इतना ही नहीं अब वैद्य उसका शत्रु हो जाता है। इसी स्वार्थी मनोवृत्ति का चित्रण वृन्दकवि ने एक दोहे में किया है—

स्वारथ के सब ही सगे, विन स्वारथ कोऊ नाहिं।
जैसे पंछी सरस तरु, निरस भये उड़ जाहिं ॥

सच है, स्वार्थ होता है, तब सभी लोग हाँ जी, हाँ जी कहकर मधुर-मधुर बोलते हैं, उस व्यक्ति की खूब प्रशंसा करते हैं, चापलूसी करते हैं, उसे दानवीर, धर्मात्मा, पुण्यवान और प्रतिष्ठित श्रेष्ठ पुरुष कहकर बखानते हैं, उसके कार्य-कलापों की सराहना करते हैं, उसे उच्च पद एवं अभिनन्दन पत्र देते हैं, लेकिन जब उसके पास किसी कारणवश धन नहीं रहता, वह उन स्वार्थियों को देने लायक स्थिति में नहीं रहता, जब उसके दुःख के दिन आते हैं और वह दुर्दैवग्रस्त हो जाता है, तब उसे छोड़ने में, दुरदुराने और दुत्कारने में जरा भी देर नहीं करते। कवि के शब्दों में एक भूतपूर्व धनसम्पन्न, किन्तु वर्तमान में दरिद्र की आपबीती सुनिये—

हैं बनी-बनी के सब साथी, बिगड़ी में हमारा कोई नहीं।
धनवालों के हमदर्द सभी, निर्धन का सहारा कोई नहीं ॥
थे दोस्त हमारे दुनिया में जब, पास बहुत-सा पैसा था।
जब वक्त गरीबी का आया, दिलदार दुलारा कोई नहीं ॥
हमदर्द हजारों बन जाते, जब तक पैसे की ताकत है।
समय बुरा आ जाता है तब बनता प्यारा कोई नहीं ॥

कितना मार्मिक चित्रण है, स्वार्थी मानव की मनोवृत्ति का ! वास्तव में मनुष्य ही क्या, पशु-पक्षी भी उस वृक्ष, सरोवर या आश्रयस्थल को छोड़ते जरा भी देर नहीं लगाते, जिस पर वे रातदिन बसेरा करते थे, जहाँ वे घोंसला बनाकर अपने बच्चों को पालते-पोसते थे, उन्हें चुग्गा पानी लाकर देते थे, जहाँ के फल खाये थे, या मधुर जल का पान किया था। एक कवि इसी बात को विभिन्न रूपकों द्वारा समझाते हुए कहता है—

फलहीन महीरुह त्यागि पखेरू, वनानल तें मृग दूरि पराहीं।
रसहीन प्रसूनहिं त्यागि करैं अलि, शुष्क सरोवर हंस न जाहीं ॥
पुरुषै निरद्रव्य तजै गनिका, न अमात्य रहैं बिगरे नृप पाहीं।
शिवसम्पति रीति यही जग की, बिन स्वारथ प्रीति करै कोऊ नाहीं ॥

वास्तव में मनुष्य को जब मूढ़ या मिथ्यास्वार्थ का नशा चढ़ जाता है, तब वह अपने आपे में नहीं रहता, वह अपने पर किये हुए सभी उपकारों को भूल जाता

है, स्वार्थ में अन्धा होकर वह उपकारी को अपने से दूर हटाने के लिए निष्ठुर बन जाता है, बल्कि वह अपने उपकारी की तंगी हालत में किसी प्रकार का कोई सहयोग नहीं देता, न ही उससे कोई वास्ता रखता है। कदाचित् वह उस स्वार्थी से सहायता के लिए कुछ कहता है तो वह मानवता को भूलकर उसका तिरस्कार और बहिष्कार कर बैठता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य जब निर्धन, दुर्बल, निःसत्व या अशक्त स्थिति में हो जाता है, तब जिस व्यक्ति का उसने उपकार किया था, संकट के समय उसे सहायता दी थी, वह निष्ठुर होकर उससे बिलकुल मुँह मोड़ लेता है, उससे किनाराकसी कर लेता है, उसके प्रति उपेक्षा और उदासीनता दिखलाता है। चाणक्यनीति में स्वार्थी लोकव्यवहार का सुन्दर चित्रण किया गया है—

निर्धनं पुरुषं वेश्या, प्रजा भग्नं नराधिपम्,
खगा वीतफलं वृक्षं, भुक्त्वा चाभ्यागतोगृहम्।
गृहीत्वा दक्षिणां विप्रास्त्यजन्ति यजमानकम्,
प्राप्तविद्या गुरुं शिष्या दग्धारण्यं मृगास्तथा ॥

'वेश्या निर्धन पुरुष को, प्रजा शक्तिहीन राजा को, पक्षी फलहीन वृक्ष को, भोजन करने के बाद यजमान को, विद्या प्राप्त हो जाने पर शिष्य गुरु को तथा मृग जल जाने के बाद उस वन को छोड़ देते हैं।'

पता नहीं, लोग इतने स्वार्थी क्यों हो जाते हैं ? प्रायः सारे संसार का व्यवहार स्वार्थ के आधार पर ऊलता है। गिरिधर कवि ने एक कुंडलिया में स्वार्थी दुनिया की तस्वीर खींचकर रख दी है—

सांई सब संसार में मतलब को व्यवहार।
जब लगि पैसा गांठ में, तब लगि ताको यार ॥
तब लगिं ताको यार, यार संग ही संग डोलै।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोलै ॥
कह गिरधर कविराय जगत यह लेखा भाई।
करत बेगरजी प्रीति, यार बिरला कोई सांई ॥

बहुत-से लोग यह कह दिया करते हैं कि भाई-भाई का, भाई-बहन का, पति-पत्नी को, माता-पिता और पुत्र का प्रेम तो अद्भुत होता है, वहाँ स्वार्थ का दाँव कैसे लग सकता है ? पर अनुभव यह कहता है कि ऐसा हो जाए तो परिवार स्वर्ग न बन जाए ! परन्तु अक्सर परिवारों में परस्पर स्वार्थ की टक्करों के कारण परिवार नरक बन जाते हैं। स्वार्थ भी कोई बड़े नहीं पर तुच्छ स्वार्थों को लेकर परिवारों में आए दिन कलह, वैमनस्य, सिरफुटौव्वल और अपना स्वार्थ सिद्ध करने और दूसरों की उपेक्षा करने के प्रसंग होते रहते हैं।

बहन और भाई में स्वार्थ के कारण किस प्रकार प्रेम में दरार पड़ जाती है, इसका एक उदाहरण लीजिए—

एक बड़े सम्पन्न परिवार में बहन और भाई दोनों बड़े प्रेम से रहते थे। दोनों में एक-दूसरे के प्रति अत्यन्त स्नेह था। दोनों ही एक दूसरे को देखे बिना रह नहीं सकते थे। बहन की शादी एक सम्पन्न परिवार में कर दी गई। वह अपनी सुसराल चली गई।

इधर पिता-माता का देहान्त हो जाने के बाद भाई की आर्थिक स्थिति कमजोर हो गई। व्यापार में घाटा लग गया। दुर्भाग्य से भाई फटेहाल हो गया, घर में रोटियों के भी लाले पड़ गए। उसकी पत्नी ने कहा—ऐसे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से क्या होगा? आप कहीं अन्यत्र जाकर कोई रोजगार धंधा करें, ताकि हमारा गुजारा चल सके।

पत्नी की बात में उसे तथ्य लगा। वह अपने शहर से चल पड़ा। फटे पुराने कपड़े, आँखें अन्दर की ओर धंसी हुई, गाल पिचके, भूख के कारण पेट भी पीठ से लगा हुआ! चारों ओर दरिद्रता झांक रही थी। फिर भी साहसपूर्वक वह आगे बढ़ा जा रहा था। रास्ते में बहन की सुसराल वाला गाँव भी आ गया। सोचा— "चलो बहन से भी मिलता चलूं, शायद ऐसी हालत में कोई मदद दे दे, या व्यापार-धंधा करा दे।" मगर उसकी यह आशा निराशा में परिणत हो गई। जब भाई बहन के घर के पास आकर दरवाजे पर रुका और उसने अपने आने की अन्दर सूचना दी तो बहन ने ऊपर से उसे देखा। मन में सोचा—है तो भाई ही, परन्तु है बिल्कुल फटेहाल और दरिद्र वेश में। ऐसे दीन-हीन को यदि मैं अपना भाई बताऊँगी तो यहाँ मेरी इज्जत मिट्टी में मिल जाएगी। अतः ऊपर से ही नौकरों से कहा यह मेरे पीहर में चूल्हा सुलगाने वाला नौकर है। बचपन से ही मुझे बहन कहा करता था। खैर, अब जब यह यहाँ आ ही गया है तो इसे बाहर ही जहाँ पशु बाँधे जाते हैं, वहाँ ठहरा दो।

भाई ने बहन के जब ये स्वार्थी उद्‌गार सुने तो उसका दिल चूर-चूर हो गया पर मन ही मन अपने आप को कोसता रहा। वह खोया-खोया-सा बहन की ओर ताकता ही रहा। आखिर नौकरों ने उसे पशुशाला में ठहरा दिया। कुछ देर बाद ही उसके लिए बहन ने एक ठीकरे में भोजन परोसकर भेजा एक सूखी रोटी, बासी राब, खट्टी छाछ और थोड़ा-सा बासी साग। यह सब देखते ही उसकी आँखों के आगे अंधेरा छा गया। उसने नौकर से भोजन ले लिया। नौकर के चले जाने के बाद आँखों से आँसू बहाते हुए उसने वह ठीकरा वहीं गाड़ दिया। और स्वयं बिना कुछ कहे ही भूखा का भूखा वहाँ से चल पड़ा।

वह वहाँ से चलकर एक व्यावसायिक केन्द्र में पहुँचा। नगर के व्यापारियों में अपनी अच्छी साख जमा ली। कुछ ही वर्षों में वह मालामाल हो गया। रूठी हुई

लक्ष्मी पुनः आकर वहाँ अठखेलियाँ करने लगी। लाखों रुपये लेकर बड़ी शान-शौकत के साथ वह पुनः अपनी जन्मभूमि की ओर वह चल पड़ा। रास्ते में बहन के गाँव में रुककर उससे मिलने आया। बहन ने ठाठ-बाठ से आते हुए अपने भाई को देखा तो नौकरों से कहा—मेरा भाई आ रहा है, उसे सम्मान के साथ लेकर आओ। जब वह घर के निकट आया तो वह स्वयं दौड़ी-दौड़ी आई और भाई से गले मिली। भाई को जब अच्छे से मकान में ठहराया जाने लगा तो वह स्वयं आग्रह करके उसी पशुशाला में ठहरा। बहन ने पशुशाला को साफ करवाकर अच्छे ढंग से वहाँ भाई के लिए महफिल सजवा दी। भोजन के समय विविध मेवा मिष्टान्न थाल में परोसकर स्वयं लाई। और भाई को भोजन कराने स्वयं पास बैठ गई। भाई ने भोजन के थाल के आस-पास चारों ओर हीरे, पन्ने, मोती और स्वर्णमुद्राएँ रख दिये। और कहने लगा—"ओ हीरो! पन्नो! मोतियो! आप सब भोजन करिये। यह भोजन आपके लिए ही तो बना है।" बहन झुंझलाकर बोली—"भाई! आज तुम्हें क्या हो गया है? भोजन क्यों नहीं करते? यह बहकी-बहकी-सी बातें क्यों कर रहे हो?" भाई ने उस स्थान से खोदकर वह भोजन का ठीकरा निकाला और बहन के सामने रखकर बोला—"यह है मेरा असली भोजन, जिसे तुमने मुझे उस दिन दिया था, पर आज का भोजन तो इन गहनों-कपड़ों का है!" बहन असलियत को समझ गई, और अपनी पिछली स्वार्थपरता और अमानवीयता के व्यवहार के लिए भाई से क्षमा माँगने लगी। आखिर भाई भी भोजन कर बहन को सन्तुष्ट करके विदा हुआ।

बन्धुओ! गौतम ऋषि की यह उक्ति कितनी सत्य है कि सरोवर शुष्क होते ही हंस उसे छोड़कर चले जाते हैं।

स्वार्थी लोगों के कारण संसार नरक बन जाता है

प्रायः देखा जाता है कि ऐसे (स्वार्थी लोगों के कारण यह स्वर्गोपम संसार नरक-सा बन जाता है। घर में सब लोग स्वस्थ और सशक्त हों, फिर भी पैसे के अभाव में एक दूसरे के स्वार्थ टकरा उठते हैं और अत्यन्त निकट के सगे सम्बन्धी भी उस व्यक्ति को अपने मन से दूर फैंक देते हैं। कई बार तो ऐसे अतिस्वार्थी लोग अपने पड़ोसियों तथा अपने हितैषी समाज के लोगों से स्वार्थसिद्धि करके झटपट दूर भाग जाते हैं।)

एक पौराणिक कथा है। एक बार नारदजी पीयूषपावन पर्वत की तलहटी में भ्रमण कर रहे थे। सहसा उन्होंने एक विचित्र वृक्ष देखा, जिसके तना था, डालियाँ थी, पर वे सब ठूंठ-सी लगती थीं। हरियाली तो दूर रही, वृक्ष में एक भी पत्ती नहीं थी। हाँ, फल अवश्य थे, पर थे वे काले। उस वृक्ष के नीचे सैकड़ों जीवजन्तु और पक्षी मरे पड़े थे। विचारशील नारदजी ने अनुमान कर लिया कि ये फल विषैले होंगे। इन जीवों ने इन्हें खाने का प्रयास किया होगा और इसी में अपने प्राणों से हाथ धो बैठे होंगे।

नारदजी इस आश्चर्यजनक वृक्ष की विचित्रता ज्ञात करने के लिए

ब्रह्मा जी के पास पहुँचे और अपनी जिज्ञासा शान्त करने हेतु उनके सामने प्रस्तुत की।

ब्रह्माजी ने दीर्घनिःश्वास छोड़ते हुए कहा—"बहुत दिन पहले यहाँ एक युवक आया था, वह जिससे मिलता भक्ति और वैराग्य की बातें करता था। लोगों की स्वार्थपूर्ण दृष्टि में वह पागल-सा लगता था। अतः घर वालों ने उसे निकम्मा समझकर निकाल दिया। युवक का एक हाथ बिगड़ा हुआ था, फिर भी वह बहुत श्रमनिष्ठ और स्वाभिमानी था। इसलिए उसने प्राकृतिक जीवन जीने का विचार किया। आहार सम्बन्धी थोड़ी-सी आवश्यकताएँ थीं। थोड़ा समय उसमें लगाकर बाकी समय वह निःस्वार्थ सेवा और परोपकार में बिताना चाहता था। अतः उसने अपने आहार के लिए कुछ फलों वाले पौधे लगाने का निश्चय किया। पर बिना किसी औजार के उस कठोर धरती को खोदना कठिन काम था। युवक ने साहस नहीं छोड़ा और अपने हाथ से ही खोदने का काम शुरू किया। वह बड़ी कठिनाई से एक हाथ से कभी एक कभी दो ढेले खोद पाता था। यों वह कई दिनों तक खोदता रहा। उसकी बहन आई और हँसती हुई निकल गई। उसकी दृष्टि में भाई जैसा मूर्ख इस संसार में कोई न था। कुछ देर में पत्नी आई—उसके हाथ में शीतल जल से भरा घड़ा था। युवक ने बड़ी आशा से हाथ उठाया और इस आशय का इशारा किया कि वह थोड़ा-सा पानी पिला देगी। किन्तु हाय री स्वार्थवृत्ति ! पत्नी ने जल पिलाना तो दूर रहा, दो मीठे बोल भी न बोले। उलटे, उपहास के स्वर में उसने कहा—"भागीरथ जी ! थोड़ा और खोदिये, शीघ्र ही गंगाजी निकल आएँगी।"

निराश युवक धीरे-धीरे फिर मिट्टी खोदने लगा। तभी उधर से सिर पर फलों का टोकरा लिये पिता आया। भूखे युवक ने इशारे से एक नन्हा-सा फल खाने को माँगा। लेकिन फल के बदले में युवक को भर्त्सना मिली—"मूर्ख ! दिनभर निकम्मा बैठा रहता है, तब खाना कहाँ से मिलेगा ? खाना कहीं आकाश से टपकता है क्या ? उठ, कुछ काम कर। अपनी रोटी स्वयं कमा।"

युवक की आँखें डबडबा आईं। बेचारा कुछ बोल न सका। भूखा-प्यासा ही जमीन खोदने में लगा रहा। पर मन ही मन सोचता रहा—संसार में प्रेम और दया का स्रोत न सूखे तो मनुष्य कितना खुशहाल हो सकता है। संसार साधनों के अभाव में नहीं, स्वार्थभावना से दुःख बढ़ने की सत्यता आज प्रतीत हुई।

ज्येष्ठ शुक्ला १० को प्रातःकाल जैसे ही उसने मिट्टी का एक ढेला उठाया, उसकी आँखें चौंधिया गईं। कोई बहुमूल्य मणि का टुकड़ा उसके हाथ आ गया। वह उस मणि को लेकर खड़ा हुआ तो लोग भ्रम में पड़ गये कि आज समय से पहले ही सूर्योदय कैसे हो गया ? जहाँ तक प्रकाश पहुँचा, लोग भागते चले आए और युवक के भाग्य की प्रशंसा करने लगे। बहन आई और भाई को नहलाने लगी। पत्नी आई और उसके शरीर पर चन्दन का लेप कर उसे बहुमूल्य वस्त्र पहना गई। पिता मधुर

मिष्ठान्न व पकवान से सजा थाल लेकर आया और बोला—"बेटा ! बहुत भूखे दिखाई देते हो, लो पहले भोजन कर लो।"

युवक को संसार के इस मोह और मिथ्या स्वार्थ पर हँसी आ गई। उसने सारे वस्त्राभूषण उतार फैंके और भोजन भी नहीं लिया। उस स्थान पर सुमधुर फलों का पौधा लगाकर अपनी मणि लिये हुए युवक न जाने कहाँ चला गया। उस दिन से उसकी सूरत तो क्या, छाया के भी दर्शन न हुए। हाँ, उसका रोपा हुआ वृक्ष कुछ दिनों में बड़ा होकर मीठे फल अवश्य देने लगा।

धीरे-धीरे युवक का यश सारे विश्व में गूंजने लगा। जो भी पर्वत से मणि निकलने की बात सुनता, उधर ही दौड़ा चला जाता। देखते-देखते सैंकड़ों स्वार्थी लोग मणि पाने के लालच में पर्वत की खुदाई करने लगे। संसार में स्वार्थी और मोहग्रस्त लोग ही अन्धानुकरण करके उसके दुष्परिणाम भोगते हैं। मणि तो मिली नहीं, पर एक भारी भरकम पत्थर का टुकड़ा निकला। लोग सामूहिक रूप से जुट पड़े उस पत्थर को हटाने के लिए। पत्थर के हटते ही उसके पीछे छिपा भयंकर नाग फुंकार मारकर दौड़ा। लोग भागे, पर उस सांप ने उनमें से अधिकांश को वहीं डस लिया। भागते समय वे ही लोग इस वृक्ष से टकराए, फलत: नाग का विष इस वृक्ष में भी व्याप्त हो गया। उस दिन से इस वृक्ष के सब पत्ते झड़ गए। इसमें फल भी विषैले लगने लगे। नारद ! इसके बाद से आज तक किसी ने भी इस वृक्ष के नीचे बैठकर शीतल छाया प्राप्त करने का सुयोग नहीं पाया।"

नारद ने सविस्मय पूछा—"भगवन् ! क्या यह वृक्ष फिर हराभरा हो सकता है ?" ब्रह्माजी गम्भीर होकर धीरे-धीरे बोले—"सृष्टि में कुछ भी असम्भव तो नहीं है, पर आज तो धरती के अधिकांश लोगों को स्वार्थ और मोहप्रपंच के नाग ने डस लिया है। लोग जितने इस शान्तिरूपी वृक्ष से टकराते हैं, उतने ही अधिक इसके फल विपाक्त होते चले जाते हैं। उस युवक की तरह कोई निःस्वार्थ, प्रेमी सज्जन आए और उस वृक्ष का स्पर्श करे तो यह फिर से शीतल, मधुर और सुखद फलों वाला वृक्ष क्यों नहीं बन सकता ?" नारदजी को इस समाधान से सन्तुष्टि हुई। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि स्वार्थी और मोही लोग ही इस अमृततुल्य, स्वर्गोपम संसार को जहरीला और नरकोपम बनाए हुए है।

संसार में मनुष्य के जीवन निर्वाह के लिए एक से एक बढ़कर सुन्दर सामग्री भरी पड़ी है। नदी, कुए, सरोवर, वर्षा ये सब मधुर जल का भण्डार लिए दान दे रहे हैं। धरती माता सात्त्विक अन्न खिलाती है। ये परोपकारी वृक्ष मानव-जीवन के अनमोल सहारे बनकर छाया, फल-फूल आदि मुक्तहस्त से लुटाते हैं। आकाश में तारों की सुन्दर महफिल लगी है। सूरज और चन्द्रमा दोनों मनुष्य को प्रकाश, गर्मी और शीतलता प्रदान करते हैं। ये बादल औघड़दानी बनकर अपना पानी लुटाते हैं। चारों ओर आनन्द ही आनन्द बरस रहा है। अगर मनुष्य अपने मन को उदार, सहयोगी और

समभावी बनाले, और इसे वश में कर ले तो यहीं स्वर्ग उतर आएगा। परन्तु मनुष्य अतिस्वार्थी बनकर झूठे मद और मोह में ग्रस्त होकर इस संसार को नरक-सा बनाये हुए हैं। अगर मनुष्य स्वार्थवृत्ति छोड़ दे और परमार्थवृत्ति से सोचे, संसार की सामग्री का उपभोग अकेला ही करने की न सोचे, सबको अपना कुटुम्बी समझे, सबसे हिल-मिलकर प्रेम से रहे तो यह संसार आज स्वर्ग बन सकता है।

घर-घर में स्वार्थ का साम्राज्य

परन्तु अफसोस है, आज तो घर-घर में स्वार्थ का साम्राज्य छाया हुआ है। एक कवि इसी स्वार्थी जमाने की हवा का वर्णन करते हुए कहता है—

किससे करिये प्यार, यार ! खुदगर्ज जमाना है ॥ध्रुव॥
भाई कहे भुजा तुम मेरी, मैं सच्चा गमख्वार।
जर, जमीन, जन के झगड़ों पर, बना वही खूँख्वार ॥
मुकदमा उसी ने ठाना है ॥यार खुदगर्ज···॥
स्त्री कहे प्राण तुम मेरे, जीवन के आधार।
धन, सन्तान नहीं होने से, हुई विमुख घरनार।
हुआ अपना बेगाना है ॥यार खुदगर्ज···॥
पुत्र कहे तुम ताज हो मेरे, मैं फरमांवरदार।
ब्याह हुआ तब आँख दिखाई, अलग किया व्यवहार।
ना फिर आना और जाना है ॥यार खुदगर्ज···॥
मित्र कहे मैं जन्म का साथी, तुम मेरे दिलदार।
संकट पड़े बात नहीं पूछे, किया यार को ख्वार ॥
ना फिर मुँह भी दिखलाना है ॥यार खुदगर्ज···॥
जब घरवालों की यह गति है, सब है मतलबदार।
बाहर वालों की क्या गिनती, उनकी कौन शुमार ?
मोह करना दुःख पाना है ॥यार खुदगर्ज···॥

कितना मार्मिक तथ्य कवि ने उजागर कर दिया है ! वास्तव में इसी स्वार्थ, खुदगर्जी या मतलबीपन के कारण आज परिवारों में नरक का ताण्डव मचा हुआ है। ऐसे स्वार्थमग्न परिवार अपने पड़ौसियों और समाज में भी अपने स्वार्थ का जहर फैलाते हैं। अपने पड़ौसी के साथ भी उनका व्यवहार अत्यन्त मूढ़ स्वार्थ का होता है।

एक मारवाड़ी कहावत है—"**काम की बखत काकी, नौकर मुकै हांकी**" पड़ौस की किसी महिला से काम हो तो उसे काकी (चाची) कहकर बुलायेंगे, परन्तु काम होते ही उसे टरका देंगे। एक पाश्चात्य लेखक ह्वेटली (Whatley) कहता है—

"A man is called selfish not for pursuing his own good, but for neglecting his neighbour's."

'मनुष्य अपने हित के पीछे पड़ने के लिए स्वार्थी नहीं कहलाता, मगर पड़ोसी के हित की उपेक्षा करने से ही कहलाता है।'

संसार में प्रायः सभी व्यवहार मतलब का है। 'राजिभारा दूहा' में ठीक ही कहा है—

मतलबरी मनुहार, नूंत जिमावै चूरमा।
विण मतलब वै यार, राव न पावै राजिया॥

लोकव्यवहार में स्वार्थदृष्टिपरायण जन

लोकव्यवहार में देखा जाता है कि जब तक काठ का खंभा मकान का बोझा उठाता है, तब तक उस पर रंग-रोगन किये जाते हैं, उसे सुवाक्यों और चित्रों से सुसज्जित किया जाता है, परन्तु जब वह सड़ जाता है, उसमें मकान का बोझ झेलने की ताकत नहीं रह जाती, तब उसे उखाड़कर चूल्हे में जला दिया जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि कई लोगों की दृष्टि एकमात्र अपने स्वार्थ पर रहती है, भले ही उससे दूसरों का बड़ा भारी नुकसान होता हो, भले ही दूसरे उसके कारण दाने-दाने के मोहताज हो जाएँ। दूसरे के पास भले ही एक पाई न रहे, तब भी स्वार्थ-परायण लोग अपना स्वार्थ सिद्ध किये बिना नहीं रहते। ऋग्वेद (९।११२।१) के एक सूत्र में तीन स्वार्थियों की दृष्टि का इस प्रकार उल्लेख किया है—

"तक्षारिष्टं रुतभिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति"

'बढ़ई टूटी-फूटी वस्तुओं को लेने का, वैद्य रोगी से धन लेने का और ब्राह्मण पूजार्थी यजमान का इच्छुक रहता है। अर्थात् इन तीनों की दृष्टि एकमात्र अपने-अपने स्वार्थ में रहती है।'

स्वार्थतंत्र का बोलबाला

एकतंत्र या लोकतंत्र की तो कहीं हार होती है, कहीं जीत, मगर स्वार्थतंत्र की तो आज संसार में प्रायः सर्वत्र जय-जयकार हो रही है। स्वार्थतंत्र के पुजारियों के कुछ नमूने देखिये—

भक्त के तीन देव—

सदा भवानी दाहिनी, सम्मुख रहे गणेश।
तीन देव रक्षा करें ब्रह्मा, विष्णु, महेश॥

भोजनभट्ट के तीन देव—

चुपड़ी रोटी सामने और उड़द की दाल।
तीन देव रक्षा करें, लोटा, घंटी, थाल॥

पेटूराम के तीन देव—

सदा अंगीठी दाहिनी, सम्मुख पड़ी परात।
तीन देव रक्षा करें, दाल, फुलकिया, भात॥

ग्वाले के तीन देव—

सदा भैंसिया सामने, कछकी लीनी काछ।
तीन देव रक्षा करें, दूध, दही और छाछ॥

राशन के व्यापारी के तीन देव—

कम तोलूँ तो लै नहीं, ग्राहक घुड़की देत।
तीन देव रक्षा करें, कंकड़, मिट्टी, रेत॥

फसली नेता के तीन देव—

खद्दर का जामा पहिन, उसमें रख ली पोल।
तीन देव रक्षा करें, ब्लैक, घूंस, कंट्रोल॥

है न यह स्वार्थतंत्र का बोलवाला !

एक कवि एक स्वार्थवीर व्यक्ति पर व्यंग कसते हुए कहता है—

स्वारथ पै कान देत, धन पर ध्यान देत,
दमड़ी पै प्राण देत, नेक ना लजात हैं।
दुर्जन को त्रान देत, हाकिम को मान देत,
कोरे वाक्य दान देत, मन में सिहात हैं।
दुःखित पै तारी देत, मांगते को गारी देत,
आये दुतकारी देत, देखि अनखात हैं।
देत-देत लालाजू को पल की हू कल नांही,
ताहू पै वे जग में, कृपण कहात हैं॥

स्वार्थ की मर्यादा, अमर्यादा

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि यों तो प्रत्येक व्यक्ति, यहाँ तक कि साधु भी स्वार्थ के लिए कार्य करता है, परमार्थ नाम की कोई वस्तु इस गज से नापने पर तो मिलनी भी दुर्लभ हो जाएगी। परन्तु जो लोग यह सोचते हैं कि आत्मोन्नति या अपना उद्धार करना भी एक स्वार्थमात्र है, वे भ्रम में हैं।

अपना उद्धार करना संसार का उद्धार करने का प्रथम चरण है। जो अपना कल्याण स्वयं नहीं कर सकता, वह संसार का क्या कल्याण कर सकता है? जो स्वयं

अच्छा है, वही दूसरे को अच्छा बना सकता है। अतः आत्मोद्धार, आत्महित या आत्मविकास को जो स्वार्थ मानते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए कि सदाशयतापूर्ण स्वार्थ भी परमार्थ ही होता है। अपनी आत्मा का स्वार्थ जिन विचारों और कार्यों द्वारा सिद्ध होगा, उन्हीं के माध्यम से संसार का हित साधन होगा। जिन गुणों एवं उपायों से साधु-संन्यासी आत्मशान्ति, आत्मसन्तोष एवं आत्मकल्याण प्राप्त करते हैं, उन्हीं गुणों और उपायों के विषय में वे दूसरों को बताएँगे। ऐसा उत्कृष्ट स्तर का स्वार्थ वस्तुतः परमार्थ का ही एक रूप माना गया है। अतः साधु-सन्तों द्वारा किये जाने वाले आत्मोद्धार को स्वार्थ मानना उचित नहीं।

हाँ, ऐसे साधु-संत, जो परमार्थपथ का अवलम्बन लेकर संसार से धन बटोरते हैं, अपनी पूजा-प्रतिष्ठा करवाते हैं, लोगों को भांग, गांजा, अफीम, शराब या अन्य कुव्यसनों या बुराइयों के चक्कर में डालकर गुमराह करते हैं, अपने इन्द्रिय-विषयों का आसक्तिपूर्वक पोषण करते हैं, मौज-शौक करते हैं, वे परमार्थी नहीं, अति-स्वार्थी हैं; अथवा वे लोग जो समाज से आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, मकान, पुस्तक तथा अन्य साधु के योग्य कल्पनीय सामग्री या सुविधाएँ तो लेते रहते हैं, परन्तु देने के नाम पर समाज से किनाराकसी कर लेते हैं, उपदेश, प्रेरणा या मार्गदर्शन देने से इन्कार करते हैं, अथवा समाज को या किसी व्यक्ति को गुमराह होते या उत्पथ पर जाते देखकर भी आँख मिचौनी करते हैं, वे भी एक अर्थ में स्वार्थी हैं। उनकी दृष्टि केवल अपनी ही सुख-सुविधा पर है। हाँ, वे समाज से अपनी उचित सुखसुविधा लेना छोड़ दें, जिनकल्पी साधना करने लगें, तब तो वे परमार्थी कहे जा सकते हैं।

आइए, इससे एक कदम और आगे बढ़िए। एक दृष्टि से देखा जाए तो मनुष्य का सच्चा स्वार्थ परमार्थ ही माना जाता है। जो कार्य जितना उदात्त, उज्ज्वल और उच्च या विशाल स्वार्थ को लेकर किया जाता है, उसका अन्तर्भाव भी एक प्रकार से परमार्थ में ही हो जाता है।

प्रश्न हो सकता है, ऐसा स्वार्थ, जिससे अपना, अपने परिवार आदि का भी हित सधे और समाज, राष्ट्र एवं विश्व का भी, क्या उससे परमार्थ भी साधा जा सकता है? भारतीय संस्कृति के तेजस्वी विचारकों ने इस पर बहुत गहराई के साथ विचार किया है और उनका यह दावा है कि चारों वर्णों के जो-जो कर्तव्य-कर्म नियत हैं, उन्हें अगर वे समग्र समाज, राष्ट्र एवं विश्व के हित की दृष्टि से करते हैं तो स्वार्थ के साथ-साथ परमार्थ भी साधा जा सकता है। परन्तु जहाँ एक व्यक्ति का 'स्व' दूसरे व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र से टकराए, दूसरे को छिन्न-भिन्न करके या दूसरे का अहित या नुकसान करके व्यक्ति अपने स्व को पनपाना चाहे, अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहे, वहाँ निपट संकुचित एवं मूढ़ स्वार्थ होता है, वहाँ परमार्थ की वृत्ति जरा भी नहीं होती।

यों तो देखा जाए तो खेती, व्यवसाय, नौकरी करना, शासन चलाना, समाज

को नैतिक प्रेरणाएँ देना, अथवा विविध उद्योग-धंधे करना भी मूलतः स्वार्थ है। परन्तु यदि इसके साथ उच्च भावनाओं का समावेश कर दिया जाए तो इसी स्वार्थ के साथ परमार्थ का भी लाभ मिल सकता है।

जैसे एक किसान खेती करता है, वह सोचता है कि इससे जो उपज होगी, उससे अपना और परिवार का गुजारा चलेगा, जीवन की अन्य आवश्यक सामग्री को प्राप्त हो जाएगी। साथ ही अगर वह इस प्रकार भी सोचता है कि खेती करना मेरा पुनीत कर्तव्य है, इससे राष्ट्र, समाज एवं प्राणियों को अन्न मिलेगा, मेरे परिवार के गुजारे से बचा हुआ अन्न मैं समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए उचित मूल्य पर दे सकूंगा, इससे मुझे जो लाभ होगा, उससे मैं संसार के एक अंश—परिवार का पालन करूँगा, बच्चों को पढ़ा-लिखाकर इस योग्य बना सकूँगा, जिससे वे समाज और राष्ट्र का कुछ हित कर सकें तथा अपनी आत्मा का उद्धार कर सकें।

ऐसी उदार भावना जागते ही किसान का अपनी खेती का मूल स्वार्थ परमार्थ में परिणत हो सकेगा, बशर्ते कि वह किसान किसी अन्य व्यवसाय वाले के हित को नष्ट न करे, उसकी दृष्टि केवल अनाज के ऊँचे दाम मिलने पर न हो, वह जनता को ठगने की दृष्टि से अपनी कृषि से उत्पन्न वस्तु में मिलावट न करे, सरकार या जनता के साथ धोखेबाजी न करे, परिवार में भी किसी के या अन्य परिवार, समाज या राष्ट्र के हित की उपेक्षा करके सिर्फ अपने या अपने परिवार के हित को ही सर्वोपरि प्रधानता न दे। परन्तु एक बात निश्चित है कि ऐसे परमार्थभावयुक्त स्वार्थ से खेती करने वाले कृषक को उसका आनन्द उसकी अपेक्षा स्थायी उदात्त और अधिक प्राप्त होगा, जो उसे संकीर्ण स्वार्थ रखने पर होता। विचारों की व्यापकता, उदात्तता और उच्चता ही मनुष्य के कार्यों को उच्च बना देती है। खेती जैसे कार्य में भी परहित की परमार्थ भावना का समावेश हो जाये तो मनुष्य स्वार्थ के साथ-साथ परमार्थ का पुण्य भी उपार्जन कर सकता है, जो उसे सन्तोष, आनन्द एवं सुख शान्ति का लाभ देगा।

इसी प्रकार व्यवसाय की बात है। व्यापार के अतिरिक्त डाक्टरी, वैद्यक, वकालत आदि भी एक प्रकार के व्यवसाय हैं। अन्य कोई भी शिल्प, कला, हुनर आदि करके पैसा कमाना भी व्यवसाय है। व्यवसाय का उद्देश्य अपने पारिश्रमिक या उचित लाभ और उससे अपने व परिवार के पालन-पोषण एवं संस्कार प्रदान के अतिरिक्त यह उदात्त एवं उच्च भाव भी हो कि मेरे इस व्यवसाय से जनता की आवश्यकता पूर्ति हो, समाज तथा राष्ट्र की सेवा हो, जिन लोगों को जो वस्तुएँ या सेवाएँ जहाँ उपलब्ध न हों, उन लोगों को वहाँ उन वस्तुओं या सेवाओं को उपलब्ध करूँ, लोगों के कष्ट दूर हों, राष्ट्र और समाज में सम्पत्ति—समृद्धि बढ़े, बहुत-से आदमियों को काम मिले। व्यक्तिगत व्यवसाय को इस प्रकार सार्वजनिक सेवाकार्य मानकर चलने पर स्वार्थ के साथ-साथ परमार्थ भी सिद्ध हो जाएगा।

परन्तु व्यवसाय के साथ ऐसी उच्च भावना के जुड़ते ही उस व्यवसायी को अपने व्यवसाय में मुनाफाखोरी, जमाखोरी, भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, तस्कर व्यापार तथा मिलावट, बेईमानी, जालसाजी, धोखेबाजी, शोषण आदि प्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध लगाना होगा। ज्यों-ज्यों व्यवसायी अपने व्यवसायक्षेत्र में निष्कलंक व्यवसाय का सुन्दर रूप प्रस्तुत करता जाएगा, त्यों-त्यों वह अपने व्यावसायिक क्षेत्र में उन्नत बनता जाएगा, उसका भय, आशंका और संशय दूर होता चला जाएगा और आत्मिक सुख भी मिलेगा, बशर्ते कि वह अपने परिवार, समाज तथा राष्ट्र में या अन्य परिवारादि के साथ, या अन्य व्यवसायियों के प्रति संकीर्ण स्वार्थसिद्धि से बिलकुल दूर रहे। इस प्रकार उसका संकीर्ण स्वार्थ परमार्थ रूप बनता जाएगा। व्यवसाय-क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाले संकीर्ण स्वार्थ को मैं एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर दूँ।

एक था माली और एक था कुम्हार। दोनों दो प्रकार के व्यवसायी होते हुए भी उनमें मैत्री हो गई थी। उनकी मैत्री का आधार कोई उदात्तभाव नहीं था, न हार्दिक था, केवल स्वार्थों का समझौता था। एक दिन वे दोनों अपने गाँव से शहर में अपना-अपना माल बेचने जा रहे थे। दोनों के पास एक ऊँट था, जिस पर माली की साग-सब्जी और कुम्हार के घड़े लदे हुए थे। माली के हाथ में नकेल थी, जिसे पकड़े वह आगे-आगे चल रहा था, और कुम्हार ऊँट के पीछे-पीछे चल रहा था। रास्ते में ऊँट पीछे मुड़कर माली की साग-सब्जी खाने लगा। कुम्हार ने इसे देखा मगर यह सोचकर कि इसमें मेरा क्या बिगड़ता है, कुछ बोला नहीं। माली ने पीछे मुड़कर देखा नहीं, इस कारण ऊँट बार-बार सब्जी खाने लगा। घड़ों के चारों ओर सब्जी बँधी हुई थी। सब्जी का भार कम होते ही संतुलन बिगड़ गया। सब घड़े नीचे गिर पड़े और फूट गये।

कुम्हार ने अपने स्वार्थ के लिए माली के स्वार्थ की उपेक्षा की, फलतः माली के स्वार्थ नष्ट होने के साथ-साथ कुम्हार का स्वार्थ भी नष्ट हो गया। इस प्रकार जहाँ एक व्यवसायी दूसरे के स्वार्थों की उपेक्षा कर देता है, केवल अपना ही स्वार्थ देखता है, वहाँ उसकी भावना चाहे जितनी उदात्त हो, वह परमार्थ नहीं, संकुचित स्वार्थ ही कहलाएगा।

डाक्टर और वकील के व्यवसाय स्वार्थ के मामले में आज बहुत आगे बढ़े हुए हैं। प्रायः डाक्टरों के विषय में यह शिकायत सुनी जाती है कि वे इतने हृदयहीन एवं संकीर्ण स्वार्थ से ओतप्रोत होते हैं कि रोगी चाहे मरण-शय्या पर पड़ा हो, अत्यन्त लाचार हो, निर्धन हो, अथवा घर में कोई भी कमाने वाला न हो, फिर भी उन्हें अपनी फीस से मतलब रहता है। रोगी स्वस्थ हो या अस्वस्थ रहे इससे उन्हें प्रायः कोई मतलब नहीं। कई दफा तो निर्धन एवं असमर्थ रोगियों को देखने वे जाते ही नहीं, इन्कार कर देते हैं, समय नहीं है—का बहाना बना लेते हैं। यह ऐसे चिकित्सकों

के संकीर्ण एवं तुच्छ स्वार्थी मनोवृत्ति का परिचायक है। डाक्टरों की इसी संकीर्ण स्वार्थी मनोवृत्ति को एक साधक इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

डाग देके गया टर, अपनी फीस पाकेट में धर।
तू जी चाहे मर, हम तो चले अपने घर।
उसको कहते डाक्टर ॥

भावार्थ स्पष्ट है। आप सब जानते हैं कि ऐसे स्वार्थी डाक्टर, जो केवल इंजेक्शन देकर या केवल रोगी को देखकर टरक जाते हैं, रोगी की फिर कोई सुध नहीं लेते, जिन्हें केवल अपनी फीस मिलने के स्वार्थ से वास्ता है, वे हृदयहीन डाक्टर कैसे परमार्थ-पथ की उदात्त पगडंडियाँ पकड़ सकते हैं ?

यही बात वकील के व्यवसाय के सम्बन्ध में समझिए। अगर वकील अपने मुवक्किल से रुपये ऐंठने के लिए ही उसका मुकदमा लेता है। और कोई राष्ट्र एवं समाज के हित की बात उसके दिल-दिमाग में नहीं है तो वह भी एक नम्बर का स्वार्थी वकील है। वह भी परमार्थ के मार्ग से अभी कोसों पूर है।

नौकरी के विषय में भी यही बात है कि नौकरी चाहे सरकारी हो या प्राइवेट, उसके साथ जब तक संकीर्ण स्वार्थ का भाव रहेगा, तब तक वह नौकर स्वार्थी नौकर ही कहलाएगा, क्योंकि उस नौकर की दृष्टि केवल वेतन मिलने पर है, मालिक का कार्य पूरी वफादारी, सचाई और प्रामाणिकता के साथ सम्पन्न करूँ, जिम्मेवारी का कार्य करने में जी न चुराऊँ, पूरे समय तक व्यवस्थित एवं शुद्ध ढंग से कार्य करूँ, जिससे मेरे मालिक के लाभ के साथ-साथ समाज और राष्ट्र को भी लाभ हो, उनकी समृद्धि बढ़े। मालिक की सेवा के साथ-साथ यह समाज एवं राष्ट्र की भी सेवा है। इस प्रकार संकीर्ण, हीन एवं निम्न स्वार्थभावों को छोड़कर, या केवल अपने वेतन की प्राप्ति का संकीर्ण दृष्टिकोण छोड़कर ज्यों ही नौकरी करने वाला इन उच्च भावों को अपनाता है, त्यों ही दीनता-हीनता के भाव या संकीर्ण स्वार्थभाव पलायित हो जाएँगे और उसका वह स्वार्थपरक कार्य भी परमार्थपरक बनकर अधिकाधिक संतोष, सुख-शान्ति और उत्साह देने वाला बन जाएगा।

इन दो कोटि के व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का विश्लेषण मैंने आपके समक्ष किया। इनमें से **प्रथम परमस्वार्थी—परमार्थी** है, दूसरा है—**स्वार्थ के साथ-साथ परमार्थ को साधने वाला**। अब दो कोटि के व्यक्ति और रहे। एक है—**दूसरे के स्वार्थ का विघटन करके अपना स्वार्थ साधने वाला** और दूसरा है—**दूसरों के स्वार्थ का विघटन करने के लिए अपने स्वार्थ का भी विघटन करने वाला**।

इन दो कोटि के व्यक्तियों के स्वार्थ की मर्यादाओं का विश्लेषण करने से पहले मैं एक बात और स्पष्ट कर दूँ।

आज लोकव्यवहार में यह बात प्रचलित है कि एक दूकानदार अपने ग्राहकों

से उचित से अधिक मुनाफा लेना चाहता है या ब्लेकमार्केट अथवा करचोरी करके माल बेचना चाहता है, अथवा वह अपने माल में मिलावट करके बेचना चाहता है, उससे पूछा जाए कि वह ऐसा अतिस्वार्थी क्यों बनता है ? इस पर वह प्रायः तपाक से उत्तर देता है—"क्या करूँ, परिवार का खर्च ही नहीं चलता लड़कियों की शादियाँ करनी हैं, लड़के-लड़कियों को पढ़ाना-लिखाना है, महंगाई है, समाज में इज्जत से रहना है। इसलिए ये सब खर्च कहाँ से जाऊँगा ?"

दूकानदार की इस बात में कुछ भी तथ्य नहीं है, ऐसा तो मैं नहीं कह सकता, फिर भी वह ऐसा करके दूसरे परिवार, जाति, देश और अपनी आत्मा के स्वार्थ को कुचलता है, उसे खतरे में डाल देता है। मनुष्य में अगर 'स्व' और 'पर' का संस्कार इतना सुदृढ़ न होता तो शायद ही तुच्छ स्वार्थ एवं उसके कारण इतनी बुराइयाँ, पाप एवं अज्ञानता पनपतीं।

आदमी अपने इस तेरे-मेरे के कुसंस्कार के कारण अपने निकटवर्ती हितों को प्राथमिकता देता है। परिवार में भी यह तुच्छ संकीर्ण मनोवृत्ति पनपती है, तब एक माता अपने बच्चों को तो प्राथमिकता देती हैं, परन्तु देवरानी या जिठानी के बच्चों को नहीं। इन्हीं सुसंस्कारों के कारण व्यक्ति अपनी, अपने परिवार, जाति, समाज और राष्ट्र की सुविधा के लिए दूसरे की, दूसरे परिवार जाति, समाज या राष्ट्र की सुविधाओं को कुचल देता है। वह जितनी अपनी चिन्ता करता है उतनी परिवार की नहीं, परिवार की करता है उतनी जाति की नहीं, जाति की करता है उतनी समाज की नहीं, तथा समाज की करता है उतनी राष्ट्र की चिन्ता नहीं करता। यद्यपि स्व के हितों को प्रथम और दूसरों के हितों को दूसरा स्थान देने की मनोवृत्ति व्यावहारिक जगत् में देखी जाती है, कानूनन यह अपराध नहीं मानी जाती; इसलिए इसका सर्वथा उन्मूलन नहीं किया जा सकता, लेकिन इसकी एक सीमारेखा निर्धारित की जा सकती है। भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने स्वार्थ को उदात्त एवं विशाल बनाने की दृष्टि से एक श्लोक में अपनी बात कह दी है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

'व्यक्ति को अपने कुल के हित के लिए अपना व्यक्तिगत हित छोड़ देना चाहिए, ग्राम या नगर के हित के लिए कुल का हित भी छोड़ देना चाहिए, तथा जनपद या देश के हित के लिए ग्रामहित का त्याग कर देना चाहिए और अगर आत्मा का हित होता हो तो सारी पृथ्वी के हित को गौण कर देना चाहिए।

किन्तु 'स्व' के हितों को प्राथमिकता देने की निरंकुश मनोवृत्ति के विकास से समाज और राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जाता है, उनका हित खतरे में पड़ जाता है। अंत फलतः उस व्यक्ति का भी पतन हो जाता है, उसके करुणा का स्रोत सूख जाता है। इसलिए स्वार्थ की सीमारेखा समाजशास्त्रियों और धर्माचार्यों ने निश्चित कर दी है

कि जहाँ दो विरोधी हित टकराते हों, वहाँ उनमें समन्वय और सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। जहाँ व्यक्ति या परिवार के हित के साथ समाज, जाति या राष्ट्र के हितों में संघर्ष संभव हो वहाँ आने वाले संघर्ष को दोनों में सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित करके समाप्त कर दिया जाता है, वहाँ अतिस्वार्थी मनोवृत्ति पर अंकुश आ जाता है, और कई दफा दूसरी कोटि के व्यक्तियों की तरह स्वार्थ के साथ परमार्थ का गठजोड़ हो जाता है।

अब आइये, तीसरी कोटि के व्यक्तियों को समझ लें। ये दूसरों के हित का नाश करके स्वहित साधने का प्रयास करते हैं। इनकी यह प्रवृत्ति संकीर्ण स्वार्थी मनोवृत्ति की परिचायिका है। ऐसा व्यक्ति दूसरों की व्यथा नहीं समझता। वह पर-दुःख के प्रति उदासीन रहता है। ऐसे लोग अपना पेट भर जाने पर समझने लगते हैं कि सबका पेट भरा होगा। यही निष्ठुरता का चिन्ह है। जिसकी आत्मा दूसरे के दुःखदर्द को नहीं टटोलती, जिसका अन्तःकरण पर पीड़ा का अनुभव नहीं करता, सचमुच उसे मनुष्य-शरीर में स्थित पाषाण कहा जाता है। ऐसे स्वार्थी का हृदय पाषाण-हृदय है।

अतिस्वार्थी व्यक्ति हृदयहीन हो जाता है

स्वार्थ में अन्धा होकर मनुष्य इतना हृदयहीन हो जाता है कि अपने उपकारी को छोड़ देता है, उसके साथ निष्ठुरता का व्यवहार करता है। उसके हृदय में उपकारी द्वारा किये हुए उपकार की कोई छाप अंकित नहीं रहती।

बौद्ध जातक में एक कथा आती है कि एक बार बोधिसत्त्व हिमालय-प्रदेश में एक कठफोड़े पक्षी की योनि में पैदा हुए। एक बार इस कठफोड़े ने एक सिंह को वेदना से कराहते हुए देखा, जिसके गले में मांस खाते समय एक हड्डी फँस गई थी। सिंह ने कठफोड़े को निकट आए देख उससे कहा—"मेरे गले में अटकी हुई हड्डी निकाल दो।" कठफोड़े ने कहा—"हड्डी तो मैं अच्छी तरह से निकाल सकता हूँ, क्योंकि मेरी चोंच बहुत लम्बी है, मगर मुझे तुम्हारे मुँह में चोंच डालते बहुत डर लगता है, कहीं तुम मुझे चट कर गए तो!" सिंह ने बहुत ही नम्रता दिखाते हुए अभय का वचन दिया, तब उसने चोंच डालकर गले में फँसी हड्डी निकाल दी। सिंह ने उसका बहुत उपकार माना। कई दिनों तक दोनों का मिलना-जुलना चालू रहा।

एक बार की बात है। कठफोड़ा बीमार पड़ गया। इधर-उधर चलने-फिरने की स्थिति में नहीं रहा, तब भोज्य सामग्री कौन और कहाँ से लाता? फलतः वह भूखा मरने लगा। एक दिन उसे अपने सिंह मित्र की याद आई। किसी तरह सरकता-सरकता वह सिंह के पास पहुँचा और निकट के एक पेड़ पर बैठ गया। उसने देखा कि सिंह भैंस का माँस खा रहा है। अतः उसने आपबीती सुनाकर सिंह से कुछ भोजन देने के लिए कहा तो पहले तो सिंह ने उसे पहचाना ही नहीं। जब कठफोड़े ने

उसके गले में अटकी हड्डी निकालने के उपकार की बात कही तो सिंह गर्जता हुआ बोला—"मूर्ख ! क्यों व्यर्थ उपकार की डींगें हांक रहा है ? मेरा उपकार क्या कम था कि मैंने तुझे अपने मुँह से जीवित जाने दिया ।"

इस पर कठफोड़ा अफसोस कर ही रहा था कि पास में बैठे किसी पक्षी ने कहा—"भोले पक्षी ! उपकार की छाप हृदय वालों पर ही पड़ सकती है, इन हृदयहीनों एवं हिंसकों पर नहीं ।"

स्वार्थी मित्र का यही लक्षण है कि समय आने पर आँखें फिरा लेता है । एक कवि ने ठीक ही कहा है—

सुख में संग मिलि सुख करै, दुःख में पाछे होय ।
निज स्वारथ की मित्रता, मित्र अधम है सोय ।।

स्वार्थी दोषान्न पश्यति (स्वार्थी दोषों को नहीं देखता), इस कहावत के अनुसार स्वार्थी व्यक्ति में दूसरों के स्वार्थ को क्षति पहुँचाने से जीवन में क्या-क्या दोष उत्पन्न हो जाते हैं ? इसका विचार नहीं करता । वे पंच जो पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाते हैं, वे इस तुच्छ स्वार्थ के शिकार बनकर अपने प्रति जनता का विश्वास खो बैठते हैं । पंच ही क्यों, जो भी व्यक्ति अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए दूसरे का बड़े से बड़ा अहित करते नहीं हिचकिचाते, वे मानवशरीर में विचरण करने वाले नरपशु हैं । असुर, पशु या पिशाच इसी ढंग से सोचते हैं । उद्दण्डता और अनीति का आचरण करते हुए उन्हें लज्जा नहीं आती । मनुष्य-शरीर मिलने के बावजूद भी ऐसे लोगों को मानवीय अन्तःकरण नहीं मिला । ऐसे अतिस्वार्थी मनुष्यों का यह नारा रहता है कि जो कुछ खाएँ, हम खाएँ, दूसरों का भोजन छीनकर भी हम भोजन कर लें । जो कुछ अच्छा हो, हम पहनें । दूसरों को मिले या न मिले, इसकी उन्हें परवाह नहीं होती ।

मगध सम्राट बिम्बसार श्रेणिक का पुत्र कूणिक प्रारम्भ से ही उद्दण्ड, स्वार्थी, महत्त्वाकांक्षी और अहंकारी था । जब वह रानी चेलना के गर्भ में आया, तब चेलना को अपने पति श्रेणिक के कलेजे का मांस खाने को दोहद उत्पन्न हुआ । चेलना ने इस पुत्र के अशुभ होने के चिन्ह जानकर कूणिक को जन्मते ही कूरड़ी पर फिकवा दिया था । मगर श्रेणिक के पितृहृदय ने सदा कूणिक को प्यार किया और रक्षा भी । श्रेणिक ने चेलना को कूणिक की रक्षा के लिए विशेष हिदायतें भी दी थीं । परन्तु कुमारी बचपन से निकलकर ज्यों ही कूणिक ने अपने महकते यौवन में प्रवेश किया, उसकी राज्यलिप्सा जाग उठी । उसने पिता से धृष्टतापूर्वक कहा—"आप वृद्ध हो गए हैं, फिर भी राज्य लोभ नहीं छूटा । मैं कब राज्य करूँगा ? मेरा यौवन नौकरानी में बीता जा रहा है ।" उसने कालकुमार आदि अपने १० भाइयों को अपने अनुकूल बनाकर विद्रोह कर दिया और राज्य सिंहासन पर अधिकार जमा लिया । साथ ही उसने उपकारी पिता श्रेणिक को जेल के सींकचों में बन्द कर दिया । उसने किसी को

भी उनसे मिलने की अनुमति नहीं दी। अपनी माता को भी उसके अत्यन्त अनुरोध पर दिन में सिर्फ एक बार मिलने की अनुमति दी।

कूणिक जब एक बार मातृवन्दन करने आया तो माता को उदास और खिन्न देखकर उदासी का कारण पूछा। चेलना ने पिता के द्वारा कूणिक पर किये गये उपकारों का अथ से इति तक वर्णन किया। इस पर कूणिक के हृदय में पितृप्रेम जाग उठा। वह अपने पिता को बन्धन-मुक्त करने पहुँचा, परन्तु राजा श्रेणिक ने कूणिक के पहुँचने से पूर्व ही अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी थी। कूणिक का हृदय शोक संतप्त हो उठा। पर अब क्या हो सकता था?

कूणिक की यह कहानी उस मूढ़ स्वार्थी पाषाणहृदय की कहानी है, जिसने अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए पिता के प्रति घातक कहर बरसा दिया था। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक मूढ स्वार्थियों की कहानियाँ अंकित हैं।

आपको मैंने एक दिन उन चार अतिस्वार्थी ब्राह्मणों की कहानी सुनाई थी, जिन्होंने यजमान से गाय पाकर अपनी-अपनी बारी पर उसका दूध तो दुह लिया, मगर उसे चारा-दाना बिलकुल न खिलाया, न ही समय पर पानी पिलाया एवं सेवा ही की; परिणाम यह हुआ कि बेचारी गाय तड़प-तड़प कर मर गई।

इस अतिस्वार्थ के परिणामस्वरूप मनुष्य मनुष्य होकर भी मनुष्यता का व्यवहार नहीं करता। वह इस मूढ़ स्वार्थ के कारण नर-पिशाच बन जाता है।

अब एक चौथी कोटि का घृणित, निन्द्य और मूढ़ स्वार्थी व्यक्ति रह गया। यह तो सबसे अधम और निकृष्ट है। तीसरी कोटि का व्यक्ति तो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों के स्वार्थों का सफाया करता है, पर यह मनुष्य-राक्षस अपने किसी भी स्वार्थ के बिना ही दूसरों के स्वार्थ का विघटन कर देता है। यह प्रवृत्ति अत्यन्त मूर्खतापूर्ण और अवांछनीय है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट कर दूँ—

पुराने जमाने की बात है। एक लोभी और एक ईर्ष्यालु देवी के मन्दिर में गए। दोनों ने भक्तिपूर्वक देवी की आराधना की। अतः देवी प्रसन्न होकर बोली—"तुम यथेष्ट वर माँग लो, पर शर्त यह है कि पहले जो माँगेगा, उसकी अपेक्षा बाद में माँगने वाले को दुगुना मिलेगा।" दोनों एक दूसरे से पहले माँगने का आग्रह करने लगे। लोभी दूने धन का लोभ कैसे संवरण कर सकता था, और ईर्ष्यालु अपने साथी के पास दुगुना धन हो जाए, यह कैसे सहन कर लेता? फलतः दोनों अपने-अपने आग्रह पर अड़े रहे। काफी समय बीत गया, कोई भी पहले माँगने को तैयार न हुआ। आखिर ईर्ष्यालु उत्तेजित होकर बोला—"माँ! यह बड़ा लोभी है। इसलिए कदापि पहले माँगने का प्रयत्न नहीं करेगा। अतः मैं ही पहल करता हूँ।" देवी ने कहा—"अच्छा तुम माँगो।" ईर्ष्यालु बोला—"माँ! मेरी एक आँख फोड़ डालो।" देवी ने तथास्तु कहते ही ईर्ष्यालु काना हो गया। लोभी ने घबराकर देवी से प्रार्थना की—

"माँ ! मेरी दोनों आँखें मत फोड़ डालना।" देवी बोली—"मैं अपने वचन से कैसे फिर सकती हूँ ?" उसने लोभी की दोनों आँखें फोड़ डालीं। वह अंधा हो गया।

लोभी को अन्धा बनाने के लिए ईर्ष्यालु काना हो गया। यह एकदम निकृष्ट कोटि की स्वार्थवृत्ति है, जिसमें अपने स्वार्थ का विघटन करके भी दूसरे स्वार्थ का विघटन है। इस जघन्यतम स्वार्थी मनोवृत्ति से समाज एकदम क्रूर, निर्दय एवं निष्ठुर बन जाता है।

योगिराज भर्तृहरि ने नीतिशतक में इन चारों कोटि के व्यक्तियों का परिचय देते हुए कहा है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं, ते के न जानीमहे॥

'प्रथम कोटि के वे परमार्थी सत्पुरुष हैं, जो अपने स्वार्थों का परित्याग करके दूसरों का हित करने के लिए तत्पर रहते हैं, दूसरी कोटि के सामान्य व्यक्ति हैं, जो अपने स्वार्थ के साथ विरोध न हो, ऐसे परार्थ-साधन के लिए उद्यत रहते हैं। तीसरी कोटि के वे नरराक्षस हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के हित को नष्ट कर देते हैं, और चौथी कोटि के वे अधम व्यक्ति हैं जो बिना ही प्रयोजन के व्यर्थ ही दूसरों के हित को नष्ट कर डालते हैं। पता नहीं, ये कौन हैं ? इन्हें क्या नाम दें ? यह समझ में नहीं आता।'

ऐसे लोगों का स्वार्थ तो सीमा लांघ जाता है। ऐसे लोग तो देवता और भगवान से भी स्वार्थ का सौदा कर बैठते हैं।

एक बार एक लोभी लाला मीठे खजूर खाने के लिए पेड़ पर जा चढ़ा। चढ़ते समय खजूर की मधुरता के आकर्षण के कारण चढ़ गया, लेकिन उतरते समय भय से अधीर हो उठा कि कहीं गिर पड़ा तो चकनाचूर हो जाऊँगा। अतः लगा भगवान से प्रार्थना करने—प्रभो ! मुझे सकुशल नीचे उतार दो। अगर मैं सकुशल नीचे उतर गया तो आपको पाँच सौ रुपयों का प्रसाद चढ़ाऊँगा। इसी चिन्तन में डूबता-उतराता वह सावधानी से नीचे उतर गया। परन्तु अब उसकी नीयत बदल गई। स्वार्थ ने जोर मारा, भगवान को भी धोखा देने की सूझी—"प्रभो ! अब आप आपके और मैं मेरे। न तो मुझे खजूर पर चढ़ना है और न ही आप पर कुछ चढ़ाना है।" यह है निकृष्ट स्वार्थी मनोवृत्ति ! इसीलिए तो एक भुक्तभोगी अनुभवी कहता है—

देखा सोच-विचार, दुनिया मतलब की, मतलब की··· ॥ध्रुव॥
जब तक जिसका काम है सरता, तब तक उसका दम है भरता।
जो सदा ही जी-जी करता, मतलब का व्यवहार ॥दुनिया··॥

निकला काम बदल गये साथी, तोताचश्म हुए सब नाती।
स्वारथ के हैं पोता-पोती, कहते शास्त्र पुकार ॥दुनिया…॥
यह दुनिया की झूठी यारी, स्वारथ के सब बने पुजारी।
विपद पड़े सर पर जब भारी, दूर रहे परिवार ॥दुनिया…॥

मूढ स्वार्थी अपनी ही अधिक हानि करते हैं

इस प्रकार के स्वार्थी मनुष्य यह सोच लेते हैं, कि इस प्रकार से स्वार्थ साधकर हम आत्मसन्तोष और आत्मसुख पा लेंगे। परन्तु आप यह प्रतिदिन के अनुभव से समझ सकते हैं कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे के स्वार्थ का हनन करके क्या सुख, सन्तोष और शान्ति प्राप्त कर सकता है? दूसरों को हानि या कष्ट पहुँचाकर कितने ही बड़े स्वार्थ की सिद्धि क्यों न कर ले, उससे उसे शान्ति नहीं मिल सकेगी। सर्वप्रथम तो जिसे कष्ट हुआ है, वह प्रतिक्रियास्वरूप उसे शान्ति से न बैठने देगा, दूसरे शासन, समाज एवं लोकनिन्दा का भय बना रहेगा, तीसरे उसकी स्वयं की आत्मा उसे कचोटती रहेगी। वह प्रतिक्षण टोकती रहेगी कि तुमने अमुक व्यक्ति को कष्ट पहुँचाकर, अमुक उपकारी को धोखा देकर, या संकट के समय पीड़ित होने देकर जो स्वार्थसिद्धि की है, वह उचित नहीं, इसके लिए तुम्हें इस लोक या परलोक में कभी न कभी अवश्य दण्ड मिलेगा। ऐसी स्थिति में स्वार्थसिद्धि सुखदायक तो नहीं बल्कि अधिकतर त्रासदायक ही बनेगी, तब कहाँ स्वार्थ का प्रयोजन पूरा हुआ और परमार्थ का उद्देश्य तो पूर्ण होता ही कैसे?

इसलिए मैं तो कहूँगा कि अपने उपकारी को दुःखसागर में डूबने देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना कथमपि हितावह नहीं हो सकता। ऐसा स्वार्थपूर्ण जीवन सबसे दुःखमयी जीवन है। पाश्चात्य लेखक इमर्सन (Emerson) ने यही बात कही है—

"The selfish man suffers more from his selfishness than he from whom that selfishness withholds some important benefit."

'स्वार्थी मनुष्य जिस मनुष्य से अपने किसी खास लाभ के लिए स्वार्थ साधना चाहता है, उसकी अपेक्षा उसे अपने स्वार्थ से ज्यादा कष्ट सहना पड़ता है।'

वास्तव में देखा जाए तो स्वार्थपूर्ण जीवन नारकीय जीवन है। स्वार्थपरता के कारण मनुष्य चोर, बेईमान, कपटी, धोखेबाज, हत्यारा और दुष्ट बन जाता है। संसार में संघर्ष, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, लालसा आदि समस्त दोषों का मूल कारण स्वार्थ ही है। स्वार्थी मनुष्य केवल अपने ही लाभ की बात सोचता है। दूसरे का चाहे जितना नुकसान हो, दूसरे उसके कारण चाहे जितने संकट में पड़ें, इसकी परवाह नहीं करता। ऐसा स्वार्थी मनुष्य अपने सब सद्गुणों को धीरे-धीरे खो बैठता है। एक पाश्चात्य विचारक रोचीफाउकोल्ड (Rouchefoucould) ने सच ही कहा है—

"The virtues are lost in self interest as rivers are in the sea."

'स्वार्थ में सभी सद्गुण उसी तरह खो जाते हैं, जैसे नदियाँ समुद्र में खो जाती हैं।'

लोभ, लोलुपता एवं परपीड़न की भावना से प्रेरित प्रवृत्तियाँ ही स्वार्थ है, जिनकी विचारकों और मनीषियों ने निन्दा की है, संतों ने उसका निषेध किया है। ऐसा संकीर्ण व्यक्ति मानवधर्म की भी उपेक्षा करने लगता है। ऐसा करके वह संसार का तो उपकार करता ही है, खुद अपना पतन भी कर लेता है। संकीर्ण भौतिक एवं निकृष्ट स्वार्थ मिथ्यास्वार्थ माना जाता है। ऐसा निकृष्ट स्वार्थ समस्त पापों और बुराइयों का मूल स्रोत होता है। एक पाश्चात्य लेखक इम्मन्स (Emmons) ने तो यहाँ तक कह दिया है—

"Selfishness is the root and source of all natural and moral evils."

'स्वार्थपरता तमाम नैसर्गिक और नैतिक बुराइयों की जड़ और स्रोत है।'

चूँकि मिथ्या स्वार्थ मनुष्य को वासनाओं और तृष्णाओं से ग्रसित कर कुकर्म करने को विवश करता है। ऐसा स्वार्थी व्यक्ति किसी तात्कालिक लाभ को भले ही प्राप्त कर ले, पर अन्त में उसे लोकनिन्दा, अविश्वास, असन्तोष, विरोध, विक्षोभ, आत्मग्लानि और अशान्ति आदि के कष्टदायक, मानसिक एवं शारीरिक नरक में पड़ना पड़ता है। इन्हीं कारणों से ऐसे नारकीय, निकृष्ट एवं मिथ्या स्वार्थी जीवन को मनीषियों ने निन्दित एवं हेय बताया है।

स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ में अधिक लाभ

यों देखा जाए तो स्वार्थ और परमार्थ में बहुत थोड़ा-सा अन्तर है। स्वार्थ उसे कहते हैं, जो शरीर को तो सुविधा पहुँचाता हो, पर आत्मा की उपेक्षा करता हो। चूँकि हम आत्मा हैं, शरीर तो हमारा वाहन या उपकरण मात्र है, इसलिए वाहन या उपकरण को लाभ पहुँचाकर उसके स्वामी (आत्मा) को दुःख में डालना मूर्खतापूर्ण कार्य कहा जाएगा। इसके विपरीत परमार्थ में आत्मा के कल्याण का ध्यान मुख्यरूप से रखा जाता है। आत्मा का उत्कर्ष होने से शरीर को सब प्रकार से सुखी करने वाली अनुकूल परिस्थितियाँ अपने आप आती रहती हैं। लेकिन अनावश्यक विलासिता एवं सुख सुविधाओं पर अंकुश रखना पड़ता है। फिर भी यदि कभी ऐसा अवसर आ जाये तो शारीरिक कष्ट सहकर भी आत्मा को परमार्थ का पुण्यलाभ देना दूरदर्शिता है।

निकला काम बदल गये साथी, तोताचश्म हुए सब नाती।
स्वारथ के हैं पोता-पोती, कहते शास्त्र पुकार ।।दुनिया…।।
यह दुनिया की झूठी यारी, स्वारथ के सब बने पुजारी।
विपद पड़े सर पर जब भारी, दूर रहे परिवार ।।दुनिया…।।

मूढ स्वार्थी अपनी ही अधिक हानि करते हैं

इस प्रकार के स्वार्थी मनुष्य यह सोच लेते हैं, कि इस प्रकार से स्वार्थ साध-कर हम आत्मसन्तोष और आत्मसुख पा लेंगे। परन्तु आप यह प्रतिदिन के अनुभव से समझ सकते हैं कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे के स्वार्थ का हनन करके क्या सुख, सन्तोष और शान्ति प्राप्त कर सकता है? दूसरों को हानि या कष्ट पहुँचाकर कितने ही बड़े स्वार्थ की सिद्धि क्यों न कर ले, उससे उसे शान्ति नहीं मिल सकेगी। सर्वप्रथम तो जिसे कष्ट हुआ है, वह प्रतिक्रियास्वरूप उसे शान्ति से न बैठने देगा, दूसरे शासन, समाज एवं लोकनिन्दा का भय बना रहेगा, तीसरे उसकी स्वयं की आत्मा उसे कचोटती रहेगी। वह प्रतिक्षण टोकती रहेगी कि तुमने अमुक व्यक्ति को कष्ट पहुँचाकर, अमुक उपकारी को धोखा देकर, या संकट के समय पीड़ित होने देकर जो स्वार्थसिद्धि की है, वह उचित नहीं, इसके लिए तुम्हें इस लोक या परलोक में कभी न कभी अवश्य दण्ड मिलेगा। ऐसी स्थिति में स्वार्थसिद्धि सुखदायक तो नहीं बल्कि अधिकतर त्रासदायक ही बनेगी, तब कहाँ स्वार्थ का प्रयोजन पूरा हुआ और परमार्थ का उद्देश्य तो पूर्ण होता ही कैसे?

इसलिए मैं तो कहूँगा कि अपने उपकारी को दुःखसागर में डूबने देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना कथमपि हितावह नहीं हो सकता। ऐसा स्वार्थपूर्ण जीवन सबसे दुःखमयी जीवन है। पाश्चात्य लेखक इमर्सन (Emerson) ने यही बात कही है—

"The selfish man suffers more from his selfishness than he from whom that selfishness withholds some important benefit."

'स्वार्थी मनुष्य जिस सनुष्य से अपने किसी खास लाभ के लिए स्वार्थ साधना चाहता है, उसकी अपेक्षा उसे अपने स्वार्थ से ज्यादा कष्ट सहना पड़ता है।'

वास्तव में देखा जाए तो स्वार्थपूर्ण जीवन नारकीय जीवन है। स्वार्थपरता के कारण मनुष्य चोर, बेईमान, कपटी, धोखेबाज, हत्यारा और दुष्ट बन जाता है। संसार में संघर्ष, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, लालसा आदि समस्त दोषों का मूल कारण स्वार्थ ही है। स्वार्थी मनुष्य केवल अपने ही लाभ की बात सोचता है। दूसरे का चाहे जितना नुकसान हो, दूसरे उसके कारण चाहे जितने संकट में पड़ें, इसकी परवाह नहीं करता। ऐसा स्वार्थी मनुष्य अपने सब सद्गुणों को धीरे-धीरे खो बैठता है। एक पाश्चात्य विचारक रोचीफाउकोल्ड (Rouchefoucould) ने सच ही कहा है—

"The virtues are lost in self interest as rivers are in the sea."

'स्वार्थ में सभी सद्‌गुण उसी तरह खो जाते हैं, जैसे नदियाँ समुद्र में खो जाती हैं।'

लोभ, लोलुपता एवं परपीड़न की भावना से प्रेरित प्रवृत्तियाँ ही स्वार्थ हैं, जिनकी विचारकों और मनीषियों ने निन्दा की है, संतों ने उसका निषेध किया है। ऐसा संकीर्ण व्यक्ति मानवधर्म की भी उपेक्षा करने लगता है। ऐसा करके वह संसार का तो उपकार करता ही है, खुद अपना पतन भी कर लेता है। संकीर्ण भौतिक एवं निकृष्ट स्वार्थ मिथ्यास्वार्थ माना जाता है। ऐसा निकृष्ट स्वार्थ समस्त पापों और बुराइयों का मूल स्रोत होता है। एक पाश्चात्य लेखक इम्मन्स (Emmons) ने तो यहाँ तक कह दिया है—

"Selfishness is the root and source of all natural and moral evils."

'स्वार्थपरता तमाम नैसर्गिक और नैतिक बुराइयों की जड़ और स्रोत है।'

चूंकि मिथ्या स्वार्थ मनुष्य को वासनाओं और तृष्णाओं से ग्रसित कर कुकर्म करने को विवश करता है। ऐसा स्वार्थी व्यक्ति किसी तात्कालिक लाभ को भले ही प्राप्त कर ले, पर अन्त में उसे लोकनिन्दा, अविश्वास, असन्तोष, विरोध, विक्षोभ, आत्मग्लानि और अशान्ति आदि के कष्टदायक, मानसिक एवं शारीरिक नरक में पड़ना पड़ता है। इन्हीं कारणों से ऐसे नारकीय, निकृष्ट एवं मिथ्या स्वार्थी जीवन को मनीषियों ने निन्दित एवं हेय बताया है।

स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ में अधिक लाभ

यों देखा जाए तो स्वार्थ और परमार्थ में बहुत थोड़ा-सा अन्तर है। स्वार्थ उसे कहते हैं, जो शरीर को तो सुविधा पहुँचाता हो, पर आत्मा की उपेक्षा करता हो। चूंकि हम आत्मा हैं, शरीर तो हमारा वाहन या उपकरण मात्र है, इसलिए वाहन या उपकरण को लाभ पहुँचाकर उसके स्वामी (आत्मा) को दुःख में डालना मूर्खतापूर्ण कार्य कहा जाएगा। इसके विपरीत परमार्थ में आत्मा के कल्याण का ध्यान मुख्यरूप से रखा जाता है। आत्मा का उत्कर्ष होने से शरीर को सब प्रकार से सुखी रखने वाली आवश्यक परिस्थितियाँ अपने आप आती रहती हैं। केवल अनावश्यक विलासिता एवं सुख सुविधाओं पर अंकुश रखना पड़ता है। फिर भी यदि कभी ऐसा अवसर आ जाये तो शारीरिक कष्ट सहकर भी आत्मा को परमार्थ का पुण्यलाभ देना बुद्धिमत्ता है।

परमार्थसुख श्रेष्ठ है या स्वार्थसुख ?

सांसारिक भोगों का उपभोग करने और मनभाती परिस्थितियाँ पा लेने से शारीरिक सुख मिलता है लेकिन आत्मा सुखी होती है—परोपकार एवं परमार्थ कार्यों

से। अतएव विवेकशील व्यक्ति सच्चा सुख पाने के लिए स्वार्थ सुख की अपेक्षा परमार्थ सुख को अधिक महत्त्व देते हैं। वे परमार्थसुख के लिए स्वार्थसुख का भी त्याग कर देते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि शारीरिक सुख तो क्षणिक और छायावत् है जबकि आत्मिक सुख सत्य, शाश्वत और यथार्थ हैं।

स्वार्थ का संक्लेशपूर्ण मार्ग त्याग देने से परमार्थ का भाव स्वतः आ जाता है। परमार्थपूर्ण जीवन स्वर्गीय सुखशान्ति का भण्डार है। परोपकार, परमार्थ या परसेवा ही परमार्थ का सक्रिय रूप है।

आप जानते हैं, सेवा आदि परमार्थसाधना का प्रतिफल क्या है? यद्यपि सेवा आदि परमार्थ कार्य भी निःस्वार्थ, निष्कांक्ष एवं निर्द्वन्द्व होकर किये जाते हैं, फिर भी उस परमार्थ कार्य का प्रतिफल आत्मसन्तोष, आत्मबोध, आत्मप्रसन्नता या आत्मसुख के रूप में शीघ्र मिलता ही है। सेवा आदि परमार्थ के द्वारा दूसरे को सुखी बनाने में जो आत्मसन्तोष प्राप्त होता है, उसकी तुलना में शारीरिक सुख नगण्य एवं तुच्छ है।

परमार्थी व्यक्ति बाहर से भले ही साधारण स्थिति का दिखाई दे, वह जोर-जोर से हँसता, खिलखिलाता भले ही दृष्टिगोचर न हो, तथापि उसका अन्तःकरण परिपूर्ण तृप्त बना रहता है। उसमें एक अहेतुक, सम्पन्नता, गरिमा और गौरव की अनुभूति रहती है। परमार्थी की स्वयं की आत्मा ही सन्तुष्ट नहीं रहती, बल्कि उसके सम्पर्क में आने वाला हर व्यक्ति सन्तुष्ट और प्रसन्न रहता है, जिससे आत्मा का आनन्द बढ़ जाता है, सभी लोग उससे प्यार करते हैं, श्रद्धा के फूल बरसाते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं। इसलिए परमार्थी जीवन घाटे का सौदा नहीं है।

परमार्थबुद्धि रखने वाले व्यक्ति का सामाजिक और पारिवारिक जीवन भी बड़ा सुखी और सन्तुष्ट रहता है। स्वार्थी दृष्टिकोण के परिवारों में सब अपने-अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हैं, अपने लिए अधिक से अधिक वस्तुएँ चाहते हैं, जबकि परमार्थी दृष्टिकोण के परिवारों में, सर्वप्रथम अपना स्वार्थ त्याग करके अधिकारों को कर्तव्य में समाविष्ट कर लेते हैं। सबके प्रति समान प्रेम, यथोचित आदर एवं संविभाग होता है। ऐसे परिवार में न्याय, निःस्वार्थता और स्नेह की त्रिवेणी बहती है। जिससे किसी भी सदस्य का मन अवांछनीय ताप या स्वार्थत्याग की गर्मी से व्याकुल नहीं होता। एक बार जिसने अस्वार्थ का सुखानुभाव कर लिया फिर उसे स्वार्थसिद्धि में कभी आनन्द नहीं आएगा।

स्वार्थ-परता का दंड

कभी-कभी मनुष्य को स्वार्थपरता का स्वतः दण्ड मिल जाता है। या तो जगत में उसकी स्वार्थपरता की निन्दा होती है, या फिर उससे कोई प्यार नहीं करता, कोई उसे आदर-सत्कार नहीं देता, वह जीवनभर अलग-थलग रहकर अकेलेपन का कष्ट उठाता है। उसका कोई हमदर्द नहीं रहता।

एक दिन समुद्र ने नदी से पूछा—"मेरे पास कोई फटकता भी नहीं और न कोई आदर देता है, पर तुम्हें लोग प्यार करते हैं, आदर भी देते हैं, इसका क्या कारण है ?"

नदी ने कहा—"आप केवल लेना ही लेना जानते हैं। जो मिलता है, उसे जमा करते जाते हैं। मैं तो जो पाती हूँ, उसे लोगों को दे देती हूँ। लोग मुझसे जो पाते हैं, उसी के बदले में मुझे प्यार और आदर देते हैं।"

स्वार्थी और परार्थी जीवन के परिणाम का अन्तर इस पर से समझा जा सकता है। वास्तव में स्वार्थपरता एक अपराध है, जिसका दण्ड व्यक्ति को भोगना पड़ता है।

एक चींटी कहीं से गुड़ का ढेला पा गई। उसने उसे अपनी कोठरी में बन्द करके रख दिया, स्वयं चुपचाप प्रतिदिन खा लेती, अन्य चींटियों को बिलकुल न देती। एक दिन रानी चींटी को पता लग गया। उसने सब चींटियों को उसकी कोठरी में घुसने का आदेश दिया। वे घुसकर उस चींटी का सारा गुड़ छीनकर खा गईं और चोरी के अपराध में उस स्वार्थी चींटी को बाहर निकाल दिया। वह चींटी अपनी स्वार्थपरता के कारण जिन्दगीभर अकेली मारी-मारी दुःखित होकर फिरती रही। अकेलेपन का कष्ट उसके स्वार्थीपन का बड़ा भारी दण्ड था।

दोनों में से एक जीवन चुन लीजिए

संसार में उत्थान और पतन के दो मार्ग हैं, जो परस्पर विरोधी दिशाओं में चलते हैं। इनमें से एक को परमार्थ और दूसरे को स्वार्थ कहते हैं। इन्हें ही पुण्य-पाप, श्रेय-प्रेय, स्वर्ग-नरक, शान्ति-अशान्ति, प्रशंसा-निन्दा आदि के मार्ग कह सकते हैं। परमार्थी जीवन का परिणाम सुख-शान्ति, पुण्य, श्रेय, स्वर्ग, प्रशंसा आदि हैं, और स्वार्थी जीवन का परिणाम है—दुःख, क्लेश, अशान्ति, पाप, प्रेय, नरक, निन्दा आदि।

बन्धुओ ! मुझे विश्वास है, आप इन दोनों प्रकार के जीवनों में से महर्षि गौतम द्वारा त्याज्य एवं निन्द्य बताया हुआ स्वार्थी जीवन अपनाना पसन्द न करेंगे। आप उनके द्वारा इसी जीवनसूत्र से संकेतित परमार्थी जीवन अपनाना ही पसन्द करेंगे जिससे आपका वर्तमान और भविष्य दोनों ही उज्ज्वल एवं सुखमय बनेंगे।

☆

३६
बुद्धि तजती कुपित मनुज को

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष ऐसे जीवन की चर्चा करने जा रहा हूँ, जिस जीवन में बुद्धि—स्थिरबुद्धि पलायन कर जाती है। ऐसे जीवन वाला व्यक्ति स्थिरबुद्धि से दरिद्र हो जाता है। उसके पास स्थिरबुद्धि टिकती नहीं। ऐसे जीवन का नाम है—कुपित जीवन। यह तीसवाँ जीवनसूत्र है गौतम कुलक का। इसमें महर्षि गौतम ने साफ-साफ बता दिया है—

'चएइ बुद्धी कुवियं मणुस्सं'

'कुपित मनुष्य को बुद्धि—स्थिरबुद्धि छोड़ देती है।'

स्थिरबुद्धि के अभाव में

मैं पूर्व प्रवचनों[1] में स्थिरबुद्धि का महत्व वता चुका हूँ। स्थिरबुद्धि के अभाव में मनुष्य के सारे साधन और सारे प्रयत्न बेकार हो जाते हैं। एक मनुष्य के पास पर्याप्त धन हो, शरीर में भी ताकत हो, उसका परिवार भी लम्बा-चौड़ा हो, कुल भी उच्च हो, आयुष्यबल भी हो, इन्द्रियाँ तथा अंगोपांग आदि भी ठीक हों, बाह्यसाधन भी प्रचुर हों, और भाग्य भी अनुकूल हो, लेकिन बुद्धि स्थिर न हो तो वह न लौकिक कार्य में सफल हो सकता है, न आध्यात्मिक कार्य में। अथर्ववेद के एक सूक्त में मानव मस्तिष्क की दिव्यता बताते हुए कहा है—

तद्वा अथर्वण: शिरो देवकोष: समुब्जित:।
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मन: ॥

इसका भावार्थ यह है कि मनुष्य का वह सिर मुंदा हुआ देवों का कोष है। प्राण, मन और अन्न इसकी रक्षा करते हैं।

केवल शिव ही 'त्रिलोचन' नहीं होते, प्रत्येक मनुष्य के पास एक तीसरा नेत्र होता है, जिसे हम दिव्यदृष्टि कह सकते हैं। वह मस्तिष्क में ही रहता है। मनुष्य के मस्तिष्क से दैवीबल प्रकट होता है। वस्तुत: इस तीसरे भीतरी नेत्र को हम सूक्ष्म एवं

---

१. प्रवचन नं० २४ और २५ में स्थिरबुद्धि के महत्त्व पर काफी प्रकाश डाला गया है। —संपादक

स्थिरबुद्धि कह सकते हैं। स्वप्न में बाह्य आँखें बंद होते हुए भी मनुष्य स्वप्न के दृश्यों को प्रत्यक्ष-सा देखता है। अंग्रेजी में इसी आशय की एक कहावत है। बुद्धि निर्मल एवं स्थिर होने से मनुष्य अप्रत्यक्ष को भी देख सकता है, दूरदर्शी बन सकता है। इसी से हिताहित कार्याकार्य या शुभाशुभ का वह शीघ्र विवेक कर सकता है। किसी कार्य के परिणाम को वह पहले के ही जान लेता है। इसी कारण स्थिरबुद्धि व्यक्ति का प्रत्येक सत्कार्य सफल होता है। प्रत्येक परिस्थिति में उसकी स्थिरबुद्धि कोई न कोई यथार्थ हल निकाल लेती है। आत्मा के प्रकाश को वही बुद्धि ग्रहण करती है। उसी से मिथ्याधारणाएँ, अन्धश्रद्धा, अज्ञानता आदि नष्ट होती हैं। उसी की सहायता से मनुष्य सत्कार्य में प्रवृत्त होता है। शुक्राचार्य ने इसी बुद्धि की उपयोगिता को लक्ष्य में करके कहा है—

लोकप्रसिद्धमेवैतद् वारिवह्नेर्नियामकम्।
उपायोपगृहीतेन तेनैतत् परिशोष्यते ॥

यह जगत्प्रसिद्ध है कि जल से अग्नि शान्त हो (काबू में आ) जाती है, किन्तु यदि बुद्धिबल से उपाय किया जाए तो अग्नि जल को भी सोख भी लेती है।

सृष्टि में जो कुछ चमत्कार हम देखते हैं, वह सब मानवबुद्धि का ही है। मनुष्य बुद्धिबल से बड़े से बड़े कष्टसाध्य रचनात्मक कार्य कर सकता है, बड़े से बड़े संकटों को पार कर सकता है। मुद्राराक्षस में महामात्य चाणक्य की प्रखर बुद्धि का वर्णन आता है। जिस समय लोगों ने चाणक्य को बताया कि सम्राट की सेना के बहुत से प्रभावशाली योद्धा उसका साथ छोड़कर चले गए हैं और विपक्षियों से मिल गए हैं, उस समय उस प्रखर बुद्धि के धनी ने बिना घबराये स्वाभिमानपूर्वक कहा—

एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलनदृष्टिवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥

—जो चले गये हैं, वे तो चले ही गये हैं। जो शेष हैं, वे भी जाना चाहें तो चले जाएँ, नन्दवंश का विनाश करने में अपने पराक्रम की महिमा दिखाने वाली और कार्य सिद्ध करने में सैकड़ों सेनाओं से अधिक बलवती केवल एक मेरी बुद्धि न जाए; वह मेरे साथ रहे, इतना ही बस है।"

वास्तव में सूक्ष्म और स्थिरबुद्धि का मानव-जीवन के श्रेय और अभ्युदय में बहुत बड़ा हाथ है। इसमें कोई सन्देह नहीं। स्थिरबुद्धि के अभाव में मनुष्य संकटों के समय किंकर्त्तव्यविमूढ़, भयभ्रान्त, एवं हक्का-बक्का होकर रह जाता है। जिस की बुद्धि स्थिर नहीं होती, वह सभी कार्य उलटे ही उलटे करता चला जाता है, वह विवेकभ्रष्ट होकर अपना शतमुखी पतन कर लेता है। स्थिरबुद्धि के अभाव में मनुष्य अपने जीवन में भी शांति, सौख्य और निश्चिन्तता नहीं प्राप्त कर पाता, उसका

परिवार, समाज और राष्ट्र भी दुःखित होकर अशान्ति और अनिश्चिन्तता के झूले में झूलता रहता है।

किसकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती ?

स्थिरबुद्धि का इतना महत्व है, फिर भी लोग स्थिरबुद्धि नहीं पाते। अकसर लोगों की स्थिरबुद्धि समय पर पलायन कर जाती है। वे इस मुगालते में रहते हैं कि हम समय पर अपनी बुद्धि से सही निर्णय ले लेंगे परन्तु समय पर प्रायः वही बुद्धि धोखा दे जाती है। उसकी निश्चय करने की शक्ति कुण्ठित हो जाती है। प्रश्न होता है कि इस प्रकार की महत्वपूर्ण स्थिरबुद्धि एकाएक कुण्ठित और पलायित क्यों हो जाती है ? बस, इसी का उत्तर महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र में बताया है—

"चएइ बुद्धि कुवियं मणुस्सं"

जो मनुष्य बात-बात में कुपित हो जाता है, क्षणिक आवेश में आ जाता है, जरा-सी बात में, तनिक-सी देर में उत्तेजित हो उठता है, उस व्यक्ति से (स्थिर) बुद्धि दूर भाग जाती है, उसकी बुद्धि उससे रूठकर छोड़ जाती है। स्थिर-बुद्धि भी पतिव्रता स्त्री की तरह उसी स्वामी के प्रति वफादार रहती है, जो कुपित, उत्तेजित और आवेशयुक्त नहीं होता। जो व्यक्ति समय पर अपने आप को वश में नहीं रख सकता, अपने आपे से बाहर हो जाता है, तब उसकी स्थिर-बुद्धि भी शीघ्र ही उसके मस्तिष्क से खिसक जाती है।

वास्तव में स्थिर-बुद्धि का कार्य है—स्वयं सही निर्णय करना। यथार्थ निर्णय के अधिकार का प्रयोग तभी हो सकता है, यदि उसके अधीन कार्य करने वाली प्रज्ञा (स्थिर-बुद्धि) उसके वश में हो। और प्रज्ञा स्थिर होती है, आत्मसंयम से। जब मनुष्य आत्मसंयम खो बैठता है, बात-बात में आवेशयुक्त होकर अपने पर काबू नहीं रखता, तब उसकी प्रज्ञा स्थिर न रहे यह स्वाभाविक है।

एक पाश्चात्य विचारक एम. हेनरी (M. Henry) ने भी इस बात का समर्थन किया है—

'When passion is on the throne, reason is out of doors.''

'जब आवेश सिंहासन पर बैठा होता है, तब सूझ-बूझ दरवाजों के बाहर निकल जाती है।'

इसीलिए भगवद्गीता में कहा है—

'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।'

जो समत्व योग से युक्त नहीं है, उसके बुद्धि (स्थिर प्रज्ञा) नहीं होती और न ही उस अयुक्त में कोई सहृदयता, दया आदि की भावना होती है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मसंयम के बिना मनुष्य अपनी प्रकृति और वृत्ति-प्रवृत्ति को अंकुश में नहीं रख सकता; और ऐसी स्थिति में ही मनुष्य अपनी निर्णयशक्ति को

खो बैठता है, यानी स्थिर-बुद्धि को गँवा बैठता है। जब स्थिर-बुद्धि पलायित हो जाती है तो मनुष्य इन्द्रियविषयों की आँधी में तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आवेशों के प्रवाह में वह जाता है। उसे तनिक भी होश नहीं रहता कि मैं क्या कर रहा हूँ और क्यों कर रहा हूँ?

कुपित का लक्षण क्या और कैसे?

चिकित्साशास्त्रियों का यह माना हुआ सिद्धान्त है कि वात, पित्त, कफ, धातु या मल शरीर में संतुलित और सम मात्रा में रहते हैं, तब तक शरीर स्वस्थ रहता है, शरीर में शक्ति रहती है और शरीर का प्रत्येक अंग अपना कार्य ठीक ढंग से करता है। जैसा कि आयुर्वेदशास्त्र में स्वस्थ का लक्षण बताया गया है—

समदोषः समाग्निश्च समधातु-मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

'जिसके वात, पित्त और कफ ये त्रिदोष सम हों, अग्नि (जठराग्नि) भी सम हो, तथा धातु और मल की क्रिया भी सम हो, एवं आत्मा, इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न हों, वह व्यक्ति स्वस्थ कहलाता है।' यहाँ केवल शरीर और शरीर से सम्बन्धित दोष, धातु, मल एवं अंगोपांग की क्रिया संतुलित होने मात्र से ही मनुष्य को स्वस्थ नहीं बताया गया है, अपितु आत्मा, मन एवं इन्द्रियगण भी प्रसन्न हों, शुद्ध और स्वच्छ हों तभी पूर्ण स्वस्थता मानी गई है। इसके विपरीत जब ये सब विषम हो जाते हैं, ये सब अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते हैं, साथ ही आत्मा, मन और इन्द्रियगण अशुद्ध और अप्रसन्न तो जाते हैं तो मानव अस्वस्थ हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि जब वात, पित्त, कफ ये तीनों अति मात्रा में वढ़ जाते हैं, असंतुलित हो जाते हैं, तव ये कुपित कहलाते हैं। इसी प्रकार धातु का भी जब अतिरेक हो जाता है और मल भी या तो अवरुद्ध हो जाता है, या मल अति मात्रा में होने लगता है, तव कहा जाता है कि धातु कुपित हो गया है, या मल कुपित हो गया है। इसी प्रकार जब मन में क्रोध अभिमान, लोभ, काम, मोह आदि विकारों का आवेग वढ़ जाता है, ये सब मनोविकार अति मात्रा में मानव मस्तिष्क में उभर आते हैं या मानव-जीवन में जब ये मनोविकार असंतुलित हो जाते हैं, तब कहा जाता है कि यह व्यक्ति कुपित हो गया है, या इस व्यक्ति का जीवन कुपित हो गया है।

जैसे शरीर के धातु, दोष, मल या अग्नि के कुपित होने पर मनुष्य अनेक रोगों से घिर जाता है, वैसे ही मन के काम-क्रोधादि विकारों के कुपित हो जाने पर मन भी रुग्ण हो जाता है। ऐसी स्थिति में मानव-मस्तिष्क में बुद्धि स्वस्थ और स्थिर नहीं रहती, वह झटपट पलायन कर जाती है।

सामान्यतया जब मनुष्य क्रोधयुक्त हो, तव उसे कुपित कहा जाता है। अमुक व्यक्ति कुपित हो गया है, इसका आमतौर पर यही अर्थ समझा जाता है कि वह क्रुद्ध हो गया है, गुस्से से आग-बबूला हो गया है। परन्तु यहाँ कुपित का अर्थ केवल इतना

ही लेने पर इस जीवनसूत्र के साथ आगे चलकर संगति नहीं होगी। इस जीवनसूत्र में बताया है कि कुपित मनुष्य को उसकी स्थिरबुद्धि छोड़ देती है। अब यदि कुपित का अर्थ सिर्फ, क्रोध से कुपित ही किया जायगा, तब काम से कुपित, मोह से कुपित, मद, मत्सर और लोभ से कुपित व्यक्ति भी बुद्धिभ्रष्ट होते देखे जाते हैं। अतः बुद्धिभ्रष्टता का सम्बन्ध केवल क्रोधकुपित से नहीं रहता, अपितु काम, मोह, लोभ, मद, मत्सर आदि से कुपित के साथ भी है। इस कारण कुपित का अर्थ व्यापक लिया जाना चाहिए।

वास्तव में कुपित का अर्थ उत्तेजित होना, भड़क जाना, अतिरेक हो जाना, अतिमात्रा में बाहर प्रकट हो जाना ही ठीक प्रतीत होता है। फिर वह उत्तेजना या अतिरेक क्रोध के कारण हो, काम के कारण हो, लोभ, मोह या मद आदि मनोविकारों के कारण हो, वह सीधा शुद्ध एवं स्थिरबुद्धि पर चोट पहुँचाता है। इन मनोविकारों में से किसी के भी कुपित या उत्तेजित हो जाने पर उसके चिन्ह बाहर शरीर के अवयवों में प्रकट रूप से दिखाई देते हैं। जैसे कि कवि रहीम ने कहा है—

खैर, खून, खांसी, खुशी, वैर, प्रीति, मदपान।
रहिमन दाबै ना दबै, जानत सकल जहान॥

सचमुच काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि मनोविकार मनुष्य की सात्त्विक एवं शुद्धबुद्धि को धकेल देते हैं। जब मनुष्य इनके वश में होता है, तब वह प्रत्यक्ष राक्षसतुल्य हो जाता है। उसकी विवेकबुद्धि उत्तेजना से आक्रान्त हो जाती है। इन मनोविकारों के क्षणिक आवेश में लोग प्रायः ऐसे मूर्खतापूर्ण जघन्य कृत्य कर बैठते हैं, जिनके लिए बाद में उन्हें सदैव पश्चात्ताप एवं आत्मग्लानि का अनुभव होता रहता है। जैसे शराब के नशे में पागल बना हुआ मनुष्य छिपा नहीं रहता। मद्यपान करने की साक्षी उसका चेहरा, आँखें, बोली, चालढाल एवं चेष्टाएँ दे देती हैं। उसी प्रकार किसी भी मनोविकार की उत्तेजना से ग्रस्त होने पर मानव उसके चेहरे, आँखों, बोली, चाल-ढाल, व्यवहार एवं चेष्टाओं से देखा-परखा जा सकता है।

क्रोध से कुपित : अत्यधिक प्रकट

यह ठीक है कि क्रोध का प्रकोप होने पर मनुष्य को जल्दी पहचाना जा सकता है, क्योंकि क्रोध के आवेश में आदमी की आकृति और आँखें लाल हो जाती हैं, भौंहें तन जाती हैं, मुँह से गालियों तथा अपशब्दों की बौछार शुरू हो जाती है, कभी-कभी तोड़फोड़, मारपीट, हाथापाई और लड़ाई हो जाती है। इसलिए क्रोधावेश में ग्रस्त को ही लोग कुपित कहते हैं।

एक विचारक ने क्रोध के समय उत्तेजित होने के स्पष्ट चिन्हों का उल्लेख करते हुए कहा है—

क्रोध में आँखें होती लाल, क्रोध में मुँह होता विकराल।
क्रोध में खूब बजाता गाल, क्रोध में सभी बिगड़ती चाल।।
क्रोध में नोच डालता बाल, क्रोध कर देता है बेहाल।
क्रोध से जल्दी आता काल, क्रोध देता नरकों में डाल।।
क्रोध में जलते सारे अंग, क्रोध में सत्य न रहता संग।
क्रोध में हो जाती मति भंग, क्रोध में मिटती सभी उमंग।।
क्रोध से काँप उठती सब देह, क्रोध में मिट जाता सब नेह।
क्रोध से मिटता सद्व्यवहार, क्रोध में स्वयं मारता मार।।
क्रोध में खोता सारी लाज, क्रोध में कुए गिरता भाज।
क्रोध में गले बाँधता फांस, क्रोध में करता आत्मविनाश।।
क्रोध में गुरुजन को ललकार, क्रोध में देता है दुत्कार।
क्रोध में उन्हें मारता मार, क्रोध में बिसराता सब प्यार।।

क्रोध के समय शरीर, मन, इन्द्रियों और अंगोपांगों पर क्या-क्या चिन्ह प्रकट हो जाते हैं, यह इस कविता में स्पष्ट बता दिया गया है।

कई बार मनुष्य की आँखें जब क्रोध से लाल हो जाती हैं, तो उसे प्रायः सभी चीजें लाल रंग की दिखाई देने लगती हैं। वैदिक रामायण का एक प्रसंग है। एक बार ऋषि वाल्मीकि रामायण का पाठ कर रहे थे। सभी श्रोता आनन्दविभोर होकर सुन रहे थे। प्रसंग आया रामदूत हनुमान का। वाल्मीकि ने कहा—"हनुमान जी सीता-माता की खोज में लंका गये। वहाँ वे अशोक वाटिका में पहुँचे। सीताजी उसी वाटिका में एक अशोकवृक्ष के नीचे अपने स्वामी श्रीराम के ध्यान में मग्न बैठी थीं। उस वाटिका की छटा अपूर्व थी। एक जगह हनुमानजी ने बहुत ही मनोहर सफेद रंग के फूल देखे।" हनुमानजी ने बीच में मधुर स्वर में ऋषि को टोका—"वे फूल सफेद नहीं, लाल रंग के थे, ऋषिवर!" ऋषि ने दृढ़, किन्तु नम्र स्वर में कहा—"भक्तराज! वे फूल सफेद ही थे।" यह सुनते ही बजरंगबली की भृकुटि चढ़ गई, वे बोले—"मैंने प्रत्यक्ष आँखों से देखा है। मेरी बात असत्य कैसे हो सकती है?" ऋषि—"बात तो मेरी ही सत्य है।" इस पर हनुमानजी तैश में आकर बोले—"आप यहाँ बैठे-बैठे मुझ प्रत्यक्षदर्शी को झूठा बता रहे हैं, जबकि आपने फूल देखे भी नहीं। मैं आपका कथन कैसे स्वीकार कर सकता हूँ?"

"लेकिन मैं भी असत्य को कैसे स्वीकर करलूं?" ऋषि ने दृढ़तापूर्वक कहा। दोनों ही अपने-अपने पक्ष पर अड़ गये। ऋषि वाल्मीकि और भक्तराज हनुमान के विवाद का निर्णय कौन करे? किसी की भी सामर्थ्य नहीं थी। अन्त में हनुमान बोले—"तो इसका निर्णय प्रभु श्रीराम से ही कराया जाय।" वाल्मीकि को कोई

ऐतराज न था। उन्होंने स्वीकार कर लिया। दोनों श्रीराम के पास पहुँचे। हनुमान ने अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा—

"प्रभो! ये कहते हैं कि अशोकवाटिका के फूल सफेद थे, जबकि मैंने लाल देखे थे। इन्हें समझाइए कि गलत बात पर हठ न करें।"

श्रीराम ने हनुमान के तमतमाए चेहरे को देखा तो मंद-मंद मुस्कराते हुए बोले—"अंजनिनन्दन! मैं तो अशोकवाटिका गया ही नहीं, वहाँ तो जानकी ही रही थीं, वही प्रत्यक्षदर्शी हैं। उनसे ही निर्णय करा लो।"

हनुमान ऋषि वाल्मीकि को लेकर सीताजी के पास पहुँचे। उनके चरणों में नमस्कार करते ही हनुमान का आवेश शान्त हो गया। हनुमान ने जब अशोकवाटिका के फूलों के सम्बन्ध में निर्णय माँगा तो सीताजी ने कहा—"वत्स! फूल सफेद ही थे।" इस पर चकित होकर हनुमानजी ने पूछा—"फिर मुझे लाल क्यों दिखाई दिये?"

"क्रोध की उत्तेजना के कारण! जब तुमने अशोकवाटिका में प्रवेश किया तो वहाँ की रमणीयता देखकर तुम्हारे नेत्र क्रोध से लाल हो गए। तुमने सोचा—'इस पापी रावण की ऐसी सुन्दर वाटिका!' बस, इसी कारण तुम्हें अशोकवाटिका के सफेद फूल भी लाल रंग के दिखाई दिये।"

निष्कर्ष यह है कि हनुमानजी ने वे पुष्प क्रोधकषायरंजित नेत्रों से देखे, इस कारण उन्हें वे लाल दिखाई दिए, जबकि ऋषि वाल्मीकि ने कषायहीन चक्षुओं से, इस कारण वे उनको असली रूप में देख सके।

क्रोध का प्रकोप : अतीव भयंकर व हानिकर

शरीर में ज्वर आता है तो उसका तापमान बढ़ जाता है, उससे कई तरह की गड़बड़ियाँ पैदा हो जाती हैं। ज्वरग्रस्त व्यक्ति का शरीर जलता है, उसे प्यास लगती है, सिरदर्द होता है, पैर भी जलते हैं, नींद और भूख मर जाती है, बड़ी बेचैनी होती है, थकान और कमजोरी भी बहुत आ जाती है। किसी काम में मन नहीं लगता। सोचना और बोलना भी ठीक तरह से नहीं होता, थोड़े दिन का बुखार भी शरीर को बिलकुल तोड़ देता है।

शरीर की तरह मन-मस्तिष्क को भी जब ज्वर आता है तो वह शारीरिक ज्वर की अपेक्षा कई गुना भयंकर एवं हानिकर सिद्ध होता है। इस मानसिक ज्वर का एक प्रकार है—क्रोध का प्रकोप। क्रोध का प्रकोप एक प्रकार का क्षणिक पागलपन है। यह स्थिति एक तूफान के समान है जो मनुष्य की भावनाओं को जला देता है। यह बड़ी नृशंस उत्तेजना है, जिससे व्यक्ति की दूरदर्शिता और विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। विवेक-दीपक बुझने पर व्यक्ति अज्ञान के अंधेरे में भटकने लगता है, वस्तुस्थिति और वास्तविकता को जानने की बुद्धि ही नहीं रहती, इस कारण वह

सच्चाई को समझ नहीं पाता, उचित निर्णय नहीं कर पाता। फलतः वह बिना विचारे सर्वस्व स्वाहा करने को तत्पर हो जाता है, उसके सारे ही कार्य अविवेक और अदूरदर्शिता से होते हैं।

तनिक-सी बात पर गुस्से से उत्तेजित हो जाना, मानसिक सन्तुलन खो देना, आवेश में भर जाना, मन-मस्तिष्क का बुखार नहीं है तो क्या है? इस मस्तिष्कीय ज्वर में मनुष्य उन्मत्त-सा हो जाता है, न बोलने योग्य वाणी बोलता है; उसकी वाणी में कटुता, व्यंग्य, तिरस्कार, अशिष्टता, अभद्रता आदि न जाने कितने ही विष घुले रहते हैं। जिस प्रकार शारीरिक ज्वर आने पर शरीर का सारा कार्यक्रम लड़खड़ा जाता है, उसी प्रकार दिमागी बुखार आने पर क्रोधावेश में मनुष्य की विचार एवं निर्णय की शक्तियाँ अस्तव्यस्त हो जाती हैं। उस स्थिति में कोई भी सही निर्णय नहीं ले सकता। वस्तुतः उद्वेग मनुष्य की बुद्धि को अनिश्चय के दलदल में फँसा देता है। इस मस्तिष्कजनित उन्माद-आवेश के कारण मनुष्य प्रायः न करने योग्य कार्य कर बैठता है, जिसके लिए बाद में उसे जिन्दगी भर तक पश्चात्ताप करना पड़ता है?

एक प्राचीन उदाहरण लीजिए—एक राजा एक बार घोडे पर चढ़कर सैर करने के लिए निकला। घोड़ा उलटी लगाम का था, इसलिए ज्यों-ज्यों वह उसे रोकने के लिए लगाम खींचता, त्यों-त्यों घोड़ा अधिकाधिक तेजी से दौड़ता था। किसी भी तरह वह रुका नहीं। राजा को वह एक भयंकर जंगल में ले पहुँचा। राजा थक गया। उसने घोड़े की लगाम छोड़ दी, तब घोड़ा खड़ा रहा। भूखा-प्यासा राजा एक विशाल छायादार वृक्ष के नीचे बैठा। वह विश्राम कर रहा था, उसी समय उसकी दृष्टि वृक्ष के खोखले से गिरते हुए पानी पर पड़ी। उसने पत्तों का एक दोना बना कर उस खोखले के नीचे रख दिया। थोड़ी ही देर में जब राजा उस दोने को लेकर पानी पीने को तैयार हुआ कि उस वृक्ष पर बैठे हुए एक पक्षी ने झपट्टा मारकर राजा के हाथ में रखा पानी का दोना नीचे गिरा दिया। उस उपकारी पक्षी ने राजा के हाथ से पानी का दोना इसलिए गिरा दिया था कि वह पानी नहीं था, किन्तु उस वृक्ष के कोटर में बैठे हुए एक अजगर के मुँह से गिरता हुआ विष था। उसने सोचा कि अगर अनेक लोगों का आधार राजा इसे पी लेगा तो तुरंत मरणशरण हो जाएगा। परन्तु राजा इस बात को नहीं जान सका। उसने दूसरी बार उस दोने को कोटर के नीचे लगाया और ज्यों ही दोने का पानी पीने लगा, उस पक्षी ने फिर झपट्टा मारकर गिरा दिया, तब राजा तीसरी बार भी दोना भरकर पीने को तैयार हुआ कि इस बार भी पक्षी ने उसे गिरा दिया। इस पर राजा उस पक्षी पर क्रोध से अत्यन्त आगबबूला होगया और उसे जल पीने में विघ्नकर्ता एवं अकारण दुष्ट जानकर तलवार से मार डाला।

कुछ ही देर बाद राजा की सेना वहाँ भोजन एवं जल लेकर आ पहुँची। राजा ने भोजन किया और पानी पीकर स्वस्थ हुआ। फिर अकस्मात् राजा की दृष्टि उस

लन बिगड़ गया था। मेरे धैर्य, विवेकबुद्धि और साहस इतने पंगु हो गये थे, मुझ सूझ ही नहीं पड़ता था कि मैं क्या करूँ ?" पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो ने ठीक ही कहा है—

"The passionates are like men standing on their heads, they see all things the wrong way."

'आवेशग्रस्त व्यक्ति उन व्यक्तियों की तरह है, जो अपने सिर के वल पर (शीर्षासन करके) खड़े हैं, वे सभी वातें उलटी दिशा में सोचते, देखते हैं !'

बहुत से लोग क्रोध या क्षोभ के समय बिलकुल राक्षसों का-सा रूप धारण कर लेते हैं। ऐसे लोग जब क्रोधाविष्ट होते है तो अपने सामने जो कुछ पाते हैं, उठा-उठाकर फैंकने लगते हैं, या जो सामने आता है, उसी को मार वैठते हैं। जो लोग उन्हें समझा-बुझाकर शान्त करने आते हैं, उन्हें भी वे गालियाँ देने या अपशब्द कहने पर उतारू हो जाते हैं। ऐसे लोग छोटे-छोटे बच्चों और पशुओं आदि तक को मारते-मारते बेदम कर देते हैं। जब उन पर क्रोध का भूत सवार होता है, तब उन्हें आगा-पीछा या अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं दिखाई देता। ऐसे लोग गुस्सा उतर जाने के बहुत देर बाद तक भी बिलकुल वेसुध और वेकाम से रहते हैं, उस समय वे न तो कुछ सोच-समझ सकते हैं, और न ही कुछ कह या कर सकते हैं।

अमेरिका में एक ऐसा परिवार था, जिसके छोटे-बड़े सब आदमी मिलकर लड़ने लग जाया करते थे और ऐसे लड़ते थे कि देखने-सुनने वाले दंग रह जाते थे। वे आपस में एक-दूसरे को खूब नोचते, खसोटते थे और कपड़े-लत्ते फाड़ डालते थे। उस समय उनके चेहरे बिलकुल बदल जाते थे। वे पहचाने नहीं जाते थे। उन्हें देखने से ऐसा मालूम पड़ता था, मानो बहुत से शैतान आपस में लड़ रहे हों। भला इस प्रकार के आवेशमय वातावरण से द्वेष, वैर, विरोध, शत्रुता और वैमनस्य बढ़ने के सिवाय और भयंकर पापकर्म-बन्धन के सिवाय और क्या नतीजा निकल सकता है ? ऐसे ही अवसरों पर आवेशग्रस्त लोग अपने परिवार के किसी आदमी की हत्या तक कर बैठते हैं। ऐसे क्रोधान्ध बाद में बहुत पछताते हैं। पर उस समय पछताने से क्या होता है ?

कई बार लोग जरा-सी बात या जरा से अपमान—कल्पित अपमान के कारण किसी से बहुत चिढ़ जाते हैं, और आवेश में आकर वर्षों तक उससे बदला-लेने की उधेड़बुन में लगे रहते हैं। उनकी बुद्धि वर्षों तक ठीक नहीं होती। एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

काठियावाड़ के एक कस्बे में मेघाशा नाम के सेठ थे। उनकी पत्नी का नाम रूपाली वा था। सेठ रूपाली बा पर इतने आसक्त थे कि वह कहती, वैसे ही सेठ को चलना पड़ता। एक दिन कुछ पड़ौसिनों के साथ रूपाली बा घूमने निकली। घूमती-घूमती वे सभी कुंभार के यहाँ बर्तन खरीदने पहुँच गईं। सबने अपनी इच्छानुसार बर्तन

पसन्द किये और कुंभार को उनके पैसे चुकाकर चलने लगीं। रूपाली बा ने भी ४-५ वर्तन पसन्द किये थे, लेकिन पास में छह-सात आने भी न थे। इसलिए उसने कुम्हार से कहा—"इन बर्तनों के दाम अपनी दूकान से ले आना।" कुम्हार ने स्पष्ट कह दिया—"मैं सेठ को अच्छी तरह जानता हूँ। उनके पास दाम लेने मैं नहीं जाऊँगा। वे पैसों के बदले में ऐसी खराब जुआर देते हैं, जिसे मेरे गधे भी नहीं खाते। आपको बर्तन चाहिए तो अपने नौकर को पैसे देकर भेज देना, ये आपके पसन्द किये हुए वर्तन मैं एक ओर रख देता हूँ।" परन्तु पड़ौसिनों के सामने ५-६ आने के लिए कुम्हार द्वारा स्पष्ट कहे हुए वचन रूपाली बा को असह्य अपमानजनक लगे। वह क्रोध में आगबबूला हो गई और वे बर्तन छोड़कर कुछ भी कहे बिना क्रोध में भन्नाती हुई घर आ गई। आते ही मुँह चढ़ाकर कोपभवन में जा बैठी। वह जानती थी, मैं कहूँगी वैसे ही सेठ कर लेंगे।

लगभग ११ बजे सेठ दूकान से घर आए। पर सेठानी का कहीं भी पता न चला। आखिर बड़ी मुश्किल से पता चला कि वह कोपभवन में है। सेठजी ने उसे वहुत मनाया, पर वह तो रोष ही रोष में चुप्पी साधे बैठी थी।

सेठ ने कहा—"कुछ कहो तो सही, बात क्या हुई ? क्या मुझसे कोई अपराध हो गया है या किसी ने तुम्हें कुछ कह दिया है ? क्या आज तबियत खराब है ?"

लगभग एक घण्टे तक सिरपच्ची करने के वाद सेठानी ने मुँह खोला—"मुझे क्यों बुलाते हो ? इन लाखों रुपयों को झौंक दो भाड़ में।" फिर आज की बीती हुई घटना सुनाते हुए कहा—"गाँव में तुम्हारी इज्जत तो टके भर की भी नहीं है कि कोई तुम्हें दो आने की चीज उधार नहीं देता। वह तीन कौड़ी का कुम्हार कहने लगा—नकद पैसे देकर वर्तन ले जाओ। मैं सेठ के पास वर्तन के दाम लेने नहीं जाऊँगा। वे मुझे पैसों से बदले में ऐसी सड़ी जुआर देते हैं, जिसे मेरे गधे भी नहीं खाते। यों कहकर मेरी पड़ौसिनों के सामने मेरी इज्जत मिट्टी में मिला दी उसने।"

सेठ ने कहा—"पर इसमें क्या हो गया ? हमें ऐसे बुद्धओं की बात सुननी ही नहीं चाहिए। सुनी हो तो दिमाग में नहीं रखनी चाहिए।"

यह सुनकर तो सेठानी का रोष सेठ पर और बढ़ गया। वह क्रोध में फुफकारती हुई बोली—"बस, बस रहने दो ! आप ही ऐसे हो, कि कोई सिर में मार दे तो भी कुछ नहीं बोलते, मैं इसे सह नहीं सकती। केवल धन ही इकट्ठा करना सीखे हो, प्रतिष्ठा भले ही चली जाए, पर मेरी प्रतिष्ठा गई उसका आपके मन में कोई दर्द ही नहीं है।"

यों कहती हुई वह सेठ को उपालम्भ देने लगी। सेठानी के दिमाग में तो अपमानजनित गुस्सा भरा हुआ था। सेठ ने उसे अनेक प्रकार से समझाया, पर वह तो टस से मस न हुई। क्रोध अधिकाधिक भड़कता जाता देख सेठ ने कहा—"क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे तुम्हारे मन का समाधान हो जाए ?" सेठानी ने अपना

अन्तिम ब्रह्मास्त्र फैंकते हुए कहा—"मेरे मन का समाधान तभी हो सकता है, जब वह कुम्हार मेरे घर जुआर माँगने आए और मैं उसके सिर में जूता मारूँ।"

बन्धुओ ! सेठानी का क्रोध इतनी चरमसीमा पर पहुँच गया था कि वह उस कुम्हार को अपना शत्रु मानकर उसे पराजित और अपमानित करना चाहती थी। सेठानी क्रोधावेश में यह नहीं समझ सकती थी कि आवेश में किये गए दुर्व्यहार से दूसरों को जितनी क्षति पहुँचाई जाती है, उससे बहुत गुनी क्षति अपनी हो जाती है। इस मस्तिष्कीय ज्वर से दूसरों की अपेक्षा अपनी ही हानि अधिक है। ऐसे क्रोध से शरीर विषाक्त हो जाता है, अगणित मस्तिष्कीय एवं नाड़ी संस्थान के रोग पैदा हो जाते हैं। एक घण्टे के क्रोध में जब एक दिन के तेज बुखार से अधिक शक्ति नष्ट होती है, तब इतने लम्बे क्रोध से कितनी अधिक शक्ति नष्ट होगी ? सचमुच, क्रोधाविष्ट व्यक्ति की जीवनीशक्ति आवेश की आग में जलती-भुनती रहती है। दिन प्रतिदिन ठीक सोचने की क्षमता कम होती जाने से वह अर्धविक्षिप्त एवं सनकी जैसी मनोदशा में जा पहुँचता है।

यही हाल आवेशग्रस्त रूपाली बा का हुआ। क्रोधाविष्ट रूपाली बा को बदला लेने की धुन सवार हुई। उसने अपना निश्चय सुना दिया—"जब तक आप इसके लिए कोई उपाय नहीं सोचेंगे, तब तक न तो मैं खाऊँगी और न खाने दूँगी।" सेठ मेघाशा के सामने विकट समस्या थी। उसे सेठानी के मनःसमाधान का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। पर सेठानी के मोह में मूढ़ मेघाशा इस समस्या को सुलझाने के लिए आधी रात तक जागते रहे। एकाएक सेठ को एक युक्ति सूझी। आधी रात को ही उन्होंने अपने परिचित सुखदेवजी यति का द्वार खटखटाया। यतिजी ने उठकर द्वार खोला। सेठ ने अपने आगमन का प्रयोजन बताया। सेठ की बात पर गहराई से मन्थन करने के बाद यतिजी ने कहा—"कुम्हार तुम्हारे घर तभी आ सकता है, जब दुष्काल पड़े, पास में खाने को अनाज न हो, हजारों मनुष्यों एवं पशुओं की दुर्दशा हो। परन्तु सेठ ! यह कल्पना कितनी भयंकर है ? कितनी रौद्र लीला है, हाहाकार भरी यह !"

सेठ बोला—"चाहे जो हो, सेठानी को तो राजी करना है, वह और किसी उपाय से राजी होने वाली नहीं है।" यतिजी बोले—"पर यह तो घोर पाप होगा। मेरी विद्या का दुरुपयोग होगा।" सेठ ने कहा—"गुरुजी ! चाहे जो हो जाय, इतना काम तो करना ही पड़ेगा। नहीं तो हम दोनों मर जाएँगे। आप दुष्काल की चिन्ता न करें। मेरे पास रुपयों का टोटा नहीं है। अनाज और घास का संग्रह भी मैं कर लूँगा। मेरे यहाँ जो आएगा, उसे देता रहूँगा। फिर यह तो मौके की बात है। काम निपट जाने के बाद तो सब किसानों को अनाज तौल देंगे। बस इतना काम तो आपको अवश्य करना ही होगा।"

यतिजी सच्चे यति न थे, वे सेठ से मिलने वाली वृत्ति छूट जाने के भय से

अपने यतिधर्म से फिसल गए। यतिजी ने इस प्रयोग के लिए एक कालियार मृग मंगवाया और उसके सींगों में एक तावीज पहनाया, जिसमें मेघ-बन्धन यंत्र डाल दिया। इसके वाद यति ने सेठ को हिदायत दी—"देखो, सेठ! दुष्काल का नाम ओर फैल जाए और तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो जाए, तब शीघ्र ही यह तावीज निकाल लेना।" सेठ ने स्वीकार किया और कालियार मृग को एक सुरक्षित वाड़े में बंधवा दिया।

पर सेठ को तो काम से काम था। काम होगया, यह वात सुनकर सेठानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसयंत्र के कारण वर्षा न हुई। सेठ ने अपने पास जितना धन था, उससे घास की गंजियों एवं अनाज का संग्रह करवा लिया। यों तो सेठ पक्के कंजूस थे, पर आज सेठानी के मोह में पागल बनकर उदार हो गये थे। श्रावणमास वीत गया, पर वर्षा की एक बूँद भी नहीं पड़ी। अन्त में दुष्काल घोषित होगया। अनाज के भाव दुगुने-तिगुने होगए, पर जो सेठ के यहां अनाज माँगने आता, उसे वे फ्री देने लगे। परन्तु कुम्हार उनके यहाँ माँगने नहीं गया। परन्तु गाँव छोड़कर अन्यत्र जाने जैसा भी न रहा। कालियार मृग भी सेठ की असावधानी से खुल कर भाग गया। सेठानी को मनाने के वाद सेठ ने और बातों की परवाह न की। फलतः सारे काठियावाड़ में दुष्काल का हाहाकार मच उठा। एक वर्ष में तो कुम्हार का घरबार, वर्तन भांड़े और गधे भी बिक गये। फिर भी सारे वर्ष भर वह अन्न मांगने नहीं आया। सेठानी को तव तक समाधान कैसे होता, जब तक कुम्हार उसके यहाँ अन्न माँगने न आए। उसके हृदय में तो अभी तक क्रोधविष का उफान भरा था। वह यंत्र कालियार मृग के सींगों में अभी वंधा ही पड़ा था, फलतः दूसरे वर्ष भी दुष्काल पड़ा। सेठ के मन में इसका कोई खेद नहीं था, न सहानुभूति ही रही।

दुष्काल की करारी मार से वेचारा कुम्हार अव लाचार हो गया। उसका परिवार भूखा मरने लगा। रूपाली वा तो इसी प्रतीक्षा में थी कव कुम्हार आए और कव मैं अपने अपमान का वदला लेकर रोष उतारूँ। आखिर एक दिन नीचा मुँह किये कुम्हार माँगने आया—"रूपाली वा! हमें भी कुछ दो। गरीव आदमी हैं।" पर रूपाली बा को देना कहाँ था; उसे तो जूता मारना था! वह वोली—"तू तो कहता था न कि तुम्हारी जुआर तो गधे भी नहीं खाते। अव क्यों आया लेने? भाग जा यहाँ से वदमाश!" यों कहते-कहते सेठानी ने उसके सिर पर ४-५ जूते लगा दिये। क्रोधमूर्ति सेठानी का हृदय अव ठण्डा हुआ। कुम्हार वोला—"वा! दो वर्ष पहले समय और था, आज और है। मैंने आपको शत्रुभाव से वे शब्द नहीं कहे थे, सिर्फ व्यवहार की वात कही थी।" पर यह सत्य कौन सुनता! क्रोधमूर्ति सेठानी ने उसके जूते मारकर भी अनाज का एक दाना न दिया। वेचारा भूखा कुम्हार दिल में जलता हुआ निराश होकर चला गया।

पाषाणहृदया सेठानी पर कुम्हार के दीन वचनों का कोई असर न हुआ।

वह सेठ से कहने लगी—"मेरा मनोरथ तो पूर्ण हो गया है। अब आपको जो करना हो सो करें।" पर सेठ कालियार मृग के चले जाने से निरुपाय था।

तीसरे वर्ष ही सेठ-सेठानी के पापकर्मों का उदय हुआ। घर में चोर घुसे और सारा द्रव्य व अनाज समेट कर ले गए। सेठ के घर में कुछ भी न रहने दिया। जनता भूख के मारे त्रस्त होकर मरने लगी। सेठानी और यतिजी के शरीर में भयंकर कोढ़ फूट निकला। दोनों तीव्रतर वेदना से रो-धो कर बुरी दशा में मरणशरण हुए।

यह है चिरकाल तक क्रोधाविष्ट होने का परिणाम !

बन्धुओ ! क्रोध भयंकर आग है, बल्कि आग से भी बढ़कर है। अग्नि तो उसी व्यक्ति को जलाती हैं, जो उसकी लपेट में आ जाता है। मगर क्रोध के दावानल में क्रोध करने वाला तो जलता ही है, साथ में सारा परिवार भी उस जलन की अनुभूति करता है। क्रोधावेश का प्रभाव कभी-कभी वैयक्तिक जीवन से आगे समाज, प्रांत तथा राष्ट्र तक पर पड़ता है, जिसके भीषण परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। हिन्दुस्तान के विभाजन के समय हिन्दू-मुस्लिम दंगों के हृदयस्पर्शी दृश्य आज भी हमारे स्मृतिपट पर हैं। अभी तक उसका घाव भरा नहीं है। क्रोधावेश में आकर आए दिन भारत में विद्यार्थीवर्ग, श्रमिकवर्ग तथा वर्गभेद से पीड़ित समुदायों के द्वारा हड़ताल, बंद, तोड़फोड़, दंगे, आगजनी, हुल्लड़ आदि किये जाते हैं, जिसमें राष्ट्र की अपार धन-जन की क्षति होती है। रोषावेश में जनता कितनी विवेकमूढ़ हो जाती है कि वह राष्ट्र के हिताहित को नहीं सोच पाती।

मानव-प्रकृति का यह मुख्य लक्षण है कि जिस बात से उसका बार-बार सम्पर्क होता है, उसी में वह ढल जाता है। बार-बार उत्तेजना के दौर से गुजरने पर वह व्यक्ति उत्तेजक स्वभाव का हो जाता है, उसकी बौद्धिक क्षमता एवं दूरदर्शिता नष्ट हो जाती है। उद्वेग के तूफान में आध्यात्मिक शक्तियाँ भी दुर्बल एवं कर्त्तव्य-हीन हो जाती हैं। फलतः उसके अन्तर् से क्षमा, शान्ति, सन्तोष, धैर्य, दया, प्रतिभा आदि शक्तियाँ जड़मूल से नष्ट हो जाती हैं, विवेकशक्ति पंगु हो जाती है।

एक रोचक दृष्टान्त द्वारा मैं इसे समझाना चाहता हूँ—

एक मनुष्य बड़ा ही हठी और उग्रस्वभाव का था। जब भी उसे क्रोध आता, वह बिलकुल भान भूल जाता था। बार-बार उत्तेजना के दौर से गुजरने के कारण उसका स्वभाव उत्तेजक हो गया था। उसकी पत्नी का स्वभाव भी बड़ा अहंकारी, था, वह फैशन की पुतली थी। नित नये शृंगार करना ही उसका दैनिक कार्यक्रम रहता था।

एक बार पति-पत्नी दोनों तीर्थयात्रा करने चले। यात्रा पैदल ही कर रहे थे। रास्ते में एक सजल नदी आई। नदी के निकट पहुँचते ही पत्नी ने पति से कहा—"मेरे पैरों में महावर लगा हुआ है। नदी में होकर जाने से वह छूट जाएगा। आप ऐसा उपाय करें, जिससे यह न छूटे, मेरी मेहनत बेकार न जाए।"

पति ने कहा—"यहाँ और कोई उपाय नहीं है सिवाय पानी में होकर चलने के। महावर खराव हो जाए तो फिर लगा लेना।" लेकिन वह फैशनेवल पत्नी इसके लिए तैयार न हुई। कहने लगी—"मुझे साथ में लाए हैं तो क्या मेरी इतनी-सी बात भी नही मानेंगे। जैसे भी हो, आपको ऐसा उपाय करना होगा, जिससे महावर न छूटे।"

बस, पत्नी का इतना कहना था कि पति का पारा चढ़ गया। उसकी भौहें तन गई, आँखें लाल हो गई। वह अपनी पत्नी से बोला—"हूँ, तेरे पैरों में लगे महावर का रंग नहीं छूटना चाहिए, और चाहे जो हो, मैं ऐसा ही उपाय करूँगा।" इतनी-सी वात कहकर उसने अपनी पत्नी के दोनों पैर अपने हाथों से पकड़े और शीर्षासन करा दिया, सिर नीचे और पैर ऊपर! सिर नीचा होने से उसके मुँह एवं नाक में पानी भरने लगा। वह घसीटता हुआ अपनी पत्नी को नदी के दूसरे किनारे पर ले गया। नदी पार क्या की, पत्नी को ही उसने पार कर दिया। नाक-मुँह में पानी भर जाने से उसका दम घुट गया, वहीं दम तोड़ दिया उसने। नदी के दूसरे तट पर पहुँचने पर लोगों ने उस क्रोधाविष्ट पति से कहा—"मूर्ख! यह क्या गजब कर डाला? नारी-हत्या!" उसने कहा—"मैंने तो अपनी पत्नी की इच्छा पूरी की है। प्राण भले ही चले गये, उसके महावर का रंग तो सही सलामत है।" वास्तव में ऐसे क्रोधाविष्ट, जिद्दी और झक्की मनुष्य जहाँ मिल जाते हैं, वहाँ जीवन का सर्वनाश निश्चित है। वह वर्षों की वनी-वनाई वात को क्षणभर में विगाड़ देते हैं।

वहुत-से दूकानदारों की दूकान केवल इसलिए नहीं चलती कि उनका स्वभाव क्रोधी या चिड़चिड़ा होता है। वे अपने ग्राहकों से वात-वात में झगड़ बैठते हैं, गालियाँ दे बैठते हैं या उन्हें मार वैठते हैं। क्रोधावेश पर संयम न होने के कारण वहुत-से लोगों का जीवन बुढ़ापे में अत्यन्त कष्टमय हो जाता है। वे क्रोधावेश में आकर अपनी जवान और मिजाज को कावू में नहीं रख सकते। जव जो मुँह में आता है, वही कह देते हैं। इस प्रकार वौद्धिक क्षीणता के कारण वे न तो स्वयं किसी के साथ प्रसन्नता से रह सकते हैं और न ही किसी के साथ काम कर सकते हैं।

क्रोधाविष्ट होना कार्यसिद्धि में पहला विघ्न

नीतिवाक्यामृत में स्पष्ट कहा है—

'उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः'

'गर्म हो जाना, सभी कार्यों की सिद्धि में पहला विघ्न है।'

आज अधिकांश लोग कार्य प्रारम्भ करने से पहले ही गर्म हो जाते हैं; कई लोग तो विना मतलव के गर्म हो जाते हैं; जिससे उनका काम भी नहीं वनता और लोगों में भी वे हँसी के पात्र वनते हैं। वाद में तो वे भी अपनी भूल पर वहुत ही लज्जित होते हैं।

मैंने एक पुस्तक में पढ़ा था कि गोवर्द्धन ने एक दिन अपनी पत्नी से कहा—"मैं एक भैंस लाना चाहता हूँ, ताकि हम सबको शुद्ध दूध-दही, घी आदि प्राप्त हो सकें।"

पत्नी बोली—"बहुत अच्छी बात कही आपने। इस कार्य में देर न करें। आज से ही इस कार्य के लिए प्रयत्न करें। मैं शीघ्र ही अपने घर में भैंस देखना चाहती हूँ।"

गोवर्द्धन—"मेरा इरादा पक्का है, लेकिन उतावली में भैंस नहीं खरीदूंगा। अच्छी तरह देखभाल कर भैंस लाऊँगा। कोई ऐसी-वैसी भैंस घर में बँध गई तो फिर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।"

पत्नी ने कहा—"परख तो अवश्य करें, लेकिन विलम्ब न करें। मेरी मां रुग्ण रहती है। वह इन दिनों काफी कमजोर हो गई है। वैद्यजी ने उसे मक्खन-मलाई खाने को कहा है। तो मक्खन-मलाई उसके भी काम आएँगे। मेरे छोटे भैया को भी दूध भेज दिया करूँगी।"

पति का पत्नी के प्रति प्रेम होता है, वह उसे खिला सकता है, लेकिन जब पत्नी ने अपनी माँ और भैया को दूध-मलाई खिलाने की बात कही तो गोवर्द्धन सहन न कर सका। अतः उसका चेहरा आक्रोश से भर उठा। पति की बदली हुई मुखाकृति देखकर पत्नी ने पूछा—"मैंने तो कोई ऐसी-वैसी बात नहीं कही है, फिर आपका चेहरा क्यों बदल गया?"

गोवर्द्धन—"मेरा तो चेहरा ही बदला है, तेरा तो दिल-दिमाग बदल चुका है। इसीलिए तो आज बहकी-बहकी-सी बातें कर रही है।"

पत्नी ने गर्म होकर कहा—"हूँ! मेरे दिल-दिमाग कैसे बदल गये? क्या देखा आपने?"

गोवर्द्धन को भी पत्नी के शब्द काँटे-से चुभने लगे। वह गुस्से में तमतमाकर बोला—"कितनी बढ़िया बात कही है तूने? भैंस खरीदकर लाऊँगा मैं, और मक्खन-मलाई खाएगी तेरी माँ! दूध पीएँगे तेरे भैया! यह कदापि नहीं हो सकता।"

बात ही बात में दोनों में गर्मागर्म बहस होने लगी, बात बहस तक ही न रुकी दोनों हाथापाई और गाली-गलौज पर उतर आए।

कवि ने ठीक ही कहा है—

मुख खुल जाता क्रोध में, आँखें होती बन्द।
रहता नहीं कुछ क्रोध में, चिन्तन से सम्बन्ध॥
मुख से चलती गालियाँ, चलते दोनों हाथ।
क्रोध किया करता यहाँ, शान्तिघात उत्पात॥

हल्ला सुनकर पड़ौसी ने पता लगाया और उस वेबुनियाद लड़ाई का रहस्य मालुम पड़ा तो वह डंडा लेकर गोवर्द्धन के यहाँ आया। उसने घर में रखे मिट्टी के चार-पाँच वर्तन फोड़ डाले। गोवर्द्धन चिल्लाया—"अरे भाई! ये बर्तन क्यों फोड़ डाले?"

पड़ौसी वोला—"इसलिए कि तुम्हारी भैंस मेरा सारा खेत चर गई। भैंस के अपराध का दण्ड मालिक को भोगना होगा।"

गृहस्वामिनी वोली—"भले आदमी! अभी तो यह भैंस खरीदकर ही कहाँ लाया है? फिर तुम कैसे झूठी वात बना रहे हो कि तुम्हारी भैंस मेरा खेत चर गई?"

पड़ौसी ने कहा—"जव विना खरीदे भैंस मेरा खेत नहीं चर सकती, तो विना भैंस लाये मक्खन-मलाई कहाँ से दे दी गई? और तुम दोनों क्यों गुस्से में तमतमाकर लड़ने लगे?"

पड़ौसी की तथ्यपूर्ण वातें सुनकर पति-पत्नी दोनों अपनी मूर्खता पर लज्जित हो गये।

हाँ, तो ऐसी मूर्खताएँ क्रोधावेश की देन हैं।

द्वेष और वैर से कुपित होने पर

द्वेष और वैर का प्रकोप भी क्रोध के प्रकोप से सम्वन्धित है। अन्य वुरी परिस्थितियाँ तो थोड़ी देर ठहरकर अपना कुप्रभाव दिखाकर विदा हो जाती हैं, पर द्वेष और वैर का प्रकोप काफी लम्वे अर्से तक चलता है। कई वार तो मन में ऐसी जड़ जमाकर वैठ जाता है, निरन्तर काँटे की तरह खटकता रहता है। इन दोनों के प्रकोप में ऐसी खरावी है कि उनके कारण प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की भावना पैदा हो जाती है, जिसके साथ द्वेष और वैर होता है, उसे कोई न कोई हानि पहुँचाने को जी चाहता है और जी की जलन तव तक शान्त नहीं होती, जव तक वदला नहीं ले लिया जाता। वैर का वदला प्रतिपक्षी के मन में ठीक वैसी ही प्रतिहिंसा की भावना पैदा करता है। इस प्रकार वैर की प्रतिक्रिया का कुचक्र दोनों पक्षों में चिरकाल तक और कभी तो पीढी-दर-पीढी तक चलता है। कभी-कभी संगठित रूप—पार्टीवंदी के रूप में उठ खड़ा होता है। हत्या, कत्ल, डकैती. लूट, अपहरण, चोरी, छुरेवाजी, फौजदारी आदि घटनाएँ केवल धन के लालच से नहीं, अपितु उनमें से अधिकांश तो पुरानी अदावत के कारण या वैर-द्वेष के प्रतिशोध के रूप में होती है। सर्प जैसा तुच्छ जीव क्रोधावेश में इतना उग्र हो जाता है कि छेड़ने वाले की जान लिए विना सन्तुष्ट नहीं होता। द्रौपदी के जरा से व्यंग से क्षुब्ध होकर दुर्योधन इतना क्रूर और असंतुलित हो गया कि उसने पाण्डवों से वदला लेने के लिए महाभारत जैसे भयंकर युद्ध को स्वीकार कर लिया। चम्वल घाटी के दुर्दान्त दस्यु लाखों मनुष्यों का नागरिक जीवन अस्त-व्यस्त करने में क्यों लगे? इन डाकुओं का प्रारम्भिक जीवन किसी साधारण वात से

उत्पन्न आवेश के कारण द्वेष और प्रतिशोध से प्रारम्भ हुआ है, जो अब तक समाज को भारी क्षति पहुँचा रहा है।

द्वेष और वैर से कुपित हो जाने पर भी मनुष्य चिरकाल तक बुद्धिभ्रष्ट हो जाता है।

जो कुपित नहीं होता वही बुद्धिमान पुरुष है

इन सब बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि जो केवल शिक्षित होता है, वह बुद्धिमान नहीं, किन्तु जो कुपित नहीं होता, क्रोध, द्वेष, आवेश आदि के प्रसंग पर अपना सन्तुलन नहीं खोता, वही बुद्धिमान है, वही उत्तम पुरुष है, विद्वान है। भारतीय संस्कृति के एक मनीषी का कथन है—

यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपुरुषः।
क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ॥

(जनता के विनाश का मूल प्रायः क्रोध ही दिखाई देता है। इसलिए जो प्रतिदिन क्रोध को जीत लेता है, वही विद्वान है और उत्तम पुरुष है।)

भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री स्व० लालबहादुर शास्त्री ऐसे ही क्षमाशील पुरुष थे। वे क्रोध के प्रसंगों को मुस्कराकर टाल देते थे।

एक दिन शास्त्रीजी संसद भवन से लौटे। देखा तो उनके अपने कमरे में कूड़ा पड़ा था। घर के बच्चे यह बिखेर गये थे। सामान भी कुछ अस्त-व्यस्त था। ललिता जी रसोई में व्यस्त थीं। कोई और सामान्य व्यक्ति होता तो इस बात पर बहुत बिगड़ता। एक प्रधानमंत्री के बैठने का कमरा कुछ देर ही सही, गंदा रहे, यह बड़ी ही अनुचित एवं अशोभनीय बात थी। बड़े से बड़ा कोई भी व्यक्ति चाहे जब आ सकता था वहाँ। पर शास्त्रीजी इस भूल के लिए न तो नौकरों पर कुपित हुए और न ललिताजी पर। उन्होंने अपनी बुद्धि का सन्तुलन जरा भी न खोया और अपने ही हाथ से झाड़ू लगाने लगे। ललिताजी जब बाहर आईं तो उन्हें यह देखकर बड़ी ग्लानि हुई।

वास्तव में देखा जाए तो मनुष्य का जीवनक्रम और संसार का क्रियाकलाप कुछ ऐसे ढंग का है कि इसमें हर बात अपनी इच्छानुकूल नहीं हो सकती। हम चाहते हैं, वैसे ही दूसरे करें, वे भी हमारी इच्छानुसार अपने स्वभाव और संस्कार को एकदम बदल दें, यह आशा करना अनुचित है। अतः उचित यही है कि आप अपना स्वभाव या दिमाग संतुलित रखना सीखें। यदि किसी का व्यवहार अप्रिय है तो तलाश करें कि उसमें उसका कितना दोष था। कई बार परिस्थितियाँ, मजबूरियाँ एवं वस्तुस्थिति समझने की भूल के कारण लोग सहसा कुपित हो उठते हैं।

वे बाद में तो पछताते हैं पर समय पर उन्हें यह सूझ आती ही नहीं।

मनुष्य जहाँ श्रेष्ठ बुद्धि का धनी है, वहाँ वह त्रुटियों और दुर्बलताओं से भी

भरा है। पूर्ण निर्दोष, परम सज्जन एवं निर्भ्रान्त व्यक्ति तो वीतराग के सिवाय कोई नहीं होता। इस वास्तविकता को समझकर संसार में रहना है, वहाँ तक कामचलाऊ समझौते की नीति अपनानी चाहिए। जिनका व्यवहार आपको अप्रिय और अशिष्ट लगता हो, उनसे प्रेम और शान्तिपूर्वक वस्तुस्थिति पूछनी चाहिए और जो कारण रहा हो उसकी हानि समझाकर उसे उसके लिए तैयार करना चाहिए कि भविष्य में वह वैसी गलती न करे। यदि आपके ही समझने में कुछ भूल और भ्रान्ति हुई है तो आपको अपनी भूल तुरन्त स्वीकार करनी चाहिए।

दूरदर्शी, विवेकवान और सज्जन की पहचान यह है कि वह संतुलन नहीं खोता; तर्क, सूझबूझ और विवेक से काम लेता है; अप्रिय प्रसंगों के कारणों को वारीकी से ढूंढ़ता है; उनके समाधान का उपाय शान्तचित्त से निकालता है। हर रोग की चिकित्सा है और हर अप्रिय समस्या का समाधान! सज्जन समाधान ढूंढ़ते हैं और निकालकर रहते हैं। वे जानते हैं कि क्रोध और आवेश से, कटुवचन और अशिष्ट व्यवहार से, लड़ाई-झगड़े और आतंक से कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत उलझनें वढ़ती हैं।

यूनान के प्रख्यात दार्शनिक 'पेरीक्लीज' के पास एक दिन कोई क्रोधी व्यक्ति आया। वह पेरीक्लीज से किसी वात पर नाराज हो गया और वहीं खड़ा होकर गालियाँ वकने लगा, पर पेरीक्लीज ने उसका जरा भी प्रतिवाद न किया। क्रोधी व्यक्ति शाम तक गालियाँ देता रहा। जव अंधेरा हुआ तो घर की ओर चलने लगा, तव पेरीक्लीज ने अपने नौकर को लालटेन देकर उसे घर तक पहुँचा आने के लिए भेज दिया। इस आंतरिक सहानुभूति से उस व्यक्ति का क्रोध पानी-पानी हो गया।

सामान्य श्रेणी का व्यक्ति होता तो वह उसके क्रोध का प्रतीकार करता, लड़ वैठता और हिंसा भड़क उठती, जिससे दोनों की हानि होती, शक्ति खर्च होती। आवेशों को निरन्तर कावू में रखने, विपरीत परिस्थितियों से निरन्तर संघर्ष करने की मानसिक दक्षता मनुष्य में होनी चाहिए। अवांछनीय वातें मनुष्य के मस्तिष्क को प्रभावित या उत्तेजित न करें, यही बुद्धिमान पुरुष की पहिचान है। जो कुपित हो जाता है, उसकी वुद्धि तो शीघ्र भ्रष्ट और पलायित हो जाती है।

काम-कुपित होने पर

जैसे क्रोध के प्रकुपित होने पर वुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, वैसे ही काम से प्रकुपित होने पर भी मानव की वुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, वह अपने आपे में नहीं रहता, उसे अपने हानि-लाभ, कार्याकार्य का विचार नहीं रहता। कामान्ध व्यक्ति मनुष्यता से दूर हो जाता है। वह तो पाशविकता का अनुसरण करके अपनी वासनापूर्ति के लिए कोई भी अमानुषिक कृत्य कर वैठता है। काम-कुपित व्यक्ति की वुद्धि भी उत्तेजना से आक्रान्त हो जाती है। वह भी ऐसे मूर्खतापूर्ण जघन्य कृत्य कर वैठता है, जिससे वाद में उसे आत्मग्लानि महसूस होती है। कामवासना आंधी और तूफान

है। इसके कुपित हो जाने पर मन की शान्तवृत्ति, विवेकबुद्धि और सद्विचार का ठीक-ठीक रहना कठिन है। भूकम्प या तूफान आने पर नगर की जैसी उलट-पलट स्थिति हो जाती है, वैसी ही स्थिति कामविकारों के उफान आने पर शरीर की हो जाती है। कामवासना कुपित हो जाने पर व्यक्ति का अपना तो सर्वनाश होता ही है, उसके परिवार एवं वंश को भी उसका भयंकर कुफल भोगना पड़ता है। एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

उन दिनों अणहिलपुर पाटण का राजा करणघेला था। वह कामवासना में अन्धा होकर किसी भी सुन्दर स्त्री को नहीं छोड़ता था। एक दिन करणघेला की कुदृष्टि अपने राज्य के दीवान माधव की रूपवती स्त्री रूपसुन्दरी पर पड़ी। उसका यौवन से मदमाता शरीर, अंगोपांगों का सौष्ठव एवं अद्भुत रूप देखकर करणघेला उस पर मोहित हो गया। वह कामविह्वल होकर उसे पाने के लिए दाँवपेच लगाने लगा। काम-कुपित करणघेला ने काम के नशे में चूर होकर एक दिन माधव को बुलाकर अपने राज्य के किसी कार्यवश परदेश भेज दिया। इस प्रकार रास्ता साफकर करणघेला ने रूपसुन्दरी को अपने अन्तःपुर में जबर्दस्ती उठा लाने के लिए सशस्त्र टुकड़ी भेजी। टुकड़ी ज्यों ही माधव के यहाँ पहुँची, उसे माधव के छोटे भाई केशव ने रोक दिया। अतः केशव के साथ काफी देर तक टुकड़ी की झपट हुई, इसमें केशव का देहान्त हो गया। अतः रूपसुन्दरी को जवरन उठाकर वह टुकड़ी करणघेला के अन्तःपुर में ले आई। उधर मृत केशव का अग्निसंस्कार करने के लिए उसके जाति-भाई शमशान में ले गये।

इधर राज्य-कार्य सम्पन्न करके माधव जब वापस लौटा और नगर के बाहर ही उसे अपने छोटे भाई केशव की मृत्यु और अपनी पत्नी के अपहरण का समाचार मिला तो उसके अन्तर् में वैराग्नि भभक उठी। उसके अंग-अंग में क्रोध व्याप्त हो गया। वह आवेश ही आवेश में वहीं से दिल्ली की ओर रवाना हुआ। दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन से मिला। अलाउद्दीन को अपने पाटण का राज्य दिलाने का प्रलोभन दिया। अलाउद्दीन तो इसी फिराक में था। उसने इस मौके से लाभ उठाने के लिए अपने छोटे भाई को विशाल सेना लेकर माधव के साथ पाटण पर चढ़ाई करने भेजा। एकाएक गुजरात पर मुस्लिम सेना छा गई। गुजरात के कोने-कोने में कहर बरस उठा। चारों ओर भयंकर लूटपाट एवं कत्लेआम होने लगा। विशाल सेना के सामने टिकने की कामान्ध करणघेला में कहाँ हिम्मत थी। वह अपनी पुत्री देवलदेवी को लेकर भाग गया। पाटण अनाथ हो गया। करणघेला की रूपवती रानी कैलादेवी मुस्लिम सेना के हाथ में आ गई। उसने उसका अपहरण करके बादशाह अलाउद्दीन की सेवा में दिल्ली भेज दिया। करणघेला ने जो अत्याचार माधव की पत्नी रूपसुन्दरी पर किया था, उसी की प्रतिक्रिया के रूप में मुस्लिम बादशाह अलाउद्दीन ने उसकी पत्नी कैलादेवी के साथ किया। करण की रानी को मुस्लिम बाद-

शाह के अधीन होना पड़ा। उसका सतीत्व नष्ट हो गया। इतना ही नहीं, उसे बादशाह की बेगम बनकर रहना पड़ा।

यह है काम-कुपित व्यक्तियों की बुद्धिभ्रष्टता के कारण होने वाले सर्वनाश का ज्वलन्त उदाहरण !

कामान्ध ययाति का उदाहरण मैं पहले दे चुका हूँ। उसने भी काम-प्रकोप वश अपना तप, पुण्य, धर्म, यश, यौवन, शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि सर्वस्व फूंक दिया। जिस व्यक्ति में वृद्धावस्था में काम-कुपित हो जाता है, उसका तो पूछना ही क्या? वह अपनी तो दुर्गति करता ही है, अपनी पत्नी और सन्तान की भी दुर्गति करता है। तीव्र कामेच्छा मनुष्य को बलात् पतन की ओर खींचती है। अगर व्यक्ति कामावेश में आकर तुरन्त उधर झुक जाता है तो उसे सर्वनाश की घड़ी देखनी पड़ती है। इसलिए कामुक विचार के आक्रमण होते ही तुरन्त निर्णय न लेना हितावह होता है। थोड़ी देर रुककर एकान्त में जाकर उस पर गहराई से विचार करना चाहिए। हिताहित का यथोचित विचार किये बिना ही कामवासना की ओर लुढ़क जाने से भयंकर हानि उठानी पड़ सकती है। अतः कामावेश से बचने का उपाय यही है कि काम की आक्रमक स्थिति को कुछ देर के लिए टाल दिया जाय। भारतीय संस्कृति के एक अमर गायक ने बहुत ही सुन्दर प्रेरणा दी है—

> **कामक्रोधौ लोभमोहौ, देहे तिष्ठन्ति तस्कराः।**
> **ज्ञानरत्नापहाराय, तस्माज्जाग्रत जाग्रत ॥**

मानव शरीर में काम, क्रोध, लोभ और मोह रूपी चोर उसके ज्ञानरत्न चुराने की फिराक में रहते हैं, इसलिए श्रेयार्थी को इनसे प्रतिक्षण जागृत रहना चाहिए।

मोह से कुपित होने पर

यही दशा मोह से कुपित व्यक्ति की होती है। मोहाविष्ट व्यक्ति भी अपनी बुद्धि का दिवाला निकाल देता है। उसे भी अपने हिताहित का ध्यान नहीं रहता। रूपाली-बा के मोहान्ध पति का उदाहरण आप सुन चुके हैं। उस मोहाविष्टता का कितना भयंकर परिणाम आया था, यह भी आप सुन चुके हैं। विपाकसूत्र में अंकित मोह-कुपित का एक और उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

सुप्रतिष्ठित नगर के राजा महासेन का इकलौता लाड़ला पुत्र था—सिंहसेन। यौवनवय में आते ही उसका रूप, सौन्दर्य, देहसौष्ठव, बल, बुद्धि, पराक्रम देखने ही लायक था। चतुर राजकुमार सिंहसेन ने एक-दो नहीं, पाँच सौ कन्याओं के साथ विवाह किया था। जहाँ-जहाँ वह रूपवती सुन्दरी को देखता, उसकी मांग उसके अभिभावकों के पास पहुँचा देता और उसके साथ पाणिग्रहण करता। वैभव-विलास और यौवन मद में छके हुए सिंहसेन को महा रूपवती चतुर सोमारानी सर्वाधिक प्रिय थी, उसे ही उसने अपनी पटरानी बना दिया था।

सोमारानी के रेशम-से मुलायम गुच्छेदार लम्बे बालों पर गूँथी हुई फूलों की वेणी सिंहसेन देखता तो वह उसके अतिशय गौरवर्ण चाँद-से मुख पर मुग्ध हो उठता। इसी कारण सौन्दर्यमूढ़ सिंहसेन का अपनी ४९९ पत्नियों पर आदर और स्नेह कम होने लगा। इस उपेक्षा के फलस्वरूप वे सब स्त्रियाँ प्रतिदिन विचार किया करती थीं, और मन ही मन ऊब जाती थीं कि अब हम क्या करें? सोमारानी के प्रति उनके मन में सौतिया डाह पैदा हो गया। एक दिन सोमारानी की खास दासी ने जब इन ४९९ रानियों का रवैया देखा तो उसने गुप्त रूप से यह बात अपनी प्रिय स्वामिनी सोमारानी के कानों में पहुँचा दी। सोमारानी के मन में अपनी ४९९ सौतों के प्रति घृणाभाव तो था ही, अब और बढ़ गया। उसने मन ही मन युक्ति सोच ली और उनका सफाया कराने की ठान ली।

ज्यों ही राजा सिंहसेन उसके शयनकक्ष में प्रविष्ट हुए सोमारानी को उदास और गुम-सुम बैठी देख उन्होंने उससे ऐसा होने का कारण पूछा। सोमारानी ने त्रिया चरित्र करते हुए कहा—"प्राणनाथ! मैं आज इस विचार से कम्पित हो उठी कि अगर कोई आपको मेरे से छीन ले तो फिर मेरा और कोई नहीं है।"

मोहमूढ़ सिंहसेन ने गर्व से कहा—'किसकी ताकत है, जो मुझे तुझसे छीन ले।'

तीर निशाने पर लगता देख सोमारानी ने आँसू बहाते हुए कहा—"प्राणनाथ! मुझे विश्वस्तसूत्र से ज्ञात हुआ है कि मेरी ४९९ सौतें मेरा अनिष्ट करने की फिराक में हैं। उस समय मेरा क्या होगा? इस विचार से ही मैं काँप उठती हूँ। नाथ! मैं अकेली और वे तो ४९९ हैं। मुझे तो वे एक कोने में धकेलकर चटनी बना सकती हैं। हाय नाथ! मुझे बचाइए।"

सिंहसेन ने उसे निर्भय करते हुए कहा—"प्रिये! ऐसी चिन्ता न करो। किस की मजाल है, जो तुम्हारा बाल भी बाँका कर सके। तुम यह क्यों भूल जाती हो कि मैं अकेला ही इन सब स्त्रियों को कत्ल कराने का सामर्थ्य रखता हूँ।"

सोमारानी ने जलते हुए हृदय से कहा—"परन्तु प्राणनाथ! ऐसा करना बहुत कठिन है। उनके पीहर का पक्ष भी तो बहुत प्रबल है, वह आप पर आफत ला सकता है।

"अरी! ये स्त्रियाँ तो ठीक, परन्तु इनके पीहर के सभी व्यक्तियों का भी मैं तेरे प्रेम के लिए कचूमर निकाल सकता हूँ, फिर तुझे क्या चिन्ता है?" राजा ने कहा।

सोमारानी—"पर नाथ! यह कार्य बहुत ही भागीरथ है। यह कार्य आसानी से थोड़े ही हो सकता है?"

सिंहसेन—"क्यों नहीं हो सकता? तेरे प्रेम के लिए आकाश के तारे तोड़कर लाने की भी शक्ति मुझमें है, समझी?"

सोमारानी—"यह समझ में कैसे आए? अत्यन्त दुष्कर कार्य है यह! आप कुछ कर बताएँ तो जानूँ! कहना आसान है, पर करके बताना कठिन है। नाथ!

मुझे तो इन ४६६ सौतों को उनके पितृपक्ष के लोगों सहित समाप्त करना असम्भव सा प्रतीत होता है।"

"अच्छा, यह बात है? देखना, बन्दा क्या करता है?" यों कहता हुआ सिंहसेन उसी समय वहाँ से चल दिया।

अहंकार और मोह के आवेश में विवेकमूढ़ बना हुआ राजा सिंहसेन मन ही मन युक्ति सोचकर एक विशाल लाक्षागृह का निर्माण कराने लगा। जब लाक्षागृह बन कर तैयार हो गया तो वहाँ उसने एक महोत्सव के आयोजन की घोषणा करवाई। उस महोत्सव में भाग लेने के लिए उन ४६६ रानियों और उनके समस्त पीहर वालों को भी आमंत्रित किया गया। खूब धूम-धाम से महोत्सव सम्पन्न हुआ। रात हुई। जब सभी निद्रामग्न हो गए, तब उस लाक्षागृह में चुपचाप आग लगवा दी गयी। देखते ही देखते वह महल धू-धू करके जलने लगा। उसमें सोई हुई ४६६ रानियाँ तथा उनके सभी पीहर वाले जलकर भस्म हो गये।

देखिए, मोह और ईर्ष्या के प्रकोप का कितना भयंकर परिणाम आया! राजा सिंहसेन और सोमारानी ने इस रौद्रध्यान के फलस्वरूप बुद्धिभ्रष्ट होकर कितने भयंकर पापकर्म बाँधे!

यही हाल लोभ, मद, मत्सर, ईर्ष्या, अहंकार आदि मनोविकारों के कुपित होने का है। इन सबके कुपित होने पर बुद्धि भ्रष्ट हो ही जाती है, जिसके कारण अपना और दूसरों का भी सर्वनाश हो जाता है।

बन्धुओ! इसीलिए गौतम महर्षि ने कुपित जीवन से सावधान करते हुए कहा है—

'चएइ बुद्धी कुवियं मणुस्सं।'

आप भी इन क्रोधादि मनोविकारों को कुपित होने से बचाइए और अपना जीवन शान्त और स्वस्थ बनाइए।

३७

अरुचि वाले को परमार्थ-कथन : विलाप

धर्मप्रेमी वन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष एक महत्वपूर्ण सत्य का उद्घाटन करना चाहता हूँ, जिसका साधकजीवन के हर मोड़ पर ध्यान रखना आवश्यक है। गौतम कुलक का यह इकत्तीसवां जीवनसूत्र है। इसमें एक सत्य का निदश महर्षि गौतम ने किया है—

'अरोइ अत्यं कहिए विलावो'

'जिसकी अरुचि है, उसे परमार्थ कहना विलाप है।'

वक्ताओं की बाढ़

आज तो संसार में प्राय: वक्ताओं की वाढ़-सी आ गई है। भारतवर्ष में तो आपको गली-गली में दार्शनिक और उपदेश देने वाले, तत्त्वज्ञान वघारने वाले, बिना पूछे सलाह देने वाले, अपने परिवार में सदस्यों को जवरन तत्त्वज्ञान की घुंटी पिलाने वाले, समाज में लालवुझक्कड़ वनकर परमार्थ, वेदान्त एवं निश्चयनय की ऊँची-ऊँची वातें कहने वाले मिल जाएँगे। परन्तु दुर्भाग्य है कि वे वक्ता या उपदेशक अथवा सलाहकार अपने श्रोताओं की परख नहीं करते, अपने श्रोताओं की भूमिका को नहीं देखते, अपने श्रोताओं की रुचि-अरुचि की जाँच पड़ताल नहीं करते और धड़ल्ले से उपदेशवर्षा, परामर्श की वृष्टि और परमार्थ कथन की धारा वहाते रहते हैं। जिसका नतीजा यह होता है कि उन वक्ताओं या उपदेशकों अथवा उन परामर्शकों के प्रति लोकश्रद्धा का ह्रास होता जाता है। उनके उपदेशों के अनुसार न चल सकने के कारण उन श्रोताओं को यथेष्ट लाभ, पर्याप्त सन्तोष नहीं होता, जिससे वे उनके विरोधी बन जाते हैं। ऐसे श्रोताओं पर उन वक्ताओं की उपदेशधारा का कोई असर नहीं होता। इस विषय में मुझे मुद्गशैल का एक शास्त्रीय उदाहरण याद आ रहा है—

गोष्पद नामक वन में एक बहुत ही छोटा-सा पर्वत था, जिसका नाम था—मुद्गशैल। एक था पुष्करावर्त महामेघ, जो बहुत ही लम्बा-चौड़ा था। कहते हैं, उस का फैलाव जम्बूद्वीप के बराबर होता है।

एक कलहप्रिय व्यक्ति इन दोनों को लड़ा-भिड़ाकर तमाशा देखना चाहता

था। अपने स्वभावानुसार वह पहले मुद्गशैल के पास आकर कहने लगा—"भाई मुद्गशैल ! दुनिया के लोग बड़े ईर्ष्यालु हैं। वे किसी की महिमा सुन नहीं सकते। एक दिन की बात है, मैंने कतिपय व्यक्तियों के सामने तुम्हारी प्रशंसा की कि मुद्गशैल छोटा-सा पर्वत होते हुए भी बहुत सुदृढ़ है, वज्रदेही है, उस पर कितना ही पानी क्यों न पड़े, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता। बड़े-बड़े पहाड़ टूट-टूटकर गिर पड़ते हैं लेकिन वह सदा अखण्ड रहता है।" मेरे द्वारा इस प्रकार की गई प्रशंसा पुस्करावर्त मेघ को सहन न हुई। उसके अहंकार पर चोट लगी। फलतः अपने मुंह मियाँ-मिट्ठू बनते हुए उसने कहा— "अरे ! उस मुद्गशैल की क्या औकात है, मेरे सामने टिकने की ? वह तुच्छ पहाड़ तो मेरी एक धारा को भी नहीं सह सकता। मैंने तो बड़े-बड़े पर्वतों को अपनी धारा से चकनाचूर कर दिया है। तुमने मेरा सामर्थ्य अभी देखा नहीं मालूम होता है।"

उसकी बात सुनते-सुनते मुद्गशैल आक्रोश से भर उठा। वह तमककर बोला —"देखोजी ! पुष्करावर्त मेरे सामने उपस्थित नहीं है। अतएव अधिक कुछ कहना व्यर्थ है। इतना अवश्य कहूँगा कि यदि पुष्करावर्त सात दिन तक लगातार पानी बरसाता रहे, सारी धरती जलमग्न करदे किन्तु यदि वह मेरा तिलतुप मात्र भी बिगाड़ दे तो मैं अपना नाम बदल दूँगा।"

कलहप्रिय व्यक्ति वहाँ से चलकर पुष्करावर्त के पास आया। उसके सामने अपनी ओर से नमक-मिर्च लगाकर मुद्गशैल के घमंड की बात कह डाली और उसका क्रोध भड़का दिया। पुष्करावर्त मेघ ने रोष में आकर सात दिन तक निरन्तर जलधारा प्रवाहित की। उसके बाद खुश होकर मन ही मन सोचने लगा—"अब तो उस घमंडी का नामोनिशान भी नहीं मिलेगा, वह तो गलकर टुकड़े-टुकड़े हो गया होगा।"

वर्षा बन्द हुई। सारा पानी बह गया। जमीन पुनः दिखलाई देने लगी। पुष्करावर्त मेघ उस कलहप्रिय व्यक्ति के पास गया और बोला—"बेचारे उस मुद्गशैल का तो पता लगाओ, उसकी क्या हालत होगई होगी अब ?"

दोनों मुद्गशैल के पास पहुँचे। देखा तो आश्चर्यान्वित होकर परस्पर कहने लगे—"अरे न तो इसका कोई हिस्सा टूटा है और न ही कुछ गला-सड़ा है। इस पर तो मेरी जलधारा का जरा भी प्रभाव परिलक्षित नहीं हो रहा है।"

पुष्करावर्त मेघ का अहंकार चूर-चूर हो गया।

बन्धुओ! इस संसार में अधिकतर श्रोता ऐसे होते हैं जिनकी आत्मा पर वक्ता के उपदेश, कथन या परामर्श का कोई भी असर नहीं होता। वे मुद्गशैल की तरह उनकी उपदेशवृष्टि से जरा भी नहीं भीगते। उनके मन-मस्तिष्क में वक्ता की बात जरा भी स्पर्श नहीं करती। इसीलिए संत कबीर सीधी चोट करते हैं—

कथा होय तंह श्रोता सोवै, वक्ता मूढ़ पचाया रे।
होय जहाँ कहिं स्वांग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे ॥

उपदेशकों का अविवेक

वास्तव में उपदेशक या वक्ता को उपदेश, आदेश, प्रेरणा देने या राय देने की उतावली नहीं करनी चाहिए। इस उतावली का परिणाम कभी-कभी बड़ा भयंकर आता है। पर आज हम देखते हैं कि वक्ता, उपदेशक या परिवार एवं समाज में परामर्शक श्रोताओं का हाजमा देखे बिना ही अधिक से अधिक तत्त्वज्ञान, परामर्श एवं धर्म की बातें उन्हें परोस देते हैं। जिससे उन्हें अकसर अजीर्ण और ज्ञान का अहंकार हो जाता है। वे उस ज्ञान को पचा नहीं पाते, न वे उस ज्ञान के अधिकारी ही होते हैं। उनकी भूमिका निम्न स्तर की होती है और उच्च स्तर की बातें उनके दिमाग में ठूँसने की कोशिश की जाती है। इसीलिए प्राचीनकाल में अनधिकारी को उपदेश नहीं दिया जाता था। जो अभी नीति-न्याय की प्राथमिक भूमिका पर भी आरूढ़ नहीं हुआ है, उसे ऊँची-ऊँची आध्यात्मिक एवं दार्शनिक बातें कहकर वे वक्ता अपना समय भी खराब करते हैं और उन अनधिकारी श्रोताओं की अश्रद्धा और अवज्ञा के भी पात्र बनते है। चन्दन दोहावली में ठीक ही कहा है—

बिना पात्र देना नहीं, हितकारी भी सीख।
'चन्दन' रखना इसीलिए, उदासीनता ठीक ॥

कई बार अनधिकारी को उपदेश देने पर अनर्थ-परम्परा खड़ी हो जाती है। एक रोचक दृष्टान्त मुझे याद आ रहा है, इस सम्बन्ध में—

एक धनिक ने सस्ती वाहवाही लूटने के विचार से एक पण्डितजी से अपने यहाँ महाभारत की कथा करवाई। कथा कीर्तन में उसकी कोई श्रद्धा नहीं थी, परन्तु जनता की दृष्टि में धर्मात्मा कहलाने की लालसा थी। कथा के समय सेठ, सेठानी, दोनों पुत्र तथा पुत्री सबसे आगे की पंक्ति में बैठते थे। महाभारत की कथा समाप्त हुई। कथा-समाप्ति पर पण्डितजी ने सबके सामने ही सेठसाहब से पूछा—"क्यों सेठसाहब ? महाभारत से आपने क्या शिक्षा ली ?"

सेठ निःश्वास फेंकते हुए बोला—"महाभारत सुनकर मुझे रह-रह कर यही चिन्ता सता रही है, कि मैंने अपना सारा जीवन यों ही बिता दिया। महाभारत सुनने की बहुत देर से सूझी।"

सेठ की बात से लोगों में बहुत कुतूहल छा गया। लोग समझ नहीं पाए कि इनमें इतनी धार्मिक रुचि कब से जाग गई ? बात का तार खोलते हुए सेठ ने कहा—"महाराज आपने सुनाया था कि दुर्योधन अपने भाई पाण्डवों से लड़ता-लड़ता मर गया, मगर उन्हें राज्य का हिस्सा नहीं दिया। दयानिधान ! अगर मैं पहले सुन लेता तो मैं अपने भाई को सम्पत्ति का हिस्सा क्यों देता ? लेकिन अब क्या हो सकता है ?"

सेठानी भी कब चूकने वाली थी ! उसने कहा—"सेठसाहब ! सही फरमा रहे हैं। मैं भी यदि महाभारत पहले से सुन लेती और जान लेती कि पांच पति कर लेने पर भी द्रौपदी सती कहलाई तो मैं भी ऐसा सुनहरा मौका क्यों चूकती ?"

सुनने वाले मन ही मन हँस रहे थे। पण्डितजी के तो होश ही गुम थे। इतने में सेठ का पुत्र बोला—"गुरुवर ! मैंने भी आपका महाभारत बहुत ही मनोयोगपूर्वक सुना है। सुनकर यही निर्णय किया है कि मुझे जल्दी से जल्दी अर्जुन बनना है। जो अर्जुन भीष्म जैसे पितामह, द्रोणाचार्य जैसे गुरु, महारथी कर्ण जैसे सहोदर, शल्य जैसे मामा और दुर्योधन जैसे सारे भाइयों को मौत के घाट उतारकर भी भक्त-राज कहलाया, तब फिर मैं भक्तराज बनने में पीछे क्यों रहूँ ? पिताजी-माताजी को तो अफसोस है, देर से महाभारत सुनने का पर मेरे सामने तो अभी समय है……।"

दूसरे पुत्र ने कहा—भाई की तरह मेरा भी श्रीकृष्ण बनने का विचार है। उन्होंने सब महारथियों को छलबल से मार गिराया, फिर भी कर्मयोगी कहलाए। बस, अधिक क्या कहूँ, मेरा तो वैसा ही कुछ बनने का विचार है……।"

पिता, माता एवं दोनों भाइयों की बात सुनकर पुत्री ने कुन्ती बनने का विचार प्रगट किया।

पण्डितजी अपने श्रोताओं की बात सुनकर माथा ठोककर रह गए। सोचा—श्रोता तो बड़े अच्छे मिले…)…!

वस्तुतः उपदेशक या वक्ता पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है कि वह उपदेश में बड़ी सावधानी बरते। अन्यथा कभी लेने के देने पड़ सकते हैं। कबीरजी ने तो स्पष्ट कह दिया है—

मूरख को समझावतां, ज्ञान गाँठ को जाय।
कोयला होई न ऊजरो, नौ मन साबुन लाय ॥)

मगध सम्राट् श्रेणिक को नरक का बन्धन काटने के लिए भगवान महावीर ने ४ उपाय बताये थे, उनमें से एक उपाय यह था कि "अगर तुम्हारे नगर का काल सौकरिक कसाई, जो प्रतिदिन ५०० भैंसों का वध करता है, वध करना बन्द कर दे।"

श्रेणिक राजा को आशा की किरण मिल गई। उसने काल सौकरिक को बुलाकर बहुत समझाया, उस पर दण्डशक्ति का दबाव भी डाला, उसे कैद में भी डाल दिया गया, उसके हाथ-पैर बांधकर औंधा भी लटकाया गया, ताकि वह जीवहिंसा बन्द कर दे, किन्तु इतना करने के बावजूद भी वह मन से जीववध करने से न रुका। श्रेणिक का उसे समझाना-बुझाना, उपदेश और परामर्श देना व्यर्थ गया, एक प्रकार से अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ। यही हाल कपिला दासी के हाथ से दान दिलाने के सम्बन्ध में हुआ। वह भी कितना ही समझाने पर भी अपने कुसंस्कारों का त्याग न कर सकी। यही कारण है कि प्राचीनकाल में अनधिकारी को उपदेश देना निरर्थक प्रलाप समझा जाता था। मंत्र भी गुप्त रखे जाते थे। आध्यात्मिक ज्ञान के स्रोत

उपनिषद् भी अपने नाम को सार्थक करते थे। वे भी योग्य व्यक्तियों को एकान्त में ही सुनाये-समझाये जाते थे। राजस्थान के महाकवि बिहारी ने तीन दोहों में अन्योक्ति द्वारा इस बात को भलीभाँति समझाया है—

कर लै सूँघि सराहि कै, सबै रहे गहि मौन।
गंधी अंध गुलाब को, गंवई गाहक कौन?

एक गंधी गुलाब का इत्र लेकर एक गाँव में पहुँचा। वहाँ उसे एक बुद्धिमान मनुष्य मिला, उसने गंधी से कहा—"अरे भाई! यहाँ गाँव में तेरे गुलाब के इत्र का ग्राहक कौन होगा? यहाँ तो तेरे इत्र को सूँघ लेंगे, कुछ मुफ्त में लगाकर उसकी सराहना कर देंगे। पर खरीदने के मामले में सब चुप हो जाएँगे।"

अरे हंस या नगर में, जैयो आप विचारि।
कागनि सौं जिन प्रीति करि, कोयल दई बिडारि॥

एक हंस एक नगर में जाने की तैयारी कर रहा था, तभी एक कवि ने उससे कहा—"अरे हंस! इस नगर में तुम सोच-समझकर जाना, क्योंकि यहाँ के लोग गुण-ग्राहक नहीं हैं। उन्होंने मधुरभाषिणी कोयल को तो मार भगाया है और कर्कश-भाषिणी कौव्वी से प्रीति कर रहे हैं।"

चले जाहु ह्याँ को करत, हाथिन को व्यौपार।
नहिं जानत या पुर बसत, धोबी ओड कुम्हार॥

हाथी के व्यापारी से एक चतुर ने कहा—"भाई इस नगर से चले जाओ। यहाँ हाथी का व्यापार करना कोई नहीं जानता। इस नगर में तो धोबी, ओड और कुम्हार बसते हैं।"

कितनी मार्मिक बात कह दी है कवि ने! उपदेशक या वक्ता को इन अन्योक्तियों से महती प्रेरणा मिलती है कि वे अपना बहुमूल्य तत्त्वज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान या परमार्थ का बोध चाहे जिसके सामने न बघारें, योग्यता और पात्रता देखकर ही वे अपनी ज्ञाननिधि दूसरों को दें।

कभी-कभी ऐसे अयोग्य श्रोताओं को कथा सुनाने से वे कुछ का कुछ समझ बैठते हैं। पूरा अर्थ उनके दिमाग में नहीं आता, वे वक्ता को भी बदनाम कर बैठते हैं।

कहते हैं एक बार धर्मग्रन्थों के बड़े-बड़े गट्ठरों को देखकर भगवान ने निःश्वास फैंकते हुए कहा—"हाय! मेरा उपदेश भूखों और बीमारों के काम न आया। काम तो उनके आ रहा है, जिनका पेशा ही उपदेश देना हो गया है। जिनकी आजीविका ही उपदेशों के आधार पर चलती है। कुछ वक्ता तो इतने भाषण-रोगी हो गये हैं कि वे वाणी की सार्थकता इसी में मानते हैं कि बेभान होकर श्रोता के आगे

चाहें जितना ही उगल डालें। ऐसे भाषणवीरों को ही दृष्टि में रखकर भगवान महावीर ने कहा था—

"वायावीरियमेत्तेण समासासेंति अप्पयं।"

'बहुत से लोग वाणी की शूरवीरता मात्र से अपने आप को सन्तुष्ट कर लेते हैं।'

ऐसे ही एक रामायण के कथावाचक थे। सम्पूर्ण रामायण सुना चुकने के बाद जब शंका-समाधान का अवसर आया तो चट् से एक श्रोता ने पूछ ही लिया—"महाराज! आप जैसे कथाकार विरले ही होते हैं। कितने सुन्दर ढंग से आपने रामचरित सुनाया। आपने सब को समझाने के लिए बहुत ही सरल शब्दों में विवेचन किया, लेकिन एक शंका मेरे दिमाग को कचोट रही है कि आखिर राम और रावण इन दोनों में राक्षस कौन था?"

यह सुनकर तो कथावाचकजी भौंचक्के-से रह गए। उन्हें क्या पता कि ऐसे भी अयोग्य श्रोता होते हैं। अतः कथावाचकजी अपने को संयत करते हुए बोले—"आपकी जिज्ञासा का समाधान तो मेरी समझ में यही आता है कि राम और रावण दोनों में कोई राक्षस न था। राक्षस तो वास्तव में हम और तुम हैं, क्योंकि तुम ठहरे निरे बुद्धू श्रोता और हम बकवादी कथावाचक!"

उपदेशक या वक्ता कैसे हों?

वास्तव में ऐसे भाषणरोगी या उदम्भरी कथावाचक श्रोताओं की योग्यता-अयोग्यता की परवाह नहीं करते हैं। उन्हें तो अपने पेशे से मतलब है। अथवा ऐसे उपदेशक या वक्ता भी कोई परवाह नहीं करते, जो अपनी वक्तृत्वकला के जादू द्वारा लोगों को रिझाकर या लोगों को प्रभावित करके प्रसिद्ध वक्ता आदि पद, प्रतिष्ठा या वाहवाही प्राप्त करना चाहते हैं। पाश्चात्य विचारक सेल्डन (Seldon) ने इसी बात की ओर संकेत किया है—

"First, in your sermons, use your logic and then your rhetoric. Rhetoric without logic is like a tree with leaves and blossoms, but not root."

"ऐ उपदेशको! आप अपने उपदेशों में सर्वप्रथम युक्ति और तर्क का प्रयोग करें, तदनन्तर अपनी भाषण कला दिखाएँ। बिना तर्क की भाषणकला ऐसी ही होगी जैसे बिना जड़ के केवल पत्तों और फूलों से लदा वृक्ष!'

सूत्रकृतांगसूत्र में धर्मोपदेशक की योग्यता के विषय में कहा गया है—

आयगुत्ते सयादंते छिन्नसोए अणासवे।
ते धम्मं सुद्धमाइक्खंति पडिपुण्णमणेलिसं॥

"जो प्रतिक्षण अपनी आत्मा की रक्षा (पापों एवं बुराइयों से) करते हैं, सदा

दान्त हैं, जिन्होंने पापों के स्रोतों को काट दिया है, जो आस्रव-रहित हैं, वे ही शुद्ध परिपूर्ण अतुलनीय धर्म का उपदेश दे सकते हैं।"

इसके अतिरिक्त जिस वक्ता में दूसरों के दोष देखने, दूसरों को नीचा दिखाने या कठोर मर्मस्पर्शी अपशब्द कहने की वृत्ति न हो, जिसकी वाणी में मधुरता, सरसता हो, जिसकी दृष्टि अनेकान्तवाद-सापेक्षवाद से ओत-प्रोत हो, किसी पर कटाक्ष या पक्षपात करने की दृष्टि न हो, जिसकी वाणी में अनुचित छींटाकशी से परहेज हो, निःस्पृहता हो, दूसरों का मन मोह लेने की क्षमता हो, जिसके हृदय में आत्मीयता, सहृदयता एवं सहानुभूति हो, आश्वासन और उत्साह जगाने वाला सन्देश हो, वही वक्ता श्रोताओं पर अपनी वाणी का चिरस्थायी प्रभाव डाल सकता है। मार्टिन लूथर ने उपदेशक की योग्यता के सम्बन्ध में सुन्दर बातें कही हैं—

"The defects of a preacher are soon spied. Let him be endued with ten virtues and have but one fault and one fault will eclipse and darken all his virtues and gifts, so evil is the world in these times."

"उपदेशक के दोष शीघ्र ही प्रगट हो जाते हैं। इसलिए उसे दस गुणों से तो सम्पन्न होना चाहिए मगर दुर्गुण या दोष एक भी न होना चाहिए। एक भी दोष चन्द्रग्रहण के समान लग गया तो उसके तमाम गुणों और क्षमताओं को अन्धकारावृत कर देगा। इन दिनों संसार ऐसा ही बुरा है।"

अतः उपदेशक को बहुत ही सतर्क होकर अपनी उपदेशधारा बहानी चाहिए। बाबा दीनदयाल गिरि ने बादल के बहाने उपदेशक को प्रेरणा दी है—

बरखै कहा पयोद इत, मानि मोद मन मांहि।
यह तो ऊसर भूमि है, अंकुर जमिहै नांहि॥
अंकुर जमिहै नांहि, बरष सत जो जल दैहै।
गरजै-तरजै कहा, वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल, न ठौर-कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना, बलाहक ह्यां तू बरखै॥

एक बादल को लक्ष्य करके कवि कहता है—अरे बादल! तेरे पास विपुल जल सम्पदा है इसलिए मन में प्रमुदित होकर क्यों यहाँ बरस रहा है। यहाँ तो ऊसर भूमि है, जहाँ एक भी अंकुर पैदा नहीं होगा चाहे तू सैकड़ों वर्षों तक जल बरसाता रहे। और फिर तू यहाँ व्यर्थ गर्जन-तर्जन भी क्यों कर रहा है? तेरा यह श्रम भी व्यर्थ जाएगा। अरे बादल! तू उचित और अनुचित स्थान को भी नहीं देखता, फिर बिना ही गाहक के नाहक तू क्यों यहाँ बरसता है?

वस्तुतः नीतिवाक्यामृत के अनुसार "असमय में कहना ऊसर में बीज डालने के बराबर है।"[1]

वक्ता को अपनी बात बहुत ही संक्षेप और थोड़े ही समय में कहने का अभ्यास होना चाहिए। घंटों गला फाड़ने से और अप्रासंगिक बातों को लाकर व्याख्यान या उपदेश को लम्बा करने से न तो श्रोताओं के पल्ले ही कुछ पड़ता है, न श्रोताओं पर कुछ प्रभाव ही। वे भी भाषण सुनने के आदी हो जाते हैं। 'बिशप बर्नेट' ने उपदेश की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कहा था—"वह उपदेश उत्तम नहीं, जिसे सुनकर श्रोता लोग बातें करते एवं वक्ता की तारीफ करते जाएँ, बल्कि उत्तम तो वह उपदेश है, जिसे सुनकर वे विचारपूर्ण एवं गम्भीर होकर जाएँ, तथा उस पर मनन के लिए एकान्तवास की तलाश करें।" आजकल के उपदेशकों की आलोचना करते हुए पाश्चात्य उपदेशक "अलजर' ने कहा है—"हम उपदेश देते हैं—टनभर, श्रोता सुनते हैं—मनभर और ग्रहण करते हैं—कणभर।"

जो उपदेशक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पात्र और परिस्थिति न देखकर अयोग्य श्रोताओं के सामने ऊँची-ऊँची दर्शन और अध्यात्म की बातें क्लिष्ट और दुरूह भाषा में परोसता है, वह उनकी दृष्टि में अपनी तौहीन कराता है, श्रोता लोग ऊबकर उसे ही गालियाँ देने लगते हैं; इसके विपरीत प्रसंगवश सीधी सरल भाषा में कही हुई बात श्रोताओं के गले उतर जाती है और वे उसे ग्रहण भी कर लेते हैं, उस वक्ता की भी प्रशंसा करते हैं, जो उन्हें कठिन बात को सरल भाषा में समझा देता है।

कुमुदचन्द्र नाम के विद्वान जो बाद में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर नाम से जैन जगत् में विख्यात हुए, दिग्विजय के लिए भारत भर में घूम रहे थे। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान उनसे पराजित हो गए। एक जैनाचार्य वृद्धवादी उन्हें जंगल में मिले। नाम आदि का परिचय पाकर कुमुदचन्द्र ने उन्हें चर्चा (शास्त्रार्थ) के लिए आह्वान किया। वृद्धवादी आचार्य ने पूछा—"मध्यस्थ कौन होगा, जो जय-पराजय का निर्णय दे सके?" कुमुदचन्द्र ने उत्तर दिया—"अजपाल (भेड़-बकरियाँ चराने वाले) ही यहाँ मध्यस्थ होंगे।"

शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम विद्वान कुमुदचन्द्र लगभग २०-२५ मिनट तक धाराप्रवाह संस्कृत में बोलते रहे। उनकी बात चरवाहों के कुछ भी पल्ले नहीं पड़ी, अतः उन्होंने उन्हें रोककर वृद्धवादी आचार्य को बोलने के लिए कहा। देश-काल-पात्रज्ञ आचार्य ने एक पद्य चरवाहों की सरल भाषा में सुनाया—

काली कांबल अरणीसट्ठ, छाछे भरियो दीवड़ मट्ठ।
एवड़ पड़ियो नीले झाड़, अवर किसो है स्वर्ग दिचार॥

अर्थात् जिनके पास ओढ़ने के लिए काला कम्बल है, आग जलाने के लिए

---

१ अकाले विज्ञप्तं ऊषरे कृष्टमिव —नीतिवाक्यामृत ११/२६

अरणी की लकड़ी है, भूख-प्यास मिटाने के लिए छाछ से भरी दीवड़ी है, और जिनका एवड़ (भेड़-बकरियों का दल) हरे-भरे जंगल में छायादार पेड़ के नीचे विश्राम कर रहा है, ऐसे अजपाल वस्तुतः स्वर्ग का सा आनन्द ले रहे हैं, क्योंकि इनके लिए इससे बढ़कर स्वर्ग और क्या हो सकता है ?

यह सुनकर सारे अजपाल खुश हो गए और वृद्धवादी आचार्य को विजयी घोषित कर दिया।

सचमुच वृद्धवादी आचार्य की विजय का कारण देश, काल और पात्रादि देखकर अपना वक्तव्य प्रस्तुत करना ही था। इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक ह्वाइटफिल्ड (Whitefield) ने लम्बे अप्रासंगिक भाषणों की ओर तीखा कटाक्ष करते हुए कहा है—

"To preach half an hour, a man should be an angel himself or have angels for hearers."

"आधे घंटे से ज्यादा उपदेश देने के लिए मनुष्य को या तो स्वयं फरिश्ता बनना चाहिए या फिर सुनने के लिए श्रोता फरिश्ते रखने चाहिये।'

उपदेशक को यह भी ध्यान में रखना होगा कि जिसके विषय में वह उपदेश दे रहा है, वह उसके अपने जीवन में भी उतरा है या नहीं ? इसलिए बुद्धिमान महामानवों की राय है कि **'कहो कम, करो ज्यादा'**। कहने की अपेक्षा करने का महत्त्व ज्यादा है। सौ बार कहने से एक बार करना सौगुना अच्छा है। जो भी कहना हो, वह अभिमान या पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिए नहीं, बल्कि श्रोता को उसके हित की, बन्धनमुक्ति की बात आसानी से हृदयंगम कराने के लिए कहने से उपदेशक के प्रति श्रद्धा और आदरभाव बने रहते हैं। तब उसके कहने का भी प्रभाव पड़ता है।

श्रोताओं को समझाकर कहने का प्रभाव

कई बार परामर्शक को अपने श्रोताओं को शुभ कार्य को प्रवृत्त करने तथा 'उस कार्य को गहरी दिलचस्पी से करने के लिए उस कार्य का महत्त्व, उससे होने वाले सार्वजनिक हित एवं लाभ के पहलू भी समझाने पड़ते हैं। तभी उस परामर्शक की बातों का श्रोताओं पर झटपट असर पड़ता है।

एक बार भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू दामोदर घाटी परियोजना में चल रहे कार्य का निरीक्षण करने गये। उन्होंने वहाँ एक जगह मिट्टी ढोते हुए हजारों मजदूरों को देखा। उन्होंने लगभग २०० मजदूरों को वहीं एकत्रित किया और उनके साथ वे स्वयं भी बैठ गये। फिर नेहरूजी ने उनसे पूछा—"तुम लोग क्या कर रहे हो ?"

मजदूरों का उत्तर था—"हम मिट्टी ढो रहे हैं।"

"क्यों ?"

"यह हमें नहीं मालूम।" मजदूरों ने कहा।

तब नेहरूजी ने दामोदर घाटी परियोजना को संक्षेप में समझाते हुए देश के लिए उसका महत्त्व बताया। साथ ही नेहरूजी ने उन्हें समझाया कि केवल दिनभर मजदूरी करके शाम को पैसे लेकर घर चले जाना और सिर्फ अपने एक परिवार का पोषण कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् इस योजना को दिलचस्पी और राष्ट्रभक्ति की भावना के साथ पूर्ण करने में सबको अपना महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा करना है। इस योजना के पूर्ण हो जाने पर उनके तथा देश के लाखों-करोड़ों परिवारों को भी लाभ होने वाला है।

कहना न होगा कि मजदूर नेहरूजी के संक्षिप्त भाषण से अत्यधिक प्रभावित हुए। वे समझ गये कि "इस शानदार योजना से उनका ही नहीं, सारे देश का सम्बन्ध है।" एक पत्रकार ने जब नेहरूजी से यह पूछा कि आपने इन मजदूरों का इतना समय खराब करके क्या लाभ उठा लिया? उन्होंने शान्तभाव से उत्तर दिया—"यदि हमारे देश के इंजीनियर इस प्रकार की तमाम बातें समय-समय पर श्रमिकवर्ग को समझा दिया करें तो वे खुशी-खुशी और सूझबूझ के साथ उस कार्य में रुचि लेने लगें और अपना ही कार्य समझ कर उसे पूरा करें।"

बन्धुओ! क्या उपदेशक, वक्ता या परामर्शक को अपने श्रोताओं को समझाने के लिए तथा उन्हें नीति, धर्म और अध्यात्म की बातों में दिलचस्पी लेने के लिए तैयार नहीं करना चाहिए? एक पाश्चात्य विचारक मेसिलोन (Massillon) ने स्पष्ट कह दिया है—

"I love a serious preacher, who speaks for my sake, and not for his own; who seeks my salvation and not for his own vain glory."

'मुझे वह गम्भीर उपदेशक प्रिय है, जो मेरे लिए बोलता है, न कि अपने लिए; जिसे मेरी मुक्ति वांछनीय है, न कि अपनी थोथी शान।'

उपदेश के योग्य पात्र कौन, अपात्र कौन?

इसीलिए महर्षि गौतम ने इसी बात की ओर संकेत किया है कि शिक्षा, उपदेश, प्रेरणा, सुझाव या सलाह किसको देनी चाहिए, किनको नहीं? इस बात का पर्याप्त विवेक उपदेशक या परामर्शक वक्ता में होना चाहिए। एक साधक कवि ने इस सम्बन्ध में अपने भजन में पर्याप्त प्रकाश डाला है—

[1]शिक्षा के लिए जी, तुम अपने को पात्र बनाओ।
फिर जग के लिए जी, देखो, कितने प्रिय बन जाओ? ॥ध्रुव॥

---

१. तर्ज—समय के फेर से ही⋯⋯।

जलद एक ही सभी ठौर पर, एक-सा जल बरसाता।
सीप, सरोज, समुद्र, तवे पर, वह फिर अन्तर पाता ।। शिक्षा……
शिक्षक-जलधर सीप पात्र ले शिक्षा-बूँद गिराता।
मोती बनकर वह औरों की कितनी शान बढ़ाता ? शिक्षा……
ग्राहक एक सरोज बना, वह कुछ भी नहीं ले पाता।
सिर्फ प्रशंसक गुण का बनकर, उसकी आव बढ़ाता ।। शिक्षा……
एक सिन्धु-सा शिक्षा ग्राहक, उसमें दोष मिलाता।
भली बात को बुरा रूप दे, औरों को भरमाता ।। शिक्षा……
तप्त तवे का साथी, वह जो, अपना गाना गाता।
शिक्षा की प्रत्येक बात का खण्डन करता जाता ।। शिक्षा……
प्रथम पात्र बन जाता वह तो, उत्तम है कहलाता।
दूजा मध्यम, शेष अधम की श्रेणी में है आता ।। शिक्षा……

उपदेश या शिक्षा के प्रति विविध पात्रों को परखने का कितना सुन्दर गुर कवि ने बतला दिया है। सच्चा उपदेशक या परामर्शक इस प्रकार देश, काल, पात्र, परिस्थिति और अवसर आदि देखकर चलता है, जहाँ देश, काल या पात्र आदि समुचित नहीं जान पड़ते, वहाँ मौन रहता है, किन्तु व्यर्थ ही सांसारिक वासनाओं या इच्छाओं को श्रोताओं में उभाड़ने का प्रयत्न नहीं करता। पाश्चात्य विचारक गाउलबर्न (Goulburn) ने बहुत ही मार्के की बात कह दी है—

"Send your audience away with a desire for worldly affairs, and an impulse toward spiritual improvement or your preaching will be a failure."

'ऐ उपदेशको ! अपने श्रोताओं को सांसारिक वासनाओं से दूर हटाओ और आध्यात्मिक प्रगति की ओर जोर दो, अन्यथा तुम्हारा उपदेश असफल होगा।'

अरुचि क्या, रुचि क्या ?

महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र द्वारा जब यह बता दिया कि जो व्यक्ति अरुचिवान है, उसे परमार्थ का बोध कहना विलाप है, तब यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि जो अरुचिवान है, वह उपदेश या परमार्थबोध के योग्य पात्र नहीं है।

अब प्रश्न यह होता है कि वह अरुचि क्या है, जिसका स्पर्श पाकर व्यक्ति परमार्थबोध के लायक नहीं रहता ?

इसके लिए सर्वप्रथम रुचि का स्वरूप समझ लेना होगा। रुचि का स्वरूप समझ लेने पर आपको अरुचि का स्वरूप शीघ्र ही ज्ञात हो जाएगा; क्योंकि रुचि से विपरीत ही अरुचि है।

सामान्यतया रुचि का अर्थ—दिलचस्पी, उत्कण्ठा, उत्सुकता या अभिलाषा होता है। इसके अतिरिक्त रुचि के ये अर्थ भी जैनशास्त्रों की टीकाओं में मिलते हैं—प्रीति, चित्त का अभिप्राय, दृष्टि, श्रद्धा, प्रतीति, निश्चय, आत्मा का परिणाम-विशेष, परमश्रद्धा, तत्त्वार्थों के विषय में तन्मयता, सात्म्य एवं नैर्मल्य आदि।[1]

रुचि ही वास्तव में उपदेश या बोध के योग्य पात्रता की पहिचान है। जिस व्यक्ति की जिस विषय में रुचि होगी, वह उस विषय में सुनने के लिए उद्यत होगा; चाहे भूख-प्यास लगी हो, नींद आती हो, शरीर में पीड़ा या व्याधि भी हो।

आप कह सकते हैं कि वर्तमान में प्रायः युवकों की रुचि तो चलचित्रों के देखने में, नाचरंग में, ऐश-आराम में अथवा सांसारिक विषयभोगों में है, तब क्या हम उन्हें उपदेश या बोध के पात्र कह सकते हैं? कदापि नहीं। क्योंकि यहाँ परमार्थबोध या तत्त्वज्ञान-विषयक रुचि का प्रसंग चल रहा है, इसलिए सांसारिक पदार्थों की रुचि यहाँ बिलकुल अभीष्ट नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक जगत् में सांसारिक पदार्थों, काम, क्रोध, लोभादि में या विषय-भोगों में रुचि को अरुचि कहा है।

सांसारिक पदार्थों में रुचियाँ अनेक प्रकार की हैं, इसीलिए **भिन्नरुचिर्हि लोकः** (जगत् विभिन्न रुचियों वाला है) कहकर जगत के प्राणियों की रुचियों को समुद्र की लहरों या आकाश के समान अनन्त बताया है और उन्हें पकड़ पाना या उनकी पूर्ति कर पाना असम्भव बताया गया है।

रुचि का मोड़ अच्छाई-बुराई दोनों ओर

यह सत्य है कि आजकल लोकरुचि रागरंग और नाटक-सिनेमा आदि में अधिक है। इसलिए रुचि तो रुचि है, यह अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं होती, इस पर जिसका रंग चढ़ा दिया जाए, उधर ही यह मुड़ जाती है। एक पाश्चात्य विचारक रोचीफाउकोल्ड (Rochefoucauld) ने ठीक ही कहा है—

"The virtues and vices are all put in motion by interests."

"सद्गुण और दुर्गुण तमाम रुचि के द्वारा गतिमान किये जाते हैं।"

रुचि को जिधर भी मोड़ दिया जाए, जिस तरफ उसकी नकेल घुमा दी जाए, उसी तरफ वह गति करने लगती है। अगर अच्छाई की ओर मोड़ दिया जाए तो वह

---

१ (क) रुचिः—उत्कण्ठायाम् —दे० ना० वर्ग ७, गा० ८
(ख) रुचिः—परमश्रद्धायां, आत्मनः परिणामविशेषरूपे—बृहत्कल्पसूत्र, उ० १ प्र०
(ग) रुचिः—चेतोऽभिप्राये —सूत्र० श्रु० १
(घ) अभिलाषरूपे —स्थानांगसूत्र १०
(ङ) प्रीतौ —आवश्यक
(च) रुचिः—नैर्मल्ये —उत्तराध्ययन १ अ०
(छ) श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमित्थमेवेति —द्रव्यसंग्रह टीका
(ज) सात्म्यं रुचिः तत्त्वार्थविषये तन्मयत्वम्:

उधर मुड़ सकती है और बुराई की ओर मोड़ा जाए तो उधर भी। इसीलिए पश्चिमी विचारक ब्यूमोंट (Beaumont) कहते हैं—

"Interest makes some people blind, and others quicksighted."

"रुचि कुछ व्यक्तियों को अन्धे बना देती है, और अन्य व्यक्तियों को तेज दृष्टि वाले।"

यह तो रुचिवान पर या रुचि जगाने वालों पर प्रायः निर्भर है कि वे रुचि को किस ओर घुमाते हैं। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करना उचित होगा—

एक गाँव में पं० शामलभट आये। वे प्रतिदिन भागवत्कथा करने लगे। भटजी की वाणी में बहुत ही माधुर्य और रसिकता थी, इसलिए श्रोतागण दिन-पर-दिन बरसाती नदी की भाँति उमड़ने लगे। रात्रि में देर तक कथा चलती। लोग कथा समाप्ति पर भटजी की उपदेश शैली की प्रशंसा करके बिखर जाते। एक दिन कथा का समय हो गया था, लेकिन श्रोतागण सिर्फ २०-२५ ही आये थे। भटजी को आश्चर्य हुआ कि रोज तो सैकड़ों की संख्या में कथारसिक लोग आते थे, आज २०-२५ ही क्यों? काफी समय तक प्रतीक्षा करने के बाद उन्होंने लोगों से पूछा—"क्या आज गाँव में कोई उत्सव है या और कोई विशेष बात है?"

एक भावुक श्रोता ने कहा—"कृपानिधान! उत्सव आदि तो कुछ नहीं है, परन्तु गाँव के उस चौराहे पर भवैये (नाटक मंडली वाले) आये हुए हैं, प्रायः ग्राम्य जनता उस ओर उमड़ पड़ी है।"

उस रात को भटजी ने भागवत कथा तो की, लेकिन अनमने-से होकर। कथा के बाद उन्हें रात भर नींद नहीं आई। सुबह होते ही भटजी नहा-धोकर सन्ध्या-पूजा करके भवैयों के डेरे पर जा पहुँचे। भवैयों ने भटजी का सत्कार किया। भटजी ने सीधी बात कही—"मेरी कथा में आजकल लोग आने बंद हो गये हैं, सभी तुम्हारे नाटक में आते हैं।"

भवैयों का नेता बोला—"भटजी! यह तो जनता है, जिधर रुचि होती है, वहीं जाती है।"

भटजी ने पूछा—"इस गाँव में कितने दिन डेरा रहेगा तुम्हारी मण्डली का?"

भवैयों का नेता बोला—"क्यों भूखे मर रहे हैं क्या, भटजी? दो दिन का सीधा (भोजन का सामान) यहाँ से ले जाना और तीसरे दिन भागवत की पोथी बाँधकर चल धरना।"

शामल भट यह सुनकर एकदम क्षुब्ध और खिन्न होगए, परन्तु बोले कुछ नहीं। चुपचाप तेजी से पैर उठाकर अपने डेरे पर आये। भवैये भटजी को जाते देख ठहाका मारकर हँसने लगे। गाँव में भवैयों का नाटक जोर-शोर से चल पड़ा, सारा गाँव उसे देखने उमड़ता।

इधर भटजी ने मन मसोसकर कथा बन्द कर दी। भागवत को वंदन करके

बाँधकर ताक में रख दिया। थोड़े-से अरुचिवान श्रोताओं को कथा सुनाने की अपेक्षा उन्होंने चुपचाप बैठकर मनन-चिन्तन करना उचित समझा। इतिहास के पन्ने उलटते-उलटते एक दिन भटजी को ३२ पुतलियों की कथा (द्वात्रिंशत् पुत्तलिका) हाथ लगी। उन्होंने मन ही मन कुछ सोचकर निश्चय किया—"बस, ठीक है, यह कथा रसपूर्ण भी है, लोकजिह्वा पर स्थायी भी है, आध्यात्मिक पुट देकर अगर इस कथा को रसिक ढंग से कहा जाय तो जनता की रुचि इस ओर मुड़ जाएगी।" दूसरे दिन पूनम का चाँद खिला। चौराहे पर उजाले में शामल भट बैठे और अपनी बुलंद आवाज में स्वरचित बत्तीस पुतलियों की नई कथा कहने लगे। एक ने सुनकर दूसरे से, दूसरे ने तीसरे से कहा, यों धीरे-धीरे मानवमेदिनी जमने लगी। गाँव में बात फैल गई—"भटजी तो गजब की कथा करते हैं, मन होता है, सुनते ही रहें।" रात को बहुत देर तक कथा का दौर चलता। पहले दिन की अधूरी छोड़ी हुई कथा दूसरे दिन आगे चलाते. अब तो आस-पास के गाँवों के लोग भी भटजी की कथा में आने लगे। एक रात को पौ फटते-फटते कथा उठी। भटजी अपने डेरे पर आए, तब भवैयों के टोले को उन्होंने द्वार पर खड़ा देखा। भवैयों के नेता ने कहा—"भटजी! आपकी यह कथा कितने दिन चलेगी?"

भटजी बोले—"भाई! यह पहली पुतली की कथा हुई है, अभी तो ३१ पुतलियों की कथा और बाकी है। यह तो जनता है, जिधर रुचि होती है, उधर मुड़ जाती है।"

यह सुनकर भवैये निराश होगए।

जनता को अब भवैयों के नाटक में रस न था। वह अब शामलभट की कथा में आने लगी थी। अतः दूसरे दिन ही भवैये अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर गाँव छोड़कर कब चले गए, किसी को भी पता न लगा।

अतः जनता की रुचि अच्छाई की ओर भी मुड़ सकती है, बुराई की ओर भी। शामलभट की तरह यदि उपदेशकवर्ग वर्तमान युग की जनता की विपरीत मार्ग पर जाती हुई रुचि को वैज्ञानिक ढंग से आध्यात्मिक विषयों की रसप्रद व्याख्या करके मोड़े तो निःसन्देह वह मुड़ सकती है। परन्तु उपदेशक को यह तो अवश्य जानना-परखना होगा कि अमुक व्यक्ति में पैसे-दो पैसे भर भी आध्यात्मिक रुचि जगी है या नहीं? यदि मूल में एक कणभर भी आध्यात्मिक रुचि नहीं है तो उसकी उन्मार्ग (वैषयिक) रुचि को सहसा मोड़ना दुष्कर है।

अगर ऐसी स्थिति हो तो महर्षि गौतम की इस चेतावनी पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि 'अरुचिवान को तत्त्वज्ञान की बातें कहना देवार का प्रलाप है।'

सम्यक्‌रुचि का नापतौल

यही कारण है कि यहाँ इन नानाविध पदार्थों के प्रति रुचियों का तो कोई स्थान ही नहीं है, यहाँ तो आध्यात्मिक ज्ञान, तत्त्वज्ञान, परमार्थ का बोध, निजानन्द का रस, निश्चयदृष्टि आदि मौलिक एवं आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण

पदार्थों के प्रति रुचि ही उपादेय है। ऐसी रुचि ही आध्यात्मिक ज्ञान या नैतिक धार्मिक बोध के योग्य पात्र को नापने का थर्मामीटर है।

जिस व्यक्ति में आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति दिलचस्पी, लगन, जिज्ञासा तीव्रता, उत्कण्ठा, उत्सुकता या परमश्रद्धा होगी, तत्त्वज्ञान के प्रति प्रीति होगी, या सत्य के प्रति दृढ़ श्रद्धा या प्रतीति होगी; यह व्यक्ति हजार अन्य कार्यों या सांसारिक आकर्षणों को छोड़कर आध्यात्मिक बोध पाने या परमार्थज्ञान का लाभ लेने के लिए आएगा। वह बहानेबाजी नहीं करेगा कि आज तो अमुक आदमी मिलने के लिए आगया, आज तो अमुक जरूरी काम निपटाना था, आज तो मेरी तबियत ठीक नहीं थी, आज मैं सबेरे से अमुक कार्य में संलग्न था, आज मेरे अमुक सम्बन्धी का वियोग हो गया, आज मेरी अमुक चीज नष्ट होगई या उसकी चोरी होगई है आदि।

तत्त्वज्ञान का जिज्ञासु या उत्सुक श्रोता जब परिषद् में श्रोता बनकर बैठेगा, तब फिर उसकी रुचि या चित्त का आकर्षण इधर-उधर डाँवाडोल नहीं होगा। उसकी प्रतिपादन किये जाने वाले आध्यात्मिक विषय के श्रवण में इतनी तन्मयता हो जाएगी, इतनी लगन और उमंग हो जाएगी कि वह दूसरी ओर जाएगी ही नहीं। उसकी श्रद्धा भी बार-बार उसी परमार्थतत्त्व के श्रवण में होगी, सांसारिक पदार्थों एवं इन्द्रियविषय-भोगों के सम्बन्ध में श्रवण करना उसे जरा भी नहीं सुहाएगा, न उसकी दिलचस्पी या श्रद्धा उस ओर होगी। कोई कितना ही सांसारिक आकर्षणों के प्रति उसे खींचना चाहे, वह उस ओर जरा भी नहीं मुड़ेगा, उसको मोह, क्रोध, लोभादि वैकारिक दोषों से रहित अध्यात्मज्ञान के प्रति निर्मल प्रीति होगी। जिसे हम सम्यक्रुचि कह सकते हैं। ऐसी सम्यक्रुचि पर जिसे परम श्रद्धा होगी, उसकी दृष्टि भी सम्यक् होगी, उसे कदापि आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति कुशंका, फलाकांक्षा, फल में संदेह, मिथ्यारुचि या मिथ्यादृष्टि जनों की ओर झुकाव, उनकी प्रशंसा करने या प्रतिष्ठा देने की वृत्ति, उनसे अधिकाधिक सम्पर्क करके लोकश्रद्धा को विचलित करने की प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसी सम्यक्रुचि जिस व्यक्ति में पैदा हो जाती है, वह अपने धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन अपनाने से पूर्व कर्मोदयवश कष्टों के आ पड़ने पर कदापि शिकायत नहीं करेगा, न वह अपने सम्बन्धियों या किसी निमित्त को, भगवान को या काल आदि को कोसेगा, न ही वह किसी भौतिक रुचि वाले लोगों के आडम्बर और चमत्कारों की चकचौंध में पड़कर उस रुचि की ओर लुढ़केगा, या उस मिथ्यारुचि वाले व्यक्ति के दल में प्रविष्ट होगा। वह राजनैतिक लोगों की तरह दलबदलू नहीं होगा। जिसमें ऐसी सम्यक्रुचि जाग गई है, वह भौतिक रुचि वाले लोगों के द्वारा दिये जाने वाले पद, प्रतिष्ठा या सुख-सुविधाओं के प्रलोभन में नहीं फँसेगा, न वह ऐसे अश्लील, भौतिक आकर्षण या कामोत्तेजक, लालसावर्द्धक, नामना-कामनासम्पोषक साहित्य को पढ़ेगा-लिखेगा, क्योंकि उसकी रुचि ही उस मिथ्याज्ञान की ओर नहीं है।

ऐसे सम्यक्रुचि वाले व्यक्ति में ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, छलछिद्र, मोह एवं अतिलोभ की वृत्ति नहीं होगी। उसे तत्त्वज्ञान के प्रति भी द्वेष, ईर्ष्या असूया, विरोध या घृणा कतई न होगी वह तो समभावपूर्वक सम्यक्दृष्टि रखकर जहाँ से आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान मिलेगा, वहाँ से जिज्ञासा और नम्रतापूर्वक ग्रहण करेगा। यही सम्यक्रुचि प्रकट होने का लक्षण है।

ऐसी सम्यक्रुचि से सम्पन्न व्यक्तियों में जनक विदेही का उदाहरण दिया जा सकता है। याज्ञवल्क्य ऋषि की सभा में सहजानन्द, विरजानन्द आदि अनेक ऋषियों के होते हुए भी जब तक सम्यक्रुचि जनकविदेही नहीं आए, तब तक उन्होंने अपना अध्यात्मज्ञान का उपदेश प्रारम्भ नहीं किया। गर्वस्फीत ऋषियों को इस व्यवहार से अपना अपमान महसूस हुआ। वे मन ही मन याज्ञवल्क्य ऋषि के प्रति कुढ़ते ही रहे, लेकिन याज्ञवल्क्य ऋषि ने जनकजी के आने पर ही प्रवचन प्रारम्भ किया। इसी बीच दैवी माया से एक घटना घटित होगई। मिथिलानगरी तथा राजमहल अन्तःपुर आदि सब जलते हुए दिखाई दिये। सभा में जितने भी ऋषि थे, सब एक-एक करके अपनी अपनी झोंपड़ी में रखी हुई सामान्य सामग्री को बचाने हेतु उठकर चले गए, क्योंकि उनकी रुचि आध्यात्मिक ज्ञान में पक्की नहीं थी, वे भौतिक वस्तुओं के प्रति डांवाडोल होकर चले गए, मगर जनकविदेही याज्ञवल्क्य ऋषि द्वारा कहे जाने पर भी अपने स्थान से नहीं उठे, क्योंकि उनकी रुचि भौतिक नहीं थी, पक्की आध्यात्मिक रुचि थी। कुछ ही देर में सब ऋषि लज्जित होते हुए सभा में वापिस लौटे। उन्हें अब ज्ञात होगया कि हम सम्यक् (अध्यात्म) रुचि से कितने दूर हैं।

सम्यक्रुचिसम्पन्न व्यक्ति की परख कैसे की जाए? क्योंकि किसी व्यक्ति के मस्तक पर सम्यक्रुचि या मिथ्यारुचि का कोई तिलक नहीं लगा होता। कई बार व्यक्ति अत्यन्त भक्तिभाव दिखाकर अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए भी तत्त्वज्ञानी साधुओं के पास आता है। वह समझता है कि साधु के पास जाने से समाज में मेरी प्रतिष्ठा होगी, लोग मेरी प्रशंसा करेंगे, मुझे धर्मात्मा पद मिल जायगा, अथवा लोग मुझे धार्मिक समझकर व्यापार-धंधे में मेरा साझा डाल देंगे या नौकरी पर रख लेंगे अथवा अन्य कोई दुनियादारी का मतलब सिद्ध हो जाएगा।

आजकल असली के साथ-साथ नकली माल बहुत चल पड़ा है। असली मोती से बढ़कर कल्चर मोती निकले हैं जिनकी चमक असली मोतियों से ज्यादा होती है। इमीटेशन गोल्ड या नकली सोने की चमक देखने पर आप सहसा जान नहीं सकेंगे कि यह असली सोना है या नकली? असली दांत की जगह नकली दांत भी लगने लगे हैं, आदमी की असली की जगह मशीन या कम्प्यूटर लगा है, जो असली आदमी से ज्यादा और स्फूर्ति के साथ काम करता है। इसलिए इस प्रकार की शंका उठनी स्वाभाविक है कि असली रुचि और नकली रुचि वाले की परख कैसे करें?

मेरी राय में नकली की परख अन्त में एक दिन हो ही जाती है। पर

अधिक दिनों तक छिपा नहीं सकता। एक दृष्टान्त द्वारा इसे समझाने का प्रयत्न करता हूँ—

माणिक्यपुरी नाम की समृद्ध नगरी के राजा का पुत्र, नगरसेठ का पुत्र और एक गरीब युवक तीनों दिलोजान दोस्त थे। एक बार तीनों ने विचार किया कि हम संसार के प्रपंच को छोड़कर किसी विद्वान गुरु के सान्निध्य में जाकर आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करें। तदनुसार वे तीनों घरबार छोड़कर सिर्फ एक वस्त्र धारण करके घोर अरण्य में रहने वाले एक संन्यासी के पास पहुँचे। महात्मा समाधिस्थ थे। तीनों उनके ध्यान खुलने की प्रतीक्षा में बैठे रहे। काफी समय के पश्चात् जब महात्मा ने आँखें खोलीं तो उन तीनों मित्रों को देखा। सर्वप्रथम नगरसेठ के पुत्र की ओर दृष्टि करके उन्होंने पूछा—"वत्स ! तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ?" उसने उत्तर दिया—'महात्मन ! मैं माणिक्यपुरी के नगरसेठ का पुत्र हूँ, अगणित द्रव्य और कुटुम्बियों को छोड़कर आपके पास आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से आया हूँ। कृपया मुझे अपना शिष्य बनाइए।"

उसकी बात सुनकर महात्मा मुस्कराए और वही प्रश्न राजकुमार से पूछा। उसने उत्तर दिया—"महात्मन् ! मैं माणिक्यपुरी के विजयी राजा का पुत्र हूँ। हीरा, मोती, माणिक्य, दास-दासी, रत्नजटित आभूषण, वैभव सामग्री एवं कुटुम्ब आदि को छोड़कर आत्मज्ञान के लिए आपके चरणों में आया हूँ। कृपया मुझे अपना शिष्य बनाइए।"

महात्मा कुछ हँसे, फिर उस गरीब युवक से वही प्रश्न पूछा तो उसने कहा—"प्रभो ! मैं कौन हूँ ? यही जानने के लिए मैं यहाँ आया हूँ।"

महात्मा आसन से उठे और उस गरीब युवक को छाती से लगाकर कहा—"वत्स ! तुम तीनों में से तुम एक ही आत्मज्ञान के लिए वस्तुतः उत्कण्ठित हो। मैं तुम्हें अपना शिष्य बनाऊँगा।"

बन्धुओ ! आत्मज्ञान के पिपासु को देखने-परखने की आँखें होनी चाहिए। वह छिपा नहीं रहता, परीक्षक व्यक्ति की दिव्य आँखों से। परन्तु यह बात अवश्य है कि सम्यग्रुचिसम्पन्न व्यक्ति नहीं होगा तो उसे तत्त्वज्ञान का उपदेश देने पर वह सफल नहीं होगा, व्यर्थ जायगा।

भगवान महावीर को केवलज्ञान होते ही जब उन्होंने प्रथम उपदेश दिया, तब कोई सम्यक्रुचिसम्पन्न व्यक्ति न होने से वह निष्फल गया। इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान के उपदेश को ग्रहण के लिए सम्यक्रुचिसम्पन्न व्यक्ति का होना कितना आवश्यक है ?

रुचि के तीन प्रकार

रुचि की विभिन्नता को लेकर शास्त्रकारों ने संसार के समस्त जीवों की रुचि को तीन मुख्य भागों में विभाजित किया है वह पाठ इस प्रकार है—

"तिविहा रुई पन्नत्ता, तं जहा—सम्मरुई, मिच्छरुई, सम्मामिच्छरुई।"

तीन प्रकार की रुचि कही गई है, वह इस प्रकार है—सम्यक्रुचि, मिथ्यारुचि और सम्यक्मिथ्यारुचि।

महर्षि गौतम को यहाँ 'अरुचि' शब्द से 'सम्यक्रुचि का अभाव' अर्थ ही अभीष्ट है। सम्यक्रुचि वह है, जो सम्यग्दृष्टिसम्पन्न हो, जिसे जीव, अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञान हो, उन तत्त्वों की यथार्थता पर श्रद्धा हो। जो वीतरागप्रभु द्वारा उक्त वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखता हो, तथा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशंसा एवं मिथ्यात्वी संसर्ग आदि दोषों से दूर रहता है।

सम्यक्रुचि के भी दस भेद

उत्तराध्ययन एवं स्थानांगसूत्र में सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में दस प्रकार की रुचियाँ बताई गई हैं—

> णिसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्तबीयरुईमेव।
> अभिगम वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई॥

सरागसम्यग्दर्शन के दस प्रकार ये हैं—

(१) निसर्गरुचि—नैसर्गिक सम्यग्दर्शन,

(२) उपदेशरुचि—उपदेशजनित सम्यग्दर्शन,

(३) आज्ञारुचि—वीतराग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से उत्पन्न सम्यग्दर्शन,

(४) सूत्ररुचि—सूत्र-ग्रन्थों को पढ़ने से उत्पन्न सम्यग्दर्शन,

(५) बीजरुचि—सत्य के एक अंश के सहारे अनेक अंशों में फैलने वाला सम्यग्दर्शन,

(६) अभिगमरुचि—विशाल ज्ञानराशि के आशय को समझने पर प्राप्त होने वाला सम्यग्दर्शन,

(७) विस्ताररुचि—प्रमाण और नय के विविध अंगों के बोध से उत्पन्न सम्यग्दर्शन,

(८) क्रियारुचि—क्रियाविषयक सम्यग्दर्शन,

(९) संक्षेपरुचि—मिथ्या आग्रह के अभाव में स्वल्पज्ञानजनित सम्यग्दर्शन,

(१०) धर्मरुचि—धर्मविषयक सम्यग्दर्शन।[1]

इस प्रकार यहाँ रुचि का अर्थ—तत्त्वार्थों के विषय में सम्यक्ता है। ये सम्यग्दर्शन-सम्पन्न साधकों की विभिन्न रुचियाँ हैं। सम्यग्दृष्टि इन १० में से किसी भी रुचि को लेकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

---

१. विशेष विवेचन के लिए उत्तराध्ययनसूत्र के अट्ठाईसवें अध्ययन की टीका देखिए।

—सम्पादक

रुचि के ये सब भेद सम्यक्रुचि के अन्तर्गत आ जाते हैं। रुचि के पहले बताये हुए सभी अर्थों का समावेश भी सम्यक्रुचि में हो जाता है।

बात यह है कि इस प्रकार की सम्यक्रुचि से सम्पन्न व्यक्ति चाहे गृहस्थ हो या साधु, पढ़ा-लिखा हो या अनपढ़, बालक हो या वृद्ध हो या युवक, धनी हो या निर्धन, साधारण हो या विशिष्ट, आध्यात्मिक ज्ञान या परमार्थबोध के योग्य पात्र है। इसके सिवाय भौतिक रुचि, मिथ्यारुचि या मिश्ररुचि का व्यक्ति चाहे कितना ही पढ़ा-लिखा हो, चाहे वह सत्ताधारी हो, चाहे श्रावक के घर में जन्मा हो, चाहे वह आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, पंचेन्द्रिय, दीर्घायुष्य, स्वस्थ और सशक्त हो, चाहे वह आध्यात्मिक ग्रन्थों का वहुत पारायण करता हो, सम्यक्रुचि के अभाव में वह भी परमार्थ-बोध के लिए अपात्र है।

बहुत से लोग बाहर से बहुत ही सीधे-सादे, सरल, भोले-भाले और अनपढ़ होते हैं। परन्तु वे सम्यक्रुचि से सम्पन्न नहीं होने के कारण तत्त्वज्ञान के बोध-या उपदेश के अनधिकारी हैं। चाहे वह साधु-संतों की सेवा में बहुत आता हो, बहुत ही विनयभक्ति करता हो, लेकिन तत्त्वज्ञान के विषय में उसकी बिल्कुल रुचि या श्रद्धा नहीं है, तो वह परमार्थबोध के लिए अयोग्य है, क्योंकि उसे समझाने पर भी वह उन गूढ़ दार्शनिक वातों को समझ नहीं सकेगा, या तो वह उस समय नींद की झपकी लेगा, या वह ऊवकर जम्हाई लेने लगेगा।

एक रोचक उदाहरण लीजिए—

मारवाड़ के एक गाँव में चौमासे के लिए संत पहुँचे। वहाँ के कुछ तथाकथित श्रावकों को पता लगा तो वे दर्शनार्थ आये। दूसरे दिन सुबह व्याख्यान का समय हुआ तो मुनिवर ने वहाँ के अग्रगण्य श्रावकों से पूछा—"कहो साहब ! कौन-सा शास्त्र वांचा जाए ?"

"कोई नया ही शास्त्र होना चाहिए, महाराज !" जानकर कहलाने वाले श्रावकों ने कहा।

"क्या भगवती सूत्र शुरू किया जाय ?" महाराज साहव ने पूछा।

इस पर वे वोले—"सुणो परो महाराज !"

"तो क्या आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रज्ञापना, नन्दी आदि में से कोई शास्त्र सुनाया जाए ?"

लालवुझक्कड़जी वोले—"ये सव सुने हुए हैं, कोई नया शास्त्र होना चाहिए।"

मुनिजी ने कई शास्त्रों के नाम गिनाये; परन्तु हर वार उनका यही उत्तर होता—"ओ भी सुणो परो, दावजी !"

मुनिजी ने उन ज्ञानलवदुर्विदग्धों की ज्ञानगरिमा की परीक्षा के लिए पूछा—"श्रावकजी ! पांचों इन्द्रियों में से आप में और मेरे में कितनी-कितनी इन्द्रियां पाई जाती है ?"

इस बार लालबुझक्कड़ श्रावक ने अनोखा उत्तर दिया—"एकेन्द्रिय में बापजी आप हैं, बेइन्द्रिय में मैं हूं ।"

महाराजश्री ने मन ही मन मुस्कराते हुए पूछा—"कैसे-कैसे ?"

"आप एकेन्द्रिय ई वास्ते हो कि आप एकला हो, हूं बेइन्द्रिय ई वास्ते हूं के हूं लुगाई सहित हूं ।"

"और भी कोई पहिचान है, एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय की ?" मुनि जी ने पूछा ।

"हां है, थांरे माथे पाग कोनी, इण सूं थें एकेन्द्रिय हो, म्हारे माथे पाग है, जिणसूं हूं बेइन्द्रिय हूं ।" लालबुझक्कड़जी ने कहा ।

इन लालबुझक्कड़ श्रोताओं का अद्भुत ज्ञान देखकर मुनिजी ने व्याख्यान बंद कर दिया । श्रोताओं ने ऐसा करने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा—"मेरे पास जितने भी शास्त्र है, सब आप लोगों के सुने हुए हैं । अब तो आगामी चौबीसी में महापद्म-प्रभ महाराज (श्रेणिक का जीव) प्रथम तीर्थंकर होंगे, वे नये आगम कहेंगे, वे ही नये शास्त्र होंगे । तभी नये शास्त्र बांचे जा सकते हैं ।"

बन्धुओ ! ऐसे अर्धविदग्ध लोग न तो जिज्ञासु होते हैं, न ही श्रद्धालु, वे तो वक्ता की परीक्षा लेने तथा अपने अल्पज्ञान का अहंकार प्रदर्शित करने हेतु ही अध्यात्म तत्त्वज्ञान सुनने आते हैं । इनकी रुचि सम्यक् नहीं होती वे सिर्फ नामधारी श्रावक होते हैं । श्रावक का अर्थ है—सम्यक्रुचिपूर्वक अध्यात्मज्ञान का श्रवण करने वाला ।"

अरुचिवान को कुछ भी हित की बात कहना विलाप है

सम्यग्दृष्टिसम्पन्न के अतिरिक्त जितने भी व्यक्ति होते हैं, वे सब अध्यात्म-जगत् में अरुचिवान माने जाते हैं, चाहे उनकी रुचि मिथ्याज्ञान में, सांसारिक पदार्थों के ज्ञान में या इन्द्रियविषयों की आसक्ति में हो ; रुचि के विभिन्न अर्थों को देखते हुए अरुचिवान के विभिन्न अर्थ फलित होते हैं । अरुचिवान अध्यात्मजगत् की दृष्टि से वह व्यक्ति है जिसमें किसी प्रकार की जिज्ञासा, तीव्रता, लगन, उत्साह, दिलचस्पी, प्रीति, आकर्षण, उत्सुकता, श्रद्धा, परमश्रद्धा, प्रतीति या रुचि न हो जिसकी रुचि में विश्वास न हो, जिसमें तत्त्वज्ञान श्रवण से तन्मयता न हो, जिसे अध्यात्मज्ञान के प्रति कोई श्रद्धा न हो । ऐसे निरस, उदास, अविश्वासी, निरुत्साही व्यक्ति की रुचि अध्यात्मज्ञान या आत्मबोध में पैदा नहीं होती ।

भगवद्गीता में भी कर्मयोगी श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता सुनाने के बाद गीता का उपदेश देने में सावधानी के लिए कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

"इस गीता के तत्त्व को तपरहित मनुष्य को कदापि मत कहना, न श्रद्धाभक्ति-रहित व्यक्ति को कहना, जिसकी सुनने की जिज्ञासा या इच्छा नहीं है, जो मेरे तत्त्व ज्ञान से ईर्ष्या-द्वेष रखता है, उसे भी मत कहना।"

ऐसे अध्यात्मज्ञान के द्वेषी, उसमें नुक्स निकालने वाले, उसकी नुक्ताचीनी करने वाले, उसमें दोष बताने वाले, अश्रद्धालु व्यक्ति भी अरुचिवान हैं। ऐसे अरुचि-वान श्रोताओं को अध्यात्मज्ञान का क ख ग समझाना ततैये के छत्ते में पत्थर डालना है। एक लोक प्रसिद्ध लौकिक उदाहरण लीजिए—

एक बया नाम की चिड़िया अपने नवनिर्मित घोंसले में बैठी हुई थी। उसने घोंसले का निर्माण इतने अच्छे ढंग से कर रखा था, जिससे सर्दी, गर्मी, व वर्षा आदि से बचा जा सके।

वर्षा के दिन थे। बहुत जोर से वर्षा हो रही थी। बया अपने घोंसले में चली गई। उसी वृक्ष पर बैठा बन्दर वर्षा के साथ ठंडी हवा चलने से थरथर काँप रहा था। बंदर को ठिठुरते देख बया चिड़िया के मन में सहानुभूति जागी, उसने बन्दर को उपदेश देते हुए कहा—"बंदर भाई! तुम्हें वर्षा, सर्दी और गर्मी का बड़ा कष्ट भोगना पड़ता है। हमारी तरह घोंसला क्यों नहीं बना लेते, जिससे इन कष्टों से बच सको। हमारी अपेक्षा तो तुम्हारे में अधिक शक्ति है, तुम्हारे तो हाथ-पैर आदि भी मनुष्यों की तरह हैं। अतः तुम तो बहुत आसानी से अपना निवास बना सकते हो, बना लो।"

बया चिड़िया का कथन यथार्थ, उचित एवं हितकर था, लेकिन इस उपदेश को सुनकर बन्दर को इतना क्रोध आया कि अपना घोंसला बनाना तो दूर रहा, चिड़िया का घोंसला भी तोड़-फोड़कर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

सच है, उपदेश उसी को देना चाहिए, जो जिज्ञासु हो, उपदेश को सार्थक कर सके।

उत्तराध्ययन सूत्र में चित्त और सम्भूति का एक अध्ययन है। जिसका सारांश यह है कि ये दोनों पांच जन्मों तक लगातार साथ-साथ जन्मे और मरे, किन्तु छठे जन्म में चित्त का जीव पुरिमताल नगर में श्रेष्ठीपुत्र हुए, जातिस्मरणज्ञान पाकर मुनि दीक्षा ले ली। इधर संभूति का जीव, पूर्वजन्म में किये हुए निदान के फलस्वरूप ब्रह्म-दत्त नाम का चक्रवर्ती बना। कम्पिल्लपुर नाम की राजधानी में रहता था। एक बार

एक नाट्यकलाप्रवीण नट ने नाटक का आयोजन किया। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती नाटक देख रहा था, इसी दौरान एक दासी पुष्पमाला, फूल का दड़ा वगैरह लेकर आई। ब्रह्मदत्त के मन में विकल्प उठा कि ये सब मैंने कहीं देखे हैं। यों बार-बार ऊहापोह करते-करते उसे जातिस्मरणज्ञान हो गया। अतः उसने पहले के पाँच जन्मों की घटना चलचित्र की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। "पिछले जन्म में मैं और मेरा भाई दोनों सौधर्म देवलोक में देव थे। पर इस जन्म में पता नहीं, वह मेरा पांच जन्मों का साथी भाई कहाँ है?" यों सोचकर ब्रह्मदत्त वहीं मूर्च्छित हो गया। होश में आते ही उसने अपने पाँच जन्मों के साथी भाई का पता लगाने हेतु डेढ़ श्लोक लिखा और उसके एक चरण की पूर्ति करने वाले को इनाम देने की घोषणा की—

दासा 'दसण्णे' आसी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मायंगतीराए, सोवागा कासिभूमिए॥
देवा य देवलोगम्मि आसी अम्हे महिड्ढिया।

संयोगवश जातिस्मरण ज्ञानप्राप्त चित्त मुनि भी ब्रह्मदत्त राजा के नगर में मनोरम नामक उद्यान में पधारे हुए थे, वे कायोत्सर्गस्थ थे। वहीं रेंहट चलाता हुआ एक किसान इस डेढ़ श्लोक को बार-बार पढ़ने लगा। उसे सुनकर ज्ञान में उपयोग लगाकर मुनि ने अपने पूर्वजन्म के भाई का वर्तमान स्वरूप जाना और उस श्लोक के पश्चार्द्ध की इस प्रकार पूर्ति की—

इमाणो छट्ठिआ जाई, अण्णमण्णेण जा विणा।

रेंहट वाला किसान इस श्लोक की पूर्ति लेकर हर्षित होता हुआ ब्रह्मदत्त के पास पहुँचा। श्लोक का पश्चार्द्ध सुनते ही भ्रातृस्नेहवश ब्रह्मदत्त मूर्च्छित हो गया।

राजसेवकों ने किसान को पकड़कर धमकाया, तब उसने असली बात कह दी कि "महाराज! इस श्लोक की पूर्ति मैंने नहीं, मनोरम उद्यानस्थ मुनि ने की है।" तब उसे छोड़ दिया। ब्रह्मदत्त सपरिवार मुनिवन्दन को गया। मुनि ने ब्रह्मदत्त राजा को आध्यात्मिक धर्मोपदेश दिया जिसमें संसार की असारता, कर्मबन्ध के कारण, निदान-दोष, मोक्षमार्ग आदि का वर्णन किया, जिससे इस सभा में स्थित कुछ लोगों को विरक्ति हुई, लेकिन ब्रह्मदत्त के मन पर तिलमात्र भी असर न हुआ। उल्टे वह [illegible] विलासिनियों तथा [illegible] आदि के लिए निमन्त्रित करने लगा; परन्तु मुनि तो अपने संयम में दृढ़ रहे, उन्होंने विविध प्रकार से कामभोगों की असारता समझाई, किन्तु ब्रह्मदत्त टस से मस नहीं हुआ। अन्त में मुनि ने ब्रह्मदत्त से कहा कि—

"राजन्! आपको इतना समझाने पर भी भोगों का त्याग करने की बुद्धि नहीं

आती, आरम्भ-परिग्रह में अत्यासक्त बने हुए हो। इसी कारण मैंने जो इतनी देर तक विप्रलाप किया वह व्यर्थ गया। अतः मैं जा रहा हूँ।"

इस प्रकार अरुचिवान ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने मुनि के आध्यात्मिक उपदेश की एक भी बात न मानी। महर्षि गौतम इसीलिए उपदेशकों को चेतावनी देते हुए कहते हैं—

अरोइ अत्थं कहिए विलावो

आपका भी इसी में कल्याण है कि अरुचिवान को कुछ भी हित की बात कहने से बचें। ☆

३८

परमार्थ से अनभिज्ञ द्वारा कथन : विलाप

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं कल की तरह एक अन्य सत्य का उद्घाटन करना चाहता हूँ, जो अध्यात्मजीवन के साधक के लिए पद-पद पर प्रहरी की तरह सहायक है। गौतमकुलक का यह बत्तीसवाँ जीवनसूत्र है। इसमें जिस सत्य का निर्देश महर्षि गौतम ने किया है, वह इस प्रकार है—

'असंपहारे कहिए विलावो'

"असंप्रधार यानी अर्थ निर्धान्ति न होने, परमार्थ से अनभिज्ञ होने की स्थिति में किसी को उपदेश देना विलाप तुल्य है।"

अज्ञानी अज्ञानी का मार्गदर्शक : अनिष्टकर

जगत् में यह एक व्यावहारिक तथ्य है कि जो स्वयं किसी बात से अनभिज्ञ होता है, वह दूसरे को उस बात की जानकारी देने जाता है, तो हास्यास्पद होता है। लोग उसकी हँसी उड़ाये बिना नहीं रहते। कई बार व्यक्ति किसी बात की थोड़ी-सी जानकारी रखता है, तो वह अपने आपको बहुत बड़ा ज्ञानी मान बैठता है, उसके अल्पज्ञान का गर्व उसकी बुद्धि पर ऐसा पर्दा डाल देता है कि वह यह समझ नहीं पाता कि मैं अधूरे ज्ञान के बल पर दूसरों को मार्गदर्शन देने का दावा रखता हूँ, यह कितना गलत है, कितना अनर्थकर है? उसकी अधूरी समझ, अधूरे अनुभव को पैदा करती है और अधूरा अनुभव जब पूर्ण होने का दावा करता है, तो ऐसा लगता है मानो एक छोटी-सी तलैया, समुद्र की समता कर रही हो। कहाँ समुद्र और कहाँ थोड़े से पानी से भरी तलैया! अधकचरे ज्ञान का धनी दूसरों को उपदेश देकर अपनी हानि तो करता ही है, दूसरों की बहुत बड़ी हानि कर बैठता है।

मन्त्रशास्त्र का यह नियम है कि जिस व्यक्ति ने किसी मन्त्र को विधिपूर्वक सिद्ध नहीं किया है, वह यदि दूसरे नये व्यक्ति को वह मंत्र जाप करने के लिए दे देता है या उस मन्त्र की अधूरी विधि बता देता है तो उससे लाभ होने के बजाय बहुत बड़ा अनिष्ट होता है और जो नौसिखिया व्यक्ति उस मंत्र का जाप करता है, अविधि-पूर्वक जप करता है, उससे न तो वह मन्त्र सिद्ध होता है, और न ही उससे [illegible] मिलती है। [illegible] ऐसे अविधिपूर्वक जाप से [illegible] हेतु [illegible]

हैं और उससे उसका भयंकर अनिष्ट भी हो जाता है। इसी प्रकार किसी वेसमझ या किसी वात से अनभिज्ञ को उस वात से अनभिज्ञ या अधूरी समझ वाला कोई व्यक्ति उस विषय में मार्गदर्शन देता है तो वह उस व्यक्ति की ही नहीं, सारे समाज या ग्राम-नगर की ओर से अश्रद्धा का भाजन बनता है, अपना यश खो बैठता है, अपने जीवन पर अपयश का काला धब्बा लगा लेता है; साथ ही जिसको वह उपाय बताता है, मार्गदर्शन देता है, उसके भी श्रम, समय और धन की बर्बादी करा देता है।

इसीलिए महर्षि गौतम मार्गदर्शक, नेता या ज्ञान व उपदेश-प्रदाता को यह दूसरी चेतावनी देते हैं कि जब तक किसी विषय में तुम्हारा ज्ञान परिपक्व या सांगोपांग न हो, तब तक किसी व्यक्ति को उस विषय में सुझाव, मार्गदर्शन या परामर्श देना खतरे से खाली नहीं है। वह एक प्रकार का विलाप है, उस विषय में अधूरे अथवा अधकचरे ज्ञान वाले व्यक्ति की बकवास है, बड़बड़ाहट है। उस अधकचरे ज्ञान वाले के मार्गदर्शन से मार्गदर्शन पाने वाला भी रोता है और देने वाला भी। कारण यह है कि अधूरा मार्गदर्शन देने से या अधकचरा उपाय बताने से उसे अपनी कार्य-यात्रा में जहाँ संकट, विघ्न, विपत्ति या कष्ट आयेंगे, वहाँ वह उन्हें हल नहीं कर सकेगा, वह रोएगा, अपने कर्मों को, मार्गदर्शन देने वाले को; या अन्य निमित्तों को कोसेगा, मन ही मन कुढ़ेगा और क्रोध में आकर प्रतिक्रियास्वरूप वह उस अज्ञानी या अनाड़ी मार्गदर्शक पर बरस भी सकता है, वह उसकी पूरी खबर ले सकता है। तब उसे रोना ही तो पड़ता है, अपने अज्ञान पर।

समर्थ रामदास ने कुछ ऐसे साधु बना लिये, जो साधुता से अनभिज्ञ थे। साधु का अर्थ उन्हें इतना ही समझाया गया था कि "भगवान् और गुरु पर पूर्ण श्रद्धा रखना, गुरु की सेवा करना।" उन्हें समर्थ गुरु द्वारा भली-भाँति साधुता के विषय में समझाये न जाने का परिणाम समर्थ रामदास को भोगना पड़ा।

एक बार वे अपने शिष्यों के साथ एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहे थे। रास्ते में एक किसान का गन्ने का खेत पड़ा। खेत में खड़े गन्ने देखकर समर्थ रामदास के शिष्यों का मन ललचाया। वे आगे-आगे चल रहे थे, गुरुजी एक-दो शिष्यों के साथ अभी बहुत पीछे थे। अतः साधुता से अनभिज्ञ वे शिष्य खेत के मालिक से बिना पूछे ही गन्ने तोड़ने लगे। साधु को जीवनोपयोगी चीजें मुफ्त में मिल सकती हैं, परन्तु याचना करने पर ही। इसका मतलब यह नहीं है कि वह उस चीज के मालिक से बिना पूछे ही स्वयं कोई चीज लेने लगे। यह तो अनैतिकता है, अपराध है। किसान ने साधुओं को गन्ने तोड़ते देखा तो उनकी चोरी की वृत्ति पर उसे बड़ा क्रोध आया। अतः उसने पहले तो उन साधुओं को रोका, फिर भी न माने तो वह लाठी लेकर मारने दौड़ा। साधु थोड़ी-बहुत मार खाकर आगे भाग गये। इधर पीछे से समर्थ रामदास आ रहे थे। उस किसान ने उन्हें देख कर समझा—यह उन चोर साधुओं का सरदार मालूम होता है। यह सोच उनकी पीठ पर भी कसकर चार-पाँच डण्डे बरसाए।

समर्थ रामदास शिवाजी के गुरु थे। किसान ने समर्थ रामदास को पीटा, यह खबर उड़ती-उड़ती शिवाजी के कानों में पहुँची। शिवाजी ने कुछ सिपाहियों को भेजकर उस किसान को गिरफ्तार करवाया और समर्थ रामदास के सामने उपस्थित करते हुए कहा—"गुरुदेव ! बताइए, इस किसान को क्या दण्ड दिया जाए ?"

बेचारा किसान शिवाजी का प्रकोप देखकर काँप रहा था। समर्थ रामदास ने कहा—"इसका क्या अपराध है ? अपराध तो मेरे शिष्यों का है, जिन्होंने इससे बिना पूछे ही गन्ने तोड़े। मैंने अपने शिष्यों को साधुता का अधूरा ज्ञान दिया, इसका दण्ड मुझे मिल गया। अतः इसे छोड़ दो और इसका जितना नुकसान हुआ है, उससे दुगुना सरकारी खजाने से भर दो।" फलतः शिवाजी ने उस किसान को छोड़ दिया और उसकी क्षतिपूर्ति कर दी।

कहने का मतलब यह है कि समर्थ रामदास को अपने शिष्यों को साधुता का अधूरा ज्ञान देने के कारण उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ा।

साधु-साध्वियों द्वारा बताये गये अधूरे अर्थ के दुष्परिणाम

कई बार साधु-साध्वी अपने भक्त-भक्ताओं को जो भी नित्यनियम, या त्याग-प्रत्याख्यान कराते हैं या उनको जो पाठ हैं, उन्हें रटने के लिए दे देते हैं, उनका अर्थ, विधि, या उद्देश्य पूरी तरह से नहीं समझाते। कई साधु-साध्वी स्वयं भी उन पाठों का अर्थ, विधि या उद्देश्य पूरी तरह से नहीं समझते, वे गुरु परम्परा से उस पाठ को रट लेते हैं, वह भी कई जगह गलत-सलत; इसी प्रकार वे अपने भक्त-भक्ताओं को पाठ रटा देते हैं, कई बार उसका मामूली अर्थ समझा देते हैं, अतः अन्धश्रद्धावश या गुरु पर विश्वास करके वे उस पाठ को रटते रहते हैं। ऐसा तोतारटन न तो उस धार्मिक क्रिया का यथार्थ फल प्रदान करता है और न ही उससे अपना कल्याण होता है, बल्कि कई बार अनर्थ भी हो जाता है। [illegible] से पाठ रटने वाले का श्रम, शक्ति और समय बेकार जाता है।

कुछ ऐसी किन्तु मनोरंजक घटनाएँ लीजिए—

एक बार [illegible] में जैनों की साध्वियाँ [illegible] गुरु से सीखे [illegible] का 'पुक्खरोदा सिद्धिया' इस पाठ को इस प्रकार अशुद्ध रट रही थीं—'दीव मुड्ढा अंजिला'। [illegible] 'दीव मुड्ढा अंजिला' [illegible] —'दीव मुड्ढा अंजिला' "

भोलीभाली साध्वियों ने यतियों के कथनानुसार वैसे ही रटना शुरू किया। कुछ देर बाद जब उनकी गुरुणीजी आईं। उन्होंने अमंगलसूचक शब्द सुने तो चौंकी और उन्हें डांटडपटकर शुद्ध पाठ वताया। अर्थ फिर भी न समझाया।

इसी प्रकार एक गाँव में साध्वियाँ पधारी हुई थीं। एक अनपढ़ किन्तु श्रद्धालु वहन उनसे सामायिक के पाठों में 'लोगस्स' का पाठ सीख रही थी। वह साध्वीजी से पाठ लेकर घर जाकर रटती थी। साध्वीजी उसे अर्थ नहीं समझाकर यही कह देतीं कि यह चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति का पाठ है, इसे रट लो।"

बेचारी अर्थ से अनभिज्ञ श्रद्धालु वहन 'लोगस्स' के पाठ में आए हुए **'पहीण-जरमरणा'** पाठ का अर्थ न समझने के कारण उसके वदले रटने लगी—**'पीहर जार मरणा'**। कुछ ही देर बाद उसका पति आया और उसने जब अपनी पत्नी को इस प्रकार पाठ रटते हुए सुना तो पूछा—"यह पाठ किसने वताया है तुम्हें ?" वह बोली—"गुरुणीजी ने मुझे यह पाठ रटने को दिया है। क्यों क्या हुआ ?" उसका पति मुस्कराते हुए बोला—"कुछ अर्थ भी समझती हो या यों ही अंटसंट रटे जा रही हो ?"

भोली पत्नी ने कहा—"मुझे तो इसका कुछ भी अर्थ नहीं समझाया, गुरुणी जी ने, केवल पाठ रटने को दिया है।"

पति ने कहा—'भोली भामण ! पाठ भी तो तुम गलत रट रही हो, इस पाठ का अर्थ होता है—**'पीहर जाकर मरना'** ऐसा अशुद्ध पाठ गुरुणीजी तो दे नहीं सकतीं। तुमने ही अपने मन से बना लिया है।" आखिर वह भोली बहन गुरुणीजी के पास पहुँची और उस पाठ को शुद्ध रूप में सीखा।

एक जगह एक अनपढ़ लड़की को थोड़ा बहुत अक्षरज्ञान कराकर साध्वी बना दिया गया। उसकी गुरुणी एक दिन नमस्कार मंत्र का **'एसो पंच नमुक्कारो'** पाठ देकर गोचरी चली गईं। थोड़ी देर रटने के वाद उसने रटना बन्द कर दिया। जब गुरुणी को आते देखा तो जोर-जोर से रटने लगी—**"एसा पंचानो मुं (ह) कारो (लो)"**। गुरुणी ने सुना तो उसकी मूढ़ता साथ ही अपनी अज्ञता पर तरस खाने लगीं।

ऐसी और भी कई घटनाएँ हैं, जो उपदेशकवर्ग की अनभिज्ञता और इस ओर शुद्ध मार्गदर्शन की लापरवाही को सूचित करती हैं। ऐसी घटनाओं को आप प्रायः हँसकर टाल देते हैं, परन्तु आप लोगों को इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए, और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे साधुसमाज विवेकी, तत्त्वज्ञानी और शास्त्र के पाठों का रहस्यज्ञ बने, अन्यथा ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति होती रहने से साधुसमाज एवं जिनशासन की बदनामी और अवहीलना होने की आशंका है।

अन्धे मार्गदर्शक : अन्धे अनुगामी

एक बात निश्चित है कि जिस मार्गदर्शक में स्वयं उस मार्ग, अध्यात्मज्ञान

बैलों को जोतकर रथ बाबाओं के सामने खड़ा कर दिया। सब सावा वगीची चौकीदार को सौंपकर रथ में बैठ गये। सब ने गिन्नियों वाली नौली अपनी-अपनी कमर में बाँध ली। मार्ग में भयंकर जंगल आया, विषम और उन्नत पर्व श्रेणियाँ भी थीं। ठगों ने अवसर देखकर बाबाओं से कहा—"अब रास्ता पर्वतों की घाटियों में से होता हुआ बहुत घुमावदार है। यहाँ से एक पगडंडी सीधी उस गाँव को जाती है, जहाँ हमें आज रात को मुकाम करना है, किन्तु इस पगडंडी से रथ पार नहीं हो सकता। रथ को ८-१० कोस का चक्कर काटकर वहाँ जाना पड़ेगा, आप व्यर्थ ही हैरान हो जाएँगे अतः इस पगडंडी से चले जाइए, घण्टे भर में आप वहाँ पहुँच जायेंगे।"

बाबाओं की समझ में बात आ गयी। वे रथ से उतर पड़े और ठगों की बताई हुई पगडंडी पर चलने लगे। ठगों ने उनसे कहा—"दाबाजी! जोखिम वाली कोई वस्तु साथ में मत रखिएगा। जंगल का मामला है, कोई भी खतरा पैदा हो सकता है।"

सभी बाबाओं ने अपनी-अपनी कमर से नौली खोलकर ठगों के कहे अनुसार रथ में रख दी। उनके मन में ठगों के प्रति पूरा विश्वास जम चुका था। जो प्रति-दिन सबको एक-एक गिन्नी भेंट देते हों, वहाँ धोखे का क्या काम? सारा धन ठगों के कब्जे में आ गया।

चलते-चलते उन धूर्तों ने फिर बाबाओं से कहा—"बाबाजी! आप लोग संभलकर चलते रहिएगा। रास्ते में कई गुमराह करने वाले व्यक्ति भी मिल सकते हैं, जो आपको बहकाएँगे कि यह पगडंडी नहीं है। आप किधर जा रहे हैं, उधर खाई है, उसमें गिर पड़ेंगे; परन्तु आप उन धूर्तों की बात बिल्कुल न सुनें। आपको कोई बराबर आवाज दे तो कुछ पत्थर अपनी-अपनी झोली में भरकर रखिए, ताकि टोकने वाले को उन पत्थरों से मार भगाया जा सके, वे आपके पास ही न आ सकें।" यों वे ठग इन अंधे बाबाओं को गुमराह करके नौ दो ग्यारह हो गये।

बेचारे अंधे लाठी के सहारे चल पड़े। कुछ आगे बढ़ने पर किसी हितैषी ग्वाले ने आवाज लगाई—"बाबाजी! इधर आप लोग कहाँ जा रहे हैं? यह रास्ता नहीं है आगे भयंकर खोह है, उसमें गिर पड़ेंगे। ठहरें, आगे मत बढ़ें।" पर बाबाओं ने धूर्तों के सिखाये अनुसार उस हितैषी को धूर्त समझकर अपनी झोली से तुरन्त पत्थर निकाले और उसकी तरफ फैंकने लगे। ज्यों-ज्यों उसने रोकना चाहा, त्यों-त्यों पत्थरों की बौछार करने लगे। बेचारा ग्वाला चुप होकर चल दिया। इसी तरह अनेक लोगों ने उन्हें उस रास्ते से जाने से मना किया, मगर बाबाओं ने किसी की नहीं सुनी। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर सभी अंधे बाबा एक गहरे खड्डे में गिर पड़े और वहीं उनके प्राण पखेरू उड़ गये।

सचमुच स्वार्थान्धों के द्वारा पकड़ाये हुए गलत रास्ते पर चलने वाले हिये के अन्धों की यही दशा होती है।

यही बात सूत्रकृतांग सूत्र (श्रु. १ अ. १ उ. २) में कही गई है—

लालबुझक्कड़जी ने भी कभी हाथी नहीं देखा था, फिर भी उनकी कल्पनाशक्ति बड़ी विलक्षण थी। वे दस-पन्द्रह मिनट कुछ सोचकर बोले—"अरे भोले लोगो ! तुम इतना भी नहीं जानते। रात को एक हिरन अपने पैर में चन्द्रमा को बाँधकर यहाँ आया था। उसी के ये निशान हैं, वह यहीं से होकर गया है।" सबने कहा—"वाह लालबुझक्कड़जी ! आपने ठीक ही कहा। पर यह तो बताइए कि इससे गाँव में कोई आफत तो नहीं आएगी ?"

लालबुझक्कड़जी बोले—"हमारे गाँव में चन्द्रमा आया, यह तो शुभ चिह्न है। घबराओ मत, कोई आफत नहीं आएगी।" उस साल गाँव पर दुष्काल की छाया पड़ गई। लोगों ने लालबुझक्कड़जी को आड़े हाथों लिया कि "आप तो कहते थे कि गाँव पर कोई आफत नहीं आएगी, हमें तो लगता है, जिसको आप शुभचिह्न कहते थे, उसी ने अशुभ कर दिया है।" अब तो लालबुझक्कड़जी बहुत झेंप गये और अपना-सा मुँह लेकर चले गये।

इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी बात को सोचे-समझे या जाने-बूझे बिना एकदम उस विषय में दूसरों को मार्गदर्शन देने या बताने लगते हैं, वे एक प्रकार से नई आफत मोल लेकर विलाप का-सा कार्य करते हैं। जब उनकी बात सही नहीं होती तब उनकी बात मानने वालों को उनकी बताई बात से विपरीत होते देखकर दुःख, शोक, संताप होता है, जो विलापतुल्य ही है।

अपना अज्ञान स्पष्ट स्वीकारो

इसलिए जो व्यक्ति जिस विषय में अनभिज्ञ है, वह उस बारे में टाँग अड़ाकर अनधिकार चेष्टा करता है। इस प्रकार की अनधिकार चेष्टा करने का परिणाम कई दफा बहुत भयंकर आता है। इसलिए समझदार व्यक्ति को यह स्वीकार करने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिए कि "मैं इस विषय में अनभिज्ञ हूँ।"

एक बार ऋषि दयानन्दजी को कुछ छात्रों ने पूछा—"आप ज्ञानी हैं या अज्ञानी ?" उन्होंने यथार्थ उत्तर दिया—"मैं कुछ विषयों में ज्ञानी हूँ, कुछ में अज्ञानी।" छात्रों ने आश्चर्य से पूछा—"यह कैसे ?" उन्होंने कहा—"मैं वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र आदि विषयों में ज्ञानी हूँ और भूगोल, खगोल, भौतिक विज्ञान आदि व्यावहारिक विषयों में अज्ञानी हूँ।"

शेखशादी ने ठीक ही कहा है—

किसी विषय में अज्ञानी व्यक्ति के लिए चुप रहना बहुत अच्छा है, और वह अपने इस अज्ञान को जानता है, तो वह अज्ञान ही नहीं होगा।"

अज्ञानी में प्रायः पूर्वाग्रह और अहंकार

परन्तु मनुष्य का अहंकार इतना प्रबल होता है कि वह सूक्ष्म-रूप से किसी-न-किसी तरह प्रविष्ट होकर अज्ञान को अज्ञान ही नहीं समझने देता। ऐसा अज्ञानी

हाँ, मैं जान गया यह तोल्लड राग है।" इस पर उसके साले हँसी को रोक न सके। इस प्रकार संगीत विद्या से अनभिज्ञ मूर्ख अपना चातुर्य बताने गया लेकिन हुआ वह हंसी का पात्र ही। इसी प्रकार जो जिस विषय में बिलकुल नहीं जानता या अधूरा जानता है, वह यदि उस अध्यात्मतत्त्व के विषय में किसी से कहता है तो हास्यास्पद ही बनता है। कथासरित्सागर में कहा है—

"अज्ञतानाम कस्येह, नोपहासाय जायते ?"

'अज्ञता किसको हास्यास्पद नहीं बना देती ?'

परमार्थ के अज्ञानी : ऊँटवैद्य की तरह

प्रायः देखा जाता है कि किसी परमार्थ विषय में अज्ञानी मनुष्य उड़ान तो बहुत दूर की भरता है, बातें भी बहुत ही लम्बी-चौड़ी करता है, लेकिन ज्ञान के प्रकाश को देख सकने की उसकी आँखें नहीं होती। पाश्चात्य विद्वान् जॉर्ज हर्बर्ट (George Herbert) के शब्दों में देखिये—

"The ignorant hath an eagle's wings and an owl's eyes."

'अज्ञानी व्यक्ति के पाँखें तो गिद्ध की होती हैं, लेकिन आँखें होती हैं उल्लू की।'

ऐसे अज्ञानी व्यक्ति प्रायः अन्धानुकरण करते हैं, वे न तो किसी दूसरे अनुभवी से कोई बात समझते या पूछते हैं, और न स्वयं ही अध्ययन-मनन करके अपने अज्ञान को मिटाते हैं, उलटे वे अपने आपको ज्ञाननिधि बताने का डोल करते हैं।

एक शहर में एक नामी वैद्यजी थे। वे बहुत ही कुशलता और युक्तिपूर्वक रोगों की चिकित्सा करते थे। उनके पास एक नौसिखिया रहता था, जो दवाइयाँ कूटता और पुड़िया बाँधकर रोगियों को देता था। एक दिन वैद्यजी के पास एक व्यक्ति अपना ऊँट लेकर घबराया हुआ आया और कहने लगा—"वैद्यजी, जरा मेरे ऊँट का इलाज कर दीजिए, इसके गले में कल से कुछ अटक गया है, इस कारण यह कुछ खा नहीं सकता, केवल चिल्लाता रहता है।"

वैद्यजी ने ऊँट को भलीभाँति टटोलकर देखा। गला जहाँ फूला हुआ था, उस स्थान को हाथ से स्पर्श करके देखा। रोग उनकी समझ में आ गया। उन्होंने ऊँट के मालिक से कहा—"देखो भैया, ऊँट की पीड़ा मैं दूर कर दूंगा, उसे स्वस्थ भी कर दूंगा। मेरे इलाज और श्रम के पच्चीस रुपये लूँगा।" ऊँट के मालिक ने स्वीकार किया। उन्होंने एक हाथ में लकड़ी का एक हथौड़ा लिया और ऊँट के गले के नीचे दूसरा हाथ रखा, फिर दो चोटें हथौड़े की लगाई, इससे गले में जो तरबूज अटका हुआ था, वह फूट गया और ऊँट अब उसे अच्छी तरह चबाकर खाने लगा, वह स्वस्थ हो गया। ऊँट के मालिक ने वैद्य को धन्यवाद सहित २५) रुपये दे दिये और ऊँट को लेकर प्रसन्नतापूर्वक लौटा।

अन्य कई विद्याएँ वहुत लम्वे अभ्यास के वाद अनुभव से आती हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान भी केवल शास्त्रों को रटने से, विविध पुस्तकों के पढ़ने मात्र से या किसी का अन्धानुकरण करने से ही नहीं आता, उसके लिए भी प्रत्यक्ष अनुभव की आवश्यकता होती है।

अनुभूति की वेदी पर ही संयम, यम-नियम आदि का पालन या आदर्शों का आचरण हो सकता है। जो व्यक्ति केवल निश्चयनय की वातें सुनकर या पढ़कर अथवा घोंटकर चलेगा, वह व्यवहारनय से बिलकुल अनभिज्ञ या अधकचरा व्यक्ति समस्याओं के आने पर धोखा खाएगा। स्वयं भी कष्ट में पड़ेगा और जिनको वह अध्यात्म की एकांगी वात बतायेगा वह भी दुःख में पड़ेंगे।

एक अनुभवहीन वेदान्तवादी वहन किसी अर्धविदग्ध उपदेशक से सुन आई—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयत्यापो, न शोषयति मारुतः॥

"इस आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न इसे पानी गला सकता है, न ही हवा इसे सुखा सकती है।" निश्चयनय की तरह यह बात उसके दिमाग में घूम रही थी कि "आत्मा न तो खाती है, न पीती है, वह तो बिलकुल निराहारी है।"

घर आते ही उसने चूल्हे की हड़ताल कर दी। जव आत्मा निराहारी है तो आहार क्यों बनाया जाए? शाम को उसके पति अपने दफ्तर से आए। घर में कदम रखते ही चूल्हा ठंडा देखा, श्रीमतीजी को लेटे हुए और उदास देखा तो बोले— "क्या आज तबियत ठीक नहीं है? क्या आज रसोई नहीं बनेगी?"

एकान्त निश्चयवादी उस महिला ने तपाक से कहा—"आत्मा तो निराहारी है, वह तो अजर-अमर है, न कटता है, न जलता है, न गलता है, और न सूखता है। फिर किसके लिए रसोई बनाऊँ?"

"अच्छा, आज निश्चयनय या वेदान्त का पाठ पढ़ आई हो, इसी से ऐसा कह रही हो। पर तुम्हें पता है, आत्मा के साथ शरीर भी लगा है, इन्द्रियाँ भी और मन भी। ये सम्पर्कसूत्र न होते तो न खाना होता, न सूँघना, चखना, सुनना और स्पर्श करना होता। परन्तु अभी तो तुम्हारी आत्मा उस भूमिका पर नहीं पहुँची, इसलिए सभी कुछ व्यवहार करना पड़ेगा।"

फिर भी वह पूर्वाग्रही और जिद्दी महिला नहीं मानी और कहती रही—"ये सब औपाधिक हैं, बाह्य संयोग हैं, इनका आत्मा से कोई वास्ता नहीं है, ये तो अपने आप आते हैं और हट जाते हैं, आत्मा अपने आप में ठीक वैसी ही है, जैसा कि मैंने कहा है।"

अब तो पति महोदय से न रहा गया। उन्होंने उसके निश्चयवाद को परखने के लिए एक जलती हुई लकड़ी लाकर जरा-सी छुआ दी। फौरन महिला चिल्ला उठी—"ओ बापरे! मैं तो जल मरी।"

अन्य कई विद्याएँ बहुत लम्बे अभ्यास के बाद अनुभव से आती हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान भी केवल शास्त्रों को रटने से, विविध पुस्तकों के पढ़ने मात्र से या किसी का अन्धानुकरण करने से ही नहीं आता, उसके लिए भी प्रत्यक्ष अनुभव की आवश्यकता होती है।

अनुभूति की वेदी पर ही संयम, यम-नियम आदि का पालन या आदर्शों का आचरण हो सकता है। जो व्यक्ति केवल निश्चयनय की बातें सुनकर या पढ़कर अथवा घोंटकर चलेगा, वह व्यवहारनय से बिलकुल अनभिज्ञ या अधकचरा व्यक्ति समस्याओं के आने पर धोखा खाएगा। स्वयं भी कष्ट में पड़ेगा और जिनको वह अध्यात्म की एकांगी बात बतायेगा वह भी दुःख में पड़ेंगे।

एक अनुभवहीन वेदान्तवादी बहन किसी अर्धविदग्ध उपदेशक से सुन आई—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

"इस आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न इसे पानी गला सकता है, न ही हवा इसे सुखा सकती है।" निश्चयनय की तरह यह बात उसके दिमाग में घूम रही थी कि "आत्मा न तो खाती है, न पीती है, वह तो बिलकुल निराहारी है।"

घर आते ही उसने चूल्हे की हड़ताल कर दी। जब आत्मा निराहारी है तो आहार क्यों बनाया जाए? शाम को उसके पति अपने दफ्तर से आए। घर में कदम रखते ही चूल्हा ठंडा देखा, श्रीमतीजी को लेटे हुए और उदास देखा तो बोले— "क्या आज तबियत ठीक नहीं है? क्या आज रसोई नहीं बनेगी?"

एकान्त निश्चयवादी उस महिला ने तपाक से कहा—"आत्मा तो निराहारी है, वह तो अजर-अमर है, न कटता है, न जलता है, न गलता है, और न सूखता है। फिर किसके लिए रसोई बनाऊँ?"

"अच्छा, आज निश्चयनय या वेदान्त का पाठ पढ़ आई हो, इसी से ऐसा कह रही हो। पर तुम्हें पता है, आत्मा के साथ शरीर भी लगा है, इन्द्रियाँ भी और मन भी। ये सम्पर्कसूत्र न होते तो न खाना होता, न सूँघना, चखना, सुनना और स्पर्श करना होता। परन्तु अभी तो तुम्हारी आत्मा उस भूमिका पर नहीं पहुँची, इसलिए सभी कुछ व्यवहार करना पड़ेगा।"

फिर भी वह पूर्वाग्रही और जिद्दी महिला नहीं मानी और कहती रही—"ये सब औपाधिक हैं, बाह्य संयोग हैं, इनका आत्मा से कोई वास्ता नहीं है, ये तो अपने आप आते हैं और हट जाते हैं, आत्मा अपने आप में ठीक वैसी ही है, जैसा कि मैंने कहा है।"

अब तो पति महोदय से न रहा गया। उन्होंने उसके निश्चयवाद को परखने के लिए एक जलती हुई लकड़ी लाकर जरा-सी छुआ दी। फौरन महिला चिल्ला उठी—"ओ बापरे! मैं तो जल मरी।"

"जल कहाँ से गई ? तुम तो कहती थीं न, कि आत्मा जलती नहीं है ?" ाति महोदय ने कहा।

अब उसकी अक्ल ठिकाने आई। बोली—"यह तो शरीर के साथ सम्पर्क होने ो जलती है।"

पति बोला—"जैसे शरीर के साथ आत्मा का सम्पर्क होने से वह जलती है, जलने का अनुभव होता है, वैसे ही शरीर के साथ सम्पर्क होने से इसे भूख-प्यास भी लगती है, यह सुनती और सूँघती भी है, आहार भी करती है। सब प्रकार के सुख-दुःख का वेदन—अनुभव भी करती है।"

इसीलिए मैंने कहा कि एकांगी और अधूरा ज्ञान दूसरों के सामने कहने और तदनुसार करने से कई खतरनाक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। अनुभवहीन व्यक्ति उस एकांगी ज्ञान का दुरुपयोग करते हैं। वे आदर्शों की छाया में कई अनर्थ कर बैठते हैं। इसलिए यहाँ जैसे उस निश्चयनयवादी एकांगी अधकचरे ज्ञानी ने उस महिला को भी एकांगी निश्चयनय का पाठ पढ़ाया, साथ में व्यवहारनय का तत्त्व नहीं बताया, इसके कारण घर में गड़बड़झाला पैदा होगई। वैसे ही अन्य एकांगी ज्ञानियों से हो सकती है।

यह क्यों होता है ? इसका कारण है—अनुभूति की तीव्रता का अभाव। व्यक्ति सुनता है, लेकिन अनुभूति में तीव्रता न आने से वह श्रवण कार्यकारी नहीं होता। अनुभूति की तीव्रता होने में तीन कारण प्रतीत होते हैं—पहला है—शब्द, दूसरा है—अनुमान, और तीसरा है—प्रत्यक्षीकरण। शब्द से केवल वस्तु की जानकारी होती है। जानकारी और अनुभूति में अन्तर है। शास्त्रों से जो सुनते हैं, उससे शाब्दिक ज्ञान होता है, अनुभव नहीं। 'चीनी' शब्द सुनते ही पहले उसकी जानकारी होती है, अनूभूति तो चीनी को खाने के बाद होती है।

अनुमान से भी शाब्दिक ज्ञान के साथ जुड़ने पर थोड़ी अनुभूति होती है, किन्तु उस अनुभूति में तीव्रता नहीं आती।

अनुभूति की पूरी तीव्रता प्रत्यक्षीकरण में होती है। आप कह देते हैं अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि आत्मा के विकास के लिए अच्छी बातें हैं। पर यह ज्ञान तो आपको शास्त्रों से हुआ है, अथवा भगवान या महापुरुषों ने कहा है, इसलिए हुआ है। आपने उनका जीवन में अनुभव नहीं किया—प्रत्यक्षीकरण नहीं किया, तब तक आपकी इन बातों के प्रति तीव्र अनुभूति नहीं कहलाएगी। आपने तो केवल पढ़कर या सुनकर केवल शाब्दिक या आनुमानिक ज्ञान के आधार पर ही कह दिया है कि ये बातें अच्छी हैं।

एक पण्डित ससुराल से घर आया तो आते ही आंगन में बैठकर रोने लगा। लोगों ने रोने का कारण पूछा तो जोर-जोर से रोते हुए बोला—"मेरी स्त्री विधवा होगई।"

हितैषीजनों ने उसे समझाया कि "तुम तो जीवित बैठे हो, फिर तुम्हारी पत्नी कैसे विधवा होगई ?"

उसने कहा—"मेरी ससुराल में किसी ने कहा है, भला वह झूठ क्यों बोलेगा ?"

आज स्थिति ऐसी है कि अधिकांश शिक्षित और शास्त्रों को पढ़ने एवं रटने वाले लोग ऐसी तीव्र अनुभूति से रहित हैं, वे केवल शाब्दिक या आनुमानिक ज्ञान के आधार पर दूसरों को तत्त्वज्ञान की बातें कहते रहते हैं, जो कि अधूरा ज्ञान है। उसी तीव्रानुभूति के अभाव में आज अध्यात्मज्ञान आचरणविहीन, लंगड़ा और एकांगी हो गया है।

संत कबीरजी ने इसीलिए इस अनुभूत सत्य को प्रस्तुत किया था—

मेरा-तेरा मनुवा कैसे एक होय रे ?
मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राखा उरझाय रे॥

निष्कर्ष यह है कि अनुभव-ज्ञान के बिना केवल पढ़े-सुने या लिखे ज्ञान को ही सब कुछ ज्ञान मानकर आज कई धुरन्धर पण्डित गर्ज रहे हैं, और अपने आपके महान् ज्ञानी होने का दावा करते हैं। वास्तव में तीव्र अनुभूति के बिना महाज्ञानी या अध्यात्मज्ञानी होने का दावा करके दूसरों के माध्यम से किसी बात को दूसरे के दिमाग में ठसाना बहुत खतरनाक है। उससे जीवन में विसंगति होती है, आत्मतृप्ति नहीं। आत्मिक उत्क्रान्ति होने के बदले स्थितिस्थापकता आ जाती है। इसीलिए कबीरजी ने साफ-साफ कह दिया—

पण्डित और मशालची, दोनों सूझे नाहिं।
औरन को कर चाँदना, आप अंधेरे माहिं॥

दीपक दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है, मगर स्वयं उसके तले तो अंधेरा ही रहता है, इसी प्रकार जो तथाकथित अध्यात्मज्ञानी हैं, वे तीव्र अनुभूतिहीन होने के कारण दूसरों को समझाने के लिए कमर कसे रहते हैं, मगर स्वयं प्रत्यक्ष अनुभूति से रहित होने से अधूरा समझे बैठे हैं। इसीलिए कहा है—

'स्वाज्ञानज्ञानिनो विरलाः'

'अपने अज्ञान को जानने वाले जगत् में विरले ही हैं।'

स्वयं में प्रकाश नहीं, वे दूसरे प्रकाश को नहीं जानते

जीवन में सबसे बड़ी शक्ति अपने आपको देखने-परखने की है। यदि यह प्रकाश किसी के पास है तो वह सच्चा ज्ञानी है। अगर यह प्रकाश नहीं है तो वेदों और पुराणों का, जैनागमों और पिटकों का प्रकाश भी किस काम का ? अमुक धर्म और संस्कृति का प्रकाश भी क्या काम आएगा ? दुनियाभर के प्रकाश उसके सामने चमकें,

पर अगर उसकी आँखें खुली नहीं हैं, या नेत्रों में देखने की ज्योति नहीं है तो बाहर के किसी भी प्रकाश का कोई भी मूल्य नहीं रह जाता है, जीवन में।

एक राजा की सभा में यह प्रश्न छिड़ गया कि जगत् में सबसे बड़ा प्रकाश कौन-सा है। इस पर एक पण्डित ने कहा—"इसमें क्या पूछना है, सूर्य का प्रकाश ही सबसे बड़ा है।"

दूसरे पण्डित ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—"सूर्य का प्रकाश प्रकाश होते हुए बहुत तपता है, वह आनन्ददायक नहीं। प्रकाश तो चन्द्रमा का अच्छा है, जो शीतल भी है, आनन्ददायक भी। इसलिए मेरी समझ में सबसे बड़ा प्रकाश चन्द्रमा का है।"

इस तरह एक के बाद एक पण्डित बोले। किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। एक अन्य पण्डित ने कहा–"राजन् ! चन्द्रमा, सूर्य और अन्य प्रकाश तो केवल मकानों या खुले मैदानों में रोशनी पहुँचाता है, लेकिन घर के अन्दर कोने में सूर्य, चन्द्रमा की रोशनी नहीं पहुँच पाती, वहाँ नन्हा-सा मिट्टी का दीपक ही प्रकाश पहुँचाता है, अंधेरे को मिटाता है। इसीलिए दीपावली पर्व का सारा दारोमदार मिट्टी के दीपक पर है, उसी को इस पर्व का दायित्व सौंपा गया है।"

इस सारी चर्चा के दौरान एक दार्शनिक पण्डित चुपचाप बैठा रहा। राजा ने उसे चुप देखकर कहा—"आप भी तो कुछ कहिए।" उसने कहा—"कहने की अपेक्षा सुनना अधिक अच्छा है। मगर आपका अनुरोध है तो मैं भी कुछ कहूँगा। बात यह है कि सूर्य, चन्द्रमा, दीपक या अन्य सभी प्रकार के प्रकाश प्रकाश हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं; लेकिन सबसे बड़ा प्रकाश तो इन छोटे-से नेत्रों में है। आँख के छोटे-से केन्द्रबिन्दु में जो ज्योति जल रही है, वही तो सबसे बड़ा प्रकाश है। और सब प्रकाश तो हों, लेकिन यह प्रकाश न हो तो कुछ नहीं है, सर्वत्र अन्धकार है। अगर आँखों की रोशनी बुझ गई है या धुंधली पड़ गई है तो हजारों सूर्य प्रकाशित हो जाएँ, लाखों चन्द्रमा और करोड़ों दीपक भी प्रकाशित होते रहें, इनके प्रकाश का जरा भी पता नहीं लगेगा। इनके प्रकाश का मूल्य उसके लिए कुछ भी नहीं रहता। अतः सबसे बड़ा प्रकाश तो इन दो नेत्रों का है।"

हाँ तो, मैं कह रहा था कि जिसके जीवन में अनुभूति के दिव्य नेत्रों का प्रकाश नहीं है, उसके सामने लाख-लाख धर्मग्रन्थों और शास्त्रों का अथवा महापुरुषों का प्रकाश हो तो किस काम का ? जो बात अनुभव से सिद्ध होती है, वह शास्त्रों के पन्ने पलटने से नहीं हो सकती। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हमारे सामने हैं, जिनसे पता चलता है कि सैकड़ों शास्त्रों के विद्वान् शब्दजालरूप महारण्य में फँसे रहते हैं और एक अनुभूति-सम्पन्न, शब्दशास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति उस उलझन को फौरन सुलझा देता है।

तथागत बुद्ध के जीवन की एक घटना है। एक दिन कुछ चतुर एवं बुद्धिमान लोग एक अन्धे आदमी को उनके पास ले गये। उन्होंने कहा—"भंते ! यह आदमी

अंधा है। हम सब इसके हितैषी हैं। हमने इसे तरह-तरह की युक्तियों, तर्कों और अनुमानों तथा शास्त्रवचनों के आधार पर समझाया कि प्रकाश है, लेकिन यह किसी भी तरह से नहीं मानता। इसकी दलीलों के आगे हम निरुत्तर हो जाते हैं। यह कहता है—प्रत्यक्ष छुआकर दिखाओ तो मैं मानूँ कि प्रकाश है। हम इसे प्रकाश का कैसे स्पर्श कराएँ ? यह कहता है, जाने दो, स्पर्श कराके न बताओ तो, मेरे कान हैं, प्रकाश में आवाज करो तो मैं सुन लूं, अथवा मुझे चखाकर दिखाओ या प्रकाश में गंध हो तो मैं सूंघकर पता लगा लूं। हमारे पास इनका कोई उपाय नहीं है। प्रकाश सिर्फ आँखों से देखा जा सकता है और आँख इसके पास हैं नहीं। इसलिए यह हमसे कहता है कि तुम सब अंधे मालूम होते हो और मुझे अंधा सिद्ध करने के लिए तुम प्रकाश की बातें करते हो। इसलिए हम हार-थककर इसे आपके पास लाए हैं। सम्भव है, आप इसे प्रकाश के बारे में समझा सकें।"

तथागत बुद्ध ने कहा—"मैं इसे समझाने की गलती नहीं करूँगा। मेरा समझाना प्रलापमात्र ही सिद्ध होगा। तुम लोग इसे गलत जगह ले आए हो। इसे ले जाओ किसी चिकित्सक के पास, जो इसकी आँख का उपचार कर सके। इसे उपदेश की नहीं, उपचार की जरूरत है। तुम्हारे और मेरे समझाने से इसकी समस्या हल नहीं होगी, इसकी समस्या हाल होगी आँख ठीक होने से। फिर तो यह स्वतः प्रकाश को देख-जान लेगा।"

आगन्तुकों को बुद्ध की बात ठीक लगी। वे उसे एक नेत्र चिकित्सक के पास ले गए और भाग्यवश कुछ महीनों में उसकी आँख ठीक हो गई। अब वह स्वयं प्रकाश को देखने लगा था। बुद्ध के पास जाकर उसने सविनय कहा—"भंते ! मैं गलती पर था। प्रकाश तो था, पर मेरे नेत्रों में प्रकाश नहीं था कि उसे देख सकूँ। अब मैं सब कुछ देख सकता हूँ।"

जब तक अनुभूतियुक्त प्रकाश न हो, प्रकाश के दावेदार न बनो

निष्कर्ष यह है कि विवेक का प्रकाश तो सबके पास होता है, लेकिन कुछ प्रकाश के दावेदार दूसरों के प्रकाश को प्रकाश न बताकर स्वयं जो प्रकाश दे रहे हैं, उसी को प्रकाश मानने की धृष्टता कर रहे हैं। गौतम महर्षि ने यही संकेत किया है कि यदि तुम्हारे पास अनुभव का प्रकाश न हो तो दूसरों को प्रकाश देने या दिखाने का दावा मत करो, न दिखाओ। बुद्ध की तरह उसे अपना अनुभव दे दो ताकि उसके विवेक-नेत्र खुल सके।

एक विद्वान् था, वेदों और शास्त्रों में पारंगत। उसने अनेक शास्त्र घोंट रखे थे। जब देखो तब, उसकी जिव्हा पर शास्त्रवचन होते। इस उपलब्धि का उसे बहुत गर्व था। वह सदा एक जलती मशाल अपने हाथ में लेकर चलता। चाहे दिन हो या रात, यह मशाल उसके साथ हरदम रहती थी। जब कोई उससे इसके रखने का कारण पूछता तो वह कहता—"संसार अंधकार से व्याप्त है। मैं इस मशाल को लेकर

चलता हूँ, ताकि मनुष्यों को कुछ प्रकाश अवश्य मिले। उनके जीवन-पथ पर छाये अंधकार को यह मशाल मिटाकर प्रकाशित करेगी।"

एक दिन एक भिक्षु ने उसके यह शब्द सुने तो मुस्कराकर बोला—मित्र ! अगर आपके नेत्र इस सर्वव्यापी सूर्य को नहीं देख सकते, वे ज्योति विहीन हैं, तो सारे संसार को अंधकारपूर्ण तो मत कहिए। फिर आपकी यह मशाल सूर्य के प्रकाश को क्या प्रकाश देगी ? और जो सूर्य को ही नहीं देख पा रहे हैं, वे तुम्हारी इस छोटी-सी मशाल को कैसे देख सकेंगे ?"

आज अनेक धर्मगुरुओं, उपदेशकों और अध्यात्मवेत्ताओं की मशालें इस विश्व-आकाश में जलती दिखाई दे रही हैं। सभी का दावा है कि उनके अतिरिक्त अन्यत्र अन्य कोई प्रकाश ही नहीं है। इसलिए दूसरों को अध्यात्मज्ञान का प्रकाश देने या प्रकाश देने का दावा करने से पहले स्वयं अपने आपको प्रकाशित करो। आप स्वयं ज्ञान से प्रकाशित हो जाएँगे तो फिर योग्यपात्र को देखकर तत्त्वज्ञान देने में आपको कोई संकोच नहीं होगा। गीता में भी यही कहा है—

"उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।"

"वे तत्त्वदर्शी एवं ज्ञानी तुम्हें ज्ञान (अध्यात्मतत्त्वज्ञान) का उपदेश देंगे, उनके पास जाओ।"

पहले स्वयं शास्त्रों के रहस्य को समझो

तथागत बुद्ध का एक वाक्य है—'**अप्पदीपो भव**' अपने स्वयं के दीपक बनो, तब दूसरों को अर्थबोध कराने का प्रयत्न करो। जैनशास्त्रों में जगह-जगह 'गीतार्थ' शब्द आता है। उसका अर्थ भी यही है कि जो स्थानांग, समवायांग आदि शास्त्रों का अर्थ, परमार्थ, रहस्यार्थ युक्ति-प्रयुक्ति और अनुभव से जान गया है, जिसने शास्त्र के अर्थों को आत्मसात् कर लिया है, दूसरे अगीतार्थ साधु उसी के निश्राय में रह सकते हैं, विचरण कर सकते हैं। ऐसा गीतार्थ अपने निश्रित विचरण करने वाले साधुओं को अध्यात्मज्ञान के विविध व्यावहारिक पहलू भी समझाता है। वह अनुभव और शास्त्रवचनों का समन्वय करके स्वयं चलता और दूसरों को चलाता है।

इसीलिए महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र के द्वारा यह संकेत कर दिया है कि किसी को झटपट तत्त्वज्ञान या उपदेश देने की उतावल न करो, पहले स्वयं को खूब तैयार कर लो, शास्त्रवचनों का, अध्यात्मतत्त्वों का निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से गहन अध्ययन करो, तत्पश्चात् उसका सक्रिय आचरण करके अनुभव करो, तभी दूसरों को उसका बोध या उपदेश दो, अन्यथा अपरिपक्वदशा में दिया गया बोध व्यर्थ प्रलाप-मात्र होगा।

बौद्धजगत् की एक कम्बोडियन कथा है। उसका सारांश यह है कि एक दिन कम्बोज सम्राट् तिङ्मिङ् की राजसभा में एक बौद्धभिक्षु आया। कहने लगा—"राजन् ! मैं त्रिपिटकाचार्य हूँ, १५ वर्ष तक सारे बौद्धजगत का तीर्थाटन करके मैंने

सद्धर्म के गूढ़ तत्त्वों का रहस्योद्घाटन कर लिया है। अब मैं आपके राज्य का धर्माचार्य बनना चाहता हूँ, इसी कामना से यहाँ आया हूँ।"

सम्राट् भिक्षु की कामना सुन किंचित् मुस्कराकर बोला—"आपकी सदिच्छा मंगलमयी है, लेकिन मेरी प्रार्थना है कि आप सभी धर्मग्रन्थों की एक आवृत्ति और कर डालें।"

भिक्षु मन ही मन बड़ा क्षुब्ध हुआ, पर सम्राट् के आगे व्यक्त न कर सका। सोचा—"क्यों न एक आवृत्ति और करके मुख्य धर्माचार्य का पद प्राप्त कर लूं।"

दूसरे वर्ष जब वह सम्राट् के सामने उपस्थित हुआ तो सम्राट् ने फिर कहा—"भगवन् ! एकान्तसेवन के साथ एक बार और धर्मग्रन्थों का पारायण कर लें तो श्रेयस्कर होगा।"

भिक्षु के क्रोध की सीमा न रही। अपमानदंशपीड़ित भिक्षु दिनभर भटकता भटकता शाम को एक सुनसान नदी पट पर आया, रात्रि प्रारम्भ होते ही नियमानुसार सान्ध्य प्रार्थना में बैठ गया। आज की प्रार्थना में उसे अपूर्व आनन्द आया। शब्दों के नये-नये अर्थ चेतना पर स्फुरित होने लगे। वह रातभर अपूर्व मस्ती में डूबा रहा। दूसरे दिन सुबह होते ही धर्मशास्त्र लेकर बैठ गया। लगातार सात दिन तक इसी प्रकार शास्त्रपाठों के नये-नये अर्थों की स्फुरणा अपनी अनुभूति और युक्ति के साथ उसकी चेतना में होती रही।

सातवें दिन सम्राट् तिङ्मिङ् स्वयं उन्हें प्रार्थना करने आए—"भंते ! पधारिए। धर्माचार्य के आसन को सुशोभित कीजिए।" परन्तु भिक्षु की धर्माचार्य बनने की महत्त्वाकांक्षा अब समाप्त हो चुकी थी, पाण्डित्य और अध्यात्मज्ञान के अहंकार का स्थान अब आत्मज्ञान के आनन्द ने ले लिया था। मंद मुस्कान के साथ भिक्षु ने कहा—"राजन् ! अब मेरी महत्त्वाकांक्षा धर्माचार्य बनने की नहीं रही। सद्धर्म, अध्यात्मज्ञान आदि आचरण की वस्तुएँ हैं, कोरे उपदेश की नहीं। आचरणपूर्वक उपदेश किसी जिज्ञासु को अहंकाररहित होकर दिया जाए तो ठीक है।"

बन्धुओ ! महर्षि गौतम ने इसी आशय को लेकर इस जीवनसूत्र में कहा है—

'असंपहारे कहिए विलावो'

क्या आध्यात्मिक और क्या व्यावहारिक सभी क्षेत्रों में बिना अनुभव के कोई बात किसी को कहना विलापमात्र ही होती है। इस पर आप सभी गहराई से मनन-चिन्तन करें और जीवन में आचरित करने का पुरुषार्थ करें। ☆

३९
विक्षिप्तचित्त को कहना : विलाप

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं एक अन्य सत्य का उद्घाटन करना चाहता हूँ, जो प्रत्येक साधक के लिए जीवन में उपयोगी है। नैतिक दृष्टि से भी इसका उपयोग जीवन में है और आध्यात्मिक दृष्टि से भी। इसे अपनाए बिना साधक मानसिक क्लेश से संतप्त होगा और निमित्तों को भी शायद कोसने लगेगा। गौतम कुलक का यह तेतीसवाँ जीवनसूत्र है, जिसका महर्षि गौतम ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

'विविखत्तचित्ते कहिए विलावो'

'जिसका चित्त विक्षिप्त हो, उसे तत्त्वज्ञान की अथवा अन्य किसी नैतिक जीवनतत्त्व की बात कहना बेकार है, विलाप है।'

विक्षिप्तचित्त क्या और क्यों ?

हमारे शरीर के साथ अन्तःकरण का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। अन्तःकरण के वैदिक दर्शनों में चार अंग माने गये हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। उनमें से चित्त अन्तःकरण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जैनदर्शन मन के ही अन्तर्गत शेष तीनों का समावेश कर लेता है।

हाँ, तो चित्त का काम है—चिन्तन करना। किसी कार्य को करने से पहले उसका चिन्तन चित्त से किया जाता है। अगर चित्त ठीक हो, एकाग्र हो, समाहित हो, अवधानयुक्त हो, इधर-उधर बिखरा हुआ न हो तथा किसी एक चिन्तन के लिए अभीष्ट वस्तु में एकाग्र हो तो उस कार्य का चिन्तन अच्छा होता है। और जिस कार्य के विषय में अच्छा चिन्तन होता है, वह कार्य भी ठीक होता है। इसलिए क्या आध्यात्मिक और क्या व्यावहारिक, सभी क्षेत्रों में चित्त को एकाग्र करना दत्तचित्त होना, बहुत ही आवश्यक माना गया है।

एक व्यक्ति बहुत ही सुन्दर वेशभूषा में सुसज्जित है, तेल, इत्र, आदि लगाये हुए है, उसका शरीर-सौष्ठव भी अच्छा है, किन्तु उसका चित्त किसी चिन्ता से व्याकुल है, या उसका चित्त किसी इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग के कारण शोकाक्रान्त है, अथवा उसको किसी कार्य में असफलता मिली है, किसी ने भारी अपमान कर दिया है, इसके कारण चित्त में उच्चाट है, उसका चित्त घर के या व्यवसाय के

किसी काम में नहीं लगता, अथवा चित्त किसी बीमारी, पीड़ा, व्याधि या आधि के कारण उखड़ा हुआ है, उसका चित्त पाँचों इन्द्रियों में से किसी के भी विषय में अत्यन्त मुग्ध और लुब्ध है, उसके चित्त में कोई प्रेमिका बसी हुई है, या किसी विरोधी की हत्या करने, किसी के यहाँ चोरी-डकैती करने या किसी वस्तु को अपने कब्जे में करने की योजना में चित्त संलग्न है, उस समय वह अपने चित्त को घर या व्यवसाय के किसी काम में लगाना चाहता है, तब वह बिलकुल नहीं लगता, इसे ही शास्त्रीय परिभाषा में विक्षिप्तचित्त कहते हैं।

वैसे विक्षिप्त पागल को भी कहते हैं। जैसे पागल आदमी किसी एक विचार, निश्चय या संकल्प पर स्थिर नहीं रह सकता, वह भी एक क्षण पहले कुछ सोचता है, क्षणभर बाद उस विचार से बिलकुल उलटे विचार करता है। इसी प्रकार विक्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति भी पागल-सा, उद्विग्न, वहमी, झक्की या सनकी हो जाता है। विक्षिप्त अवस्था चित्त की एक भूमिका है, जहाँ चित्त चंचल और अस्थिर रहता है।

जैसे किसी तालाब या नदी के शान्त पानी में ढेला या पत्थर डाला जाए तो वह पानी क्षुब्ध या चंचल हो उठता है, उसमें एक साथ कई लहरें उठती हैं, उस पानी में कोई यदि अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहे तो नहीं देख सकता, इसी प्रकार चित्तरूपी शान्त-सरोवर में कोई व्यक्ति क्रोध-लोभ आदि विकारों के ढेले या पत्थर फेंके तो वह भी क्षुब्ध या चंचल हो उठता है, उसमें भी विकृतियुक्त विचारों की असंख्य तरंगें उठती हैं। इस प्रकार के चंचल तरंगयुक्त चित्त में कोई अपने आत्म-स्वरूप का प्रतिबिम्ब देखना चाहे, अथवा अपने अभीष्ट कार्य का ठीक चिन्तन करना चाहे तो कभी नहीं कर सकता। ऐसा चित्त विक्षिप्तचित्त है, जिसमें एकाग्रता और शान्ति से, निराकुल एवं समत्वयुक्त—संतुलित होकर कोई भी अभीष्ट चिन्तन नहीं हो सकता।

यही कारण है कि आध्यात्मिक साधना में सर्वप्रथम क्लिष्ट चित्तवृत्तियों के निरोध की बात कही गई है। योगसाधना का पहला पाठ चित्तवृत्ति के निरोध, चित्त की तन्मयता, एकाग्रता और समत्व से चलता है। चित्तवृत्ति एकाग्र एवं स्थिर हो जाने के बाद जो भी आध्यात्मिक या यौगिक साधना की जाती है, वह ठीक ढंग से चलती है, उसमें उत्तरोत्तर सफलता मिलती चली जाती है। इससे साधक का उत्साह, श्रद्धा और आत्मविश्वास बढ़ता है, वह आगे की भूमिका पर यथाशीघ्र आरूढ़ हो जाता है।

योग के जो यम, नियम आदि आठ अंग हैं, उनमें भी सफलता या उनकी सफलतापूर्वक आराधना-साधना भी तभी हो सकती है, जब पहले चित्तवृत्ति एकाग्र और तन्मय हो। यदि चित्त अन्यमनस्क हो, दूसरी ओर संलग्न हो, किसी विकार में ग्रस्त हो, अथवा किसी आर्त्त-रौद्रध्यान में संलग्न हो तो यम, नियम आदि का पालन या साधना ठीक ढंग से नहीं हो सकती।

चित्त प्रसन्न या स्वच्छ न हो तो भगवान की सेवा-पूजा या स्तुति-भक्ति भी नहीं हो सकती, अस्वच्छ या विक्षिप्त चित्त में भक्ति-स्तुति करते समय नाना विकल्पों की तरंगें उठेंगी। इसीलिए योगीश्वर आनन्दघनजी ने कहा—

"चित्त प्रसन्ने रे पूजनफल कह्यु, पूजा अखण्डित एह"

मंत्रशास्त्र का भी यह नियम है कि किसी भी मंत्र का जब तक चित्त की एकाग्रता या तन्मयतापूर्वक जाप नहीं किया जाता, तब तक उसमें सफलता या सिद्धि नहीं मिल सकती, न उस प्रकार के विक्षिप्त चित्त से किये गये मंत्रजाप से अभीष्ट प्रयोजन ही सिद्ध होता।

अध्ययन के क्षेत्र में भी यही बात है। जब तक विद्यार्थी का चित्त अध्ययन के लिए अभीष्ट विषय में एकाग्र नहीं होगा, जब तक छात्र दत्तचित्त होकर उस विषय के अध्ययन में संलग्न नहीं होगा, तब तक विद्यार्थी को उसमें सफलता नहीं मिलेगी। अगर विद्यार्थी अपने चित्त को विद्याध्ययन में न लगाकर ऐशआराम, सैरसपाटे, शरीर की साजसज्जा, नाटक-सिनेमा के अवलोकन, आवारागर्दी एवं मनमाने निरंकुश आचरण में लगा देगा, तो निःसन्देह उसका विद्याध्ययन वहीं ठप्प हो जाएगा। कदाचित् वह विद्यालय की अपनी कक्षा में पढ़ने बैठेगा, किताब भी सामने खोलकर रखेगा, पाठ भी रटता हुआ-सा दिखाई देगा, परन्तु उसका चित्त कहीं अन्यत्र होगा। उसके चित्त में दूसरे ही सपने होंगे। वह अपने घरवालों की आँखों में धूल झोंक सकता है कि हमारा लड़का पढ़ रहा है, वह गुरुकुल में है, या विद्यालय में पढ़ने जाता है, परन्तु उस विद्यार्थी का चित्त किसी दूसरे ही क्षेत्र में विचरण कर रहा होता है। भला बताइए, विक्षिप्तचित्त विद्यार्थी कैसे सफल हो सकता है, विद्याध्ययन में ?

इसीलिए प्राचीनकाल में गुरुकुलों में प्रवेश करते समय विद्यार्थी को सर्वप्रथम चित्त की एकाग्रता और तन्मयता का अभ्यास कराया जाता था। किसी-किसी गुरुकुल में तो चित्त की एकाग्रता की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही छात्र को गुरुकुल में भर्ती किया जाता था।

मैंने कहीं पढ़ा था कि एक प्रसिद्ध लामा ने अपनी आत्मकथा में अपने विद्यापीठ-प्रवेश का वर्णन लिखा है कि जब मैं पांच वर्ष का था, मुझे विद्यापीठ में अध्ययन के लिए भेजा गया। रात को मेरे पिता ने मुझसे कहा—"बेटा ! कल सुबह ४ बजे तुझे विद्यापीठ के लिए प्रस्थान करना है। स्मरण रहे सुबह घर से तेरी विदाई के समय न तो तेरी माँ होगी और न मैं रहूँगा। माँ उस समय इसलिए नहीं रहेगी कि उसकी आँखों में आँसू आ जाएँगे, और रोती हुई माँ को छोड़कर तू जाएगा तो तेरा चित्त विद्याध्ययन में न लगकर सदा घर में लगा रहेगा। हमारे कुल में आज तक कोई भी ऐसा लड़का नहीं हुआ, जिसका चित्त विद्याध्ययन के समय पीछे की तरफ लगा रहता हो। और मैं इसलिए मौजूद नहीं रहूँगा कि अगर घोड़े पर बैठकर तूने

एक दफा भी पीछे की ओर देख लिया तो तेरा चित्त विक्षिप्त समझा जाएगा, और विक्षिप्तचित्त वाले लड़के का फिर हमारे घर में कोई स्थान नहीं रहेगा। यह इस-लिए कि विक्षिप्तचित्त का होने से तू न तो विद्याध्ययन ठीक से कर सकेगा और न ही किसी व्यावहारिक कार्य में सफल होगा ! हाँ, तो तुझे सुबह नौकर विदा दे देंगे। पर याद रखना, घोड़े पर चढ़कर भूलकर भी पीछे की ओर मत देखना। अन्यथा, इस घर से तेरा सम्बन्ध समाप्त हो जाएगा।"

"हाँ, तो मैं पाँच वर्ष का था, उस समय चित्त ऐसी कठोर साधना की अपेक्षा की गई। सुबह ४ बजे मुझे उठा दिया गया और नौकरों ने विदा कर दिया। चलते वक्त नौकरों ने भी कहा—"बेटे, पीछे मुड़कर न देखना, होशियारी से जाना। इस घर के सब बच्चे विद्यापीठ के लिए इसी तरह विदा हुए हैं, जिन्होंने पीछे लौटकर नहीं देखा। तुम जहाँ भेजे जा रहे हो, वह विद्यापीठ साधारण नहीं है, देश के श्रेष्ठतम महापुरुषों का जीवन निर्माण वहाँ से हुआ है। पर वहाँ प्रवेश के समय तुम्हारे चित्त की एकाग्रता की कठोर परीक्षा होगी। भरसक कोशिश करके इस प्रवेश-परीक्षा में सफल होना, क्योंकि वहाँ की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होगए तो फिर इस घर में तुम्हारे लिए कोई स्थान न रहेगा।'

"पाँच वर्ष का बच्चा ही तो था, आँखों में आँसू भर आए, लेकिन न तो मैं जोर से रोया, न पीछे मुड़कर देखा, क्योंकि यह डर था कि पिताजी ने पीछे मुड़कर देखते देख लिया तो फिर मैं हमेशा के लिए इस घर का न रहूँगा।"

आगे वह लिखता है—"मैं विद्यापीठ में पहुँच गया। विद्यापीठ के प्राचार्य ने कहा—'वत्स ! यहाँ विद्यापीठ की प्रवेश-परीक्षा बड़ी कठोर है, शायद तुम्हें अपने पिताजी ने बताया होगा।' और उन्होंने मेरे चित्त की एकाग्रता की कठोर परीक्षा लेने हेतु मुझे कहा—'देखो, इस द्वार पर आँखें बंद करके बैठ जाओ। जब तक मैं यहाँ वापस न आऊँ तब तक आँखें मत खोलना, चाहे कुछ भी हो जाय। यह तुम्हारी प्रवेश-परीक्षा है। अगर तुमने एक बार भी आँख खोल ली तो हम तुम्हें यहां से वापस लौटा देंगे। जिस छात्र में अपने चित्त पर इतना भी काबू नहीं है, वह विद्यापीठ के पाठ्यक्रम में कैसे चित्त लगा सकेगा और क्या सीख सकेगा ? आंखें बन्द करने जितना भी चित्त पर नियंत्रण नहीं है, उसके अध्ययन करने या सीखने का दरवाजा बंद होगया। फिर तुम इस (अध्ययन के) काम के नहीं रहोगे, और काम करना'।"

लामा ने आगे लिखा है—"मैं आँखें मूँदकर दरवाजे पर बैठ गया। मुझे मक्खियाँ सताने लगीं, पर आँखें खोलकर देखना नहीं है। आँखें खोलीं तो सारा मामला समाप्त ! फिर विद्यापीठ में पढ़ने आए हुए बच्चों में से कुछ मेरे पास से अड़कर जाने लगे, कुछ मुझे धक्का देने लगे, कुछ बच्चे मेरे पर कंकर फैंकने लगे, तो कोई और तरह से परेशान करने लगे, परन्तु आँख खोलकर देखा तो सब मामला

खत्म । प्रवेश-परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुआ तो यहाँ प्रवेश नहीं हो सकेगा और
स्थिति में घर में भी मेरा प्रवेश बंद हो जाएगा । अतः आँखें खोलने के सभी निर्
उपस्थित होते हुए भी मैंने भूल से भी आँखें न खोलीं । एक घंटा हुआ, दो घंटे
तीन, चार और पाँच घंटे हुए, अभी तक प्राचार्य नहीं आए । मन तो हुआ कि अ
खोलकर देखूँ तो सही कि प्राचार्य आकर कहीं चुपचाप न बैठे हों । पर वैसा
किया । आखिर छह घंटे बाद प्राचार्य आए । उन्होंने कहा—'वत्स ! तेरी प्रवे
परीक्षा पूरी होगई । तू इस परीक्षा में सफल हुआ इसके लिए धन्यवाद । तेरे चि
में एकाग्रता की शक्ति है, उससे तेरा संकल्प प्रबल बनेगा । तू विद्याध्ययन ही न
चाहे जैसा कठिनतम सत्कार्य कर सकता है । आ विद्यापीठ में प्रवेश कर ।' प्राच
ने पीठ थपथपाते हुए कहा—'शाबाश बेटे ! पाँच छह घंटे आँख बंद करके इस
में बैठना कोई मामूली बात नहीं है । तुझे जो बच्चे सता रहे थे, मैंने ही उन्हें
परीक्षा के लिए भेजे थे, उन बच्चों पर गुस्सा मत करना ।"

हाँ तो, उस बालक की अनुशासित या एकाग्र चित्त की इतनी कठोर परी
इसलिए ली गई थी कि वह विद्यापीठ में विद्याओं और कलाओं का अध्ययन दत्ति
होकर कर सकेगा । अपने चित्त को प्रत्येक कार्य में अनुशासित और एकाग्र
सकेगा । यह थी प्राचीन विद्यापीठ की प्रणाली !

चित्त की एकाग्रता से अद्भुत चमत्क

बन्धुओ ! इस प्रकार चित्त की एकाग्रता से, तन्मयता से या केन्द्रित होने
बड़े-बड़े भागीरथ कार्य मिनटों में सम्पन्न हो जाते हैं, परन्तु चित्त विकेन्द्रित
बिखरा हुआ या व्यग्र हो तो कोई भी कार्य वर्षों तक नहीं हो पाता । संसार में जि
भी जादू के चमत्कार हैं, वे सब चित्त की एकाग्रता से होने वाले प्रबल संकल्प के
तो चमत्कार हैं ।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन की एक घटना है—

एक बार स्वामी विवेकानन्द हैदराबाद की यात्रा कर रहे थे । एक व्यक्ति
आकर स्वामीजी को प्रणाम किया और सविनय याचना की—"स्वामीजी ! मेरे ब
को तीव्र ज्वर है । यदि आप उसके सिर पर हाथ रख दें तो उसका ज्वर मिट जा
मैंने सुना है, महात्मा लोगों के ऐसा करने से बड़े-से बड़े रोग तक मिट जाते हैं ।'

स्वामीजी ने सोचा कि महात्माओं का चित्त शुद्ध, निर्मल व एकाग्र होता
इसलिए उनके द्वारा किये जाने वाले संकल्प में बहुत बड़ी शक्ति होती है, वे चाहें
पहाड़ को भी क्षणभर में हिला सकते हैं, ब्रह्माण्ड को भी कम्पित कर सकते हैं । ब
बात नहीं, अगर इसका भला होता हो तो ।

साथ ही स्वामी विवेकानन्दजी से किसी ने कहा—"स्वामीजी ! यह आ
बहुत बड़ा जादूगर है । यह दूसरे के मन की बात को भी जान लेता है, बड़ा च

त्कारी है।" अतः स्वामीजी ने उससे कहा—"अगर तुम मुझे अपना चमत्कार दिखाओ तो मैं तुम्हारे बच्चे के सिर पर हाथ रख सकता हूँ।" उसने यह शर्त सहर्ष स्वीकार की।

स्वामीजी ने चित्त को बिलकुल एकाग्र करके प्रबल संकल्प के साथ उस बच्चे के सिर पर हाथ रखा कि थोड़ी ही देर में बच्चा ठीक होगया। अब जादूगर का नम्बर आया। उसके कहने पर स्वामीजी ने उससे ताजे गुलाब के फूल, सेव और कुछ वस्तुएँ माँगीं। स्वामी एवं अन्य लोग यह देखकर चकित होगए कि थोड़ी ही देर में उसने अपनी कंबल से एक-एक करके सब चीजें निकाल कर दे दीं। वह व्यक्ति संस्कृत नहीं जानता था। स्वामीजी ने संस्कृत का एक श्लोक अपने मन में सोच लिया। जब उससे पूछा गया कि स्वामीजी ने अपने मन में क्या सोचा है? तो उसने तपाक से कहा—"अपनी जेब में पड़ा कागज निकालिए।"

स्वामीजी ने जेब से वह कागज निकालकर देखा तो वही श्लोक उसमें अंकित था, जो स्वामीजी ने मन में सोचा था। सभी आश्चर्यचकित लोगों को स्वामी ने बताया कि यह सब चित्त की एकाग्रता से किये जाने वाले प्रबल संकल्प का चमत्कार है। चित्त की एकाग्रता से बड़े-बड़े कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

एकाग्रचित्त से होने वाला संकल्पः सर्वोपरि शक्ति

विक्षिप्तचित्त से कोई संकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि बिखरा हुआ चित्त तो डांवाडोल होता है; उसमें कोई भी शुभ विचार अधिक देर टिक नहीं पाता, और संकल्प में तो विचार बीज का अधिक देर तक टिकना आवश्यक है। कोई भी बीज बोने पर जब अधिक समय तक टिकता है, तभी वह जमता है, और उसमें से अंकुर फूटते हैं, इसी प्रकार चित्त की भूमि में विचारों के बीज अधिक देर तक टिकेंगे, तभी वे संकल्प का रूप लेंगे।

विक्षिप्त चित्त-भूमि में विचारों के बीज को काम-क्रोधादि दुर्विकल्पों की आँधियाँ उड़ा ले जाती हैं, वे जरा-सी देर टिक पाते हैं, तब उनमें से सकल्प का अंकुर कैसे प्रस्फुटित होगा? और संकल्प ही सिद्धि के लिए सर्वोपरि शक्ति है, जो कि एकाग्र चित्त-भूमि में ही पैदा हो सकता है।

वैज्ञानिकों ने जितने भी नव-नवीन आविष्कार किये हैं, सामाजिकों ने जितने भी सुधार या परिवर्तन किये हैं, या जितने भी मानव-कल्याण के उत्तम कार्य होते हैं, विद्याएँ, कलाएँ, शिल्प, या अन्य ज्ञान प्राप्त किये जाते हैं, वे सब एकाग्र चित्त-भूमि में होने वाले संकल्प के ही शुभ परिणाम हैं।

एकाग्रचित्त समुत्पन्न संकल्प ही सर्वोपरि शक्ति है, इसे समझने के लिए तथागत बुद्ध से हुए एक संवाद का उल्लेख करना यहाँ उपयुक्त होगा—

पत्थर की एक चट्टान को देखकर तथागत बुद्ध से उनके एक शिष्य ने पूछा—

"भंते क्या इस चट्टान पर किसी का शासन सम्भव है ?" बुद्ध ने शिष्य की जिज्ञासा को शान्त करते हुए कहा—"पत्थर से कई गुनी शक्ति लोहे में होती है। इसीलिए तो लोहा पत्थर को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देता है।"

शिष्य ने पूछा—"तो फिर लोहे से भी बढ़कर श्रेष्ठ कोई और वस्तु है ?"

बुद्ध बोले—"क्यों नहीं ? अग्नि है, जो लोहे के अहं को गलाकर उसे द्रवरूप में परिणत कर देती है।"

शिष्य—"अग्नि की विकराल ज्वालाओं के सामने तो किसी की क्या चल सकती होगी, भंते ?"

बुद्ध—"वह केवल जल है, जो अग्नि से टक्कर लेकर उसे बुझा सकता है, उसकी गर्मी को शीतल कर सकता है।"

शिष्य—"मेरे खयाल से जल से टकराने की तो किसी में ताकत नहीं होगी ? क्योंकि प्रतिवर्ष बाढ़ तथा अपार जलवृष्टि के रूप में जल प्रचुर धन-जन की हानि कर देता है।"

बुद्ध—"ऐसा क्यों सोचते हो, वत्स ! दुनिया में एक से एक बढ़कर शक्तिशाली पड़े हैं। जल से बढ़कर शक्तिशाली वायु है, जिसका प्रवाह जल-धारा की दिशा ही बदल देता है, तूफान के रूप में आने पर जल को नचा देता है। संसार का प्रत्येक प्राणी वायु के महत्त्व को जानता है, क्योंकि इसके बिना जीवन का आधार ही कौन-सा है ?"

शिष्य—"भंते ! जब प्राणवायु ही जीवन है, तब इससे बढ़कर महत्त्वपूर्ण किसी वस्तु के होने का कोई सवाल ही नहीं उठता।"

तथागत बुद्ध ने मुस्कराते हुए कहा—"तुम भूल रहे हो, वत्स ! मनुष्य के एकाग्रचित्त से समुत्पन्न संकल्प-शक्ति द्वारा वायु ही क्या, पूर्वोक्त सभी वस्तुएँ वश में की जा सकती हैं, की जाती रही हैं। अतः एकाग्रचित्त मानव की संकल्प-शक्ति ही सर्वोपरि है।

मनुष्य ने जब इस धरती पर आकर आँखें खोलीं, तब उसके पास क्या था ? माता के उदर से जन्म लेकर इस पृथ्वी पर आया, क्या उस समय उसके पास वस्त्र, मकान, आभूषण या अन्य कोई सामान था ? आज जो कुछ उसके पास दीख रहा है, उसमें से कुछ भी तो नहीं था। केवल एक छोटा-सा नंगा तन था। फिर ये सब साधन कहाँ से आ गए ? ये बड़े-बड़े आलीशान भवन, ये कल-कारखाने, ये जलयान, विमान या धूम्रयान आदि कहाँ से आए ? जो कुछ सभ्यता, संस्कृति, दर्शन और धर्म का विकसित गंभीरतम चिन्तन हुआ है, वह कहाँ से पैदा हुआ है ? यह सब एकाग्र-चित्त की संकल्पशक्ति का ही सर्जन है। इसलिए मैं कहता हूँ कि चित्त की एकाग्रता

में ही परमशक्ति निहित है। इससे आप समझ गये होंगे कि एकाग्रचित्त का कितना महत्त्व है।

वस्तुतः चित्त को एकाग्र स्थिति में लाए बिना उसकी शक्तियों से अभीष्ट लाभ नहीं उठाया जा सकता। जो मनुष्य अपने चित्त को एकाग्र कर लेता है वह किसी भी सत्कार्य में अपनी शक्तियों का एक साथ प्रयोग कर सकता है। मनुष्य का एकाग्रचित्त उसकी उन्नति, जीवन के विकास का एकमात्र आधार माना गया है।

जिस प्रकार आतशी शीशा सूर्य की किरणों को एकाग्र कर किसी चीज को भी जला देने की शक्ति सम्पादित कर लेता है, उसी प्रकार एकाग्रचित्त अपनी एकत्रित शक्तियों द्वारा कोई भी प्रयोजन सिद्ध कर सकता है। संसार में जितने भी व्यक्ति उन्नति के शिखर पर चढ़ सकने में सफल हुए हैं, वे सब चित्त की एकाग्रता से ही हुए हैं। यदि चित्त को विक्षिप्त और चंचल बनाकर बीच-बीच में अपने अभीप्सित कार्य को छोड़कर, दूसरे-तीसरे कार्य में लग जाते तो उनका कोई भी कार्य पूरा न होता क्योंकि बिखरी चित्तवृत्तियों द्वारा कभी किसी कार्य को पूरा कर सकना संभव नहीं है। बिखरा और चंचल चित्त मनुष्य की सारी क्षमताएँ बिखेरकर उन्हें निर्बल और निरर्थक बना देता है। अतः चित्त को किसी एक लक्ष्य, किसी एक वस्तु या कार्य-प्रवृत्ति में केन्द्रित कर देने से उसकी एकाग्रता बढ़ती है और एकाग्रता ही समस्त शक्तियों का स्रोत है।

सूर्य की किरणों में भयंकर आग है, किन्तु सारे संसार में फैली होने के कारण वे किसी चीज को गर्म तो कर देती हैं, लेकिन जला नहीं पातीं। इसका कारण यह है कि वे (किरणें) सूर्य की अग्नि का थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर अलग-अलग छितरी रहती हैं,किन्तु जब ये किसी उपाय द्वारा एकाग्र करके प्रयुक्त की जाती हैं, तो तुरंत ही भयंकर अग्नि का रूप धारण कर लेती हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि अगर किसी उपाय से सूर्य की बिखरी किरणों को एक स्थान पर एकत्र करके उन्हें जिस दिशा में भी सन्धान कर दिया जाएगा, उस दिशा की सारी वस्तुओं को वे जलाकर खाक बना देंगी। इसी प्रकार चित्त की शक्तियों के एकीकरण द्वारा उसे एकाग्र करके कोई महत्तम कार्य किया जा सकता है।

निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति किसी उत्तम उद्देश्य के लिए अपने चित्तैकाग्र्य की सम्पूर्ण शक्ति से काम करता है, उसका वह कार्य कभी निष्फल नहीं जाता। बन्दूक चलाने वाले बन्दूक की गोली में शक्ति को केन्द्रित कर देते हैं, जिससे वह गोली चार आदमियों को छेदकर पार निकल जाती है। चित्त की एकाग्रता की शक्ति उससे भी कई गुना अधिक है।

अमेरिका के एक महान् विद्वान विलियम ए. आवरी अपना अनुभव लिखते हैं कि स्कूल में पढ़ते समय मुझे लेटिनभाषा का एक पाठ याद करने में दो घंटे लग जाते थे। मैं अपने चित्त को एकाग्र करके ध्यानपूर्वक उसी पाठ को कम समय में याद

करने लग गया। प्रत्येक वार पाँच-दस मिनट कम करते हुए अन्त में मैं उसी पाठ को आध घंटे में याद करने लगा। इस तरह वह चित्त की एकाग्रता का महत्त्व समझ गया और आगे चलकर उसने अनेक विद्याओं का वहुत शीघ्र अध्ययन कर लिया।

चित्त की एकाग्रता से कार्य करने की अद्‌भुत शक्ति प्राप्त हो जाती है। मैंने एक जगह पढ़ा था—'न्यूयार्क ट्रिब्यून' का सम्पादक 'होरेस ग्रीलि' जिस समय घर के पास के रास्ते से होकर कोई बड़ा जुलूस निकल रहा हो, वड़े जोर से बैंडवाजा वज रहा हो, उस समय भी घर के दरवाजे पर बैठा सम्पादकीय लेख लिखता रहता। ये लेख इतने तथ्यपूर्ण और गंभीर होते थे कि जगह-जगह उन्हें उद्धृत किया जाता था। एक वार कटु आलोचनापूर्ण लेख से क्रुद्ध होकर एक व्यक्ति ने 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' के कार्यालय में पहुँचकर सम्पादक से मिलना चाहा। अतः उसे ७ फीट चौड़ी और ६ फीट लम्बी एक कोठरी में पहुँचा दिया गया, जहाँ ग्रीलि टेबल पर अपना सिर झुकाए वड़ी फुर्ती से लिखता जा रहा था। आगन्तुक ने आते ही पूछा—"आप ही ग्रीलि हैं?"

ग्रीलि ने कागज पर से नजर उठाये विना ही उत्तर दिया—"जी हाँ, आपको क्या काम है?" उस क्रुद्ध व्यक्ति ने फिर सभ्यता, कुलीनता, बुद्धि सवको ताक में रखकर अपनी जीभ की लगाम ढीली छोड़ दी। लगभग २० मिनट तक उसने आक्षेपों और गालियों की ऐसी बौछार की, जैसी कभी न सुनी गयी थी। किन्तु ग्रीलि उस तरफ जरा भी ध्यान दिये विना और चेहरे का रंग जरा भी वदले विना पूर्ववत् भावपूर्ण लेख लिखता रहा। जितनी तेजी से उस व्यक्ति की जवान चलती रही, उतनी ही तेजी से ग्रीलि की कलम भी चलती रही। इस दौरान उसने कई पृष्ठ लिख डाले। अन्त में जब गुस्सा करने वाला व्यक्ति थककर कोठरी से वाहर जाने को तैयार हुआ, तव ग्रीलि अपनी कुर्सी से उठा और उस व्यक्ति के कंधे पर हाथ रखकर वोला—"मित्र! जा क्यों रहे हो? बैठो और अपना हृदय खाली करो। उससे तुमको यह लाभ होगा कि तुम्हारा कलेजा ठंडा हो जाएगा, साथ ही मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, उसमें भी वह सहायक सिद्ध होगा।"

वन्धुओ! यह सव चमत्कार ग्रीलि द्वारा एकाग्रचित्त होकर काम करने की शक्ति का था।

किसी कार्य में निष्ठा, लगन, तत्परता, तीव्रता आदि सव चित्त की एकाग्रता के कारण होती है। एकाग्रता से उत्पन्न शक्ति को वह जिस कार्य में लगा देता है, उसी क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति का प्रमाण प्रस्तुत करता है। चाहे ऐसा व्यक्ति निर्धन और साधनविहीन हो, अंगहीन हो, कुरूप हो, रुग्ण हो अथवा दुर्वल, इससे उस एकाग्र-चित्त के धनी व्यक्ति की प्रगति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

इंग्लैण्ड के केंट कस्वे में एक अति निर्धन मोची परिवार में जन्मा दातम एक दिन अद्‌भुत स्मरणशक्ति का धनी कैसे वन गया, इसकी भी एक रोचक कहानी है।

वह बचपन से इतना बीमार और दुर्बल रहता था कि ११ वर्ष की उम्र में उसे पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। ऐसी निराशा की स्थिति में उसने अपने चित्त को एकाग्र करके सारी शक्ति बटोरकर स्मरणशक्ति बढ़ाने में लगा दी। जो भी बातें देखता, पढ़ता और सुनता, उन पर पूरा ध्यान देता, दत्तचित्त होकर मन ही मन उन्हें कई बार दुहराता, फिर उनके कल्पनाचित्र चित्त की परतों पर कसकर जमाता, उन घटनाओं का क्रम, स्थान, समय आदि बातें दिमाग के कोष में एकत्र कर लेता। इस प्रकार की घटनाओं का विवरण ठीक-ठीक बताकर लोगों पर अपनी स्मरणशक्ति की छाप जमाता। इस मनोरंजन से लोग बहुत प्रभावित होते, उसकी अलौकिक शक्तियों की सराहना करते। दातम का यह शौक बढ़ता गया। उसने अपना सारा ध्यान अपनी स्मरणशक्ति बढ़ाने में केन्द्रित कर दिया। फलतः जो बात वह एक बार याद कर लेता, वह वर्षों तक याद रहती।

धीरे-धीरे वह स्मृति का धनी ज्ञान के विश्वकोष के रूप में विख्यात हो गया। जिन तथ्यों को विस्मृति के गर्त में फैंक दिया, समझा जाता था, दातम ने उन तथ्यों को क्रमशः सन्, तारीख और समयसहित इस तरह बताया कि यूरोप के प्रभावशाली ज्योतिषियों, राजनीतिज्ञों और इतिहासविदों को आश्चर्यचकित रह जाना पड़ा। ७१ वर्ष की उम्र तक उसकी स्मरणशक्ति यथावत् बनी रही। जब वह मरा तो उसका विलक्षण मस्तिष्क ३० हजार रुपयों में खरीदा गया।

दातम का पूरा नाम 'डब्ल्यू जे० एम० बाटन' था। उसके पास न तो कोई जादू था, न कोई विद्या, न ही वह जन्मजात विलक्षण प्रतिभा से युक्त था, किन्तु चित्त की एकाग्रता का ही चमत्कार था, जिसके कारण अपनी समस्त शक्तियों को उसने निरन्तर स्मृति-वृद्धि करने में केन्द्रित कर दिया और अद्भुत स्मरणशक्ति प्राप्त करके उसने जगत् के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया।

वास्तव में चित्त की एकाग्रता से सोई हुई आन्तरिक शक्तियाँ जाग उठती हैं, शक्तियों का जागरण और परिवर्धन होता है, जिनके बल पर वह असम्भव दिखाई देने वाले कार्यों को भी सम्भव कर दिखाता है।

चित्त विक्षिप्त क्यों और उसमें बोध क्यों नहीं टिकता?

अब प्रश्न यह होता है कि चित्त विक्षिप्त क्यों होता है? मनुष्य के चित्त पर जब काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि पापों का बोझ पड़ जाता है, अथवा क्रोध-काम आदि मनोविकारों पर तुरंत नियंत्रण न करने से चित्त विक्षिप्त हो जाता है।

मूल बात यह है कि चित्त पर से पापों का बोझ हटने पर वह विक्षेपरहित और एकाग्र हो सकता है। जब तक मनुष्य अपने चित्त पर से पापों का बोझ नहीं हटाता, तब तक उसकी शक्तियाँ कुण्ठित एवं विक्षिप्त रहेंगी। विक्षिप्तचित्त व्यक्ति का मतलब है, पापों के बोझ से दबा हुआ। और ऐसी स्थिति में न तो वह उपदेश

के लायक ही रहता है और न ही आत्मसाक्षात्कार, या परमात्मा के दर्शन के योग्य रहता है। इस पर एक दृष्टान्त लीजिए—

एक चोर किसी संत के पास जाया करता था और प्रतिदिन वह उनसे ईश्वर-दर्शन व आत्म-साक्षात्कार का उपाय पूछा करता था। महात्माजी उसे यह कहकर टाल देते थे कि कभी अवसर आएगा तब कहूँगा।

एक दिन चोर ने महात्मा से बहुत आग्रह किया—ईश्वर-दर्शन एवं आत्म-साक्षात्कार का। महात्मा ने सामने वाली पर्वत की ऊँची चोटी की ओर इशारा करते हुए कहा—"यदि तुम मेरे साथ वहाँ तक ६ पत्थर सिर पर रखकर चल सको तो वहाँ पहुँचकर मैं तुम्हें दोनों के उपाय बता सकता हूँ।" चोर तैयार हो गया। महात्मा ने उसके सिर पर ६ पत्थर रख दिये और पीछे-पीछे चले आने को कहकर स्वयं आगे चलने लगे। चोर कुछ ही दूर चल कर हाँफने लगा उसने कहा—"महात्मा जी बोझ बहुत है। इस भार को लेकर मैं आगे नहीं चल सकता।" संत ने एक पत्थर उतार दिया। चोर फिर कुछ दूर चला कि लड़खड़ाने लगा, तब महात्मा ने एक पत्थर और उतार दिया। यही क्रम आगे भी चला। यों अन्त में सभी पत्थर उतार देने पड़े तब कहीं चोटी तक साथ चलने में वह समर्थ हो सका। चोटी पर पहुँचकर संत ने कहा—"जिस प्रकार तुम ६ पत्थर सिर पर रखकर इस पर्वत की चोटी तक पहुँच सकने में असमर्थ रहे, उसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन ६ मनोविकाररूप पाषाणों का बोझ ढोता हुआ विक्षिप्तचित्त व्यक्ति परमात्मदर्शन और आत्मसाक्षात्कार करने में सफल नहीं हो सकता। यदि इन तक पहुँचना हो तो पाप विकारों के पत्थर अपने चित्त से उतार कर फैंकने ही होंगे।"

वास्तव में देखा जाए तो विक्षिप्तचित्त का मतलब ही है—पापभाराक्रान्त चित्त। कुत्ते का चित्त भी उस पापभाराक्रान्त व्यक्ति से अच्छा है। एक बार किसी सभा में यह चर्चा चल पड़ी कि मनुष्य श्रेष्ठ है या कुत्ता? किसी ने कहा—"मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। क्योंकि वह सबको वश में कर लेता है।" किसी ने कहा—"कुत्तों का संयम मनुष्यों में कई गुना अच्छा होता है, इसलिए मनुष्य कुत्ते से भी नीच है।" इस विवाद के निर्णायक थे—'हुसैन'। हुसैन ने कहा—"जब तक मैं अपना चित्त एवं जीवन पवित्र कार्यों में लगाये रखता हूँ, तब तक मैं देवों के करीब हूँ, किन्तु जब मेरा चित्त एवं जीवन पाप के भार से दब जाता है, तब कुत्ते भी मुझ जैसे हजार हुसैनों से अच्छे होते हैं।"

बन्धुओ! आप समझ गये होंगे कि विक्षिप्तचित्त में उपदेश या तत्त्वज्ञान का बोध क्यों नहीं टिक पाता?

दूध फट जाने पर उसमें कितना ही जामन डालिए, दही नहीं जमेगा, या उसे कितना ही मथिये, मक्खन नहीं निकलेगा, इसी प्रकार चित्त के बिखर जाने या उसके परमाणुओं के बिखर जाने, या उसके अस्थिर हो जाने पर उसमें कितने ही तत्त्वज्ञान

के शब्द डालिए, वे टिकेंगे नहीं, उनमें से कुछ भी सार नहीं निकलेगा, वह बेकार का प्रलाप होगा, महर्षि गौतम के शब्दों में।

जैसे तपे हुए तवे पर दो-दो चार-चार छींटे दिये जाएँ तो उससे वे छींटे ही जल जाते हैं, तवे पर कोई असर नहीं होता। इसी प्रकार क्रोधादितप्त विक्षिप्तचित्त-रूपी तवे पर भी उपदेश के छींटों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे शब्दों के छींटे स्वतः ही सूख जाते हैं, ऊपर-ऊपर ही उड़ जाते हैं, विक्षिप्तचित्त व्यक्ति के दिल-दिमाग में नहीं पहुँचते, टिकने का तो सवाल ही कहाँ ?

विक्षिप्तचित्त बदलता रहता है

भगवती सूत्र में एक प्रश्नोत्तर[1] है—"कौन पलटता है ?" तो वहाँ उत्तर इस प्रकार दिया गया है—"जो अस्थिर है वह पलटता है, परिवर्तित हो जाता है।"

आपका चित्त विक्षिप्त होता है, तो अस्थिर हो ही जाता है, वह किसी एक विषय पर टिक ही नहीं पाता, विषय को बार-बार बदलता रहता है, इसका कारण है—उसके चित्त में सर्वत्र कम्पन है, इन्द्रियों और अन्य अवयवों में भारी कम्पन है। पूर्ण निष्कंपता स्थिरचित्त की निशानी है जो बदलती नहीं। किन्तु अस्थिरचित्त व्यक्ति कम्पनों का तूफान आने से अपने आत्मस्वरूप के या तत्त्वज्ञान के कथन को दूर से ही फेंक देता है, वह अपने दिल-दिमाग के निकट आने ही नहीं देता। अस्थिर-चित्त व्यक्ति कैसे बदलता रहता है ? इसे एक उदाहरण द्वारा समझा दूँ—

युद्ध के मोर्चे पर नियुक्त सैनिक ने सोचा—यह भी कोई जिंदगी है। हर जगह रक्तपात और बन्दूकों की धांय-धांय ! वह सैनिक सेवा से भागकर गाँव आ पहुँचा। वहाँ उसने खेती करनी शुरू की। यहाँ भी हजार संकट। समय पर बीज और खाद की व्यवस्था नहीं हो पाती, फसल पककर तैयार होती तो गाँव के महाजन अपना पैसा वसूल करने के लिए खलिहान पर आ धमकते। न रात को चैन, न दिन को आराम। कभी जंगली पशुओं से फसल की रक्षा के लिए रात-रातभर घर से बाहर रहना और कभी हरी-भरी फसल को ओले, पाले से हानि पहुँचती तो वह सिर पर हाथ रखकर भाग्य को कोसने लगता। उसे खेती की झंझट बिलकुल पसंद न आई। गाँव के नीरस लगने वाले जीवन को छोड़कर वह शहर की चकाचौंध में आ गया, ले लिया एक मकान किराये पर। कारखाने में नौकरी कर ली। नियमित समय पर जाना और ८ घंटे कड़ी मेहनत करके घर लौटना। इतने परिश्रम के बाद उसका शरीर थककर चूर-चूर हो जाता, कहीं घूमने-फिरने की इच्छा न होती। महीने के बाद बंधी बंधाई तनख्वाह की रकम मिलती, उसी पर गुजारा करना पड़ता था। कुछ समय आराम से बीता, फिर चित्त डगमगाने लगा। शहरी जीवन का आकर्षण समाप्त होगया। एक रात को स्वप्न में सुनाई दिया—"यों विक्षिप्तचित्त बनकर

---

१. अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ —भगवती सूत्र १।९

जीवन से भागने वाले को कहीं सुख नहीं मिल सकता। एकाग्रचित्त से सोचने पर जिस मोर्चे पर तू नियुक्त है, वहीं दृढ़ता से डटा रह। इसी से जीवन का सच्चा सुख मिलेगा। वस्तुतः एकाग्रचित्त व्यक्ति के प्रत्येक कार्य में वफादारी, लगन, निष्ठा, कर्तव्य-तत्परता आजाती है, उसके कारण उसे बाहर से कष्टप्रद दिखाई देने वाले कार्य में भी आनन्द महसूस होता है।"

जवान की आँखें खुल गईं, उसे जीवन की सही दिशा प्राप्त हो गई। अव उसे विक्षिप्तचित्त होकर अधिक भटकने की आवश्यकता न रही।

विक्षिप्तचित्त दवा हुआ रहता है

विक्षिप्तचित्त एक तरह से दवा हुआ रहता है, जो विरोधी हो जाता है, अच्छा काम विलकुल नहीं कर पाता। उस दवे हुए चित्त-पात्र में भला कोई उपदेश-जल डालकर क्या करेगा? इसलिए एक पाश्चात्य विचारक टायरन एडवर्डस (Tyron Edwards) ने कहा है—

"There is nothing so elastic as the human mind. Like imprisoned steam, the more it is pressed, the more it rises to resist the pressure. The more we are obliged to do, the more we aie able to accomplish."

"मानवीय चित्त जैसा कोई लचीला पदार्थ दुनिया में नहीं है। वन्द किये हुए भाप की तरह ज्यों-ज्यों इससे दवाया जाता है, त्यों-त्यों यह दवाने वाले का बलपूर्वक सामना करने को उठता है। जितना हम करने के लिए वाध्य किये जाते हैं, उतने ही हम उसे पूर्ण करने के योग्य होते हैं।"

मतलव यह है कि जव तक आप चित्त को सिर्फ दवाकर रखते हैं, तव तक दवा हुआ चित्त तेजी से विपरीत कार्य करने लगता है। पर यदि उसे हम किसी अभीष्ट कार्य में जोड़ दें और अच्छी तरह तन्मयतापूर्वक उस कार्य को करने के लिए मजवूर कर दें तो चित्त उस कार्य को सफलतापूर्वक पूर्ण करके छोड़ता है।

सिर्फ दवाया हुआ चित्त विक्षुब्ध एवं विक्षिप्त हो जाता है, वह कोई भी काम भली-भाँति नहीं कर सकता, तव किसी के उपदेश या वोध को तो ग्रहण ही कैसे कर सकता है?

चित्त को विक्षिप्त होने से वचाने के उपाय

चित्त को विक्षिप्तता या अस्थिरता से वचा लिया जाये तो उसमें शक्तियों का जागरण एवं संवर्धन हो सकता है। यदि वह विक्षिप्त, विखरा हुआ या अस्थिर रहता है तो उसकी रही-सही शक्तियाँ भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। इसलिए चित्त को विक्षिप्त होने से वचाने के लिए यह आवश्यक है कि **आप चित्त की शक्तियों को नष्ट न होने दें**। जव मनुष्य पर दुःख, विपत्ति, परेशानी या संकट आता है तो वह घवराकर धैर्य छोड़ वैठता है, मन ही मन परेशान, हैरान होकर कुढ़ता और घुटता रहता है, या चिन्ता करता रहता है। यही चित्त के विक्षिप्त होने का प्रथम कारण है। जव

इस प्रकार चित्त विक्षिप्त या व्याकुल होता है तो वह सारी शक्तियों को कुण्ठित और नष्ट कर देता है।

वैसे देखा जाए तो सुख और दुःख, सम्पत्ति और विपत्ति, या संकट और आनन्द का कोई अलग स्थायी अस्तित्व नहीं है। इनका उदय-स्थल मनुष्य का अपना चित्त ही है। चित्त प्रसन्न होता है, आशापूर्ण और प्रफुल्ल होता है तो संसार में चारों ओर सुख, आनन्द और उत्साह दिखाई देता है, जब वह विषाद, निराशा या चिन्ता से घिरा रहता है तो प्रत्येक दिशा में दुःख और संकट ही दृष्टिगोचर होते हैं। मनुष्य अपने चित्त में ही आशंकाओं से दुःखों और संकटों की कल्पना कर लेता है। क्योंकि प्रत्येक अनुभूति का केन्द्र मनुष्य का अपना चित्त है। अतः जो व्यक्ति आई हुई विपत्तियों और दुःखों को अपने चित्त पर हावी न होने देकर शान्तचित्त और स्थिरबुद्धि से उनके निराकरण का प्रयत्न करता है, वह उन्हें शीघ्र ही दूर भगा देता है, उसका चित्त विक्षिप्त होने से बच जाता है, उसके चित्त की अद्भुत एवं गुप्त शक्तियाँ विनष्ट होने से बच जाती है।

जो व्यक्ति विपत्ति या संकट की संभावना से या उनके आने पर घबराकर अशान्त या उद्विग्न हो जाता है, वह अपने चित्त को विक्षिप्त एवं व्यग्र कर लेता है, उसके भाग्य से जीवन के सारे सुख उठ जाते हैं, विकास और उन्नति की सारी सम्भावनाएँ नष्ट हो जाती है, विषाद और निराशा, कुढ़न और खीज उसे रोग की तरह घेर लेती हैं। न उसे भोजन भाता है, न नींद आती है, न किसी के साथ वह उदारता का व्यवहार करता है, ऐसे विक्षिप्तचित्त व्यक्ति को क्या उसके हित की बातें सुहा सकती हैं? क्या वह तत्त्वज्ञान के बोध को दिमाग में संजोकर रख सकता है? कदापि नहीं। इसलिए उचित यही है कि चित्त को विक्षिप्त होने से बचाने के लिए विपत्ति और संकट के समय उद्विग्न और अशान्त न होकर धैर्यपूर्वक काम किया जाए, और चित्त की शक्तियों को नष्ट होने से बचाया जाए।

दूसरी ओर चित्त को विक्षिप्तता से बचाने के लिए **शक्ति का उत्पादन शिथिल न होने दें।** बड़े-बड़े कल-कारखानों में अनेकों मशीनें लगी रहती हैं और उनसे भारी उत्पादन होता रहता है। मगर उनकी उत्पादन शक्ति का केन्द्र वह इंजन या मोटर होता है, जो इन सारे यंत्रों को चलाने के लिए शक्ति उत्पन्न करता है, अगर वह इंजन या मोटर शक्ति उत्पन्न करना बंद या कम कर दे तो ये यंत्र ठप्प हो जाते हैं, उनसे उत्पादन पर्याप्त नहीं हो पाता। यही हाल हमारे चित्त के यंत्र का है, उसके उत्पादन का केन्द्र चित्त की एकाग्रशक्ति है।

अगर चित्त की एकाग्रशक्ति ठीक काम करे तो चित्त में शक्ति का उत्पादन लगातार बढ़ता रहता है, और शारीरिक शक्ति का जो क्षरण या छीजन हुआ है, उसकी भी पूर्ति वह चित्तशक्ति करती रहती है।

मनुष्य अपनी आध्यात्मिक प्रगति की आकांक्षा करता है, किन्तु यदि उसमें

चित्तीयशक्ति का समुचित उत्पादन न हुआ तो उसका मनोरथ वन्ध्या की पुत्रकामना की तरह निष्फल हो जाता है, उसका चित्त विक्षिप्त हो जाएगा, उसमें कुण्ठा का जंग लग जाएगा। अतः चित्त को विक्षिप्त होने से बचाने के लिए शक्तियों का उत्पादन चित्त को एकाग्र करके लगन, उत्साह, तन्मयता एवं श्रद्धा के साथ लगातार करते रहना चाहिए, अभ्यास को छोड़ना ठीक नहीं होगा।

तीसरा उपाय चित्त को विक्षिप्त होने से बचाने का यह है कि **चित्त में निहित और संचित शक्तियों को बंद करके न रखें**, उन्हें जाम न करें, उनका सदुपयोग करें व करना सीखें।

मनुष्य का चित्त एक औजार है। इस औजार के सहारे वह छोटे-बड़े कार्यो का सम्पादन करता है। पाप-पुण्य, उन्नति-अवनति, सफलता-असफलता या स्वर्ग-नरक आदि की रचना चित्त पर निर्भर है। मैं पूछता हूँ, जिस औजार पर मनुष्य के सभी सुख-दुःख निर्भर हों, उसका ठीक तरह से उपयोग या प्रयोग करना तो आना चाहिए न? किन्तु कितने लोग हैं, जो चित्त की शक्तियों का सदुपयोग करना जानते हैं? बंदर के हाथ में तलवार हो, बछड़े की दुम से राजसिंहासन बंधा हो तो ये दोनों ही पशु उससे कुछ भी लाभ न उठा सकेंगे, बल्कि आफत में फँस जाएँगे। जिस व्यक्ति को बंदूक के कलपुर्जों का ज्ञान न हो तो वह गोली-बारूद सहित बढ़िया राइफल लिये फिरे, उससे लाभ तो कुछ भी न उठा पाएगा, बल्कि कुछ भूल हुई तो मुसीबत में पड़ जाएगा। इसी प्रकार चित्तरूपी औजार मनुष्य के पास है, अगर वह इसकी शक्तियों का ठीक तरह से उपयोग या प्रयोग करना नहीं जानता है तो नादान की तरह चित्त को विक्षिप्तता के गर्त में गिरा देगा, जिससे अनेक मुसीबतें खड़ी कर लेगा। अधिकांश मनुष्य नाना प्रकार की आपत्तियों, कठिनाइयों और वेदनाओं में तड़पते मालूम होते हैं, इनका कारण मनुष्य को अपनी चित्तीय शक्तियों का सदुपयोग करना न आना है। चित्तीय शक्तियों का सदुपयोग न करने से उसका चित्त विक्षिप्तता के कुसंस्कार में फँसकर नाना दुःखों, काल्पनिक या स्वतःकल्पित कष्टों का अनुभव करता है। चित्त-रूपी औजार का ठीक उपयोग करना आता तो शायद आधे से अधिक दुःखों का अन्त हो जाता।

चौथा उपाय है—**चित्त को अशुद्ध और अस्वस्थ न होने देना।**

जिस प्रकार अनाड़ी ड्राइवर गाड़ी को कहीं भी दुर्घटनाग्रस्त कर सकता है, उसी प्रकार असंतुलित, अशुद्ध एवं अस्वस्थ चित्त, जो कि आगे चलकर विक्षिप्त हो जाता है, जीवन-नैया को मझधार में डुबा देता है, नष्ट कर देता है। चित्त में जब अशुद्ध चिन्तन, अशुभ विचार, गंदी भावनाएँ और अश्लील या क्लिष्ट कार्यो की लगन भर जाती है, तब व्यक्ति का चित्त अस्वस्थ हो जाता है, और जब वह अपने चित्त के अशुद्ध चिन्तन या अशुभ विचारों के अनुसार बुरे एवं अनैतिक कार्यों में लग जाता है, या लगा रहता है तो चित्त भी हीन होता जाएगा। धीरे-धीरे चित्त का अभ्यान

भी अशुद्ध ही बनेगा, जो चित्त को विक्षिप्त बना देगा। जिसका जीवनक्रम जितना क्लिष्ट, अशुभ, या अनैतिकतापूर्ण होता जाता है, उतनी ही उसकी चित्तीय स्थिति उलझी हुई और क्लिष्ट तथा विक्षिप्त बन जाती है। अतः चित्त को विक्षिप्त होने से बचाने का चौथा उपाय है—उसको अशुद्ध, अस्वस्थ एवं असंतुलित न होने देना।

जिसका शुभसंकल्प जितना ही बलवान होगा, उसके चित्त की विक्षिप्तता एवं चंचलता उतनी ही कम होगी; स्थिरता एवं एकाग्रता अधिक होगी। इससे चित्त की शक्ति, जो मनुष्य को उत्कृष्ट एवं हर कार्य में सफल बनाती है, विश्रृंखलित न होगी। मनुष्य दृढ़तापूर्वक अपने निर्धारित सत्पथ पर बढ़ता चला जाएगा।

मनुष्य का चित्त यदि अस्वस्थ एवं अशुद्ध न हो तो उसे दुःख-द्वन्द्वों का सामना ही न करना पड़े। चिन्ता, क्षोभ, असंतोष, घबराहट आदि का ताप जब किसी को संतप्त करता है तो वह उसका वास्तविक आन्तरिक कारण, जो कि चित्तदोष है, नहीं खोज पाता, वह उसका बाह्य कारण निमित्तों और परिस्थितियों में खोजता है। यही चित्त के अशुद्ध और अस्वस्थ होने का कारण है।

चित्त की उच्छृंखलता को न रोकने के कारण भी वह विक्षिप्त हो जाता है। उच्छृंखल चित्त भी चित्त की विक्षिप्तता का एक कारण है। चित्त जब उच्छृंखल हो जाता है तो हित की बात कब सुन पाता है? वह आत्मकल्याण की या तत्त्वज्ञान की बात को दूर से ही फैंक देता है, नजदीक फटकने ही नहीं देता। उसे इन्द्रिय-सुखों, बाह्य भौतिक पदार्थों में सुख का आभास होता है, जबकि इनमें आसक्ति और ममता से सुख का ह्रास होता है।

उच्छृंखल और उद्दण्ड व्यक्ति कब किसकी मानता है? इसी प्रकार उच्छृंखल और उद्दण्ड चित्त किसी भी हितैषी की कही हुई बात को प्रलाप समझकर ठुकरा देता है। इसलिए चित्त को विक्षिप्तता से बचाने के लिए उसे उच्छृंखल होने से बचाना है। पल-पल पर सावधानी रखनी होगी कि चित्त एक बार भी बुरे विचार, बुरे चिन्तन या गंदी भाववाओं का शिकार न हो। वासनाप्रधान चित्त उच्छृंखल चित्त की निशानी है।

साधारण लोगों के चित्त की एक-सी स्थिति नहीं होती, वे अपने से बड़े, सत्ताधारी, धनिक, अथवा समाज के बाह्यरूप से सुखी दिखाई देने वाले व्यक्तियों का अन्धानुकरण करते रहते हैं, वे अपने चित्त का काँटा उधर ही घुमा देते हैं जिधर की हवा चलती है। इससे चित्त विक्षिप्त हो जाता है। अगर चित्त को इस प्रकार की अस्थिरता और अन्धानुकरण से बचाना है तो संकलपपूर्वक किसी विशेष लक्ष्य की पूर्ति में लगा देना होगा। ऐसा करने से समुद्री ज्वार-भाटे की तरह चित्त में ऐसी शक्ति भर जाती कि कठिन दिखाई देने वाले कार्य भी आसनी से पूरे हो जाते हैं। अतः चित्त में उठने वाली चिन्तन-तरंगों को स्वेच्छापूर्वक विचरण न करने देकर अच्छे

विचारों में उसकी रुचि जगा देना और सतत अभ्यास कराना आवश्यक है। अन्यथा चित्त कुविचारों में रस लेता रहा तो स्वेच्छाचारी और कुस्वभाव का बन जायगा।

सौ बात की एक बात है कि चित्त को विक्षिप्त होने से बचाने के लिए आप उसे एक शुभ विचार में केन्द्रित करने का प्रयत्न कीजिए। हमारे शास्त्रों में वर्णन आता है—'एक्कपोग्गल निविट्ठदिट्ठिए' अर्थात् साधक एक पुद्गल में अपनी दृष्टि जमा लेता है। इसका मतलब है, चित्त को एकाग्र करने के लिए एक ही सत्कार्य, एक ही शुद्ध विचार, एक ही किसी बात या वस्तु में अपने चित्त को संलग्न करने का अभ्यास करना चाहिए।

विक्षिप्त चित्त : उपदेश के लिए कुपात्र

यही कारण है कि महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र द्वारा बता दिया कि विक्षिप्त चित्त वाले व्यक्ति को कोई भी उपदेश या हितकर बात कहना विलाप-तुल्य है।

बात यह है कि जिसका चित्त विक्षिप्त होता है, वह उपदेश का पात्र नहीं होता। जैसे चलनी में जो भी कुछ डाला जाता है, वह बाहर निकल जाता है, वैसे ही विक्षिप्तचित्त के दिमागरूपी पात्र में जो कुछ भी डाला जाता है, वह सबका सब बाहर निकल जाता है। विक्षिप्तचित्त का दिमाग चलनी के समान उपदेशरूपी पदार्थ को ग्रहण नहीं कर पाता। इसलिए वह उपदेश के लिए कुपात्र है, अयोग्य-पात्र है। जो कुपात्र होता है उसे ज्ञान, विवेक, भक्ति, श्रद्धा या बोध कोई भी समझदार पुरुष नहीं देता।

एक परमात्मभक्त था—रब्बी जोसे बेन। उसने एक बार एक महिला से कहा—"परमात्मा ज्ञान, विवेक, शक्ति और शान्ति सत्पात्र को देता है, अज्ञ और अन्धकार में डूबे हुओं को नहीं।"

इस पर वह महिला बड़ी नाराज हुई और बोली—"इसमें परमात्मा की क्या विशेषता रही? होना तो यह चाहिए था कि असभ्य व्यक्तियों को वह यह सब देता, तो उससे संसार में अच्छाई का विकास तो होता।"

रब्बी उस समय चुप होगए। बात जहाँ की तहाँ स्थगित कर दी। दूसरे दिन सुबह उन्होंने मुहल्ले के एक मूर्ख व्यक्ति को बुलाकर कहा—"अमुक महिला से जाकर आभूषण माँग लाओ।"

मूर्ख वहाँ गया और आभूषण माँगे तो उसने न केवल आभूषण देने से इन्कार किया, अपितु उसे झिड़ककर वहाँ से भगा दिया।

थोड़ी देर बाद रब्बी जोसे स्वयं महिला के यहाँ पहुँचे और बोले—"आप एक दिन के लिए अपने आभूषण दे दें, आवश्यक काम होते ही लौटा दूँगा।"

उक्त महिला ने सन्दूक खोली और खुशी-खुशी अपने बहुमूल्य आभूषण जोसे बेन को दे दिये ।

आभूषण हाथ में लिये बेन ने पूछा—"अभी-अभी एक दूसरा व्यक्ति आया था, आपने उसे आभूषण क्यों नहीं दिये ?"

महिला छूटते ही बोली—"असभ्यों और मूर्खों को भी कोई अच्छी वस्तु दी जाती है ?"

इस पर तुरन्त ही रब्बी जोसे बोल पड़े—"तब फिर परमात्मा ही अपनी अच्छी वस्तुएँ कुपात्र को क्यों देने लगा ?"

महिला अपने प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर पाकर बड़ी प्रसन्न हुई ।

सचमुच विक्षिप्तचित्त उपदेश या आत्मज्ञान के लिए कुपात्र होते हैं, उन्हें ये उत्कृष्ट वस्तुएँ देना गटर में इत्र को ढोलना है ।

व्यवहार में भी विक्षिप्तचित्त को कोई बात नहीं कहता

व्यावहारिक जगत् में भी यह देखा जाता है कि पागल आदमी को कोई अच्छी बात नहीं कहता, न घर की किसी जिम्मेदारी की बात उसे कही जाती है, व्यापार सम्बन्धी कोई भी बात उससे नहीं कही जाती, क्योंकि वह पागल है, उसका चित्त विक्षिप्त है, दिमाग अस्थिर है, वह किसी भी बात को ग्रहण करने, याद रखने और टिकाने लायक नहीं होता । इसी प्रकार जिसका चित्त विक्षिप्त है, उसे भी कोई कथा, उपदेश या तत्त्वज्ञान की बात कहना बेकार का प्रलाप है, वह उसे बिलकुल ग्रहण नहीं करता ।

एक गाँव में एक ब्राह्मण नया-नया आया था । वह एक चबूतरे पर बैठकर कुछ भेंट-दक्षिणा पाने की आशा से कथा कहने लगा । एक-दो श्रोतागण आगए थे । ब्राह्मण को कथा कहते-कहते जब दो घड़ी होगईं, तब उसने श्रोताओं से पूछा—"बोलो, कुछ समझे ?"

एक अन्यमनस्क-सा लड़का बैठा था, वह बोला—"हाँ, समझ गये ।"

ब्राह्मण ने पूछा—"कहो तो क्या समझे ?"

वह लड़का बोला—"तुम्हारी गर्दन हिल रही थी ।"

विप्र बोला—"तूने यह क्या ग्रहण किया ? मैं जो कहता हूँ, उसमें से कुछ ग्रहण कर ।"

वह बोला—"तो फिर दुबारा कथा कहो तो मैं कुछ ग्रहण करूँ ।" तब ब्राह्मण पुनः कथा कहने लगा । कहते-कहते जब दो घड़ी होगईं तो ब्राह्मण ने पूछा—"बोलो कुछ ग्रहण किया ?"

वह गँवार लड़का बोला—"मैंने ठीक-ठीक गिनती करली, इस दर में से ७०० चींटियाँ निकलीं और ७०७ घुसीं ।"

विप्र झुँझलाकर बोला—"बेवकूफ ! इन बातों में तुमने क्या ग्रहण किया ? मैं जो बात कहता हूँ, उसे धारण कर न ।"

विक्षिप्तचित्त वाला लड़का बोला—"तो फिर वह कथा पुनः सुनाओ ।"

ब्राह्मण पूर्ववत् सुनाने लगा । दो घड़ी के पश्चात् उससे फिर वही प्रश्न किया तो वह बोला—"मैंने इस बार ग्रहण कर लिया है ।"

"क्या ग्रहण किया ?"

"यही कि तुम्हें कथा कहते-कहते बहुत देर हो गई, गला दुखने आया होगा, अब कब बंद करोगे ?"

इस पर विप्र ने अफसोस करते हुए कहा—"ओफ ! मैंने व्यर्थ ही गला फाड़ा, इतना बड़बड़ाया ।"

इसी कारण महर्षि गौतम ने आध्यात्मिक और व्यावहारिक, सभी दृष्टियों से सोचकर इस जीवनसूत्र द्वारा चेतावनी दी है—

'विक्खित्तचित्ते कहिए विलावो ।'

आप इस पर ध्यान दें और इसके रहस्य को हृदयंगम करें । ☆

४०

कुशिष्यों को बहुत कहना भी विलाप

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आपके समक्ष कई दिनों से लगातार गौतमकुलक के जीवनसूत्रों पर प्रवचन करता आ रहा हूँ। पिछले तीन प्रवचनों में तीन सत्यों का रहस्योद्घाटन किया गया था, वे तीनों जीवनसूत्र एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इस श्रेणी के जीवनसूत्रों में क्रमशः नैतिक तथ्य बताये गये हैं—

१—अरुचिमान को परमार्थ-कथन करना विलाप है।

२—परमार्थ से अनभिज्ञ द्वारा अर्थ कथन विलाप है।

३—विक्षिप्तचित्त के समक्ष अर्थ-कथन करना विलाप है।

और अब इसी श्रेणी से सम्बन्धित चौथा जीवनसूत्र है—

'बहू कुसीसे कहिए विलावो।'

'कुशिष्यों को बहुत कहना भी विलाप-तुल्य है।'

महर्षि गौतम ने इसमें साधक जीवन के एक महत्त्वपूर्ण सत्य का उद्घाटन किया है। गौतमकुलक का यह चौंतीसवाँ जीवनसूत्र है।

शिष्यलोलुपता : कुशिष्यों का प्रवेश-द्वार

आज भारतवर्ष में लगभग ७० लाख साधुओं की संख्या है। ये सब आत्म-कल्याण के नाम पर या भगवद्भक्ति के नाम पर बनाये गये हैं, ऐसा कहा जाता है। पर इन ७० लाख साधुओं में असली साधु कितने होंगे ? मेरे ख्याल से इने-गिने साधु होंगे, जो साधुता की मूर्ति हों; क्योंकि वेश पहनने मात्र से या माला फिराने अथवा लोगों को लच्छेदार भाषण सुना देने मात्र से साधुता नहीं आ जाती। साधुता आती है—ममता छोड़ने से, समता धारण करने से और अहिंसा, सत्य आदि के पालन से तथा क्षमा आदि दस श्रमणधर्मों की साधना से। ऐसा गुणी साधु, सच्चा शिष्य, विनय आदि गुणों से ओत-प्रोत होता ही है। परन्तु साधुता के ये सुसंस्कार गुरुओं से मिलें, तभी ऐसा सुशिष्य तैयार हो सकता है। सुशिष्य कोई आसमान से नहीं टपकते, न कोई धरती से निकलते हैं, वे अपने-अपने परिवार से आते हैं, परिवार के संस्कारों का उनमें होना स्वाभाविक है, परन्तु यदि उन्हें परिवार से भी उत्कृष्ट एवं प्रबल संस्कार गुरुजनों से मिलें, तो वे पूर्वसंस्कार दबकर नवीन संस्कार उभर

सकते हैं। परन्तु गुरुजनों से अच्छे संस्कार न मिलें या अच्छे संस्कार सम्भव है वे ग्रहण न करें तो घटिया संस्कारों की प्रबलता के कारण सुशिष्य न बन सकेंगे।

प्राचीनकाल में शिष्य बनाते समय गुरु प्रायः उसके जाति-कुल यानी मातृपक्ष और पितृपक्ष को देखते थे। खानदानी घर का व्यक्ति सहसा उत्पथ पर नहीं चढ़ता, उसकी आँख में शर्म होती है, वह पूर्वापर का, अपने कुल का, अपने सुसंस्कारों का पूरा विचार करता है। इसीलिए शिष्य बनाने से पहले गुरुवर उसके कुल आदि के संस्कारों तथा सद्गुणों की छान-बीन करते थे, उसके बाद ही उसके माता-पिता या अभिभावकों अथवा पारिवारिक जनों की अनुमति प्राप्त होने पर साधु-दीक्षा देते थे। साधु बन जाने के बाद भी उसका पूरा ध्यान रखते थे, साधुता के मौलिक नियमोप-नियमों के पालन में उसे सावधान करते रहते थे, गुरु उसके जीवन-निर्माण का पूरा दायित्व अपने पर मानते थे, उसे समय-समय पर हितशिक्षा भी देते थे। फिर भी पूर्वकृत अशुभ-कर्मोदयवश कोई कुशिष्य निकल जाता तो उसे समझा-बुझाकर सत्पथ पर लाने का प्रयत्न करते थे। किसी भी प्रकार न सुधरता दिखता तो उसे अपने संघाटक से पृथक कर देते थे।

प्राचीनकाल के अधिकांश ज्ञानियों को शिष्य बनाने की लालसा प्रायः नहीं होती थी। वे इस विषय में निःस्पृह रहते थे। वे मानते थे कि शिष्यों की संख्या बढ़ाने से मेरा कोई आत्मकल्याण या मोक्ष नहीं हो जाएगा बल्कि शिष्यमोह बढ़ेगा तो अकल्याण ही होगा। कोई अत्यन्त जिज्ञासु और मुमुक्षु साधक शिष्य बनने आता तो वे पहले पूर्वोक्त प्रकार से पूरी छानबीन करने के बाद ही अममत्वभाव से उसे अपना या अपने सहाध्यायी किसी योग्य गुरुभ्राता का शिष्य बनाते थे। शिष्यों की जमात बढ़ाने का उनका उद्देश्य कदापि नहीं रहता था।

जो सच्चे ज्ञानी गुरु होते हैं, उन्हें अपनी महिमा बढ़ाने, अपना बड़प्पन या दबदबा बढ़ाने के लिए अथवा अपनी अधिकाधिक सेवा कराने हेतु शिष्यों की या संगठन, टोले या संघाटक की अपेक्षा नहीं रहती। वे निरपेक्ष भाव से अपने संयम एवं साधुता की साधना करते रहते हैं। जिन्हें आत्मकल्याण की जिज्ञासा होती है, जिनमें आत्मा की उन्नति की तड़पन होती है, वे स्वयं गुरु को खोजते हुए आते हैं, और ज्ञानी गुरु उन्हें योग्य जानकर शिष्य रूप में स्वीकार करते हैं। केवल भाव-अनुकम्पा से प्रेरित होकर उन जिज्ञासु साधकों का पथ-प्रदर्शन करने के लिए वे गुरु-पद की जिम्मेवारी लेते हैं।

यों तो तत्त्वज्ञ गुरु अपनी ओर से किसी शिष्य को खोजने नहीं जाते, किन्तु यदि कोई योग्य सुपात्र साधक हो और वह सांसारिक विषयपंक से निकालने की प्रार्थना करता हो, उसकी तीव्र उमंग हो, तो उसे सहयोग देना उचित प्रतीत होने पर सह-योग देने अवश्य जाते हैं।

परन्तु आज तो प्रायः इससे उलटा क्रम ही दृष्टिगोचर होता है। आज शिष्य

बनने वाला प्राय: गुरु की खोज में नहीं जाता । गुरु बनने वाले ही प्राय: अपने शिष्यों की जमात बढ़ाने के लिए या अपनी या अपने संघाटक या सम्प्रदाय की महिमा एवं प्रभाव बढ़ाने के लिए शिष्यों की खोज में इधर-उधर परिभ्रमण करते रहते हैं। मैं किसी व्यक्ति विशेष पर आक्षेप नहीं कर रहा हूँ, न किसी की निन्दा और आलोचना से मुझे प्रयोजन है। मैं तो वर्तमान में गुरु-शिष्य बनने की जो वास्तविक परिस्थिति नजर आ रही है, उसी के बारे में संकेत कर रहा हूँ। केवल वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन करना ही मेरा प्रयोजन है।

हाँ, तो जब साधक में गुरु बनने की ख्वाहिश होती है, येन-केन-प्रकारेण शिष्यों को बढ़ाने और जैसे-तैसे व्यक्तियों को मूंड़कर चेले बनाने की चाह होती है, अथवा अनेक शिष्य मूंड़कर अपना प्रभाव एवं महत्त्व बढ़ाने की धुन सवार हो जाती है, तब कुशिष्यों के लिए प्रवेशद्वार खुल जाता है। शिष्यलोलुपता एक ऐसी बीमारी है कि फिर गुरुपदाभिलाषी प्राय: यह नहीं देखता कि आने वाला व्यक्ति कितनी उम्र का है ? कैसे खानदान व संस्कारों का है ? अपने गृहस्थ-जीवन में उसका अपने परिवार एवं समाज से कैसा व्यवहार रहा है ? आध्यात्मिक साधना की उसमें कितनी योग्यता है ? शास्त्रीय या सैद्धान्तिक ज्ञान अथवा साधुता के विषय में उसका बोध कितना है ? उसका स्वभाव कैसा है ? इत्यादि।

बहुत-से व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनका अपने परिवार वालों के साथ रात-दिन किसी न किसी बात पर झगड़ा चलता रहता है, वे परिवार में निकम्मे और निठल्ले बैठकर रोटियाँ तोड़ते रहते हैं, उनमें कुछ भी कार्य करने की योग्यता नहीं होती या वे किसी भी श्रमसाध्य कार्य को करना नहीं चाहते, कहीं भी जमकर नौकरी या व्यवसाय नहीं कर सकते, वे घर और परिवार से ऊबे हुए या अपने उत्तरदायित्वों से भागकर अथवा अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करके आते हैं—साधु बनने के उम्मीदवार बनकर। ऐसे व्यक्ति न तो गृहस्थाश्रम में फिट होते हैं और न संन्यास आश्रम में ही। ऐसे व्यक्तियों को शिष्यलिप्सावश झटपट मूंड़ देने वाले गुरुनामधारी व्यक्ति ही प्राय: कुशिष्यों या अयोग्य शिष्यों को बढ़ाते हैं। उन्हीं को लक्ष्य में रखकर सन्त कबीर ने एक दोहे के द्वारा चेतावनी दी है—

सिंहों के लेहंडे नहीं, हंसों की नहीं पाँत।
लालों की नहीं बोरियाँ, साधु न चलैं जमात ॥

इस कथन में किसी अंश तक सचाई है।

दूरदर्शी गुरु द्वारा उम्मीदवार की परख

जो दूरदर्शी गुरु होते हैं, वे अपने पास साधुपद के उम्मीदवार बनने वाले व्यक्ति की पूरी परख करते हैं, तभी आगे का कदम उठाते हैं। इस सम्बन्ध में महाराष्ट्र की एक ऐतिहासिक घटना लीजिए—

×लगभग दो सौ वर्ष पहले की बात है। महाराष्ट्र के एक गाँव के किनारे नदी बहती थी, जिसमें एक द्वीप था, जिसके दोनों ओर नदी की धारा बहती थी। उस छोटे-से द्वीप में कुटिया बनाकर 'संतोजी पवार' नामक एक संत रहते थे। प्राकृतिक सौन्दर्यसम्पन्न होने से यह स्थान ध्यान-धारणादि के लिए उपयुक्त था। संतोजी यहीं अपनी साधना करते थे।

उस गाँव में एक गुस्सेबाज ब्राह्मण रहता था, जो बात-बात में क्रोध से उत्तेजित हो उठता था। वह अपनी पत्नी को बहुत सताता और छोटी-छोटी बात पर क्रुद्ध होकर उसे मारपीट तक देता था। यदि वह कुछ बोलती तो धमकाता— "तुमने सामने जवाब दिया तो मैं संतोजी पवार की तरह घरबार छोड़कर साधु बन जाऊँगा।" बेचारी चुपचाप अत्याचार सहती थी। उसे यह डर था कि "कहीं यह घरबार छोड़कर चले गये तो मैं निराधार हो जाऊँगी।" दैवयोग से एक दिन संतोजी महाराज उसके यहाँ भिक्षार्थ आए। उसने रोते-रोते अपना दुखड़ा सुनाया और पूछा कि वह क्या करे?

संतोजी महाराज ने कहा—इस बार जब तुम्हारा पति यह कहे कि मैं साधु बनता हूँ, तो तुम कह देना—'बहुत अच्छी बात है, कल्याण ही होगा, साधु बनने से तो।' लेकिन फिर वह लौटकर आए तब घर में लेने से पूर्व उससे यह शर्त करवा लेना कि भविष्य में वह कभी ऐसी धमकी न दे। उससे कैसे बात की जाए? आदि बातें भी उन्होंने ठीक से समझा दीं।

एक दिन उसका पति हमेशा की तरह गुस्सा हुआ, तब वह बहन शान्ति के साथ बोली—"इतनी छोटी सी बात पर गुस्से क्यों होते हैं?"

इस पर वह क्रोध में आगबबूला होकर बोला—"तुम मुझे वापस जवाब देती हो? इसीलिए तो शास्त्रों में नारी को 'नरक की खान' कहा है तथा संसार के विविध ताप में जलाने वाली भयंकर अग्नि भी! बस, मैं ऐसे नरक में रहना नहीं चाहता। मैं संतोजी पवार के पास चला जाऊँगा और आत्मकल्याण करूँगा।"

पत्नी बोली—"यह तो बहुत अच्छी बात है। आपको सच्चा वैराग्य हो गया हो तो इससे हमारे कुल का उद्धार ही होगा। आप संतोजी महाराज के पास जाइए। वे तो महान् संत हैं। उनकी संगति से हम सबका कल्याण होगा।"

यह सुनकर तो ब्राह्मण एकदम उत्तेजित हो गया। संन्यासी बनने के लिए जनेऊ तोड़ना आवश्यक होता है, इसलिए वह अपना जनेऊ तोड़कर सीधा संतोजी के पास पहुँचा।

संतोजी अपनी कुटिया में बैठे हुए थे। इसे आये देखकर पूछा—"कहो भाई कैसे आए?" वह बोला—"महाराज! मुझे संसार से वैराग्य हो गया है। अतः अब घरबार छोड़कर आपकी सेवा में संत बनना चाहता हूँ।"

संतोजी ने पूछा—"भाई! तुम्हें वैराग्य क्यों हुआ?" वह बोला—"महाराज! संसार में क्या धरा है? स्त्री तो 'नरक की खान' है। स्त्रियों के संग से कभी किसी

का कल्याण होने वाला नहीं। वे तो मायाविनी होती हैं। इसलिए मैं संसार और स्त्री का त्यागकर आत्मकल्याण करना चाहता हूँ।" इस पर संतोजी बोले—"तुम्हारी बात तो ठीक है, लेकिन यह अत्यन्त कठिन मार्ग है, पहले भलीभाँति सोच लो।"

ब्राह्मण बोला—"मैंने सोच लिया है। चाहे जितना कठिन हो, मैं उसी पर चलूंगा।" तब सन्तोजी ने कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा। जाओ, ये कपड़े नदी में फैंक आओ और एक लंगोटी लगा लो।"

ब्राह्मण आवेश में था। इसलिए तुरन्त कपड़े उतारकर नदी में फैंक दिये और लंगोटी लगाकर संतोजी के पास आया। सन्तोजी ने कहा—"शरीर पर भस्म लगा लो और बैठकर राम नाम का जाप करो।" ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उसे भूख सताने लगी। भूख से व्याकुल होकर वह संतोजी के पास आकर बोला—"महाराज ! भूख लगी है, क्या करूँ ?"

सन्तोजी बोले—"बात तो ठीक है। समय हो गया है, इसलिए क्षुधा तो लगेगी ही। जाओ, सामने ये पेड़ दिखाई दे रहे हैं, इनकी पत्तियाँ तोड़ लो और बाँट-कर ले आओ।"

जब वह पत्तियाँ बाँटकर एक बड़ा गोला बनाकर ले आया, तब उसमें से आधा गोला उसे खाने को दे दिया और आधा स्वयं ने खा लिया। ब्राह्मण को भूख तो बहुत थी, लेकिन उसने कभी पत्तियाँ खाई नहीं थीं, इसलिए उससे कड़वी पत्तियाँ न खाई गईं। अब उसका वैराग्य धीरे-धीरे छूमन्तर होने लगा। पर अब घर जाने में भी उसे शर्म लगती थी। ज्यों-ज्यों रात बढ़ने लगी, भूख के साथ ठण्ड भी सताने लगी। वह सन्तोजी के पास आकर—"महाराज ! ठण्ड सता रही है, क्या करूँ ?"

सन्तोजी ने कहा—"मेरे पास तो कपड़े नहीं हैं। ज्यादा ठण्ड लगती हो तो लकड़ी जलाकर ताप लो।" वह थोड़ी देर तक तो तापता रहा, लेकिन रात बढ़ने के साथ ही उसकी भूख और ठण्ड बढ़ती गई। उसका वैराग्य बिलकुल उड़ गया। वह बोला—"महाराज ! अब तो घर जाना चाहता हूँ।"

सन्तोजी बोले—"क्या कहा ? घर जाना चाहते हो ? अरे रे ! यह क्या कह रहे हो ? तुम्हीं तो बता रहे थे कि संसार असार है, और नारी नरक की खान है। तब उसके संग कैसे रहोगे ?"

वह बोला—"महाराज ! बात तो सही है, लेकिन यह मेरे वश की बात नहीं है। यह तो आप जैसे सन्तों का ही काम है। मुझे आज्ञा दीजिए, मैं घर जाता हूँ।"

लंगोटी लगाकर घर जाने में शर्म तो आ रही थी, लेकिन आधी रात बीत जाने से अब कोई डर नहीं था। गाँव में चारों ओर अँधेरा था, लोग निद्राधीन थे। अतः लंगोटी पहने ही वह घर पहुँचा। द्वार खटखटाया। पत्नी ने पूछा—"कौन है ?"

ब्राह्मण ने अपना नाम बताया। वह बोली—"मेरे पति ऐसे नहीं हो सकते कि वे वापस आ जाएँ। उनका वैराग्य वर्षों पुराना है। वर्षों से वे कहते आ रहे थे कि

मैं साधु बन जाऊँगा। वे सन्तोजी महाराज के पास गये हैं। वे नहीं आ सकते। तुम कोई ठग मालूम होते हो।"

वह बोला--'मैं ठग नहीं, तुम्हारा पति ही हूँ। मैं सन्तोजी महाराज के पास गया तो था, लेकिन वह रास्ता बहुत कठिन है। ठण्ड लग रही है, दरवाजा खोलो, मैं भूखा हूँ।" वह कहने लगी–"मेरे पति ऐसे कायर नहीं हैं कि उनके विचार बदल जाएँ। तुम किसी बुरे इरादे से आए हो। मैं दरवाजा नहीं खोलूंगी।" ज्यों-ज्यों दरवाजा खुलने में विलम्ब होने लगा, त्यों-त्यों वह बेचैन होकर मिन्नतें करने लगा कि "तुम दरवाजा खोलकर तो देखो, मैं वही हूँ। भूख और ठण्ड के मारे मेरी जान निकली जा रही है। मैं अब न तो तुम्हें कभी सताऊँगा और न ही धमकाऊँगा। मेरी जान बचाओ।" तब उसने दरवाजा खोलकर अन्दर लिया, कपड़े पहनने को दिये और गर्म-गर्म रोटी बनाकर खिलाई। तब से उसने गुस्सा करना छोड़ दिया। पति-पत्नी दोनों सुख से जीवनयापन करने लगे।)

हाँ, तो मैं कह रहा था कि अगर सन्तोजी पवार शिष्य-लोभी गुरु होते तो वे उस ब्राह्मण की गर्ज करते, उसे खिला-पिलाकर सन्तुष्ट करते, उसकी इच्छानुसार उसे सुख-सुविधा देते। परन्तु जब उसको अपने पूर्व-संस्कारवश गुस्सा आता तब वह गुरु की भी खबर ले लेता, उनकी भी अवज्ञा कर बैठता। इस तरह शिष्य-लोलुपता का दण्ड गुरु को भोगना पड़ता।

अधिक सन्तान और अधिक शिष्य : अधिक दुःख

गृहस्थ-जीवन का तो आपको अनुभव है। जिसके अधिक सन्तान होती है, वह उन्हें भलीभाँति संभाल नहीं सकता, शिक्षा-दीक्षा और सुसंस्कार दे नहीं सकता, इस प्रकार संतति-वृद्धि करने वाले पिता की सन्तान धीरे-धीरे अपराधी मनोवृत्ति की बन जाती है, स्वच्छन्द और अविनीत हो जाती है, इस प्रकार के एक या अनेक कुपुत्र पिता के लिए जैसे सिरदर्द हो जाते हैं, वे पिता की बात नहीं सुनते और सामना करने लगते हैं, वैसे ही शिष्यों की वृद्धि करना ही जिस साधु का लक्ष्य हो जाता है, वह जैसे-तैसे व्यक्तियों को मूंड लेता है, कई बार तो उन्हें प्रलोभन या किसी प्रकार का लोभ देकर मूंड लेता है, परन्तु एक तो अनेक शिष्य होने के कारण वह उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा साधुजीवन के संस्कारों की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाता, दूसरे अयोग्य और सुसंस्कारहीन होने से उनकी प्रकृति को बदलना बहुत कठिन होता है, फिर ऐसे शिष्यवृद्धि करने वाले साधु की वे ही शिष्य अवज्ञा कर बैठते हैं, अविनीत और स्वच्छन्द हो जाते हैं, कोई न कोई अयोग्य और निन्द्य कृत्य कर बैठते हैं। तब उन गुरुओं की आँखें खुलती हैं। फिर उन्हें उन कुशिष्यों के लिए पछताना पड़ता है।

ऐसे मूर्ख और अविनीत शिष्यों से पाला पड़ जाए तो गुरुजी का माथा [illegible] हिलाके रख दें और उनके गुरुपद के गर्व को भी चूर-चूर कर दें।

एक साधु ने एक मूर्ख और अविनीत शिष्य मूँड़ लिया। लोगों के पूछने पर वे कहते—"कोई सेवा करने वाला तो चाहिए न। जैसा है, वैसा ही सही।" एक बार गुरु-शिष्य दोनों गाँव के बाहर एक बगीचे में ठहरे हुए थे। गुरुजी ने शिष्य को गाँव में भिक्षा के लिए भेजा। भिक्षा में उसे बत्तीस दहीबड़े मिले। आज उसे भूख सता रही थी। भिक्षा लेकर जब वह लौट रहा था तो सोचा—"भूख बहुत लगी है और दहीबड़े आये हैं। अतः गुरुजी के हिस्से के आधे दहीबड़े रखकर बाकी के अपने हिस्से के दहीवड़े खाने में क्या हर्ज है?" बस, उसने पात्र में से १६ दहीबड़े निकाले और उदर-देव को चढ़ा दिये।

सुलगती हुई क्षुधाग्नि में दहीबड़े पड़ते ही उन्होंने उसकी भूख और बढ़ा दी, साथ ही समुचित मसालों से युक्त दहीबड़ों के खाने की लालसा भी। चलते-चलते उसे विचार आया—"गुरुजी को क्या पता कि भिक्षाचरी में कितने दहीवड़े मिले हैं? वे सोलह दहीबड़े जानकर मुझे अपने हिस्से के आठ दे देंगे। तो फिर अपने हिस्से के ये आठ दहीबड़े अभी ही क्यों न खा लूँ।" यों वह आठ दहीबड़े और खा गया। इसी प्रकार विचार करते-करते उस कुशिष्य ने क्रमशः चार, दो और अन्त में एक दहीबड़ा खाकर कुल ३१ दहीबड़ों को तो उदरकोट में पहुँचा दिया। अब केवल एक बड़ा बचा था। वही ले जाकर गुरुजी को सौंप दिया गुरु ने पात्र में लगे दही को देखकर अनुमान लगा लिया कि अवश्य ही बड़ों की संख्या अधिक होगी। गुरु ने संदिग्ध दृष्टि से आँखें तरेरकर शिष्य से पूछा—"यह एक बड़ा किसने दिया?"

शिष्य धूर्त होने के साथ चालाक भी था। गुरु की कुपित दृष्टि को भाँपकर उसने सच बोलना ही उचित समझा। वह बोला—"गुरुदेव! बड़े तो बत्तीस मिले थे, लेकिन पाँच बार मैं अपने आधे-आधे हिस्से के बड़े खा गया। इस कारण ३१ बड़े तो पेट में पहुँच गए, आपके लिए सिर्फ एक बड़ा सुरक्षित रहा है।"

शिष्य का उत्तर सुनकर गुरुजी के क्रोध की सीमा न रही। वे बोले—"क्यों रे धूर्त! तूने अकेले ने ३१ वड़े कैसे खा लिये?"

गुरु का यह प्रश्न सुनकर कुशिष्य क्षणभर तो स्तब्ध हो गया, दूसरे ही क्षण धृष्टतापूर्वक गुरु की ओर देखा। फिर पात्र में रखे उस बड़े को लपककर उठाकर और मुँह में रखता हुआ बोला—"गुरुजी ऐसे खा लिये।"

गुरुजी आँखें फाड़ते हुए उस कुशिष्य की धृष्टता देखते ही रह गये। वे मन ही मन ऐसे धूर्त, चालाक एवं धृष्ट कुशिष्य के लिए पश्चात्ताप करने लगे। नीतिकार ठीक ही कहते हैं—

मूर्खं शिष्यो न कर्तव्यो, गुरुणा सुखमिच्छता।
विडम्बयति सोऽत्यन्तं, यथाहि वटभक्षकः।

"जो गुरु सुख से जीना चाहता है, उसे भूलकर भी मूर्ख को शिष्य नहीं बनाना

चाहिए, क्योंकि बड़े खाने वाले उस शिष्य की तरह वह उसकी विडम्बना ही करवाता है।"

कुशिष्य : गुरु को हैरान और बदनाम करने वाले

कई बार ऐसे कुशिष्य जिद्दी और दुर्विनीत होकर गुरु को हैरान कर बैठते हैं। वे फिर आगा-पीछा नहीं सोचते कि ऐसा व्यवहार करने से गुरुजी के हृदय को कितना आघात पहुँचेगा ? उनकी कितनी अवज्ञा और आशातना होगी ? उस आशातना से कितना भयंकर पापबन्ध होगा, और कितना भयंकर दुष्परिणाम भोगना होगा ? दशवैकालिक सूत्र (अ० ६) और उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १) में शिष्य के द्वारा विनय और अविनय के सम्बन्ध में भलीभाँति बताया गया है। वहाँ शिष्यों पर अनुशासन करते समय गुरु के हृदय के भावों को व्यक्त करते हुए कहा गया है—

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्स व वाहए॥

"जातिवान घोड़े को शिक्षा देने वाले शिक्षक की तरह विनीत शिष्य को शिक्षा देता हुआ गुरु आनन्दित होता है और बाल (अविनीत) शिष्य को शिक्षा देते समय गलित अश्व—दुष्ट घोड़े को सिखाने वाले शिक्षक की तरह खिन्न-दुःखित होता है।"

इसे ठीक तरह से समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए—

एक गुरु-शिष्य विचरण करते हुए कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक नदी आई। नदी में काफी पानी था। शाम का समय था। संयोगवश एक बाई नदी के किनारे खड़ी किसी का इन्तजार कर रही थी। उसे नदी के उस पार जाना था। अकेले नदी पार करने में डूब जाने का भय था। रात को नदी के किनारे रहने को कोई जगह न थी, अकेले रहने में डर भी था। भयभ्रान्त बाई ने वृद्ध आचार्यश्री से प्रार्थना की गुरुदेव ! मुझे भी कृपा करके नदी पार करा दीजिए।

महिला की बात सुनकर कठोरहृदय शिष्य ने अपनी नजर जमीन में गड़ा दी, उसकी बात का कोई उत्तर न दिया। परन्तु सहृदय आचार्य से न रहा गया। आचार्यश्री ने उसे आश्वासन दिया और नदी पार करा देने को कहा। वैसे तो साधु को स्त्री स्पर्श करना वर्ज्य है। इसलिए वह बाई थोड़ी दूर तक तो नदी के पानी में साथ-साथ चली। आगे पानी गहरा था, इसलिए वह डूबने लगी तो आचार्यश्री ने उस पर दया करके उसे कंधे पर बिठा लिया और नदी पार करा दी। बाई प्रसन्न होकर गुरुजी का एहसान मानती एवं कष्ट के लिए क्षमा मांगती चली गई। परन्तु शिष्य के मन में गुरुजी के इस व्यवहार के प्रति असंतोष था। उसने गुरुजी से कहा—"आपने इस रूपयौवना को कंधे पर बिठाकर नदी पार कराई, यह मुझे उचित न लगा। उसके रूपलावण्ययुक्त देह का आपके कंधे और हाथों से स्पर्श हुआ, क्या इससे ब्रह्मचर्य भंग का पाप नहीं हुआ ?"

आचार्यश्री ने कहा—"वत्स ! वह लावण्यमय थी या कुरूप ? यह विचार तो मेरे मन में कतई नहीं आया, मेरे मन में तो एक असहाय को इस संकट के समय अपवादस्वरूप सहायता करने का ही विचार था।"

शिष्य उस समय तो कुछ नहीं बोला। दूसरे दिन शिष्य ने फिर वही प्रश्न उठाकर कहा—"गुरुजी ! आपने उसका कुछ प्रायश्चित्त लिया ?" गुरुजी बोले—"मैंने तो उस बाई को कंधे से भी उतार दिया और दिमाग से भी निकाल दिया, पर तेरे दिमाग में अब भी वह भरी हुई है, इसलिए तू प्रायश्चित के योग्य है, कि ऐसे कुविचार मन में लाता है। पापकर्म के उदय से तेरी दृष्टि विकृति की ओर ही जाती है।"

शिक्षित और शास्त्रज्ञ कुशिष्य तो और भी बुरे हैं

वास्तव में ऐसे शिष्यों से गुरु को अत्यन्त मानसिक क्लेश होता है। ऐसे शिष्य अगर कुछ शिक्षित और शास्त्रज्ञ हो जाते हैं, फिर तो कहना ही क्या? उनके पंख लग जाते हैं, और पद-पद पर वे गुरु का अपमान करने से नहीं। चूकते। अक्खा भगत के शब्दों में उस कुशिष्य का रूप देखिए—

देहाभिमान हतु पाशेर,
विद्या भणता वाध्यो शेर,
गुरु थयो त्यां मणमां थयो।

पहले सिर्फ पावभर शरीराभिमान था। कुछ विद्या पढ़ ली तो वह अभिमान सेरभर हो गया, अर्थात चार गुना अभिमान बढ़ गया और फिर उस शिष्य के कोई शिष्य हो गया तो फिर पूछना ही क्या, फिर तो अभिमान ४० गुना बढ़ गया। इस प्रकार शिक्षित एवं अभिमानी कुशिष्य अपने गुरु की पद-पद पर अवगणना किया करता है।

गुरु लोभी और शिष्य लालची

आजकल शिष्य बनने वालों की हालत ऐसी है कि वे अपना वैराग्य-भाव इतना जताते हैं कि गुरु भी चक्कर में पड़ जाता है और उनके द्वारा की जाने वाली चापलूसी, वाचालता आदि को विनय एवं नम्रता समझने लगता है। कई बार तो गुरु को शिष्य बनाने का लोभ होता है, और शिष्य को प्रतिष्ठा, सम्मान एवं सुख-सुविधापूर्वक आहार-पानी आदि प्राप्त होने का लोभ होता है। दोनों ही लोभवश अपना-अपना दाँवपेंच लगाते हैं। इसीलिए कहा है—

गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेले दाव।
दोनों डूबे वापड़े, बैठ पत्थर की नाव॥

गुरु तो बन सकता हूँ, शिष्य नहीं

वास्तव में देखा जाए तो ऐसे लालची शिष्य, शिष्य बनने से पहले ही गुरु बन जाने का दाँव लगाते हैं।

एक नौजवान चौधरी (किसान) जंगल में घूमता-घामता एक साधु बाबा की कुटिया में जा पहुँचा। पहुँचते ही साधु बाबा के पैर दबाने लगा। उसके द्वारा पैर दबाने से थोड़ी देर में साधु बाबा की थकान दूर हो गई। बाबा ने सोचा—"यदि ऐसा चेला मिल जाए तो मेरा बुढ़ापा सुख से कट जाय।" इसी आशा से बाबा ने पूछा—"अरे, चेला बनेगा?"

वह भी चौधरी था। सीधा तो क्या उत्तर देता, पूछा—"प्रभु! चेला क्या होता है?"

बाबाजी ने समझाया—"देख, गुरु और चेला दो होते हैं। गुरु का काम आज्ञा देने का होता है और चेले का काम है—दौड़-दौड़कर उनकी आज्ञा का पालन करना।" इस पर चौधरी कुछ देर सिर खुजलाकर बोला—"चेला बनने की तो कुछ दाय जची है, हाँ, गुरु बनाएँ तो मैं बन जाऊँ!"

गुरुजी बेचारे भौंचक्के से देखते ही रह गए।

हाँ, तो आजकल गुरु बनने बनने वाले बहुत हैं, चेला—सुशिष्य बनने वाले विरले ही मिलते हैं।

गुरु के कर्तव्यों को अदा न करने वाले शिष्यलिप्सु

ऐसे शिष्यलोलुप साधु स्वयं अपने उत्तरदायित्व से गिर जाते हैं। केवल शिष्य मूंड लेने मात्र से ही गुरु के कर्तव्य की इतिसमाप्ति नहीं हो जाती। वरन् शास्त्रों में शिष्यों के प्रति गुरु के कुछ दायित्व एवं कर्तव्य बताये हैं। जो उन दायित्वों एवं कर्तव्यों से दूर भागकर केवल शिष्यों के सिर पर दोष मढ़ देता है, वह गुरु या आचार्य, गुरुपद या आचार्यपद के अयोग्य होता है। देखिए 'गच्छाचारपइन्ना' (२/१५-१६) में स्पष्ट कहा है—

> संगहोवग्गहं विहिणा न करेइ य जो गणी।
> समण-समणीं तु दिक्खित्ता समायारी न गाहए॥
> बालाणं जो उ सीसाणं जीहाए उवलिंपए।
> ते सम्ममग्गं न गाहेइ, सो सूरी जाण वेरिउ॥

जो आचार्य या गुरु आगमोक्तविधिपूर्वक शिष्यों के लिए संग्रह (वस्त्र, पात्र, क्षेत्र आदि का) तथा उपग्रह (ज्ञानदान आदि का) नहीं करता। श्रमण-श्रमणी को दीक्षा देकर साधु समाचारी नहीं सिखाता एवं बालक शिष्यों को सन्मार्ग में प्रेरित न करके केवल गाय-बछड़े की तरह उन्हें जीभ से चूमता या चाटता है, वह आचार्य (गुरु) शिष्यों का शत्रु है।

नीतिवाक्यामृत में तो और भी स्पष्ट खोलकर कह दिया है—

> न हि गुरु पिता सुहृद् वा योऽभ्यसूययार्भं बहुदोषं।
> बहुषु वा प्रकाशयति, न शिक्षयति च॥"

वह गुरु, पिता व मित्र निन्दनीय या कुगुरु है, कुपिता है या कुमित्र है, जो अपने शिष्य, पुत्र या मित्र को हितशिक्षा तो नहीं देता किन्तु ईर्ष्यावश दूसरों या अनेकों के समक्ष उनके दोषों को ही प्रगट करता है। गुरु या गच्छाचार्य को शिष्य मूँड़ने से पहले शिष्य के प्रति अपने दायित्वों और कर्तव्यों को समझ लेना चाहिए। दीक्षा देने के बाद भी उसे शिष्यों की सारणा, वारणा और धारणा तथा पडिचोयणा का ध्यान रखना आवश्यक है। जो गुरु शिष्य को किसी भी व्रत, तप, नियम, संयम, समत्व आदि के सम्बन्ध में बताता ही नहीं, केवल अपने आमोद-प्रमोद या सुख-सुविधा में मग्न रहता है, वह गुरु अपने शिष्य से सुशिष्य बनने की आशा रखे, यह बेकार है। शिष्य को एक मुद्दत हो जाने या उम्र पक जाने के बाद फिर गुरु उसे सुशिष्य बनाना चाहे तो कैसे बन सकेगा? इसमें दोष शिष्य का कम और गुरु का अधिक माना जाता है। क्योंकि गुरु तो गीतार्थ था, सब कुछ नियमोपनियम जानता था, फिर भी लापरवाही से उसने शिष्य को नहीं बताया, नहीं समझाया, फिर शिष्य उन्मार्गगामी बन जाता है, तब उसे उपालम्भ देता है, उसकी निन्दा करता है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका में शिष्य के उत्पथगामी होने में गुरु का ही दोष बताया गया है—

> **आचार्यस्यैव तज्जाड्यं यच्छिष्यो नाऽवबुध्यते।**
> **गावो गोपालकेनैव कुतीर्थेनावतारिताः ॥**

"यदि शिष्य को ज्ञान नहीं होता या वह बेसमझ रह जाता है, तो इसमें आचार्य (गुरु) की ही जड़ता है, क्योंकि गायों को कुघाट में उतारने वाला ग्वाला ही है, गायें स्वयं नहीं।"

सचमुच, शिष्यों के कुपथगामी हो जाने पर बदनामी उनके गुरु की ही होती है, शिष्य तो यह कहकर बच जाता है कि मुझे गुरुजी ने सिखाया नहीं, परन्तु गुरु यह कहकर बच नहीं सकता कि मुझसे शिष्यों ने क्यों नहीं सीखा।

आचार्य वृद्धवादी जैसे कुछ दूरदर्शी, तत्त्वज्ञ एवं शिष्यलोभ से रहित गुरु ही अपने विद्वान् से विद्वान् शिष्य को उत्पथ पर जाते देखकर उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं, शिष्यमोह से रहित होकर। उनके जीवन की एक घटना है—

आचार्य वृद्धवादी ने विद्वान् कुमुदचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया, तब कुमुदचन्द्र उनके शिष्य बन गए। आचार्यश्री ने उनका नाम रखा—सिद्धसेन। आचार्यश्री ने सिद्धसेन को जैनदर्शन का पारंगत विद्वान् बनाकर उसे आचार्य पद दिया।

एक बार सिद्धसेन आचार्य स्वतन्त्र विहार करते हुए पूर्व की ओर कर्मारनगर में पहुँचे। वहाँ के राजा देवपाल ने उनका स्वागत किया। आचार्य सिद्धसेन ने राजा को धर्मोपदेश देकर अपना भक्त बना लिया।

उन्हीं दिनों कामरूप देश के राजा विजयवर्मा ने कर्मारनगर पर चढ़ाई कर दी,

उसे चारों ओर से घेर लिया। वनवासी सेना के बाणों से घबराकर राजा देवपाल सहायता के लिए सिद्धसेन की शरण में आये। उनसे उपाय पूछा। उन्होंने राजा को बहुत आश्वासन दिया और इसका प्रतीकार करने का वचन भी। सिद्धसेन ने स्वर्ण सिद्धि योग से विपुल द्रव्यराशि और सरसवमंत्र से विशाल सेना की सृष्टि की। उनकी सहायता से राजा देवपाल ने विजयवर्मा को पराजित कर दिया। देवपाल ने प्रसन्न होकर आचार्य सिद्धसेन को 'दिवाकर' पदवी प्रदान की। राजसभा में उनकी प्रतिष्ठा की। उनकी सेना में हाथी, घोड़े, पालकी आदि राजा की ओर से भेजे जाने लगे, सिद्धसेन भी इनका उपयोग खुलकर करने लगे।

आचार्य वृद्धवादी (गुरु) को जब यह मालूम पड़ा कि सिद्धसेन अपनी साधु-मर्यादा का अतिक्रमण कर रहे हैं, तब उन्हें प्रतिबोध देने के लिए वे वेष बदलकर कर्मारनगर पहुँचे। उन्होंने सिद्धसेन को पालकी में बैठकर जाते हुए अपनी आँखों से देखा। पालकी राजमार्ग से होकर जा रही थी। अनेक लोग उन्हें घेरकर जयध्वनि कर रहे थे। तब वृद्धवादी ने सामने जाकर कहा—"मैंने आपकी ख्याति बहुत सुनी है अतः मेरा एक संशय है, क्या आप उसे दूर करेंगे ?"

सिद्धसेन ने कहा—"हाँ हाँ, क्यों नहीं, आपका जो भी संशय हो पूछिए।" इस पर आचार्य वृद्धवादी ने शीघ्र ही एक गाथा अपभ्रंश भाषा में रचकर उनके समक्ष प्रस्तुत की—

अणफुल्लो फुल्ल म तोडहु, मन आरामा म मोडहु।
मणकुसुमेहिं अच्चि निरंजणु, हिंडइ काहं वणेण वणु॥

सिद्धसेन ने इस गाथा पर विचार किया, परन्तु ठीक अर्थ समझ में नहीं आया। अतः उन्होंने ऊटपटांग अर्थ करके कहा—"और कुछ पूछिए।"

वृद्धवादी ने कहा—"इसी पर पुनः विचार करके उत्तर दीजिए।" सिद्धसेन ने निरादरपूर्वक अंटसंट अर्थ किया, लेकिन वृद्धवादी ने उसे स्वीकार नहीं किया। तब सिद्धसेन ने आचार्य वृद्धवादी को ही उसका स्पष्टकरण करने को कहा। इस पर आचार्य वृद्धवादी ने उत्तर दिया—"यह मानवदेह जीवनरूप कोमल फूलों की लता है। इसके जीवनांशरूप कोमल अर्ध-विकसित फूलों को तुम राजसम्मान एवं तज्जन्य अभिमान के प्रहारों से मत तोड़ो। मन के यमनियमादि आरामों (उद्यानों) को भोग-विलास (आराम) के द्वारा नष्टभ्रष्ट न करो। मन के सद्गुण-पुष्पों द्वारा निरंजन भगवान की अर्चना (पूजा) करो। सांसारिक लोभरूपी मोहवन में वृथा क्यों भटक रहे हो ?"

गाथा का यह समुचित अर्थ सुनकर सिद्धसेन ने सोचा—"यह गाथा तो मुझ पर ही घटित हो रही है। मेरी भूलों को इस प्रकार कोमलकान्त पदावली में सुझाने वाले और मेरी त्रुटियों की भर्त्सना करने वाले हितैषी सद्गुरु के सिवाय और कौन हो सकते हैं ?"

सिद्धसेन का हृदय-परिवर्तन होगया। वे शीघ्र ही पालकी से उतर गुरुदेव के चरणों में गिरे और अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगने लगे।

आचार्य वृद्धवादी बोले—"मैंने तुम्हें जैन सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कराया। किन्तु मन्दाग्नि वाला मनुष्य जैसे गरिष्ठ भोजन को नहीं पचा सकता, वैसे ही तुम भी उत्कृष्ट जैन सिद्धान्तों को पचा न सके। जब तुम जैसे तेजस्वी प्रतिभासम्पन्न साधुओं का यह हाल है, तब दूसरे साधारण साधुओं की क्या स्थिति होगी? वे तुम्हारा अनुसरण करके तुम से दो कदम आगे बढ़ेंगे। अतः सन्तोषपूर्वक जीवनयापन करते हुए सिद्धान्तज्ञान को पचाओ, अपने चित्त में स्थिर करो।"

सिद्धसेन ने अपनी भूल स्वीकार की और गुरुदेव से उचित प्रायश्चित्त लेकर पुनः साधुता के सत्पथ पर चलने लगे।

यह है, सद्गुरु द्वारा उत्पथ पर चलकर कुशिष्य बनने से रोकने की युक्तिसंगत प्रक्रिया!

सुशिष्य कौन, कुशिष्य कौन ?

प्रश्न यह होता है कि सुशिष्य और कुशिष्य की पहचान कैसे की जाए? अमुक साधक भविष्य में कुशिष्य बनेगा या सुशिष्य? इसके लिए कौन-सा थर्मामीटर अपनाया जाए? गुरुओं की यह तो जिम्मेवारी है कि वे शिष्य बनने के उम्मीदवार को पहले खूब देखें-परखें, तत्पश्चात् योग्य जचने पर उसे शिष्य बनाएँ, और शिष्य बनाने के पश्चात् भी उसे सारणा, वारणा, धारणा और पडिचोयणा समय-समय पर करके, समाचारी और साधुता का पूर्ण ज्ञान और अभ्यास कराएँ, उत्पथ पर जाने से भरसक रोकें इतना सब करने के बावजूद भी कई बार गुरु ठगा जाता है।

तथाकथित शिष्य के द्वारा विनय नामक कपटी साधु की तरह विनय, सेवाभक्ति आदरभाव, यतनापूर्वक साधुचर्या आदि देखकर गुरु शिष्य को सुशिष्य समझ लेता है, किन्तु आगे चलकर जब उस शिष्य का असली रूप उसके सामने आता है, तब पछताता है, तब वह 'दूध का जला हुआ छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है,' वाली कहावत चरितार्थ करता है। प्रत्येक सद्गुणी सुसाधु को भी वह बार-बार टोकता है, उसके कार्यों के प्रति शंकाशील हो जाता है, उसे हर बात में झिड़क देता है, चिड़चिड़े स्वभाव का बन जाता है। इसलिए एकान्तरूप से गुरुओं को भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता। गुरुओं द्वारा इतनी सब जिम्मेवारियाँ निभाने के बावजूद भी यदि कोई साधु भविष्य में कुशिष्य बन जाता है तो उसमें उनका क्या दोष?

पर एक बात कहना मैं उचित समझता हूँ कि गुरु को अपने द्वारा दीक्षित शिष्य को झटपट सुशिष्य मान लेने या घोषित करने की उतावल नहीं करनी चाहिए। पहले उसे शास्त्रोक्त गुणों द्वारा परखना चाहिए। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आचारांग आदि शास्त्रों में सुशिष्य के विनयादि गुण इस प्रकार बताये गये हैं—

आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई ॥[1]
तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे, तस्सन्नी, तन्निवेसणे ।[2]
मणोगयं वक्कगयं जाणित्तायरियस्स उ ॥
तं परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए ।[3]
न पक्खओ, न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे ।[4]
आलवंते लवंते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि ।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जुत्तं पडिस्सुणे ॥[5]
आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कयाइ वि ।
आगम्मुक्कुडुओ संतो, पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥[6]
नीयं सेज्जं गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य ।
नीयं च पाए वंदेज्जा, नीयं कुज्जा य अंजलिं ॥
संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि ।
खमेह अवराहं मे, वएज्ज न पुणोत्ति य ॥[7]
प्रज्ञयाऽतिशयानोऽपि न गुरुमवज्ञापयेत ।[8]
जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ, कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥[9]

अर्थात्—"गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य करने वाला, गुरु के समीप बैठने वाला और गुरु के इंगित—आकार को समझकर कार्य करने वाला शिष्य विनीत कहलाता है।"

"विनीत शिष्य को चाहिए कि वह गुरु की दृष्टि के अनुसार चले, गुरु की निःसंगता का अनुसरण करे, उन्हें हर बात में आगे रखे, उनमें श्रद्धाभक्ति रखे और उनके पास रहे।"

"आचार्य (गुरु) के मन, वचन और काया के भावों को जानकर उन्हें वचन द्वारा स्वीकार करके काया के द्वारा तदनुसार उन्हें सम्पादन करे।"

"आचार्यों (गुरुओं) के इतना सटकर पास में पास भिड़कर न बैठे, उनके आगे न बैठे, उनकी पीठ करके न बैठे, उनके घुटने से घुटना अटकाकर न बैठे तथा शय्या पर बैठा-बैठा ही उनके वचनों को न सुने।"

---

१ उत्तराध्ययन अ० १/२ २ आचारांग ५/४, ३ उत्तरा० १/४३
४ उत्तरा० १/१८ ५ उत्तरा० १/२१ ६ उत्तराध्ययन १/२२
७ दशवैकालिक ९।२।१७-१८ ८ नीतिवाक्यामृत ११।२०
९ दशवैकालिक ९।१।१२

"गुरु के द्वारा एक बार या बार-बार बुलाने पर कदापि न बैठा रहे, किन्तु बुद्धिमान शिष्य आसन छोड़कर यत्नपूर्वक गुरुवचनों को सुने।"

"आसन या शय्या पर बैठा-बैठा ही गुरु से न पूछे, अपितु आसन से उठकर उत्कटिकासन करता हुआ हाथ जोड़कर प्रश्न (सूत्रादि अर्थ) पूछे। शिष्य को अपनी शय्या, गति, स्थान और आसन, ये सब गुरु से नीचे रखने चाहिए तथा नम्र होकर, दोनों हाथ जोड़कर गुरुचरणों में वन्दना करनी चाहिए। असावधानी से यदि गुरु के शरीर या उपकरणों का संघट्टा (स्पर्श) हो जाए तो शिष्य नम्रता से कहे—भगवन्! मेरे इस अपराध को क्षमा करें। फिर कभी ऐसा नहीं होगा।"

"अधिक प्रज्ञावान होने पर भी शिष्य गुरु की अवज्ञा न करे।"

"जिस गुरु से आत्मविकासी धर्मशास्त्रों के गूढ़तत्त्वों की शिक्षा ग्रहण करे, उसकी पूर्णरूप से विनयभक्ति करे, हाथ जोड़कर सिर से नमस्कार करे और मन-वचन-काया से सदा यथोचित सत्कार करे।"

इन विनय आदि गुणों से गुरु अपने शिष्य की गतिविधि को देख-परख सकता है। अगर ये गुण शिष्य में पाये जाएँ तो समझ लेना चाहिए कि वह सुशिष्य है। ऐसे सुशिष्य को अध्यात्मज्ञान एवं शास्त्रीयज्ञान देने में कोई आपत्ति नहीं है। ऐसा सुशिष्य न तो अपने लिए सुख-सुविधा चाहता है, न कोई बढ़िया वस्त्र-पात्र। वह केवल गुरु-कृपा चाहता है, गुरु के द्वारा लोककल्याण चाहता है और चाहता है—गुरु का उपदेश श्रवण।

तथागत बुद्ध के परमभक्त शिष्य आनन्द इसी प्रकार के विनीत सुशिष्य थे। बुद्धत्वप्राप्ति के २० वर्ष पश्चात् से लेकर लगातार २५ वर्ष तक उन्होंने बुद्ध की सेवा इन चार शर्तों के साथ की थी—

(१) बुद्ध स्वयंप्राप्त उत्तम भोजन, वस्त्र एवं गंधकुटीर में निवास मुझे न दें।

(२) निमन्त्रण में मुझे साथ न ले जाएँ, मेरे द्वारा स्वीकृत निमंत्रण में वे अवश्य जाएँ।

(३) दर्शनार्थी को मैं जब चाहूँ तब मिला सकूँ, मैं भी जब चाहूँ तब निकट जा सकूँ।

(४) मेरी अनुपस्थिति में दिया गया उपदेश मुझे पुनः सुनाया जाए।

कहते हैं—भिक्षु आनन्द क्रमशः ६० हजार शब्द याद रख सकते थे। ऐसे सुशिष्य को पाकर और उसे तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर भला कौन गुरु धन्य न होगा?

यही बात श्रमण भगवान् महावीर के पट्टधर शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम के सम्बन्ध में कही जा सकती है। वे भी परम विनीत, परम आज्ञाकारी, गुरुसेवा में

पूर्णतया समर्पित, गुरु के संकेत के अनुसार संघ का संचालन करने वाले एवं आदर्श शिष्य थे। उन्हीं की आदर्श शिष्यता के फलस्वरूप आज संघ को इतनी बहुमूल्य शास्त्रीय ज्ञाननिधि मिली है।

एक आधुनिक उदाहरण लीजिए—स्वामी रामकृष्ण परमहंस के गले पर एक बार एक जहरीला फोड़ा हो गया था। शिष्य फोड़े का चेप लग जाने के भय से गुरु से दूर-दूर रहने लगे। स्वामी विवेकानन्द उन दिनों धर्मप्रचार के लिए कहीं बाहर गये हुए थे। जब उन्हें गुरु की बीमारी के समाचार मिले तो वे शीघ्र लौट आए। यहाँ आकर जब उन्होंने देखा कि शिष्य उनकी सेवा नहीं कर रहे हैं, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। गुरु की अपार वेदना देख उनमें उत्कट भक्तिधारा उमड़ पड़ी। फलतः अपने प्राणों का मोह छोड़कर एक कटोरे में फोड़े का मवाद निकालकर 'जय गुरुदेव' कहते हुए उसे गटगटा गए। जहर अमृत बन गया।

जो शिष्य गुरु रामकृष्ण परमहंस को छूने में चेपी रोग लग जाने का भय खा रहे थे। वे भी यहाँ आ खड़े हुए और तत्काल उनकी परिचर्या में जुट पड़े।

वास्तव में जिस शिष्य में गुरु के प्रति उत्कट भक्ति होती है, समर्पण भाव होता है, गुरु के प्रति अटूट विश्वास होता है, उसे अपने जीने-मरने, कष्ट पाने या सुख-सुविधाओं की कोई अपेक्षा नहीं होती।

यह हुई सुशिष्य-कुशिष्य को पहचानने की प्रथम विधि। दूसरी विधि है—**गुरु द्वारा शिष्य की कठोर परीक्षा लेकर पहचानने की**। यह विधि जरा कठिन तो है, परन्तु इस विधि से परीक्षा लेने पर जो शिष्य उत्तीर्ण हो जाता है, उसे गुरुकृपा, गुरु का आशीर्वाद तथा गुरु की समस्त विद्याएँ तथा शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं, वह जगत् में सुशिष्य के नाम से स्वतः विख्यात हो जाता है। गुरु जब अपने शिष्य की कठोर वचनों से, ठोकरें मारकर, चाँटा लगाकर, कोसकर या पीटकर परीक्षा लेते हैं, उस समय सुशिष्य अपने लिए परम लाभ, हित मानता और कल्याणमय अनुशासन मानता है; जबकि कुशिष्य हितैषी गुरु को द्वेषी, पक्षपाती और शत्रु मानता है। इसलिए इस सम्बन्ध में शास्त्रीय चिन्तन—

जं मे बुद्धाणुसासंति सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥[1]
अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मण्णए पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ॥[2]
पुत्तो मे भाय नाइ त्ति, साहू कल्लाण मन्नई।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं, सासं दासं व मन्नई ॥[3]

---

1 उत्तरा० १।२७, 2 उत्तरा० १।२८,
3 उत्तरा० १।३९.

लज्जा-दया-संजम-बंभचेरं कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।
जे मे गुरु सययमणुसासयंति, ते हं गुरू सययं पूययामि ॥[1]
खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे ।
कल्लाणमणुसासंतो, पावदिट्ठि त्ति मन्नइ ॥[2]

अर्थात्—"तत्त्वदर्शी गुरु मुझे कोमल या कठोर वचन से जो शिक्षा (सजा) दे रहे हैं, वह मेरे लाभ के लिए ही है, यह सोचकर विनीत शिष्य उस गुरुशिक्षा को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करे।"

"दुष्कृत (पापकर्म) को दूर करने वाला, गुरुजनों का उपाययुक्त अनुशासन प्राज्ञशिष्य के लिए हित का कारण होता है, जबकि असाधु पुरुष के लिए वही अनुशासन द्वेष का कारण बन जाता है।

"विनीत शिष्य गुरु की शिक्षा को पुत्र, भाई या ज्ञातिजनों को दी गई हितशिक्षा के समान हितकारी मानता है, जबकि पापदृष्टि अविनीतशिष्य उसी हित-शिक्षा को नौकर को दी गई डांटडपट के समान खराब समझता है।"

"लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य, ये चारों कल्याणभाजन साधु के लिए विशोधिस्थल हैं, वह मानता है कि जो गुरु मुझे इनकी सतत शिक्षा देते हैं, मैं उनकी सतत पूजाभक्ति करूँ।"

"गुरु मुझे ठोकरें (लात) मारते हैं, थप्पड़ लगाते हैं, मुझे कोसते हैं और पीटते हैं, इस प्रकार गुरुओं के कल्याणकारी अनुशासन को पापदृष्टि विपरीत मानता है।" सुशिष्य की गुरु द्वारा कठोर परीक्षा लेने का यह एक तरीका है। इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर गुरु उस शिष्य को सुशिष्य मान लेता है।

स्वामी दयानन्द अपने गुरु प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजी की सेवा में रहकर अध्ययन और साधना करते थे। एक दिन स्वामी दयानन्द ने कमरे की सफाई करके कूडाकर्कट दरवाजे के पास डाल दिया। संयोगवश उनके गुरु विरजानन्दजी कमरे से बाहर निकले तो वह सारा कूड़ाकर्कट उनके पैरों में लग गया। वे क्रुद्ध हो उठे और दयानन्दजी को खूब पीटा, जिससे उनके शरीर पर निशान पड़ गये। फिर भी स्वामी दयानन्दजी शान्त बने रहे। अपने अपराध के लिए गुरु से क्षमा माँगी। प्रसन्न होकर गुरु ने आशीर्वाद दिया। दयानन्दजी की पीठ पर मार की वह निशानी जीवन पर्यन्त बनी रही। पूछने पर स्वामी जी कहा करते—"यह गुरुकृपा की निशानी है।"

यह था, गुरु द्वारा शिष्य के 'सु' या 'कु' होने का परीक्षाफल ! वास्तव में जो साधक अपना कल्याण चाहता है, वह इन सुख-दुःखों के द्वन्द्व में सम रहता है, वह गुरु के द्वारा की गई कठोर परीक्षा को अपने लिए परम हितकर समझता है।

---

१ दशवै० ६।१।१३ २ उत्तरा० १।३८

स्वामी विवेकानन्द जब तक रामकृष्ण परमहंस के शिष्य नहीं बने थे, उस समय (नरेन्द्र के रूप में थे तब) की एक घटना है—उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस का उन पर असीम स्नेह था। ऐसा होने पर भी एक बार उन्होंने 'नरेन्द्र' (विवेकानन्द) से बोलना बन्द कर दिया। जब नरेन्द्र उनके सम्मुख जाते, तब वे अपना मुँह दूसरी ओर मोड़ लेते। नरेन्द्र प्रतिदिन सहजभाव से उन्हें प्रणाम करते और थोड़ी देर उनके पास बैठकर लौट आते। यही क्रम कितने ही सप्ताह तक चलता रहा। तब एक दिन स्वामी रामकृष्ण ने उनसे पूछा—"मैं तुमसे नहीं बोलता, तब भी तू प्रतिदिन आता है, क्या बात है ?"

नरेन्द्र ने कहा—"गुरुदेव ! आपके प्रति श्रद्धा है, इसलिए चला आता हूँ। आप मुझसे बोलें या न बोलें, इससे मेरी श्रद्धा में कोई फर्क नहीं पड़ता।" यह सुनते ही रामकृष्ण परमहंस का दिल भर आया, उन्होंने नरेन्द्र को छाती से लगाते हुए कहा—"अरे पगले ! मैं तो तेरी परीक्षा ले रहा था कि तू उपेक्षा सह सकता है या नहीं ? तू मेरी परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ है। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि तू इस धरती पर मानवता का अमर प्रहरी बनेगा।"

यह है, परीक्षा द्वारा सुशिष्य के निर्णय का तरीका ! यह विधि यद्यपि काफी पेचीदा है, इसमें शिष्य की श्रद्धा सहसा डांवाडोल होने पर उलटा परिणाम भी आ सकता है। अनेक शिष्यों की एक साथ परीक्षा करते समय कई अविनीत शिष्यों द्वारा गुरु पर पक्षपात, द्वेष, या ईर्ष्या का दोषारोपण भी आ सकता है।

शिष्यों की परीक्षा गुरु एक और सरल तरीके से भी लेता है, पर लेता है वह ढलती उम्र में, अपने उत्तराधिकारी के चुनाव के लिए।

एक गुरु के तीन शिष्य थे। वृद्धावस्था में इन्द्रियों के क्षीण हो जाने के कारण वे अपने पद पर किसी शिष्य को आसीन करके निश्चिन्त हो जाना चाहते थे। परन्तु यह उत्तराधिकार किस शिष्य को सौंपा जाय ? इस दृष्टि से एक दिन उन्होंने अपने एक शिष्य को बुलाकर कहा—"मेरे लिए किसी गृहस्थ के यहाँ से आम की फाँकें ले आओ।"

गुरुजी के शब्दों को सुनकर वह जोर से हँसा और बोला—"हैं, इस बुढ़ापे में भी आपकी इच्छा नहीं गई ! कब तक यह चटोरापन बना रहेगा ?" यों कह कर टाल दिया।

अब गुरुजी ने दूसरे शिष्य को बुलाकर भी यही इच्छा प्रकट की। वह चुपचाप पैसे बिना ही आम लेने चल दिया।

गुरुजी ने तीसरे शिष्य को बुलाकर कहा—"वत्स, आमों का [illegible] है, किस [illegible]" [illegible] तीसरे शिष्य को भी गुरुजी ने वही आदेश दिया तो उसने विनयपूर्वक पूछा—"गुरुदेव ! आम्रफल [illegible] प्रकार के [illegible] हैं ? [illegible] लाऊँ ?"

इतना सुनते ही गुरुजी ने उसे रोका और समझ लिया कि 'यही योग्य शिष्य है।' गुरुजी को विनय, ज्ञान और क्रिया में वही शिष्य उत्तम प्रतीत हुआ। अतः उन्होंने उसी को 'पट्टशिष्य' की पदवी प्रदान कर दी। कहा भी है—

परीक्षा सर्वसाधूनां शिष्याणाञ्च विशेषतः।
कर्तव्या गणिना नित्यं त्रयाणां हि कृता यथा॥

गणी (गुरु) को सब साधुओं की, विशेषतः अपने शिष्यों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए, जैसे इन तीन शिष्यों की परीक्षा की गई।

सुशिष्य की पहिचान की एक तीसरी विधि है—**सत्कार्यों या कर्त्तव्यों से परखने की**। जो शिष्य सत्कार्यों या अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में दक्ष होता है, वह गुरु के चित्त को स्वतः आकर्षित कर लेता है।

दशाश्रुतस्कन्ध (दशा ४) में गुरु के प्रति गुणवान शिष्य की ४ विनय प्रतिपत्तियाँ (कर्तव्यपालन विधियाँ)[1] बताई गई हैं—

(१) उपकरणोत्पादनता,
(२) सहायकता,
(३) गुणानुवादकता, और
(४) भारप्रत्यवरोहणता।

इनके अर्थ संक्षेप में क्रमशः ये हैं—गण में नये उपकरणों को उत्पन्न करना, पुराने उपकरणों की रक्षा करना, कम हों तो पूर्ति करना और साधुओं में यथाविधि वितरण करना **उपकरणोत्पादनता है**।

गुरु आदि के अनुकूल बोलना, अनुकूल चर्या करना, दूसरों को सुखसाता पहुँचाना, गुरु आदि का कार्य सरलता से करना, समय आने पर गुरु को भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र के पालन में सहायता करना **सहायकता है**।

गण, गणगत योग्य साधुओं तथा गणी का यथातथ्य गुणानुवाद करना, इनका गुणानुवाद करने वाले को धन्यवाद देना और रोगी, वृद्ध, ग्लान एवं विद्वान् आदि की उचित सेवा-शुश्रूषा करना, **गुणानुवादकता है**।

क्रोध आदि दुर्गुणों के कारण जो साधु-साध्वी गण से पृथक् हो रहे हों, या हो गये हों, उन्हें युक्ति, सान्त्वना एवं धैर्य से समझा-बुझाकर संयम में स्थिर करना, नवदीक्षित को आचार-विचार समझाना, रुग्णावस्था में सहधर्मियों की सेवा करना, गण में कदाचित् परस्पर कलह उत्पन्न हो जाय तो निष्पक्षता से क्षमायाचना करवाकर उपशान्त करना **भारप्रत्यवरोहणता है**।

---

१ तस्सेवं गुणजाइस्स अंतेवासिस्स इमा चउव्विहा विणयपडिवत्ती भवइ, तं जहा—उवगरणउप्पायणया, साहिलया, वन्नसंजलणया, भारपच्चोरुहणया।

—दशाश्रुतस्कंध दशा० ४

ये चारों गुणवान सुशिष्य के कर्त्तव्य हैं। इन कर्त्तव्यों एवं व्यवहारों पर से सुशिष्य की परख गुरु कर लेते हैं।

ज्ञातासूत्र में ऐसे ही एक गुणवान आदर्श शिष्य का उदाहरण मिलता है, जिसने संयममर्यादाओं के अतिक्रमणकर्ता अपने गुरु की अनन्य सेवा-भक्ति करके उन्हें सत्पथ पर मोड़ दिया था। उसका नाम था पन्थकमुनि। वह शैलक राजर्षि का शिष्य था। शैलक राजर्षि ५०० शिष्यों के गुरु थे। वे शैलकपुर के राजा थे, किन्तु शुक नामक जैनाचार्य के प्रतिबोध से विरक्त होकर मंडूक नामक युवराज को राजगद्दी सौंपकर अपने ५०० कर्मचारियों सहित उन्होंने मुनिदीक्षा धारण कर ली।

ग्रामों-नगरों में विचरण करते हुए एक बार शैलक राजर्षि अपने भूतपूर्व राज्य शैलकपुर पधारे। पूर्वकर्मोदयवश उनका शरीर व्याधि से जीर्णशीर्ण होगया था। मंडूक राजा ने उनके शरीर रोगग्रस्त देखकर यथोचित उपचार के लिए अपने यहाँ रुकने का सविनय आग्रह किया। वे अत्याग्रहवश रुक गये। वैद्यकीय उपचार से उनका शरीर स्वस्थ होगया। किन्तु पूर्वपरिचित लोगों के श्रद्धाभक्तिवश स्वादिष्ट एवं गरिष्ठ खानपान ग्रहण करने से उन्हें स्वादलोलुपता का रोग लग गया, फिर पर मंडूक राजा तथा अन्य राजकर्मचारियों एवं पौरजनों का विनय, भक्ति, श्रद्धा का अतिरेक एवं रखने का आग्रह! अतः शैलक राजर्षि वहाँ अच्छी तरह जम गये।

शिष्यों के बारंबार अनुरोध पर भी वे विहार करने का नाम ही न लेते थे। उनके ४९९ शिष्यों को गुरुदेव की यह मनोदशा संयमोचित न लगी। परन्तु अपने मार्गदर्शक गुरु को प्रबोध कैसे दें? इसलिए विवश होकर उनसे आज्ञा प्राप्त करके ४९९ शिष्य तो अन्यत्र विहार कर गये। सिर्फ एक धैर्यधारी, गुरु के प्रति सर्वस्व समर्पणकर्ता, अनन्यभक्त शिष्य पन्थक उनकी सेवा में रहा। पन्थक गुरु की सेवा अग्लानभाव से करता रहा। उसे दृढ़ विश्वास था कि गुरुजी एक न एक दिन अवश्य ही प्रबुद्ध होंगे। यह प्रमत्त दशा स्थायी नहीं रहेगी, इनकी आत्मा स्वतः जागृत होगी। धैर्य और आत्म-समर्पण ही सुशिष्य के धर्म हैं। यों सोचकर पन्थक स्वभाव-पूर्वक उनकी सेवा में रत था।

यों चातुर्मास व्यतीत होगया। एक दिन कार्तिक पूर्णिमा थी, चातुर्मास की पूर्णाहुति का दिन था। पन्थकमुनि ने दैवसिक एवं चातुर्मासिक प्रतिक्रमण [illegible] [illegible] के [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] को [illegible] लिये और गुरुदेव को चातुर्मासिक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] से [illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के गुरुदेव को [illegible] [illegible] से ही [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] से [illegible] और [illegible] [illegible] — [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

पंचक मुनि सुनकर शांति और गम्भीरता से बोले—"भगवन् ! यह मैं हूँ आपका शिष्य पन्थक। आज चातुर्मासिक समाप्ति के प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने और वन्दना-क्षमापना करने हेतु मैं आया था, मेरा मस्तक आपके पवित्र चरणों में झुकाते हुए छू गया प्रभो ! इसी कारण आपकी निद्रा भंग होगई। क्षमा करें, प्रभो ! क्षमा !" पन्थक के प्रत्येक वचन में नम्रता, सरलता और मृदुता भरी थी।

इस प्रकार नम्रता से निवेदन का परिणाम अच्छा ही हुआ। पन्थक की सुशिष्य गुणसाधना आज पूर्ण हुई। गुरुदेव की आत्मा जागी। चरणस्पर्श से तो घोर निद्रित मन जागा, पर शब्द-स्पर्श से उनकी अन्तरात्मा जाग उठी। मन्थन चला—"कहाँ दीक्षा के समय का तपस्वी शैलक और कहाँ आज का रसलोलुप शैलक ! कहाँ विषैले जन्तु के प्रति भी क्षमाशील शैलक और कहाँ विनयमूर्ति शिष्य पंथक को डाँटने वाला शैलक ! कार्तिक पूर्णिमा की पूर्ण चाँदनी आज शैलक राजर्षि के हृदयाकाश में छागई थी। वे पश्चात्तापमग्न होगए। प्रेमभरी मधुर वाणी में बोले—

"अहो प्रिय पंथक ! तुम्हारे धैर्य को धन्य है। कितनी धीरता और उदारता है तुममें कि ऐसे आचार शिथिल गुरु को भी न छोड़ा। चरणों का मस्तक से स्पर्श करने पर क्रोध करने वाले शैलक के प्रति भी—'भगवन् क्षमा करो', यह नम्र वचनावली। कहाँ तू सद्गुणों का पुंज और कहाँ मैं दोषों का भंडार। सचमुच तू ही था, जो मेरे पास अकेला टिका रहा। मेरे परमोपकारी चारित्रसहायक पन्थक ! तू न होता तो मेरी क्या दशा होती।"

इस तरह अश्रूपूरित नेत्रों से शैलक राजर्षि ने अपना हृदयभार हलका किया। वैराग्य अब प्रबल हो उठा। एक ही झटके में शैलक राजर्षि ने प्रमाद को झाड़ दिया। प्रातःकाल होते ही विहार की भावना व्यक्त की।

पंथक भी हर्षाश्रुपूर्वक गद्गद होकर बोला—"गुरुदेव ! पंथक में जो कुछ है, वह आपका ही दिया हुआ प्रसाद है। शिष्य तो गुरु की छाया होता है। अपने उपास्य के असीम ऋण में से यत्किंचित् ऋण अदा कर सका तो मैं धन्य मानूँगा। आप आशीर्वाद दें कि मैं समग्र ऋण अदा कर सकूँ। आपकी कृपा से यह आत्मा संसार दावानल से बची है, इसलिए चाहता हूँ, आपका निर्मल आलम्बन इस सेवक को मिलता रहे।"

सचमुच पन्थक एक आदर्श शिष्य था, उसमें शास्त्रोक्त गुणी-शिष्य-कर्तव्य कूट-कूट कर भरे थे। इसी कारण वह गुरु के आत्मोत्थान में सहायक बन सका।

हाँ, तो इस प्रकार विनयादि गुणों से, कठोर परीक्षा से, और गुणी शिष्य के कर्तव्यों एवं व्यवहारों से सुशिष्य की पहचान हो जाती है।

कुशिष्यों को ज्ञान देना सर्प को दूध पिलाना है

इसके विपरीत जो विनयादि गुणों में भी खरा न उतरे, कठोर परीक्षा में भी पास न हो और शिष्य के कर्तव्यों और व्यवहारों में पिछड़ा हो, वह शिष्य सुशिष्य

नहीं माना जा सकता । यह स्पष्ट पहचान है कुशिष्य की कि वह गुरु की आज्ञा नहीं मानता, उनके निकट नहीं बैठता, उनके प्रतिकूल आचरण करता है, तथा तत्त्वज्ञान से शून्य एवं अविनीत होता है । नीतिज्ञ चाणक्य शब्दों में—'वरं न शिष्यो, न कुशिष्य शिष्यः' "शिष्य का न होना अच्छा है, किन्तु कुशिष्य का शिष्य होना अच्छा नहीं ।"

क्योंकि कुशिष्य गुरु के मन में संक्लेश बढ़ाता है, उन्हें बदनाम करता है, उनका शत्रु एवं द्रोही बन जाता है । भगवान् महावीर का शिष्य गोशालक कुशिष्य था, जो अपने धर्मगुरु से सब कुछ सीखकर, उनके उपकार को भूलकर उनका विरोधी, निन्दक एवं आलोचक बन बैठा । एक उदाहरण द्वारा इसे समझाना ठीक होगा—

एक कलाचार्य थे, उनके पास एक छात्र विद्याध्ययन करने को आया । कलाचार्य से उसने बहुत अनुनय-विनय किया कि उस साधनविहीन को अपने आश्रम में स्थान एवं विद्यादान देकर कृतार्थ करें । कलाचार्य ने उस छात्र को अपनी झोंपड़ी में स्थान दे दिया ।

एक रात को गुरु-शिष्य झोंपड़ी में सो रहे थे । आश्रम के अगले भाग में एक दीपक जल रहा था । गुरु प्रतिदिन उसे बुझाकर सोया करते थे, पर आज वे बुझाना भूल गये थे । अतः उन्होंने शिष्य से कहा—"जाओ, दीपक बुझा आओ ।" सर्दी काल थी, सोया हुआ शिष्य आलस्यवश उठना नहीं चाहता था, किन्तु गुरु ने आदेश दिया, अतः क्या करे ? उस कुशिष्य छात्र ने चतुरता से कहा—"गुरुजी ! आप अपना मुँह ढाँक लें, और अपने लिए दीपक बुझा हुआ समझ लें ।"

गुरु ने सोचा—कैसा आलसी है ? उठना नहीं चाहता । पर इसे उठाना चाहिए । अतः कलाचार्य ने फिर आवाज दी तो बोला—"[illegible]"

गुरु बोले—"देखो तो वर्षा बरस रही है या नहीं ?" शिष्य ने सोचा—अब [illegible] काम नहीं चलेगा, फिर भी उसने अपनी कुबुद्धि और [illegible] से [illegible] अन्दर आते पास कुत्ता मिला और उसके शरीर पर हाथ फिराकर देख लिया । कुत्ते का शरीर सूखा था, इसलिए कह दिया कि वर्षा बन्द है । [illegible] बिल्कुल नहीं ।

कलाचार्य उस शिष्य की बात सुनकर सन्न रह गये। यह छात्र मुझे पढ़ाने आया है, मुझसे पढ़ने नहीं। यह कुशिष्य है, ज्ञान का पात्र नहीं।

कुशिष्य उपदेश के पात्र क्यों नहीं

उत्तराध्ययन सूत्र में शिक्षा के अयोग्य पात्र कौन है? इसका एक गाथा में उल्लेख कर दिया है—

अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य॥

शिक्षा के लिए अयोग्य पात्र को ५ कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं होती— अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य। कुशिष्य में इनमें से रोग को छोड़कर शेष ४ कारण पाये जाते हैं। गुरुओं से भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उन्हें प्रसन्न करके, उनके हृदय को जीतकर तथा उनकी विनय-भक्ति, सेवा-शुश्रूषा करके, परन्तु कुशिष्य में ये सब बातें होती नहीं, इसलिए वह किसी भी बात को—हितकर बात को प्रथम तो सुनना ही नहीं चाहता, अगर सुन भी लेता है तो उसे करना नहीं चाहता, बार-बार कहने पर तो वह ढीठ ही हो जाता है। इसीलिए स्थानांग सूत्र (स्था० ३ उ० ४) में तीन व्यक्तियों का समझाना दुष्कर बताया है—

तओ दुसन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—दुट्ठे, मूढे, वुग्गहिए।

"तीन को समझाना कठिन कहा है—(१) दुष्ट (ज्ञानियों के प्रति द्वेषी) को, (२) मूढ़ (गुण-दोष के अनजान, अज्ञान) को, तथा (३) व्युद्ग्राहित (कुगुरु के बहकाएँ हुए या विग्रह-कलह वाले) को।"

उत्तराध्ययन सूत्र (अ० २७) में कुशिष्य के लक्षण बहुत स्पष्ट रूप से बताये हैं—"जिस प्रकार कोई गाड़ीवान दुष्ट बैलों को गाड़ी में जोत देता है, वह उन बैलों की करतूत देखकर पछताता है, वे जूए को तोड़ फैंकते हैं, गाड़ी को लेकर ऊजड़ मार्ग में चले जाते हैं, बार-बार रास्ते के बीच में ही बैठ जाते हैं, वे जानबूझकर गाड़ी को उलट देते हैं, जिससे गाड़ी में रखा हुआ सामान भी गिर जाता है। इसी प्रकार के कुशिष्य होते हैं, जिन्हें धर्मसारथी गुरु धर्मयान में जोड़ देता है, लेकिन वे धृति और बुद्धि से निर्बल कुशिष्य जुआ उतारकर भाग जाते हैं, धर्ममार्ग को छोड़कर उन्मार्ग पर चल पड़ते हैं। धर्मयान को ही तोड़ फैंकते हैं। कुछ कुशिष्य ऋद्धि के, कुछ रस के और कुछ सुख-साधन के प्राचुर्य को देखकर गर्वित हो जाते हैं। कुछ क्रोधी, झगड़ालू, उद्दण्ड और प्रतिकूलभाषी होते हैं। कुछ शिष्य भिक्षा आदि लाने में आलसी, कुछ अपमानभीरु, एवं कुछ अभिमानी होते हैं। युक्तियों से समझाने पर भी तथा आत्मीयता के कहने पर भी वे दोष ही देखते हैं, पुनः-पुनः उसी अपराध को करते जाते हैं।"

गार्ग्याचार्य स्थविर के अनेक शिष्य थे, लेकिन सभी कुशिष्य के लक्षणों से

युक्त थे। उन दुष्टशिष्यों से वे तंग आ गये, उनकी आत्मा में बहुत विषाद होता। आखिर उन्होंने सभी कुशिष्यों को छोड़ दिया और सुसमाहित एवं स्वस्थ होकर एकाकी विचरण करने लगे।

इसी प्रकार एक हुए हैं कालिकाचार्य। उनके भी शिष्य तो अनेक थे, पर वे थे सब के सब पहले दर्जे के आलसी। सुबह प्रतिदिन गुरुजी प्रतिक्रमण के समय उठाते, पर कोई उठता ही नहीं था, न समय पर कोई धर्मक्रिया करता था। गुरुजी उन्हें सीख देते-देते थक गये। अतः उन कुशिष्यों को गुरु की शिक्षा देना व्यर्थ हुआ। कहा भी है—

दीधी पण लागी नहीं, रीते चूल्हे फूंक।
गुरु विचारा क्या करे, चेला ही में चूक॥

यों सोचकर एक दिन प्रातः नित्यक्रिया से निवृत्त होकर शय्यातर श्रावक से यह कहकर विहार कर गये कि मैं सागराचार्य के पास सुवर्णभूमि जा रहा हूँ। मेरे शिष्य अत्याग्रहपूर्वक पूछें तो उन्हें बता देना।

शिष्य देर से उठे, गुरुजी को न देखा तो घबराये। शय्यातर से पूछा तो पता लगा। तत्पश्चात् वे सब वहाँ से विहार करके एक दिन गुरुजी के पास पहुँचे। सागराचार्य भी पहले तो अपने दादागुरु कालिकाचार्य को पहचान न सके, इसलिए अवज्ञा एवं उपेक्षा की। पर बाद में पता लगा तो उनसे क्षमा-याचना की।

बन्धुओ! अनेक कुशिष्य भी गुरु के लिए सिरदर्द होते हैं फिर उन्हें हित-शिक्षा देना तो बहुत ही दुष्कर है, कोरा प्रलाप है। इसीलिए महर्षि गौतम ने चेतावनी दी है—

'बहु कुसीले कहिए विलावो'